स्व० आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज की जन्म शताब्दी
वर्ष के उपलक्ष्य में

जैन तत्त्व कलिका

[जैन तत्त्वज्ञान एवं धर्म का प्रामाणिक ग्रन्थ]

लेखक
जैनधर्म दिवाकर, जैन आगम रत्नाकर
पूज्य आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज

सम्प्रेरक-मार्गदर्शक
शास्त्र-विशारद, पंडितरत्न
श्री हेमचन्द्रजी महाराज के सुशिष्य
नवयुग सुधारक, जैन विभूषण
श्री पदमचन्दजी महाराज 'भंडारीजी'

सम्पादक
श्री अमरमुनि (प्रधान सम्पादक)
श्रीचन्द सुराना 'सरस' (सहसम्पादक)

प्रकाशक
आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मंडी (पंजाब)

☐ **जैन तत्त्व कलिका :**

[जैन दर्शन एवं धर्म का प्रामाणिक परिचय देने वाला विशिष्ट ग्रन्थ]

☐ **प्रकाशक :**

आत्म ज्ञानपीठ,

मानसा मंडी (पंजाब)

☐ **प्रथमावृति :**

वीर निर्वाण संवत् २५०९

वि० सं० २०३९, आश्विन

ई० सन् १९८२, सितम्बर

☐ **मुद्रक :**

श्रीचन्द सुराना के निर्देशन मे

दिनेश प्रिन्टर्स आगरा व जैन इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा

☐ **मूल्य :**

साधारण संस्करण : ४०) **रुपया**

राज संस्करण : ७५) रुपया (रेग्जीन जिल्द)

Published at the auspicious occasion of the birth centenary of

Rev. Acharya Shri Atmaramji Maharaj

Jain Tattva Kalika

[An authoritative treatise of Jain Religion and Philosophy]

Writer

Jain Dharm Divakar, Jain Agam Ratnakar

Rev. Acharya Sri Atmaramji Maharaj

Promoter & Guide

Shastra Visharad, Pandit-ratna

Sri Hemachandraji Maharaj's

disciple

Navayug sudharak, Jain-bibhushana

Sri Padam Chandji Maharaj 'Bhandariji'

Editors

Sri Amar Muni (Chief Editor)

Srichand Surana 'Saras' (Asstt. Editor)

Publishers

Atma Gyanpitha, Mansa Mandi (Punjab)

Jain Tattwa Kalika :
[An authoritative treatise of
Jain Religion and Philosophy]

Publishers :
Atma Gyanpitha
Mansa Mandi (Punjab)

First Edition :
Vir Nirvana Samvata 2509
September, 1982
Vikram Samvat 2039 Aswin

Printing and designing supervision
Srichand Surana 'Saras'

Printers :
Dinesh Printers, Agra
Jain Electric Press, Agra

Price :
Rs. 40/- (Ordinary Edition)
Rs 75/- (Royal Edition) [Full Ragzine Binding]

स्व-कथ्य

[प्रथम संस्करण]

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को आहार निद्रा भय मैथुन और परिग्रह की आशा लगी रहती है और उनकी खोज के लिए दत्तचित्त होकर क्रियाओ मे प्रवृत्ति की जाती है ठीक उसी प्रकार दर्शन विषय म भी खोज की प्रवृत्ति होनी चाहिए। यावत्काल पर्यन्त दार्शनिक विषय मे खोज नहीं की जाती तावत्काल पर्यन्त आत्मा स्वानुभव से भी वंचित हो रहता है। इस स्थान पर दर्शन नाम सिद्धान्त तथा विश्वास का है। जब तक किसी सिद्धान्त पर दृढ विश्वास नही होता तब तक आत्मा अभीष्ट क्रियाओ की सिद्धि मे फलीभूत नही होता।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस स्थान (सिद्धांत) पर दृढ विश्वास किया जाए क्योकि इस समय अनेक दर्शन दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि यद्यपि वर्तमान काल मे पूर्व-कालवत् अनेक दर्शनो की सृष्टि उत्पन्न हो गई है या हो रही है तथापि सब दर्शनो का समवतार दो दर्शनो के अन्तर्गत हो जाता है। जैसे, आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।

यदि इस स्थान पर यह शका उत्पन्न की जाए कि, नास्तिक मत को दर्शन क्यो कहते हो ? तब इस शका के समाधान मे कहा जाता है—दर्शन शब्द का अर्थ है विश्वास (दृढता) सो जिस आत्मा का मिथ्याविश्वास है अर्थात् जो आत्मा पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ दृष्टि से नही देखता है, उसी का नाम नास्तिक दर्शन है, क्योकि नास्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्वभाव को नही मानता है, सो जब आत्मा का अस्तित्वभाव ही नही तो फिर भला पुण्य और पाप किस को तथा उसके फल भोगने रूप नरक तिर्यक मनुष्य और देव योनि कहाँ ? अतएव निष्कर्ष यह निकला कि नास्तिक मत का मुख्य सिद्धान्त ऐहलौकिक सुखो का अनुभव करना ही है।

यद्यपि इस मत विषयक बहुत कुछ लिखा जा सकता है तथापि स्व-कथ्य (प्रस्तावना) मे इस विषय मे अधिक लिखना समुचित प्रतीत नही होता। सो यह मत आर्य पुरुषो के लिए त्याज्य है क्योकि यह मत युक्ति-बाधित और प्रमाणशून्य है। अतएव आस्तिकमत सर्वथा उपादेय है, इसलिए आस्तिक मत के आश्रित होना आर्य पुरुषो का परमोद्देश्य है। क्योकि, आस्तिक मत का मुख्योद्देश्य अनुक्रमता पूर्वक निर्वाण प्राप्त करना है।

यदि इस स्थान पर यह शका उत्पन्न की जाए कि, आस्तिक किसे कहते हैं। तब इस शका के उत्तर मे कहा जाता है कि, जो पदार्थों के अस्तित्वभाव को मानता है तथा यो कहिये कि, जो पदार्थ अपने द्रव्य, गुण और पर्याय मे अस्तित्व रखते है, उनको उसी प्रकार माना जाए, उनको उसीप्रकार से मानने वाला ही आस्तिक कहलाता है।

व्याकरण शास्त्र मे आस्तिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से कथन की गई है, जैसे कि—**दैष्टिकास्तिकनास्तिका.** (शाकटायन व्याकरण अ० ३ पा० २ सू० ६१) **दैष्टिकादयस्तदस्येति षष्ठयर्थे ९.न्ता निपात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनो मतिरस्य दिष्टं दैवं प्रमाणमिव मतिरस्येति दैष्टिकः। अस्ति परलोक पुण्य पापमिति च मतिरस्येरयास्तिकः। एव नास्तीति नास्तिक।**

इस सूत्र मे इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि, जो परलोक और पुण्य-पाप को मानता है उसी का नाम आस्तिक है। अतएव आस्तिक मत मे कई प्रकार के दर्शन प्रकट हो रहे हैं। जिज्ञासुओ को उनके देखने से कई प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो रही हैं वा उनके पठन से परस्पर मतभेद दिखाई दे रहा है, सो उन शंकाओ को मिटाने के लिए वा मतभेद का विरोध करने के लिए प्रत्येक जन को जैनदर्शन का स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि, यह दर्शन परम आस्तिक और पदार्थों के स्वरूप का स्याद्वाद की शैली से वर्णन करता है। क्योंकि, यदि सापेक्षिक भाव से पदार्थों का स्वरूप वर्णन किया जाए तब किसी भी विरोध के रहने को स्थान उपलब्ध नहीं रहता। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जन को जैनदर्शन का स्वाध्याय करना चाहिये।

अब इस स्थान पर यह शका उत्पन्न होती है कि, जैन दर्शन के स्वाध्याय के लिये कौन-कौन से जैनग्रन्थ पठन करने चाहिए? इस शका के समाधान मे कहा जाता है कि, जैनागमग्रन्थ या जैनप्रकरण ग्रन्थ अनेक विद्यमान है, परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः प्राकृत भाषा मे वा सस्कृत भाषा मे है तथा बहुत से ग्रन्थ जैनतत्व को प्रकाशित करने के हेतु से हिन्दी मे भी प्रकाशित हो चुके हैं वा हो रहे है, उन ग्रन्थो मे उनके कर्त्ताओं ने अपने-अपने विचारानुकूल प्रकरणो की रचना की है। अतएव जिज्ञासुओ को चाहिए कि वे उक्त ग्रन्थों का स्वाध्याय अवश्य करें।

अब इस स्थान पर यह भी शंका उत्पन्न हो सकती है कि, जब ग्रन्थसग्रह सर्व प्रकार से विद्यमान है तो फिर इस ग्रन्थ के लिखने की क्या आवश्यकता थी? इस शंका के उत्तर में कहा जा सकता है कि, अनेक ग्रन्थों के होने पर भी इस ग्रन्थ के लिखे जाने का मुख्योद्देश्य यह है कि, मेरे अन्तःकरण में चिरकाल से यह विचार विद्यमान था कि, एक ग्रन्थ इस प्रकार से लिखा जाय जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध मे सर्वथा विमुक्त हो और उसमे केवल जैन तत्वो का ही जनता को दिग्दर्शन कराया जाय, जिससे जैनेतर लोगों को भी जैन तत्वो का भली भाँति बोध हो जाए।

सो इस उद्देश्य को ही मुख्य रख कर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। जहाँ तक हो सका है, इस विषय की पूर्ति करने में विशेष चेष्टा की गई है। जिसका पाठकगण पढ़कर स्वयं ही अनुभव कर लेंगे क्योंकि, देव-गुरु-धर्मादि विषयों का स्वरूप स्पष्ट रूप से लिखा गया है, जो प्रत्येक आस्तिक के मनन करने योग्य है। और साथ ही जीवादि तत्वों का स्वरूप भी जैन आगम ग्रन्थों के मूल सूत्रों के मूलपाठ वा मूलसूत्रों के आधार से लिखा गया है, जो प्रत्येक जन के लिये पठनीय है।

आशा है, पाठकगण इस के स्वाध्याय से अवश्य ही लाभ उठा कर मोक्षाधिकारी बनेंगे। अलम् विज्ञेषु।

भवदीय
उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम

□□

पुरोवचन

[प्रथम संस्करण]

श्रीमान् उपाध्याय आत्माराम जी जैनमुनि प्रणीत **जैनतत्त्वकलिकाविकास** नामक पुस्तक का मैंने आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त अवलोकन किया। यद्यपि अनेक लेख सम्बन्धित-कार्यों मे व्यग्र होने के कारण पुस्तक का अक्षरश. पाठ करने के लिये अवसर नही मिला, तथापि तत्प्रकरण के सिद्धान्तो पर भले प्रकार दृष्टि दी गई है, और किसी किसी स्थल का अक्षरश पाठ भी किया है पुस्तक के पढने से प्रतीत होता है कि पुस्तक के रचयिता जैनसिद्धान्तो के ही केवल अभिज्ञ नही, प्रत्युत जैन आकर ग्रन्थों के भी विशेष पण्डित हैं क्योंकि--जिन 'नयकर्णिका' आदि ग्रन्थो मे अन्य दर्शनों का खण्डन करते हुए जैनाभिमत नयो का स्वरूप वर्णन किया है, उनके विशेष उद्धरण इस ग्रन्थ मे सन्दर्भ की अनुकूलता रखते हुए दिये गये हैं। यह ग्रन्थ नौ कलिकाओं में समाप्त किया गया है।

ग्रन्थकर्ता ने इस बात का भी बहुत ही ध्यान रखा है जो कि ग्रन्थों के उद्धरणों का ठीक-ठीक निर्देश कर दिया है। आजकल यह परिपाटी पाठ करने वालो के लिए बहुत ही लाभप्रद तथा कर्त्ता की योग्यता पर विश्वास उत्पन्न करने वाली देखी गई है। नि सन्देह यह ग्रन्थ जैन अजैन दोनो के लिए बहुत ही लाभकारी प्रतीत होता है। इस लघुकाय ग्रन्थ के पढ़ने से जैन प्रक्रिया का सिद्धान्तरूप से ज्ञान हो सकता है। मेरे विचार मे तो ग्रन्थ के रचयिता को बहुत काल पर्यन्त शास्त्र का मनन करने से बहुदर्शिता तथा बहुश्रुतत्व का लाभ हुआ होगा परन्तु यदि कोई भले प्रकार इस ग्रन्थ का मनन कर ले तो उसको अल्प आयास द्वारा जैन सिद्धान्त प्रक्रिया का बोध हो सकता है। पाठको को चाहिए कि अवश्य ही न्यूनातिन्यून एकबार इसका परिशीलन करके कर्ता के प्रयत्न से लाभ उठावें, विशेषत. जैनमात्र को इस प्रयत्न से अपना उपकार मानना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यदि इस ग्रन्थ को किसी जैन पाठशाला में पाठ्यप्रणाली के अन्तर्गत किया जावे तो बहुत अच्छा मानता हूँ, कार्यान्तर मे व्यग्र होने से इसका अधिक महत्व लिखने मे असमर्थ हूँ।

विद्वदनुचर

कवितार्किक नृसिंहदेव शास्त्री

(दर्शनाचार्य)

प्रोफेसर

ओरियण्टल कॉलिज, लाहौर।

१०-१-32

इस प्रकाशन में विशेष सहयोगी

डा० मौजीराम जी जैन (देहली)

डा० मौजीराम जी जैन उच्चस्तर के इन्जीनियर तथा अनेक बड़े औद्योगिक संस्थानो मे सर्वोच्च पद पर रहने वाले एक कर्तव्य परायण सज्जन है। आप स्वभाव से बडे ही मृदु किन्तु प्रशासन में दृढ और कुशल हैं। सरलता और निरभिमानता आपकी बडी बेमिसाल है।

आप ला० जौहरीमल जी जैन के सुपुत्र है। ला० जौहरीमल जी गाँव हलालपुर जिला सोनीपत के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। आप हमारे श्रद्धेय श्री भण्डारी जी महाराज के बड़े भाई थे। धर्म के प्रति आपकी बड़ी आस्था थी। आपने कई अस्पताल, स्थानक, स्कूल आदि बनवाये तथा पुण्य कार्यों में धन का सदुपयोग करते रहते थे।

आप गाँव खेवडा निवासी अपने मामा ला० किरोडीमलजी जैन (मित्तल) के गोद गये। जो बड़े धार्मिक थे।

ला० जौहरीमल जी के तीन पुत्र हुए—श्री नेमचन्द जी, डा० मौजीराम जी तथा श्री रमेशचन्द जी।

डा० मौजीराम जी बचपन से ही बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। पिलानी मे आपने एम. एस-सी. करके रसायन विज्ञान में कनाडा में विशेषज्ञता प्राप्त की, तथा देश के अनेक नामी औद्योगिक संस्थानों में अपनी सेवाएं दी। आपके दो सुपुत्र व एक सुपुत्री है। पुत्री डाक्टर है जो अभी विदेश में अपने पति डाक्टर के साथ सेवाकार्य कर रही है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पादेवी भी बडी धार्मिक विचारों की उदार तथा सेवापरायण सन्नारी है।

डा० मौजीराम जी जैन ने प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक विशेष सहयोग प्रदान कर हमारा उत्साह बढाया है।

धन्यवाद !

हाकमचन्द जैन
मन्त्री—आत्म ज्ञानपीठ

प्रकाशन - सहयोगी

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में जिन उदार सज्जनों ने
अर्थ सहयोग प्रदान किया, उनकी शुभ नामावली

डा० मौजीराम जी जैन
सुपुत्र—ला० जौहरीमल जी जैन
मु० खेवड़ा, जिला सोनीपत

श्री दीवानचन्द जी जैन
दीवानचन्द विनोदकुमार जैन आढ़ती
गीदड़बाहा मण्डी, (पंजाब)

वैरागन सुश्री शिखा जैन
दीक्षा महोत्सव पर—
रूपनगर (पंजाब)
[सुशिष्या महासती सरिता जी महाराज, ए.ए]

श्री रामेश्वरदास पवनकुमार जैन
वजीरपुर, दिल्ली

श्रीमती मखमलीदेवी जैन
धर्मपत्नी—श्री जयचन्द जैन
जींद (हरियाना)

श्रीमती भरपाईदेवी जैन
धर्मपत्नी—श्री मानसिंह जैन
दिल्ली

संस्था की ओर से आप सभी को हार्दिक धन्यवाद !

मन्त्री
हाकमचन्द जैन
आत्म ज्ञानपीठ, मानसा

सम्पादकीय

काम-सुख और मोक्ष-सुख

संसार मे सभी प्राणी सुख के अभिलाषी है। यद्यपि सबकी सुख की कल्पना एक-सी नही है, तथापि विकास की तरतमता के अनुसार प्राणियो के सुख को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग मे अल्पविकास वाले ऐसे प्राणी आते है, जिनके सुख की कल्पना इन्द्रिय-विषयो की प्राप्ति तथा अभीष्ट वस्तु-प्राप्ति पर निर्भर है। दूसरे वर्ग मे अधिक विकास वाले ऐसे प्राणी आते है, जो बाह्य-भौतिक साधनो की प्राप्ति मे सुख न मान कर आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति मे सुख मानते है। इन दोनो वर्गों के माने हुए सुखो मे से प्रथम सुख पराधीन है, जबकि दूसरा स्वाधीन सुख है। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते है।

संसार मे अधिकांश प्राणी काम पुरुषार्थ पर चलने वाले है जो सुख के बदले दुःख, अशान्ति और बेचैनी पाते है। उनमे से जो जिज्ञासु व्यक्ति वास्तविक सुख की शोध मे चलते हैं, तब उनके समक्ष दुःख मुक्ति और स्वाधीन सुखप्राप्ति का प्रश्न मुख्य बन जाता है। ज्ञानी पुरुष उन्हे बताते है कि मोक्ष पुरुषार्थ करने से ही उपर्युक्त प्रश्न का हल निकल सकता है।

मोक्षार्थी के मन में प्रश्न

जिज्ञासु व्यक्ति ज्यो-ज्यो मोक्ष पुरुषार्थ को समझने लगता है, त्यो-त्यो उसके मन मे नाना प्रकार के प्रश्न उभरते जाते है। मुख्यतया ये प्रश्न इस प्रकार के होते है—

'मै कौन हूँ ?
इस मनुष्यलोक मे कैसे और कहाँ-कहाँ से आया हूँ ?
मेरे आस-पास जो जगत् व्याप्त है, उसमे जीवो की विविधता क्यों है ?
क्यों यह जन्म-मरण रूप संसार दुःखरूप नही है ?
इस दुःख से मुक्ति कैसे हो सकती है ?
दुःखमुक्ति के इस मार्ग मे कौन-कौन मुख्य सहायक हो सकते है ?
क्या मुझे भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है ?'

ये और इस प्रकार के अन्य प्रश्न जिज्ञासु के मन मे उथल पुथल मचा देते है। मन में प्रश्नों का घटाटोप होने के कारण व्यक्ति उलझन में पड़ जाता है। वह

इन प्रश्नों के उत्तर पाने का प्रयत्न करता है। परन्तु उत्तर प्राप्ति का कार्य, हम जितना सोचते है, उतना आसान नही है।

प्रश्नों का यथार्थ समाधान जिनोक्त तत्त्व ज्ञान से ही

पहली बात तो यह है कि अल्पज्ञ जिज्ञासु स्वयं ही कुछ उत्तरो की कल्पना तो कर लेता है, लेकिन तर्क परम्परा ज्यो ही आगे बढ़ती है, कि मनुष्य स्वयं तर्क के झूले पर चढ़कर सोचने लगता है—ऐसा ही क्यों, ऐसा क्यो नही ? फलत उसके द्वारा कल्पित उत्तरो मे यथार्थता दृष्टिगोचर नही होती। उनमे एक प्रकार के विरोध और असंगति के दर्शन होते है। वह इन प्रश्नो के यथार्थ उत्तर पाने के लिए ऐसे यथार्थ महाज्ञानियों की ओर दृष्टि दौड़ाता है जिन्होने स्वयं उत्तर पा लिया हो, जो निष्पक्ष एवं वीतराग होकर सबको अपने अनुभव देते हो। ऐसे महापुरुषो को जैन धर्म में 'जिन' कहते हैं। उनके द्वारा बताए हुए तत्त्वो को जैन तत्त्व या जिनोक्ततत्त्व कहते हैं।[1]

हां पूर्वोक्त प्रश्नो की विकट अटवो मे फसे हुए व्यक्तियो को जैन (जिनोक्त) तत्व ही निकाल सकते है, क्योकि उनमे पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता का सम्बन्ध है। वे ही उक्त जिज्ञासु के मन मे उठने वाले प्रश्नो का यथार्थ समाधान कर सकते है। तत्त्वज्ञान ही मनुष्य के मोक्ष विषयक पुरुषार्थ मे सहायक होता है।

तत्त्व की महत्ता

इसलिए भारतीय दर्शन मे तत्त्व के सम्बन्ध मे गहाराई से अनुशीलन-परिशीलन किया गया है। सभी का यह मन्तव्य है कि तत्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तत्वज्ञ ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[2]

वस्तुतः जिसे तत्त्व संवेदन अर्थात् तत्त्वों का निश्चयात्मक बोध हुआ हो, वही मोक्ष विषयक साधना यथार्थ रूप से कर सकता है। वैसे देखा जाए तो जीवन मे तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व एक दूसरे से सम्बन्धित है। तत्त्व से जीवन को पृथक नही किया जा सकता, क्योंकि तत्त्व के अभाव मे जीवन गतिशील नही हो सकता। जीवन मे से तत्त्व को पृथक करने का अर्थ है—आत्मा के अस्तित्त्व से इन्कार होना।

दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व शब्द गम्भीर चिन्तन को लिए हुए है। दार्शनिक क्षेत्र में चिन्तन-मनन का प्रारम्भ तत्त्वज्ञान से ही होता है। "किं तत्त्वम्' ?' 'तत्त्व क्या है ?' यही तत्त्व जिज्ञासा दर्शन का मूल है। आद्य शंकराचार्य ने तत्त्वविचार से ही आत्म-ज्ञान का प्रारम्भ माना है। वे कहते है—

---

१ जिणपण्णत्त तत्तं —आवश्यक सूत्र

२ (क) तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः —न्यायदर्शन

(ख) पंचविंशतितत्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमेरतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नाऽत्रसंशयः ॥ —सांख्यदर्शन

'कोऽहं ? कथमिदं जातम् ? को वै कर्ताऽस्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ।।'[1]

अर्थात्—मैं कौन हूं ? यह (शरीरादि) कैसे उत्पन्न हुआ ? इस (जगत्) का कर्त्ता कौन है ? इसमें उपादान क्या है ? इस प्रकार का जो विचार है, वही (ब्रह्मज्ञान का मूल) है । श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में—

हुं कोण छु ? क्यां थी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखूं के ए परिहरूं ?[2]

इस प्रकार एक या दूसरे प्रकार से तत्त्वज्ञान की महत्ता सभी धर्मों और दर्शनों ने तथा मुमुक्षुओं ने स्वीकार की है ।

तत्त्व शब्द : विभिन्न अर्थों में

'तत्' शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लग कर 'तत्त्व' शब्द बना है । जिसका अर्थ होता है—'तस्य भावः तत्त्वम्'—उसका भाव तत्त्व है । तत्त्व का फलितार्थ हुआ —'वस्तु का स्वरूप' अथवा सारभूत या रहस्यमय वस्तु ।[3] लौकिक दृष्टि से भी तत्त्व शब्द वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु या साराश, अर्थ में प्रयुक्त होता है । दार्शनिक विचारकों ने प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करते हुए भी परमार्थ, द्रव्य स्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध और परम के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है ।

विभिन्न दर्शनों में तत्त्व निरूपण

प्राय सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्वों का निरूपण किया है । भौतिकवादी चार्वाक दर्शन ने भी १ पृथ्वी, २. जल ३ वायु और ४ अग्नि, ये चार तत्त्व माने है , उसने आकाश को नहीं माना, क्योंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है । वैशेषिकदर्शन ने १. द्रव्य, २. गुण ३. कर्म, ४. सामान्य ५ विशेष ६ समवाय और ७ अभाव, इन सात पदार्थों को तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है । न्यायदर्शन ने १. प्रमाण, २ प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क ९. निर्णय १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों को तत्त्व रूप में माना है । सांख्यदर्शन ने २५ तत्त्व माने हैं—१. प्रकृति, २. महत् ३. अहकार ४-८. पाँच ज्ञानेन्द्रिय ९-१३. पाँच कर्मेन्द्रिय, १४-१८ पाँच तन्मात्राएँ,१९. मन, २०-२४ पंचमहाभूत और २५. पुरुष । योग दर्शन 'ईश्वर' नामक तत्त्व को अधिक मानकर २६ तत्त्व मानता है । मीमांसादर्शन वेदविहित कर्म को ही सत् और तत्त्व

---

१ शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी ।

२ अमूल्य तत्त्व विचार

३ तत्तं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं ।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।" —बृहद्नयचक्र ४

मानता है । वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य (तत्त्व) के रूप में स्वीकार करता है । बौद्धदर्शन ने तत्त्वरूप मे चार आर्यसत्य माने हैं—१ दु.ख, २. दु.खसमुदय, ३ दुःख-निरोध और ४. दु ख-निरोध मार्ग । जैन दर्शन ने जिन प्रज्ञप्त षटद्रव्य, सप्त तत्त्व या नौ पदार्थ के रूप मे तत्त्वो का स्वीकार किया है ।

इस प्रकार प्रत्येक आस्तिक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और दृष्टि के अनुसार तत्त्व मीमासा की है और तत्त्वविचार स्थिर किया है ।

तत्त्व विचार के पीछे जैनदृष्टि

जैन दर्शन की यह विशेषता है कि उसमे तत्त्व का विचार, जैसे कि पहले कहा गया था, मोक्षसुख या आत्मा की सम्पूर्ण स्वधीनता की दृष्टि से किया गया है । यही कारण है कि मोक्षसुख में साधक या सहायक तत्त्वो के साथ-साथ बाधक तत्त्वो को भी ज्ञेय के रूप मे माना है, क्योकि मोक्षसाधना मे बाधक ज्ञेय तत्त्वो को जाने बिना साधक तत्त्वो को उपादेय मानकर भलीभाँति साधना नहीं की जा सकती । अत मोक्षसाधना मे उपयोगी ज्ञेयो को तत्त्व कहा गया है ।

भगवान महावीर का तत्त्वज्ञान

सम्पूर्ण आगमवाङ्मय का दोहन किया जाए तो यत्र तत्र तत्त्वज्ञान की चर्चा मिलेगी । भगवती सूत्र में भगवान् महावीर के साथ अन्यतीर्थिक तापसो, परिव्राजको तथा पार्श्वापत्य श्रमणो, स्वतीर्थिक श्रमणो आदि के द्वारा विभिन्न तत्त्वो की चर्चा का उल्लेख मिलता है । वह युग तत्त्व जिज्ञासाओ से भरा था । भगवान् महावीर का तत्त्वज्ञान अनन्तधर्मात्मक वस्तु का यथार्थ विश्लेषण अनेकान्त दृष्टि से करता था । इसलिए वस्तुस्वरूप का यथार्थ विश्लेषण करने वाला भगवान् का सूक्ष्म तत्त्वज्ञान अन्ययूथिक तापसो, संन्यासियो और परिव्राजको को भी आकृष्ट करता था । फलतः अम्बड़[1] स्कन्दक,[2] पुद्गल[3] और शिव[4] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए । तत्त्व चर्चा की और समाधान पाकर भगवान् के शिष्य बन गए । कालोदायी[5] आदि अन्ययूथिको के प्रसंग भगवान् के तत्त्वज्ञान की सूक्ष्मता पर प्रकाश डालते हैं । सोमिल ब्राह्मण, तुंगियानगरी के श्रमणोपासक, जयन्ती श्राविका[6] तथा माकन्दी, रोह, पिंगल[7] आदि श्रमणो के प्रश्न तत्त्वज्ञान की विविध धाराओ के प्रतीक है । इन

१ भगवती १४।१०७,१०६
२ वही २।२०-७३
३ भगवती ११।१८६-१८६
४ वही ११।५७-८६
५ वही ७।२१०-२२०
६ भगवती १८।२०४, २२४, २। ६२-१११, १२।४१-६५
७ भगवती १५।५६-८५, १२८८-३०८, २।२५-२६

सब उदाहरणों पर से फलित होता है कि तत्त्व को अमुक संख्या मे बाँधा नहीं जा सकता । प्रत्येक वस्तु के साथ तत्त्व का प्रश्न अनुस्यूत है ।

तत्त्वों की संख्या

वास्तव में तत्त्वो की निश्चित संख्या नही है । तत्त्व कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर आगमो और विविध ग्रन्थों मे विभिन्न रूप से दिया है । एक शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं—१. जीव और २ अजीव । दूसरी शैली के अनुसार तत्त्व ७ है— १. जीव, २. अजीव, ३ आस्रव ४. बन्ध, ५. संवर, ६ निर्जरा और ७. मोक्ष । तीसरी शैली के अनुसार तत्त्वो की संख्या पुण्य और पाप सहित नौ हैं । उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य मे तीसरी शैली उपलब्ध होती है । भगवती, प्रज्ञापना आदि में जहाँ श्रावको के व्रतधारणोत्तर जीवन का वर्णन आता है, वहाँ ११ तत्त्वो के जानने का उल्लेख आता है । यथा—१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा, ८ क्रिया, ६ अधिकरण १० बन्ध और ११ मोक्ष मे कुशलता ।

वास्तव मे तत्व दो ही हैं—जीव और अजीव । पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्व स्वतन्त्र नही हैं, वे जीव और अजीव के अवस्था-विशेष है ।

देव, गुरु और धर्म : तीन तत्व

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो १. देव २. गुरु और ३. धर्म ये तीन तत्व मोक्षप्राप्ति मे सहायक एव साधक है । देव और गुरु, ये जीव के ही मुक्त और कर्ममुक्ति के लिए प्रयत्नशील, दो रूप है । अब रहा धर्मतत्व—जिसमे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-रूप लोकोत्तर धर्म तथा नीति-धर्म-प्रधान लोकिक धर्मों का समावेश हो जाता है । साथ ही श्रुतधर्म मे उपर्युक्त नौ तत्त्व, षड्द्रव्य, प्रमाण, नय, निक्षेपादि तथा परिणामिनित्यवाद आदि सब तत्वो का समावेश हो जाता है, चारित्रधर्म मे अहिंसा, सत्यादि सभी शाश्वत धर्मों का समावेश हो जाता है । अस्तिकाय धर्म मे पंचास्तिकाय, आत्मवाद, लोकवाद कर्मवाद और क्रियावाद आदि का समावेश हो जाता है ।

देव और गुरु तत्त्व

देवतत्व मोक्षसाधक के लिए इसलिए ग्राह्य है कि उसके बिना मुमुक्षु के सामने कोई आदर्श एव व्यवहार का सेतु नही रहता । देवतत्व मे मोक्षप्राप्त सिद्ध या वीत-राग अर्हन्त देव आते हैं, जो साधक की मोक्षयात्रा में प्रकाशस्तम्भ है और गुरुतत्व-जिसमे आचार्य, उपाध्याय और साधु आते है, मोक्षार्थी के लिए मोक्षसाधना के आदर्श है । इन दोनों तत्वों को अपनाये बिना धर्मतत्त्व को भलीभांति हृदयगम करना, जानना और आचरित करना कठिनतर है । इसलिए सर्वतत्वों के तत्वज्ञ तथा तत्त्व-दर्शी देवाधिदेवों और धर्मदेवो गुरुओं का मार्गदर्शन धर्मतत्व को सर्वांगरूप से जानने हेतु नितान्त आवश्यक है ।

धर्मतत्व की शाश्वत-अशाश्वत धारा

इस विश्व मे कुछ तत्व शाश्वत है और कुछ अशाश्वत । धर्मतत्व—जो कि सीधा मोक्ष से सम्बन्धित शाश्वत के संगीत का मधुरलय है । परन्तु भगवान् महावीर

ने श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म; इन शाश्वत तत्वों की व्याख्या शाश्वत धर्म के माध्यम से की है, और सामयिक मत्यो की व्याख्या सामयिक धर्म के माध्यम से की। भगवान् महावीर ने सामयिक धर्मों मे ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, पाषण्ड-धर्म, कुलधर्म, गणधर्म और सघधर्म को गिनाया है क्योकि सामाजिक, राजनैतिक, अथवा साधिकव्यवस्थाएँ स्थायी नही होती। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार धर्म की अशाश्वत धारा को भी भगवान् महावीर ने शाश्वत धर्म के साथ समन्वित किया। और साथ मे प्रत्येक धर्म साधक को एक कुन्जी पकडा दी कि 'अपनी प्रज्ञा (सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि) से तत्वरूप से निश्चित धर्मतत्व की समीक्षा करो।'[1] अर्थात्-हर समय तुम्हारे साथ देव और गुरु धर्म के मार्गदर्शन के लिए नही रहेगे, तुम्हे धर्म-तत्व के यथार्थ दर्शन के लिए अपने सद्विवेक पर निर्भर रहना पड़ेगा।

जैनतत्व कलिका की रचना

पूर्वोक्त तीन तत्वो को लेकर जैनतत्व कलिका नामक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना स्व० महामहिम जैनधर्म दिवाकर आगमरत्नाकर आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज ने आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व सन् १९३२ मे की थी। इसका पूर्व नाम *'जैनतत्व कलिका विकास'* है, किन्तु सरल भाव-बोध की दृष्टि से अब *'जैन-तत्त्व कलिका'* इतना नाम रखा गया है। तत्व का विकास तो इसमे है ही। आपने स्वय इस ग्रन्थ के लिखने का उद्देश्य बताया था कि 'मेरे अन्त करण मे चिरकाल से यह चिन्तन चल रहा था कि आगम आदि ग्रन्थ समुद्र है, उनमे डुबकी लगाकर तत्वो का खोज पाना सर्वसाधारण के लिए दुरूह है, फिर आगम प्राकृत भाषा मे है, सस्कृतभाषा मे उनकी टीकाएँ है, जिनका आशय प्रत्येक व्यक्ति के लिए समझना सुगम नही है। अत हिन्दी भाषा मे ऐसा एक ग्रन्थ लिखा जाय। जो साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा मुक्त हो, और जिससे जैन दृष्टि से देव, गुरु और धर्मादि तत्वो का आसानी से भलीभाँति बोध हो जाए।'' साथ ही जिनोक्त इन तत्वो के स्वरूप को शास्त्रो के उद्धरणो के साथ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे पाठक जैनतत्व ज्ञान का इस एक ही ग्रन्थ से भलीभाँति अध्ययन कर सके। वास्तव मे स्व. आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ के नाम के अनुरूप जैन (जिनोक्त) तत्वो का विकास कलिका के रूप मे क्रमश प्रस्तुत किया है।

जैन तत्व कलिका का प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत ग्रन्थ मे देव, गुरु और धर्म, इन तीन मुख्य तत्त्वों की मीमासा की गई है। प्रथम कलिका मे देवतत्त्व के सर्वांगीण स्वरूप आदि का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय कलिका मे गुरुतत्त्व के स्वरूप का, गुरुतत्त्व मे परिगणित आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणो और आदर्शों का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके पश्चात् तृतीय कलिका मे धर्मतत्त्व का स्वरूप तथा स्थानांग सूत्र मे वर्णित धर्म के १० प्रकारों का उल्लेख करके उनमे से धर्मतत्त्वो का विवेचन प्रस्तुत

---

१ 'पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं तत्तविणिच्छियं।' —उत्तराध्ययन. २३।२५

किया है। चतुर्थकलिका से छठी कलिका तक श्रुतधर्म की व्याख्या सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और आस्तिक्यवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। सप्तमकलिका में अस्ति-कायधर्म के सन्दर्भ में पचास्तिकाय, षड्द्रव्यात्मक लोक एवं परिणामवाद की चर्चा प्रस्तुत की गई है। अष्टमकलिका में धर्मतत्त्व के सन्दर्भ में चारित्रधर्म की और नवमकलिका में श्रुतधर्म के सन्दर्भ में प्रमाण-नय-निक्षेपवाद तथा अनेकान्तवाद की झाँकी प्रस्तुत की गई है। साराश यह है कि तृतीय कलिका से लेकर नवमकलिका तक धर्मतत्त्व का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

स्व आचार्यश्री की दुर्लभ कृति का सम्पादन

आज से पचास वर्ष पूर्व लिखित और प्रकाशित स्व आचार्यश्री की इस दुर्लभ एव दुष्प्राप्य कृति का सम्पादन एवं पुनर्मुद्रण आवश्यक अनुभव किया जा रहा था। इधर स्व० आचार्यश्री की जन्म शताब्दी इसी वर्ष मनाई जानी थी। नवयुग सुधारक जैनविभूषण मेरे पूज्य गुरुदेव भण्डारी श्री पदमचन्द जी महाराज की सतत प्रेरणा रही कि जन्म शताब्दी के स्वर्ण-अवसर पर स्व० आचार्यश्री के प्रति श्रद्धाजलि के रूप में उनकी इस दुर्लभ कृति का आचार्यश्री के भावों को सुरक्षित रखते हुए नये ढग से, नई शैली में सुन्दर सम्पादन किया जाए। सभी ने मेरे निर्बल कन्धों पर इस बहुमूल्य रचना का व्यवस्थित ढग से सम्पादन का भार डाला। यद्यपि मैं अल्पश्रुत उन बहुश्रुत महापुरुषो की कृति को व्यवस्थित रूप देने में अपने आप को असमर्थ पा रहा था, परन्तु शास्त्र-विशारद आगमज्ञ प० श्री हेमचन्द्रजी महाराज से मार्गदर्शन का सम्बल पाकर उत्साहित हो उठा और सारे ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ कर तदनुसार यत्र-तत्र भाषा को परि-मार्जित करना और दुरुहशास्त्रीय भावो को परिवर्द्धित रूप मे प्रस्तुत करना आवश्यक समझा। स्व० आचार्यश्री के आशय को व्यवस्थितरूप से सुसंस्कृत शैली में प्रस्तुत करना उनके प्रशिष्य होने के नाते अधिकार समझकर मैने कुछ कलिकाओं का क्रम-परिवर्तन किया है, साथ ही कहीं-कहीं विस्तृत शास्त्रीय पाठक पाठ की भावधारा को भंग करने वाले प्रतीत होने से उन्हें फुटनोट में देना पडा है। जो भी हो, मैने इस दुर्लभ कृति का नवसंस्करण तैयार करने का जो बीडा उठाया था, उसे मैं कितना निभा पाया हूँ, इसका निर्णय सुज्ञ पाठक ही करेंगे।

किन्तु इतना मैं साधिकार कह सकता हूँ, जैनतत्त्वकलिका का यह नवसंस्करण पाठकों को रुचिकर लगेगा, और जैन-जैनतर सभी जिज्ञासुजन इसे हृदयंगम करके लाभ उठा सकेंगे।

अन्त मे, मैं साहित्य महारथी मुद्रण कला विशेषज्ञ आत्मीय श्री श्रीचन्द जी सुराना का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस रचना के सम्पादन प्रकाशन में अपना बहुमूल्य परामर्श और सम्पूर्ण सहयोग दिया है।

मेरे लिए यह उल्लास का विषय है कि स्व. आचार्यश्री की जन्मशताब्दी के जनजागरणयुग में नये परिज्ञान के साथ जैनतत्त्वकलिका प्रस्तुत हो रही है।

—अमरमुनि

प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री आत्माराम जी महाराज

[संक्षिप्त परिचय]

युगपुरुष का शाश्वत व्यक्तित्व

युग-पुरुष अपने युग की विचार-क्रान्ति का साधिकार प्रतिनिधित्व करता है। उसका समग्र जीवन, जन चेतना के अभ्युत्थान के लिए होता है। वस्तुत उसकी अपनी जो भी कुछ विभूति है, वह उसकी अपनी न होकर जन-चेतना के प्राण-प्राण में वितरित हो जाती है। जब युग-पुरुष अपना समस्त जीवन-वैभव जनता-जनार्दन को समर्पित कर देता है, तब युग की जन-चेतना अपने मानस के सारभूत तत्त्व को श्रद्धा और भक्ति के नाम पर उस युग-पुरुष के चरणो मे अर्पित करके उसके जीवन का अनुकरण और अनुसरण करने लगती है।

युग-पुरुष का जीवन जब जन-जन की चेतना मे प्रतिबिम्बित हो जाता है—तब उसके विचार युग विचार हो जाते है। उसकी वाणी युग-वाणी हो जाती है। उसका कर्म युग-कर्म हो जाता है। युग-पुरुष, वस्तुत अपने युग की क्रान्तियो का केन्द्र होता है। जन-जागरण का क्रान्तिदूत बन जाता है।

श्रद्धेय चरण, आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के ही नही, बल्कि सम्पूर्ण जैन समाज के एक युग-पुरुष थे। उस युग-पुरुष के विचार आज भी समाज को आलोक प्रदान कर रहे है। उनकी वाणी, आज भी भक्तो के हृदयाकाश में प्रतिध्वनित हो रही है। उनका कर्म, आज भी समाज को विकास तथा प्रगति का दिव्य सदेश दे रहा है।

आचार्य श्री क्या थे, कहना सरल न होगा। किसी भी युग-पुरुष को शब्दो मे बाँधना उतना सहज नहीं है, जितना समझ लिया जाता है। युग-पुरुष की जीवन-धारा का वेग शब्दो की परिसीमा से परे, बहुत परे होता है। हम बौने लोग उनकी ऊँचाई को कैसे नापे ? और उनकी गरिमा को कैसे तोले ? महापुरुषों की जीवन महिमा की नाप और तौल नहीं की जा सकती है। वे अपने तुल्य आप ही होते हैं। उनकी तुलना एव उपमा नही हो सकती।

पर, मै पूछता हूँ—आचार्य श्री क्या नही थे ? वे विचार मे आचार थे, और आचार मे विचार थे। वे एक होकर भी अनेक थे, और अनेक होकर भी एक थे। वे व्यक्ति होकर भी समाज थे, और समाज होकर भी व्यक्ति थे। वे विरोध मे अविरोध थे, और अविरोध में भी विरोध थे। उनमे जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति साकार

प्रज्ञा-प्रदीप जैनागम रत्नाकर

स्व० आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज

जन्म · वि० सं० १९३९
भाद्रपद सुदि १२

स्वर्गवास : सन् १९६१,
३१ जनवरी

हुए थे। साहित्य को वाणी मिली, दर्शन को भाषा मिली और जैनागमों को एक प्रौढ़ भाषाकार मिला। उनके जीवन में प्रेम भी अपार था, तो प्रहार की चोटें भी कुछ कम न थी। लाखों भक्तों ने उन्हें प्रेम का उपहार दिया, तो चन्द राह भूले लोगों ने उन्हें प्रहार देना पसन्द किया। परन्तु आचार्यश्री वह शिवशंकर थे, जिसने जन-कल्याण के लिए स्वयं विषपान करके दूसरों को सदा अमृत ही बाँटा। समाज का विष लेकर, निरन्तर उसे अमृत प्रदान करते रहना—आचार्यश्री का सहज शील स्वभाव था।

शासक : सेवक

वे श्रमण-संघ के एकमात्र सार्वभौम सत्ता प्राप्त सम्राट होकर भी अपने आप को एक सेवक ही मानते रहे थे। अपनी सत्ता का सदुपयोग ही सदा उन्होंने किया, दुरुपयोग कभी नहीं। सत्ता की लिप्सा उनके मन में कभी नहीं रही, फिर भी लोग उन्हें सत्ताधीश कहते थे। आचार्यश्री का जीवन उस महकते गुलाब की तरह था जो स्वयं तो तीखे काँटों की नुकीली सेज पर सोता है, पर दूसरों को उन्मुक्त-भाव से अपनी सुषमा और सुरभि बाँटता रहता है। वे समाज के अन्धकार से लड़ने वाले एक ज्योतिर्मय अमर प्रकाश-पुंज थे। उनका जीवन आलोकमय था।

आचार्य श्री का व्यक्तित्व बड़ा ही अद्भुत, विलक्षण एवं प्रभावशाली था। जो व्यक्ति एक बार उनके परिचय में आ गया, वह सदा के लिए उनका अनुयायी बन गया।

बातचीत में वे बड़े पटु और साथ ही विनोदप्रिय भी थे। उनके मधुर व्यंग्य-बाणों से किसी का भी बच रहना सम्भव न था। बातचीत के प्रसंग पर वे बीच-बीच में रूपक तथा लघुकथा एवं हास्यकथा कहकर गम्भीर वातावरण को भी सरस,सुन्दर और मधुर बनाने की कला में दक्ष थे। बोलते समय उनकी वाणी से फूलों की वर्षा होती थी।

उनकी आत्मीयता बहुत विशाल थी—उसमें स्व-पर की भेद-रेखा नहीं थी। सब उनके थे। क्योंकि वे स्वयं सबके थे।

व्यक्तित्व की बाह्य छवि

गौर वर्ण, मँझला कद, भरा-पूरा दमकता चमकता शरीर। पैनी नाक और उपनेत्र से झाँकते-हँसते सुन्दर नेत्र। कपोल-पाली पर खेलती मधुर मुस्कान। सिर पर घुँघराली चाँदी सी केश राशि। शरीर पर खादी के धवल-विमल वस्त्र। हंस जैसी मन्द गति। उनके व्यक्तित्व में सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर था। विचारों में चुम्बक जैसा आकर्षण, वाणी में महकते सुरभित कुसुमों-सा वर्षण और कर्म में योगी सी एकाग्रता। यह सब कुछ उनके बाहरी व्यक्तित्व का एक मधुर जादू था।

सीधा-सादा रहन-सहन, सीधी-सादी चाल-ढाल और सीधा-सरल व्यवहार, निश्चय ही उनके पावन-पवित्र व्यक्तित्व का एक मधुर संस्मरण हैं।

गतिशील-प्रगतिशील

आचार्यश्री का जीवन प्रारम्भ से ही विकासोन्मुखी रहा है। निरन्तर प्रगति करना, आगे बढते रहना, अपनी साधना मे कभी प्रमाद न करना, ये उनके पावन जीवन के सहज गुण थे। एक सामान्य सन्त से आप अपनी ज्ञान-साधना के बल पर विशिष्ट सन्त बने। आपकी योग्यता को देखकर समस्त पजाब सघ मिलकर आपको उपाध्याय पद प्रदान किया। यह पद आपकी विशिष्ट योग्यता के अनुरूप ही था। इस पद पर आसीन होने के बाद अनेक श्रमण जनो को आपने सस्कृत एवं प्राकृत भाषाओ का और आगम एव दर्शन ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन कराया था।

आपका जीवन ज्ञान पिपासुओ के लिये एक विशाल ज्ञान-प्रपा (ज्ञान की प्याऊ) के समान था, जिस पर पहुँचकर सभी को परितृप्ति होती थी, बल्कि मै तो कहूँगा ज्ञान का एक ऐसा मधुर जल स्रोत (चश्मा) था जहाँ निरन्तर शीतल मधुर प्रवाह बहता रहता और जो भी वहा पहुँचता वह परितृप्ति अनुभव करता। चिरकाल तक उपाध्याय पद पर रहने के बाद पंजाब संघ ने एकमत होकर आपको आचार्य पद प्रदान किया। सादडी सम्मेलन के अवसर पर समस्त श्रीसंघ ने मिलकर आपको श्रमण-सघ के आचार्य पद पर निर्वाचित किया। यह निर्वाचन मत की सहमति से किया गया था। सादडी से लेकर अपने जीवन के चरम चरणो तक आप अखण्ड रूप मे श्रमण सघ के आचार्य रहे। लाखों भक्तो के लिए आप उनकी भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा के मुख्य केन्द्र स्थान रहते आये थे। यह आपकी लोक-प्रियता का, जन-जन-वल्लभता का एक ठोस एव प्रबल प्रमाण था।

गहन ज्ञान : सूक्ष्म अनुभूति

आचार्यश्री का अध्ययन बहुत गम्भीर और विशाल था। अपनी प्रखर प्रतिभा और अप्रतिहत मेधा के बल पर उन्होने जो पाण्डित्य अधिगत किया था, वह वस्तुत आदर की वस्तु है, और हम लोगो के लिए महान आदर्श है। व्याकरण, साहित्य, काव्य, कोश, न्याय, दर्शन और आगम वाङ्मय के आप विराट् विद्वान थे। आगम पर आपका पूर्ण अधिकार था। मूल आगम ही नही, आगमो पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं का भी आपने गम्भीर अध्ययन किया था। सस्कृत और प्राकृत जैसी प्राचीन भाषाओ पर आपका असाधारण अधिकार था। अपने जीवन काल में आपने शताधिक ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन और व्याख्यान किया है। आगमो पर आपने सर्वजन सुलभ भाषा मे व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। आगमो के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, सस्कृति और नीति आदि विषयो पर भी अनेक ग्रन्थो का संगुम्फन किया है। आपकी श्रुत-सेवा चिरस्मरणीय रहेगी। स्थानकवासी समाज के आप युगान्तरकारी साहित्यकार रहे है। आपकी साहित्यसर्जना समाज की विशेष सम्पत्ति है और समाज को उस पर स्वाभिमान भी है। श्रुत-सेवा और सघ-सेवा उनके तेजस्वी जीवन का एक महान आदर्श था। एक महान् प्रेरणा-स्रोत था।

जन्म—पंजाब प्रान्त जिला जालन्धर के अन्तर्गत 'राहों' नगरी मे क्षत्रियकुल मुकुट-चोपड़ा वंशज सेठ मनसाराम जी की धर्मपत्नी परमेश्वरी देवी की कुक्षि से वि० सं० १९३९ भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष, द्वादशी तिथि, शुभ मुहूर्त मे एक होनहार पुण्य-आत्मा का जन्म हुआ। नवजात शिशु का माता-पिता ने जन्मोत्सव मनाया। अन्य किसी दिन नवजात कुलदीपक का नाम आत्माराम रखा गया। शरीर सम्पदा मे जनता को ऐसा प्रतीत होता था, मानों, जैसे कि देवलोक से च्यव कर कोई देव आये हैं। तप्त कञ्चन जैसा कान्तिमान शरीर था।

दैवयोग से शैशवकाल मे ही क्रमश: माता-पिता का साया सिर से उठ गया। कुछ वर्षों तक आपकी दादी ने आपका भरण-पोषण किया, तत्पश्चात् वृद्धावस्था होने से उसका भी निधन हो गया। कुछ समय बाद बालक आत्माराम जी के पूर्व पुण्यो ने चमत्कार दिखाया। लुधियाना में विराजित आचार्यश्री मोतीराम जी महाराज के सान्निध्य मे आप पहुँच गये। आचार्यश्री के दर्शन करते ही उनके मन में भावना उठी-'मैं भी उनके जैसा बनूं।' यही स्थान मेरे लिए सर्वथोचित है। अब अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता ही नहीं रही, यही मार्ग मेरे लिए श्रेयस्कर है।" बालक की अन्तरात्मा की भूख एकदम भड़क उठी, पूज्य आचार्यश्री मोतीराम जी महाराज से बातचीत की और अपने हृदय के भाव मुनिसत्तम के समक्ष रखे। मणि-कञ्चन का सयोग हो गया।

पूज्यश्री जी ने होनहार बालक के शुभ लक्षण देखकर अपने साथ रखने की स्वीकृति प्रदान की। कुछ ही महीनों में कुशाग्रबुद्धि होने से बहुत कुछ सीख लिया। इससे आचार्य मोतीराम जी म० को बहुत सन्तुष्टि हुई। प्रत्येक दृष्टि से परखकर दीक्षा के लिए शुभ मुहूर्त निश्चित किया। अपनी प्रखर प्रतिभा तथा मेधा से बालक आत्माराम ने गुरु के हृदय को प्रभावित कर दिया। गुरु को बीज मे अकुर और अंकुर मे एक विशाल वृक्ष प्रतिभासित हो रहा था।

दीक्षा—पटियाला शहर से २४ मील उत्तर दिशा की ओर 'छतबनूड' नगर मे मुनिवर पहुँचे। वहाँ वि० स० १९५१ आषाढ़ शुक्ल पचमी को श्री संघ ने बड़े समारोह से दीक्षा का कार्यक्रम सम्पन्न किया। दीक्षागुरु श्रद्धेय श्री शालीग्राम जी महाराज बने और विद्यागुरु आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज ही रहे। दीक्षा के समय नव-दीक्षित श्री आत्मारामजी की आयु कुछ महीने कम बारह वर्ष की थी, किन्तु बुद्धि विशाल थी। प्रतिभाधर व्यक्तित्व लघु वय मे ही तेजस्वी होता है और महान कार्य करने की उसमे अगणित सभावनाएं तथा अद्भुत शक्ति होती है, जिससे वह समग्र समाज को चमत्कृत कर देता है।

ज्येष्ठ-श्रेष्ठ शिष्यरत्न

रावलपिण्डी के ओसवाल वंशी वैराग्य त्याग एव सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति श्री खजानचन्द जी म० की वि० सं० १९६० फाल्गुन शुक्ल तृतीया के दिन गुजरांवाला नगर में श्री संघ ने बड़े उत्साह और हर्ष से दीक्षा का कार्यक्रम सम्पन्न किया।

उनके दीक्षागुरु और विद्यागुरु मुनि सत्तम परमयोगी श्री आत्माराम जी म० बने। गुरु और शिष्य दोनों के शरीर तथा मन पर सौन्दर्य की अपूर्व छटा दृष्टिगोचर हो रही थी। जब दोनों व्याख्यान के मंच पर बैठते थे, तब जनता को ऐसा प्रतीत होता था, मानों सूर्य-चन्द्र एक स्थान में विराजित हो। जब अध्ययन और अध्यापन होता था, तब ऐसा प्रतीत होता था, मानो सुधर्मा स्वामी और जम्बूस्वामी जी विराज रहे हों। क्योंकि दोनो ही घोर ब्रह्मचारी, महामनीषी, निर्भीक प्रवक्ता, शुद्ध संयमी, स्वाध्याय-परायण, दृढ निष्ठावान, लोकप्रिय एवं संघसेवी थे। गुरु शिष्य की इस युगल जोडी ने समाज को जो प्रदेय प्रदान किया, वह था—ज्ञान और क्रिया। गुरु था ज्ञान, तो उसका प्रखर शिष्य था—क्रिया। भगवान् महावीर के शासन मे ज्ञान और क्रिया के समन्वय को मोक्ष का साधन, मोक्ष का मार्ग कहा गया है, जिसकी संपूर्ति, इस वर्तमान युग मे गुरु-शिष्य ने की थी।

उपाध्याय पद

अमृतसर नगर मे पूज्य श्री सोहनलाल जी म० ने तथा पजाब प्रान्तीय श्री संघ ने वि० स० १९६९ के वर्ष मे मुनिवर श्री आत्माराम जी म० को उपाध्याय पद से सुशोभित किया। उस समय सस्कृत-प्राकृत भाषा के तथा आगमो के और दर्शन शास्त्रो के उद्भट विद्वान मुनिवर श्री आत्माराम जी म० ही थे। अतः इस पद से अधिक सुशोभायमान होने लगे। स्थानकवासी जैन परम्परा मे उस काल की अपेक्षा से सर्वप्रथम उपाध्याय बनने का सौभाग्य श्री आत्माराम जी महाराज को ही प्राप्त हुआ। स्थानकवासी समाज मे, इससे पूर्व किसी भी सम्प्रदाय मे उपाध्याय पद, किसी को नही दिया गया, यह इतिहाससिद्ध सत्य है।

आचार्यपद

वि० सं० २००३ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर पंजाब प्रान्तीय श्री सघ ने एकमत होकर एव प्रतिष्ठित मुनिवरो ने सहर्ष बड़े समारोह से जनता के समक्ष उपाध्याय श्री जो को पजाब सघ के आचार्य पद की प्रतीक चादर महती श्रद्धा से ओढाई। जनता के जयनाद से आकाश गूँज उठा। पंजाब सम्प्रदाय के जिस महनीय आचार्य पद पर परम प्रतापी पूज्य सोहनलाल जी म० रहे हों, तथा परम तेजस्वी पूज्य काशीराम जी म० रहे हो, उस गौरवमय पद की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने मे यही पुण्यात्मा समर्थ हो सकते थे, दूसरा कोई नही।

श्रमण संघीय आचार्य पद

वि० स० २००९ मे अक्षय तृतीया के दिन सादड़ी नगर मे बृहत्साधु सम्मेलन हुआ। वहाँ सभी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियों ने संघैक्यहित एक मन से पदवियों का विलीनीकरण करके श्रमण सघ को सुसगठित किया, और नई व्यवस्था बनाई। जब आचार्य पद के निर्वाचन का समय आया, तब आचार्य पूज्य आत्माराम जी महाराज का नाम अग्रगण्य रहा। आप उस समय शरीर की अस्वस्थता के कारण

लुधियाना में विराजित थे। सम्मेलन में अनुपस्थित होने पर भी आपको ही आचार्य पद प्रदान किया। जन-गण मानस में आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व की छाप चिरकाल से पड़ी हुई थी। इसी कारण दूर रहते हुए भी श्रमण संघ आपको ही आचार्य बनाकर अपने आपको धन्य मानने लगा। लगभग दस वर्ष तक आपने श्रमणसंघ का कुशलता से नेतृत्व किया और अपना उत्तरदायित्व यथाशक्य पूर्णतया निभाया। उस समय श्रमणसंघ की गुरु-गम्भीर ग्रन्थियों को आप जैसा प्रज्ञापुरुष ही सुलझा सकता था; अन्यथा संघ उसी समय छिन्न-भिन्न हो सकता था। भारतव्यापी समग्र स्थानकवासी जैन संघ का आचार्यपद सम्भालना कोई आसान काम न था।

पण्डित मरण

वि० स० २०१८ मे आप श्री जी के शरीर को लगभग तीन महीने कैंसर महारोग ने घेरे रखा था। महावेदना होते हुए भी आप शान्त रहते थे। दूसरे को यह भी पता नही चलता था, कि आपका शरीर कैंसर रोग से ग्रसा हुआ है। अपनी नित्य क्रिया वैसे ही चलती रही, जैसे कि पहले। अन्ततोगत्वा आप श्री जी ने दिनाक ३०-१-६१ को प्रात १० बजे अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना करके अनशन कर दिया। परम समाधि तथा शान्ति के साथ ३१ जनवरी प्रारम्भ हुई।

ठीक दो बजकर बीस मिनट पर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज अमर हो गये। माघवदी नवमी-दसमी की मध्यरात्रि को नश्वर शरीर का परित्याग किया। सयमशीलता, सहिष्णुता गम्भीरता, विद्वता, दीर्घदर्शिता, सरलता, नम्रता तथा पुण्यपुन्ज से वे महान थे।

दिवगत आचार्य सम्राट् के प्रशिष्य, उपाध्याय श्री फूलचन्द जी म० 'श्रमण' ने अपने प्रगुरु के अपूर्ण कार्य को पूरा करने का सकल्प ग्रहण कर लिया था। उपाध्याय जी ने उपासकदशाग, नन्दी सूत्र और स्थानाग सूत्र का सम्पादन करके प्रकाशित करा दिया है।

भण्डारी श्री पदमचन्द्र जी म० आचार्य श्री जी के निकट विश्वस्त सेवक रहे है। आचार्यश्री की अन्तिम अवस्था मे उन्होंने तन-मन समर्पण करके अग्लान सेवा की है। वे आज भी आचार्य श्री की महिमा गरिमा के लिए प्रयत्नशील हैं। आचार्य श्री की जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य मे उन्होने, जैन श्रुत साहित्य का महान रत्नाकर 'भगवती सूत्र' का सम्पादन-विवेचन कर प्रकाशित कराने की महान योजना बनाई है, भगवती के दो खण्ड तैयार भी हो गये है।

आचार्यश्री की एक महत्वपूर्ण कृति—'जैन तत्व कलिका विकास' का सम्पादन प्रवचनभूषण श्री अमर मुनिजी ने नवीन शैली मे किया है। जो 'जैन तत्व कलिका' नाम से प्रकाशित हो रही है। वास्तव मे शिष्य या प्रशिष्य कोई भी हो, जो गुरु की गरिमा मे चार चाँद लगाए वही श्लाघनीय है। भण्डारी श्री पदमचन्द्र जी महाराज एवं श्री अमरमुनि जी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं।

सेवाभावी मुनिरत्न, रतनमुनि जी तथा कान्तिमुनि जी प्रभाकर, आचार्य श्री जी के संकल्प को पूरा करने का पूरा-पूरा प्रयास कर रहे है। इन मुनिवरों से, आचार्य श्री जी के उत्तराधिकारियों से समाज को भविष्य में बहुत आशा है।

संपादित आगम

आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज एक प्रज्ञापुरुष थे, या यो कह सकता हूँ जिनागम मन्दिर मे सतत प्रज्वलित एक अखण्ड प्रज्ञादीप थे। उनकी वाणी मे ज्ञान की गम्भीरता के साथ ही अनुभव की सहजता थी, उनकी लेखनी मे आगमो के रहस्य इतनी सहजता से प्रस्फुटित होते थे, मानो उपवन मे कुसुम कलियाँ चटक्ती—खिलती अपना सौरभ लुटा रही हो। ज्ञान की गम्भीरता, विषय की विशदता और भाषा की सहज सुबोधता, आचार्यश्री की साहित्य-साधना के त्रिभूज थे।

आपने आगमो मे—आवश्यक सूत्र दोनो भाग अनुयोग द्वार सूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग, उपासकदशा, नन्दी, स्थानाग, अंतगड, अनुत्तरौपपातिक दशाश्रुतस्कध, वृहत्कल्प, निरयावलिका, प्रश्नव्याकरण आदि आगमो की हिन्दी व्याख्याएँ लिखी है।

इन आगम व्याख्याओ मे टीका, भाष्य, चूर्णि आदि का सारपूर्ण चिन्तन लेकर उनका निचोड प्रस्तुत किया गया है। उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक सूत्र की टीकाएँ तो इतनी लोकप्रिय हुई है कि न केवल स्थानकवासी श्रमण-श्रमणी, किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तथा तेरापथी साधु समाज मे भी वे आदर के साथ पढी जाती है।

आगम व्याख्याओ के अतिरिक्त जैनतत्व दर्शन का सरलीकरण करने वाली अनेक छोटी-बडी लगभग ६० पुस्तके भी आचार्यश्री ने लिखी। जिनमे जैन तत्व कलिका विकास, जैन न्याय सग्रह, जैनागमो में स्याद्वाद, जैनागमो मे परमात्मवाद जैनागमो मे अष्टांग योग आदि विशेष महत्वपूर्ण तथा पठनीय पुस्तके है।

वास्तव में आचार्यश्री का कृतित्व और व्यक्तित्व सम्पूर्ण जैन समाज के लिए प्रज्ञादीप था। ज्ञान और क्रिया का एक सगम था। जिसमे जैनतत्व अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ समाहित था। उस स्थितप्रज्ञ प्रज्ञा प्रदीप को कोटि-कोटि वन्दन!

जैन भवन
आगरा

—**विजय मुनि, शास्त्री**

प्रस्तावना

भारतीय चिन्तनधारा

अस्तित्व के दो पहलू है—दृष्ट तथा अदृष्ट। जो चर्मचक्षुओं द्वारा देखा जा सकता है, इन्द्रियों द्वारा गृहीत किया जा सकता है वह दृष्ट है, क्योंकि वह स्थूल है। स्थूलेतर एक और जगत है; जिसे आँखें देख नहीं पातीं, क्योंकि वह सूक्ष्म है। सूक्ष्म को स्वायत्त कर पाने की क्षमता स्थूल मे नही, सूक्ष्म मे होती है—सूक्ष्म दृष्टि मे होती है। जो बाह्य नेत्रों के स्थान पर आभ्यन्तर नेत्रों के खुल जाने पर प्राप्त होती है, जो (नेत्र) विद्यामय, सत्ज्ञानमय या सद्‌बोधमय होते है। "नास्ति विद्यासम चक्षुः" जैसी उक्तियाँ इसी परिप्रेक्ष्य मे मुखरित हुई।

जो सूक्ष्म मे संप्रवृत्त, सप्रविष्ट नहीं हुए, जिन्हें आभ्यन्तर-दर्शन नही मिला, उन्हें इस स्थूल पाँच भौतिक जगत् के अतिरिक्त और कुछ सूझा नही। सूझता भी कैसे, सस्कार तथा अध्यवसाय के अभाव मे चर्म-चक्षुओं से आगे वे बढ़े भी तो नहीं। अतएव एक ससीम, संकीर्ण स्थूल जगत् के आगे उनकी बुद्धि जा नहीं सकी और तद्‌गत आपात-सरस, परिणाम-विरस ऐहिक भोगों, विषयों एवं प्रियताओं मे ही वह अटकी रह गई।

"ऋण लेकर भी घी पीओ। जब तक जीओ सुख से जीओ।"[1] चार्वाक का यह कथन सुनने मे बड़ा मधुर और प्रिय था, पर भारतीय धरा पर वह टिक नहीं पाया। यही कारण है, चार्वाक का दर्शन, कुछ इधर-उधर बिखरी हुई उक्तियों के अतिरिक्त सुव्यवस्थित रूप मे आज कही भी प्राप्त नही है। क्योंकि मानव ने खूब परीक्षण किया, निरीक्षण किया, छक कर भोग भोगे पर वह अन्ततः अतुष्ट ही रहा, शांति नहीं पा सका।

जिन भोगो की मादकता में उन्मत्त बनकर मानव करणीय-अकरणीय—सब भूल जाता है, उनमें वास्तविक सुख नहीं है, मात्र मृगमरीचिका जैसा सुखाभास है। आगम वाङ्‌मय मे इस सन्दर्भ में बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। एक स्थान पर कहा है—

---

१ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः॥

सांसारिक[1] भोगों मे केवल क्षण भर के लिए सुख प्राप्त होता है, वे चिरकाल तक दुःख देते है, अत्यन्त दुःख देते है। उनमें सुख बहुत कम है, दुःख ही दुख है। वे मोक्ष-सुख के परिपंथी है, अनर्थों की खान है।"

शाश्वत्, अक्षय, निरतिशय आध्यात्मिक आनन्द के साक्षाद्द्रष्टा, सर्वद्रष्टा, रागद्वेष विजेता आप्त पुरुष की यह वाणी उस चिरन्तन सत्य का उद्‌घाटन करती है, जिससे बहिर्निपेक्ष, स्व-सापेक्ष आत्मवादी दर्शन या अध्यात्म-चिन्तन का विकास हुआ।

उपनिषद्-वाङ्मय मे याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की बडी सुन्दर कथा है। ज्ञानी याज्ञवल्क्य सब कुछ छोडकर सन्यास लेने को उद्यत थे। उनके दो पत्नियां थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। याज्ञवल्क्य के पास पुष्कल सम्पत्ति थी। वे अपनी दोनो पत्नियों के लिए उसे दो भागो मे बाट देना चाहते थे। उस सन्दर्भ मे मैत्रेयी से उनका जो आलाप-सलाप हुआ, मैत्रेयी ने उन्हें जो उत्तर दिये, वे उस प्रबुद्धहृदया सन्नारी के आध्यात्मिक ओज की एक ऐसी कहानी कह रहे हैं, जो अध्यात्म-प्रवण वाङ्मय मे सदैव प्रेरणा के एक ज्योतिर्मय स्फुलिंग के रूप मे देदीप्यमान रहेगी।

वार्तालाप-प्रसंग इस प्रकार है—

याज्ञवल्क्य बोले—"मैत्रेयी, मै इस स्थान से—गृहस्थाश्रम से ऊर्ध्वगामी होना चाहता हूँ। सन्यास लेना चाहता हूँ। अत अच्छा हो, कात्यायनी के लिए और तुम्हारे लिए अपनी सम्पत्ति के दो भाग कर दूँ।"

मैत्रेयी बोली—स्वामी ! यदि धन से भरी हुई सारी पृथ्वी भी मुझे प्राप्त हो जाए तो क्या मैं उससे अजर अमर हो सकूंगी ?

याज्ञवल्क्य का उत्तर था—मैत्रेयी ! ऐसा नही होता। जैसे अन्य साधन सम्पन्न—वैभवशाली जनो का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा होगा। धन से अमरता की आशा नही है।

मैत्रेयी ने कहा—जिससे मै अमर न हो सकूं, उसका क्या करूँ ? अत कृपया मुझे अमरत्व का मार्ग बतलाइए, जो आप जानते है।

ब्रह्मवादिनी पत्नी का यह कथन सुनकर याज्ञवल्क्य प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे—मैत्रेयी ! तुम पहले भी हमे प्रिय रही हो और अब जो कह रही हो, बडी प्रिय लगने वाली बात है। आओ, बैठो, मैं इसकी व्याख्या विवेचना करूँगा। मेरे द्वारा व्याख्यात तथ्य पर तुम चिन्तन करना।

मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय एवं निदिध्यासनीय

---

१ खणमित्तसोक्खा बहुकाल-दुक्खा, पगाम-दुक्खा अणिगामसुक्खा।
ससार-मोक्खस्सविपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

(ध्यान करने योग्य) है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से सब का ज्ञान होता है, यही प्रयोजनभूत ज्ञान है।"[1]

बडी प्रेरक कहानी है यह, जो भारतीय चिन्तनधारा के उस अनादि अनन्त स्रोत की ओर इंगित करती है, जो सूक्ष्मतम का संस्पर्श करता हुआ अपने सर्वतोभद्र ध्येय की ओर सदा अविश्रान्त रूप मे अग्रसर रहा। आध्यात्मिक चिन्तन, दार्शनिक ऊहापोह, साधना के बहुमुखी आत्मस्पर्शी प्रयोग आदि की दृष्टि से वस्तुत. वह समय बडा महिमामय रहा है।

जैन दर्शन

आध्यात्म प्रधान चिन्तनधारा में जैनदर्शन का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा इसके नाम से प्रकट है, यह जिनप्ररूपित तत्त्व ज्ञान पर आधृत है। 'जिन' जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है, जो अपने आप मे बड़ा विशद तथा गहन अर्थ लिये हुए है। जिनत्व साधना का वह परमोत्कर्ष या चरमोत्कर्ष है, जहां साधक राग और द्वेष से अतीत हो जाता है, क्रोध, मान, माया तथा लोभ के प्राचीरो को लांघ जाता है, जो उसकी अन्तश्चेतना पर घेरा डाले थी। साधक विभावावस्था को ध्वस्त कर डालता है, वह स्वभावस्थ हो जाता है, स्वस्थ हो जाता है। उसके अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्तिमत्ता के आवश्यक पर्दे हट जाते है। वर्तमान, भूत, भविष्य, स्थूल, सूक्ष्म, परोक्ष, व्यवहित – सब हस्तामलकवत् हो जाते हैं। ऐसे वीतरागो में विशिष्ट धर्मतीर्थस्थापक महापुरुष प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सत्य का सन्देश देते है, जो ज्ञान एव आचार के साक्षात्कृत स्वय अनुभूत तथ्यो पर आवृत होता है, त्रिकाला-बाधित होता है। वह जैन — जिनदेशित धर्म है।

---

१ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मिाहन्त ! तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥१॥

सा हो वाच मैत्रेयी — यन्नु म इयं भगो सर्वा पृथ्वी वित्तेनपूर्णा स्यात्कथं तेनाऽमृता स्यामिति ?

नेति होवाच याज्ञवल्क्यो। यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥२॥

सा हो वाच मैत्रेयी—येनाहु नामृता स्या किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान् वेद तदेव ब्रूहीति ॥३॥

स हो वाच याज्ञवल्क्यः—प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्व, व्याख्यास्यामि ते, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥

····आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥५॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २ ब्राह्मण ४

यह असंकीर्ण धर्म है, जो विश्वजनीन, शाश्वत सत्यमूलक आदर्शों पर टिका है, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, वर्ण आदि बाह्य भेदों से अतीत है। यों यह सत्य-प्रधान, सत्कर्म-प्रधान एवं सद्गुणप्रधान अध्यात्म-अभियान है। एतन्मूलक ज्ञानमय स्रोत अनादि-अनन्त है, जो काल के उत्कर्ष एव अपकर्ष के कारण उत्तम, मन्द आदि स्थितियो में से गुजरता है, लीन-विलीन होता है, समय पाकर पुन. उद्भासित होता है।

जैन धर्म नितान्त लोक-जनीन है जन जन का है, प्राणीमात्र का है। सम्राट प्रबल सत्ताधीश जहां इसकी उपासना के अधिकारी है, वहा सामान्य से सामान्य पुरुष को भी धर्माराधना का उतना ही अधिकार प्राप्त रहा है। उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि इसके जितने अधिकारी रहे है, कृषक, श्रमिक, परिचारक, शूद्र तथा अन्त्यज तक इसके उतने ही अधिकारी रहे है। इसमे उच्चता का आधार गुण है, जन्म नहीं। इस सन्दर्भ मे उत्तराध्ययन सूत्र का वह प्रसग बड़ा उद्बोधक है, जहा परम तपस्वी हरिकेश मुनि की चर्चा है। वे जन्मना अन्त्यज थे। सूत्रकार ने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों मे लिखा है—

'यहाँ' (इनके व्यक्तित्व मे) तप का वैशिट्य प्रत्यक्षत दृश्यमान है, जाति-वैशिष्ट्य कुछ भी दिखाई नही देता। साधु हरिकेश, जो जन्मना श्वपाकपुत्र-चाण्डाल कुलोत्पन्न है, तप की कैसी महनीय ऋद्धि से समायुक्त है।"[1]

सूत्रकार का हरिकेश मुनि के विलक्षण तपोवैभव के प्रति कितना समादर है, उद्धृत गाथा की शब्दावली से यह भलीभाँति प्रकटित है।

जैनधर्म के ये चिरन्तन आदर्श अनेक प्रतिकूल परिस्थितियो मे से गुजरते रहने के बावजूद आज भी सर्वथा विलुप्त नही हुए है, किसी न किसी रूप मे संप्रतिष्ठ है।

जैन दर्शन का साध्य साधना की यात्रा

अद्वैत वेदान्त (केवलाद्वैत) कहता है, यह जगत् मिथ्या है। अविद्या (अज्ञान) के कारण सत्य की ज्यो प्रतीत होता है। जैन दर्शन की भाषा मे इसका निरूपण जरा भिन्न कोटि का स्पर्श करता है। उसके अनुसार जगत् का अस्तित्व तो है, जगत् है ही नहीं—ऐसा नही है, किन्तु वह [जगत्] आत्मा का साध्य नहीं है। वह पर है, आत्मा को उससे छूटना है, विभावावस्था से स्वभाव में आना है।

एतदर्थ साधक को आत्मा पर छाये हुए कर्म मल का अपगम करना होता है। दूसरे शब्दो मे आत्मशोधन हेतु अति तीव्र अध्यवसाय में जुटना होता है। अध्यात्म

---

१ सक्खं खु दीसई तवो विसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तो हरिएस साहू, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा॥
—उत्तराध्ययन १२।३७

की भाषा मे यह अन्तर्जगत् के तुमुल संग्राम की स्थिति है। आगम-वाङ्मय मे बड़े ओजपूर्ण शब्दों मे कहा गया है—

"साधक ! तुम अपनी आत्मा के साथ युद्ध करो, अपने आप से जूझो, बाहरी युद्ध से क्या मघेगा। जो आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लेता है, वह वास्तव मे सुखी हो जाता है।"[1]

"आत्मा का, अपने आपका दमन करो। आत्मदमन—आत्मविजय वस्तुतः बहुत कठिन है। जो अपने आपका दमन करता है, अपने आप पर विजय प्राप्त करता है, वह इस लोक मे तथा परलोक मे सुखी होता है।"[2]

"एक योद्धा दुर्जय युद्ध मे लाखों योद्धाओ को जीतने मे सक्षम हो सकता है, पर वह जय परम जय नही है। उसे यथार्थ विजय नही कहा जा सकता। वह केवल अपनी आत्मा को जीत ले, परम जय वह है। क्योकि उसमे बहुत बड़े अन्तर्बल की आवश्यकता होती है।"[3]

"साधक, तुम अपने आपका निग्रह करो—अपने आप पर नियन्त्रण करो। ऐसा कर तुम समस्त दुःखों से छूट जाओगे।"[4]

यह छूटने—छुटकारा पाने की स्थिति ही तो मोक्ष है, जिसका तात्पर्य आत्मा का अपने सत्-चित्-आनन्दमय शुद्ध स्वरूप मे अवस्थित होना है। दूसरे शब्दो मे आत्मभाव से ऊँचे उठकर परमात्मभाव को स्वायत्त करना है।

जैन दर्शन के अनुसार साधना की यह यात्रा बन्धन से मुक्ति की ओर गतिशील होती है। हेय, उपादेय, ज्ञेय का यथार्थ ज्ञान वहाँ अपेक्षित है। सत्यानुरूप चरण या चर्या द्वारा वह ज्ञान सार्थकता पाता है।

ज्ञान की गगा

धर्मतीर्थ के संस्थापक, सर्वज्ञ, सवदर्शी तीर्थंकर अपनी धर्म-देशना द्वारा ज्ञान की निर्मल गगा बहाते रहे है। वर्तमान कालक्रम के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे, जिन्होने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए अपनी देशना द्वारा सत्य का संप्रसार किया।

---

१ अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेहए। —उत्तराध्ययनसूत्र ९.३५

२ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य। —उत्तराध्ययनसूत्र १.१५

३ जो सहस्सं सहस्साण, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ। —उत्तराध्ययनसूत्र ९.३४

४ पुरिसा ? अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।
—आचाराग सूत्र १.३.३

जैन परम्परा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह है—वह आभिजात्यवाद या विशिष्ट वर्गवाद पर नही टिकी है। वह सर्वथा लोकजनीन है। जैसे वर्ग-विशेष, वर्ण-विशेष, जाति-विशेष आदि के लिए वहाँ कोई स्थान नही है, उसकी प्रकार, भाषा, निरूपण-पद्धति आदि में भी कभी कोई आग्रह नही रहा। तीर्थंकर जन-जन द्वारा बोली जाती, समझी जाती भाषा मे उपदेश करते है। भगवान् महावीर जिस युग मे हुए, जहाँ हुए, उस भूभाग की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत थी। उसी में उन्होने धर्म-देशना दी।

समवायांग सूत्र मे भगवान् द्वारा अर्द्धमगधी भाषा मे धर्मोपदेश दिये जाने का उल्लेख है।[1]

दशवैकालिक की वृत्ति मे कहा गया है कि तत्वदृष्टाओ—सर्वज्ञो ने चारित्र की आकाक्षा करने वाले बालक, स्त्रियाँ, बूढे, अशिक्षित-सभी को लाभान्वित करने हेतु प्राकृत मे धर्म सिद्धान्तो की विवेचना की।[2]

भगवान् महावीर द्वारा सूत्ररूप मे—संक्षेप मे समुपदिष्ट धर्माख्यान का उनके प्रमुख शिष्यों—गणधरों ने सग्रथन किया, जो द्वादशाग के रूप मे विश्रुत हुआ। द्वादशांग में बारहवां अग दृष्टिवाद विलुप्त हो गया। अवशिष्ट अग जैसे जितने सकलित हो सके, सुरक्षित रह सके, आज भी हमे उपलब्ध है।

आगम वाङ्मय मे तत्त्व-दर्शन, पदार्थ-विज्ञान, श्रमणाचार, श्रावकाचार, विरति प्रत्याख्यान, तप आदि धर्मोपयोगी विभिन्न विषयो का तो विस्तृत विवेचन है ही, प्रसंगोपात्तरूप मे लोक-जीवन, सामाजिक स्थिति, कृषि, व्यापार-व्यवसाय, जनपद, नगर ग्राम, उद्यान, पथ, राजा, प्रजा, शस्त्र, सेना, प्रशासन, कला, परिवेश, देह-सज्जा, अलंकरण, वस्त्र, बर्तन, भवन आदि विभिन्न लौकिक विषयो का भी बहुत ही सजीव चित्रण है। इस दृष्टि से जैन आगम न केवल जैन तत्त्व ज्ञान तथा जैन आचार-बोध के लिए ही पठनीय है, अपितु भारतीय जीवन का सही स्वरूप जानने की दृष्टि से भी उनका अध्ययन प्रत्येक भारतीयविद्याभ्यासी के लिए अपेक्षित है।

श्रुत का सुविकास

जैन वाङ्मय की यह अमर धारा अनेक श्रुतोपासक आचार्यों, उपाध्यायो, मुनियो तथा विद्वानो द्वारा उत्तरोत्तर संवर्धित और सुविकसित होती रही। जब भारत मे नैयायिक पद्धति से सस्कृत मे धर्म-तत्त्वो के विश्लेषण का क्रम गतिमान था, जैन

---

१ भगवं च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायाग सूत्र—३४·२२

२ बाल स्त्रीवृद्धमूर्खाणा नृणा चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतःकृतः॥

—दशवैकालिक वृत्ति पृष्ठ २२३

मनीषियों ने जैन तत्त्वज्ञान को संस्कृत में तार्किक पद्धति से निरूपित किया था। फलत. सन्मतितर्कप्रकरण, द्वादशारनयचक्र, प्रमाण-नयतत्त्वालोक, स्याद्वाद-मंजरी, स्याद्वाद-रत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, अष्टशती, अष्टसहस्री, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभृति अनेक ग्रन्थो की रचनाएँ हुईं, जिनका प्रमाणशास्त्रीय साहित्य मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन तत्त्वज्ञान की वैज्ञानिकता, अन्त स्पर्शिता तथा सूक्ष्मग्राहिता का ही यह परिणाम था कि समय-समय पर बड़े-बड़े विद्वान इससे प्रभावित हुए तथा इसमे आस्थावान् एव समर्पित हुए। दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त और भी अनेक विधाओ मे जैन तत्त्व ज्ञान विकसित हुआ, अनेक भाषाओ मे उस पर रचनाएँ हुईं। जैन तत्त्वदर्शन एव वाङ्मय की मौलिकता, गम्भीरता आदि से अनेक प्राच्य विद्यानुरागी पाश्चात्य विद्वान भी प्रभावित हुए। डॉ हर्मन जैकोबी, प्रो. वेबर, प्रभृति अनेक विद्वानो ने इस दिशा मे अपनी-अपनी दृष्टि से गहन अध्ययनपूर्ण साहित्यिक कार्य भी किया। कार्य की आलोच्यता अनालोच्यता पर न जाकर मेरे कहने का आशय मात्र इतना ही है कि जैन सस्कृति, चिन्तनधारा तथा वाङ्मय द्वारा वे बहुत आकृष्ट हुए।

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

जैन तत्त्वज्ञान, आचार पद्धति एवं साधना पर, जो अध्यात्म-जगत् की अप्रतिम गौरवमय विरासत है, सर्वांगीण रूप मे प्रकाश डालने के लक्ष्य से प्रातःस्मरणीय, जैनागमरत्नाकर, श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के प्रथम आचार्यसम्राट परमपूज्य स्व श्री आत्मारामजी महाराज ने लगभग चार दशाब्द पूर्व जैन तत्वकलिका संज्ञक प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। जैन दर्शन पर सम्यक् रूप में प्रकाश डालने की दृष्टि से यह ग्रन्थ तब कितना महत्वपूर्ण तथा उपयोगी समझा गया, यह इसके प्रथम संस्करण के पुरोवचन-लेखक देश के तत्कालीन प्रकाण्ड विद्वान्, ओरिएन्टल कॉलेज, लाहौर के प्राफेसर कवितार्किक पं. नृसिंहदेव शास्त्री दर्शनाचार्य के शब्दों से सुप्रकटित है। (देखिए पुरोवचन)

इस ग्रन्थ की रचना के पीछे स्व. आचार्यदेव का अभिप्रेत था, जैन तत्वज्ञान अपने मूल स्वरूप में उपस्थापित किया जा सके। उन्होंने प्रस्तावना में इस ओर सकेत करते हुए लिखा है—

'मेरे अन्तःकरण मे चिरकाल से यह विचार विद्यमान था कि एक ग्रन्थ इस प्रकार से लिखा जाय, जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा विमुक्त हो और उसमे केवल जैन तत्वों का ही जनता को दिग्दर्शन कराया जाय, जिससे जैनेतर लोगो को भी जैन तत्त्वों का भली भाँति बोध हो जाय।

इस उद्देश्य को ही मुख्य रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। जहाँ तक हो सका है, इस विषय की पूर्ति करने में विशेष चेष्टा की गई है।''

सद्ज्ञान के व्यापक प्रसार का कितना उदात्त तथा पवित्रभाव आचार्यवर के

मन मे था, उपर्युक्त शब्दो से यह स्पष्ट है। आचार्यप्रवर ने प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप मे जैन जगत् को, भारतीय विद्या के अध्येतृवृन्दकों, तत्व-जिज्ञासुओ को एक अमूल्य सारस्वत उपहार भेंट किया है।

परमपूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज जैन जगत् के परम ज्योतिर्मय भास्वान् थे, जैन आगम एव दर्शन के वस्तुतः महान् रत्नाकर थे, परम उत्कृष्ट साधक थे। उनका व्यक्तित्व पवित्रता, सौम्यता एव सरलता का अनुपम निदर्शन था। वे साधना की दीप्ति से देदीप्यमान थे। मैं चार-पाँच दशाब्द पूर्व की स्मृतियो मे जाता हूँ तो मुझे वि स १९९० मे अजमेर (राजस्थान) मे समायोजित अखिल भारतवर्षीय जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी साधु सम्मेलन की याद आती है। प्रायः देशभर के स्थानकवासी सन्त, जो पद यात्रा करने मे सक्षम थे, सम्मेलन मे पधारे थे। मैं भी अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्व. श्री हजारीमलजी म. सा के साथ वहाँ उपस्थित हुआ था। तब मुझे आदरास्पद आचार्यवर श्री आत्मारामजी महाराज के दर्शन तथा सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। उनके व्यक्तित्व की विराट्ता, ज्ञान की गरिमा और उनके निर्मल, शान्त एव सौम्य जीवन से मै अत्यधिक प्रभावित हुआ और यह सोचकर अपने को गौरवान्वित भी माना कि हमारी स्थानकवासी श्रमण-परम्परा मे ऐसे महान् श्रुतोपासक, ज्ञानयोगी विद्यमान है। सचमुच वे मुझे ज्ञान के एक दिव्य ज्योति-पुज प्रतीत हुए।

विक्रम स० २००९ मे सादडी (राजस्थान) मे हुए अखिल भारतवर्षीय जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी साधु सम्मेलन मे सर्वसम्मत रूप मे समग्र स्थानकवासी श्रमण सम्प्रदायो का श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के रूप मे एकीकरण हुआ। एकीकृत श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य मे रूप के परमपूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का मनोनयन कर समस्त साधु-समाज ने अपने को सौभग्यशाली माना। दैहिक अस्वस्थता के कारण यद्यपि वे पद-यात्राएँ करने मे सक्षम नही थे, पर लुधियाना (पजाब) स्थिरवास मे विराजित रहते हुए भी अपने विचक्षण शासन-कौशल और सूझ-बूझ से श्रमण-सघ का सुन्दर एव समीचीन रूप मे सचालन करते रहे। वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ के प्रथम आचार्य के रूप मे उनकी सेवाएँ युग-युग तक आदर तथा श्रद्धा के साथ स्मरणीय रहेंगी।

आचार्यवर के हृदय मे समग्र साधु-साध्वी समाज के प्रति आध्यात्मिक स्नेह और वात्सल्य का अथाह सागर लहराता था। एक प्रसंग का मै यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा—कुछ वर्ष हुए, हमारी अन्तेवासिनी परमविदुषी साध्वी श्री उमरावकुँवरजी "अर्चना" ने काश्मीर की पदयात्रा की थी। यात्राक्रम के बीच मार्ग मे उन्होने आचार्यवर के सानिध्य-लाभ तथा उनसे विद्यालाभ की भावना से लुधियाना मे आचार्यदेव की छत्रछाया में अपना चातुर्मासिक प्रवास किया। आचार्यवर ने उन्हें विद्या-लाभ देते हुए उनके प्रति, उनकी सहवर्तिनी साध्वियों के प्रति जो असीम अनुग्रह, आध्यात्मिक वात्सल्य तथा औदार्य-भाव दिखाया, साध्वीजी, अब भी, जब कभी वह चर्चा

चलती है, आचार्यवर के प्रति श्रद्धा तथा कृतज्ञता से भावविह्वल एवं हर्षविभोर हो जाती है। ऐसे महापुरुष इस वसुन्धरा के रत्न और मानवता के भूषण होते हैं।

एकीकृत श्रमण-संघ के पूर्व वे (पं० पूज्य आत्मारामजी महाराज) पंचनद प्रदेश के आचार्य परमपूज्य श्री काशीरामजी महाराज के सम्प्रदाय में उपाध्याय पद पर रहे। अनवरत श्रुतोपासना, श्रुत-सेवा, श्रुत-प्रसार श्रुत-शिक्षण इत्यादि उपाध्याय पद की विशेषताएँ उनमे मानो मूर्तिमती थी। परमपूज्य आचार्यवर श्री काशीरामजी महाराज के दिवंगमन के पश्चात् वे पचनदीय सघ के आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। उनका कार्यकाल परम यशस्वी रहा। तदनन्तर जैसा पहले उल्लेख किया गया है, समग्र सघ ने उन्हे आचार्यसम्राट के रूप मे प्राप्त कर अपने को धन्य माना।

ग्रन्थकार द्वारा अमर साहित्य-साधना

प्रारम्भ से ही परमपूज्य श्री आत्मारामजी महाराज शास्त्रानुशीलन, चिंतन, मनन एव निदिध्यासन मे अनवरत अभिरुचिशील, उद्यमशील एव गतिशील रहे। जैन आगम एवं दर्शन के साथ-साथ तुलनात्मक दृष्टि से उन्हे वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि अन्यान्य दर्शनो का भी तलस्पर्शी, गहन अध्ययन था। सस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्य भाषाओ के वे पारगामी विद्वान् थे। वस्तुत उनकी ज्ञानसम्पदा विशाल थी, महनीय थी। उन्होने अपनी अर्जित विद्या द्वारा जिज्ञासुवृन्द को उपकृत करने हेतु तथा स्वान्तः सुखाय विपुल साहित्य का सर्जन किया। उन्होने जो भी साहित्य रचा, वह अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा उच्चस्तरीय है। उनकी शाश्वत समर्थ लेखिनी अविश्रान्तगत्या चलती ही रहती थी।

जैन आगम वाङ्मय पर आचार्य वर की निम्न कृतियाँ है (ये सभी सस्कृत—छाया, हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन सहित है)

१. आचाराग सूत्र	१०. पुष्पचूलिका सूत्र
२. स्थानाग सूत्र	११. वृष्णिदशा सूत्र
३ समवायांग सूत्र	१२. दशवैकालिक सूत्र
४. उपासकदशाग सूत्र	१३. उत्तराध्ययन सूत्र
५. अन्तकृद्दशाग सूत्र	१४. नन्दी सूत्र
६ अनुत्तरौपपातिक दशा सूत्र	१५. अनुयोगद्वार सूत्र
७. निरयावलिका सूत्र	१६. बृहत्कल्प सूत्र
८. कल्पावतंसिका सूत्र	१७. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र
९. पुष्पिका सूत्र	१८. आवश्यक सूत्र

आगम वाङ्मय पर आचार्यवर का यह सर्जन वास्तव मे एक ऐसा ठोस कार्य है, जो जैन संस्कृति, जैनधर्म और जैन दर्शन की सदा प्रभावना करता रहेगा। आचार्य वर द्वारा किये गये विवेचन एवं विश्लेषण मे सर्वत्र उनके गहन अध्ययन, प्रखर पाण्डित्य तथा समीक्षात्मक व गवेषणात्मक प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। मैं यहाँ यह प्रकट

करता हुआ उन दिवगत महान् आत्मा का हृदय से आभार मानता हूँ कि आगमों के सम्पादन, अनुवाद विवेचन आदि का जो वृहत कार्य मैंने उठाया है, उसमे मुझे तथा सम्पादन-रत सुधीजनो को आचार्यवर की उक्त कृतियो से मार्गदर्शन तथा सहयोग प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त आगम वाङ्मय के अतिरिक्त आचार्यवर ने जैन तत्त्व ज्ञान, जैन धर्म शिक्षा, प्राकृत व्याकरण, कोष इत्यादि विषयो पर निम्नाकित पुस्तको की रचना की—

१ तत्वार्थ सूत्र जैनागम-समन्वय
२. जैनागमो में अष्टाग योग
३. जैनागमो में स्याद्वाद
४ जैनागमो मे परमात्मवाद
५ जैनागमो मे न्यायसंग्रह
६ जीव-कर्म-सवाद
७. जीव-शब्द-संवाद
८. विभक्ति-संवाद
९. आस्तिक-नास्तिक-सवाद
१०. कर्म-पुरुषार्थ-निर्णय
११. भगवान् महावीर और माँस निषेध
१२. वीरत्थुई
१३-२० जैन धर्म शिक्षावली, आठ भाग
२१. प्राकृत बाल बोध
२२. प्राकृत बाल मनोरमा
२३. सचित्र अर्द्धमागधी कोष

जैसा कि इन पुस्तको के नाम से स्पष्ट है, जैन धर्म, दर्शन एवं साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन मे वास्तव मे ये बडी सहायक तथा उपयोगी कृतियाँ है। आचार्यवर की सारस्वत आराधना तथा साहित्यिक सर्जना आदि मे क्षण क्षणवर्ती सक्रियता एवं जागरूकता का ही यह सुपरिणाम है कि उनके व्यापक अध्ययन एवं चिरन्तन अनुभव से समुद्भूत इतना बहुमूल्य साहित्य आज हमे उपलब्ध है। ज्ञानानुशीलन, साहित्यिक शोध तथा अभिनव प्रणयन मे अभ्युद्यत विद्याभ्यासंगी जनो के लिए उनका जीवन एक अनुकरणीय उदाहरण है।

जैन तत्त्व कलिका : विषयवस्तु: विस्तार

परमपूज्य आचार्यवर श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा विरचित जैन तत्त्व कलिका का प्रथम संस्करण लगभग चार दशाब्द पूर्व लाहौर से प्रकाशित हुआ था। विद्वज्जगत् मे ग्रन्थ बहुत समादृत हुआ।

जिज्ञासुजन उससे अत्यधिक लाभान्वित हुए। उसी ग्रन्थ का यह संशोधित, परिष्कृत, सुसंपादित द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष है।

प्रस्तुत ग्रन्थ नौ कलिकाओं में विभक्त है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम कलिका में आर्हतपरम्पराभिमत आराध्यदेवों का विवेचन है। इसके अन्तर्गत अर्हत् अरिहत भगवान् तथा सिद्ध भगवान् का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अरिहत राग-द्वेष-विजेता होते हैं, सर्वज्ञ होते है, उन सभी आन्तरिक दुर्बलताओं से वे अतीत होते है, जो आत्मा की अनन्त शक्तिमयता तथा आनन्दमयता आदि को व्याहृत करती हैं। उन्हे वर्तमान, भूत, भविष्य साक्षात प्रतीयमान होते है। इसीलिए जो भी वे आख्यात करते है, वह साक्षात् दृष्ट, साक्षात् अनुभूत, सर्वथा निर्बाध होता। उन्ही द्वारा प्रदत्त धर्मदेशना से सत्तत्व का उजागरण तथा सप्रमारण होना है। उनसे आगे सिद्धत्व-प्राप्ति की भूमिका है, जहाँ जीवन का साध्य सम्पूर्णत सघ जाता है, कार्मिक आवरण निःशेष हो जाते हैं, जो करणीय था, वह कृत बन जाता है। जैन धर्म के अनुसार अर्हत् तथा सिद्ध ही पूज्य एव उपास्य है। जीवन की दिव्यता, परमपवित्रता, परमशुद्धता उनमे होती है। वे प्रेरणा-पुञ्ज होते है। उनकी पर्युपासना से, प्रार्थना से जीवन मे अन्तस्फुरणा तथा धर्मोत्साह का पवित्र भाव जागरित होता है। उनका मूर्तामूर्त व्यक्तित्व इतना प्रभावक, सात्विक एव अध्यात्मज्योत्स्नामय होता है कि भावनापूर्वक उनका स्मरण करने से मनःस्थिति में पवित्रता, शुद्धता का संचार होता है। प्रथम कलिका में आचार्यवर ने अर्हत् का स्वरूप, उनका वैशिष्ट्य, उन द्वारा आख्यात धर्मदेशना से अनुप्राणित सस्कृति, अर्हत् पद प्राप्ति का समुद्यम, साधना सिद्ध का स्वरूप, उनके भेद वैशिष्ट्य आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

वस्तुत. अर्हत् और सिद्ध स्वय किसी को कोई वरदान या सिद्धि नही देते। उनकी बाह्य तथा आन्तरिक सन्निधि, संस्मृति, भक्ति से चित्त का परिष्कार, अशुभ भावो का शमन, शुभ भावो का उद्गम आदि साधक के सहज ही सध जाते है—इत्यादि विषयो पर बडा मार्मिक विश्लेषण इस कलिका मे हुआ है। प्रासगिक रूप मे ईश्वरकर्तृत्व, अवतारवाद आदि विषय भी समीक्षात्मक दृष्टि से वहाँ चर्चित हुए हैं।

द्वितीय कलिका मे ग्रन्थकार ने गुरु के स्वरूप का विवेचन किया है। जैन परम्परा में साधना के सन्दर्भ मे गुरू का आशय धर्मगुरु से है। इसमें आचार्य, उपाध्याय तथा निर्ग्रन्थ-साधुओ का समावेश होता है। धार्मिक जीवन में उनका स्थान बहुत ऊँचा होता है। वे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतो का मन, वचन, काय द्वारा कृत-कारित अनुमोदित रूप में सम्यक् परिपालन करते हैं। आत्म-सम्मार्जन, आत्म-परिष्कार एवं आत्म-शोधन का पुनीत लक्ष्य लिये वे संयम

एवं तपश्चरणमूलक साधना मे निरत रहते है, जन जन को उस ओर उत्प्रेरित करते हैं, व्रतमय पवित्र जीवन की उन्हें प्रेरणा देते है। वे महान उपकारी है, तत्सम्बद्ध सभी विषयों पर इस कलिका मे प्रकाश डाला गया है।

आचार्य, उपाध्याय तथा साधु के विशेष गुण, गरिमा, साधना व्यक्तित्व आदि का इसमें विशद विवेचन हुआ है।

तृतीय कलिका मे ग्रन्थकार ने धर्म का विवेचन किया है। दशविध धर्म, धर्म की व्युत्पत्ति, धर्म के शुद्धत्व की कसौटी, धर्म का स्वरूप, धर्म का फल, धर्म की आवश्यकता, धर्म की उपादेयता, धर्म की प्राप्ति, धर्म की शक्ति, धर्म का परिपालन, तदर्थ आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ कलिका मे श्रुत-धर्म के सन्दर्भ मे सम्यक्ज्ञान का विवेचन है। श्रुत धर्म का स्वरूप, सम्यक्श्रुत, मिथ्याश्रुत, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्याय ज्ञान, उनके भेद, केवलज्ञान, तथा सम्यक्ज्ञान सम्बद्ध अन्याय विषयो का इसमे मार्मिक विश्लेषण हैं।

पंचम कलिका मे श्रुत-धर्म के सन्दर्भ मे सम्यक्दर्शन का बहुमुखी विवेचन है। ग्रन्थकार ने तदन्तर्गत जीव, अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा बन्ध, मोक्षरूप नौ तत्वो की विस्तृत व्याख्या की है।

छठी कलिका मे ग्रन्थकार ने सम्यक्दर्शन के सन्दर्भ मे आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद का वर्णन किया है। इस प्रसंग मे आत्मा के स्वरूप पर समीक्षात्मक दृष्टि से जो विशद विवेचन किया गया है, वह बडा हृदयग्राही है। कर्मवाद का भी अत्यन्त गहन तथा सूक्ष्म विवेचन यहाँ हुआ है। इसी प्रकार लोकवाद आदि का भी सागोपाग विश्लेषण किया है।

सप्तम कलिका मे अस्तिकाय-धर्म का वर्णन है। इसके अन्तर्गत षडद्रव्यात्मक विश्व, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय का स्वरूप, कार्य, काल का स्वरूप, तत्सम्बन्धी मान्यताएँ इत्यादि विषय बड़े सुन्दर रूप मे व्याख्यात हुए है।

अष्टम कलिका मे चारित्र धर्म के सन्दर्भ मे गृहस्थ-धर्म का स्वरूप वर्णित हुआ है। उसके अन्तर्गत आगार-चारित्रधर्म, गृहस्थ धर्म के सामान्य सूत्र-आदर्शचर्या सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत, तीन गुण व्रत, चार शिक्षाव्रत इत्यादि गृहस्थोपयोगी विषयो का विशद विवेचन किया गया है।

नवम कलिका में सम्यक् ज्ञान के सन्दर्भ मे प्रमाण-नय स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रमाण के भेद-प्रभेद, नयवाद, नय के प्रकार, प्रभृति विषयों का विशद विवेचन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन हमारी वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघीय परम्परा के उद्‌बुद्धचेता, परमसेवाभावी सन्त भण्डारी श्री पदमचन्दजी महाराज के

सुशिष्य प्रवचन-भूषण, हरियानाकेसरी श्री अमरमुनि जी ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। प्रमुख साहित्यसेवी, सम्पादन कलानिष्णात श्री श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' ग्रन्थ के सह-सम्पादक है। यह मणि-कांचन जैसा सुन्दर योग है। इन मनीषियो के कौशलपूर्ण श्रम से ग्रन्थ अधुनातन शैली व साज-सज्जा के साथ बहुत सुन्दर रूप में तैयार हुआ, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

एक महान् आचार्य की महनीय कृति को जिस महनीयता के साथ प्रस्तुत किया जाना चाहिए, इन्होने सफलतापूर्वक वैसा किया है। मैं इन्हे तथा समादरणीय भण्डारी श्री पदमचन्दजी महाराज को, जिनकी इस कार्य के मूल में सजग प्रेरणा रही, हृदय से साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

जैसा यथाप्रसंग इगित किया गया है, ग्रन्थ के परिशीलन तथा पर्यवलोकन से यह स्पष्ट है, जैन धर्म तथा दर्शन से सम्बद्ध प्राय सभी प्रमुख विषय इसमें अत्यन्त प्रामाणिक, शास्त्रीय तथा युक्तियुक्त रूप में व्याख्यात हुए है। अन्यान्य दर्शनों मे उन उन विषयो पर हुए निरूपण के साथ जो तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवेचन किया गया है, वह गहरी तलस्पर्शिता और सूक्ष्मता लिये हुए है। यह बहुत ही प्रशस्त लगा, तुलना तथा समीक्षा मे तत्तद् ग्रन्थो के उद्धरण इसमे यथावत् रूप मे उपस्थापित किये गये है। ग्रन्थगत विशद सामग्री को देखते हुए मेरा ऐसा विश्वास है, जिज्ञासु वृन्द को इस एक ही ग्रन्थ के परिशीलन से जैनधर्म, दर्शन, साधना-पद्धति आदि सभी विषयो का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

तात्त्विक विषयो के मूलग्राही एव अनुसन्धान परक विश्लेषण के कारण मै समझता हूँ, प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन के गहन अध्येताओ तथा अनुसन्धित्सुओ के अध्ययन व अनुसन्धान मे भी विशेष सहायक सिद्ध होगा।

आशा है, आत्मोन्नयन के अभिलाषी, सत्यगवेषी पाठक प्रस्तुत कृति से लाभान्वित होगे।

जैन स्थानक,
मदनगज-किशनगढ़ (राजस्थान)
२ अक्टूबर गाँधी जयन्ती
सन् १९८२

—युवाचार्य मधुकरमुनि

वाणी के जादूगर श्री अमरमुनि जी
(संक्षिप्त परिचय)

संस्कृत का एक प्राचीन श्लोक है—

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दश सहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥

सैकड़ों मनुष्यों मे कोई एक वीर निकलता है, हजारो मे कोई एक पंडित (विद्वान) मिलता है और दशहजार मे कोई एक वक्ता मिलता है, दाता तो मिले या न भी मिले।

वक्ता वाग्देवता का प्रतिनिधि है, वक्ता की वाणी मुर्दों मे प्राण फूंक देती है, और पापियो का पुण्यात्मा बना देती है। वक्ता फिर अगर सन्त हो, वह भी भक्त हो, कवि हो तो फिर सोने में सुगन्ध या लाखो में कोई एक' की उक्ति चरितार्थ करता है।

प्रवचन भूषण श्री अमर मुनिजी महाराज इसी कोटि के सन्त वक्ता हैं। इनकी वाणी मे एक प्रेरणा है, भावनाओ मे तूफान मचा देने वाला जादू है। दानव को मानव और मानव को देवता बना देने वाली विलक्षण शक्ति है। वे समतायोगी सत है, आत्म-साधना करने वाले महान साधक है, प्रभुभक्ति मे लीन रहने वाले भक्त है, और अन्तर जीवन का संगीत गुनगुनाने वाले सहज कवि है।

आपका जन्म वि. स. १९९३ भादवासुदि ५ तदनुसार ई० सन् १९३६ मे क्वेटा (बिलोचिस्तान) के सम्पन्न मल्होत्रा परिवार मे हुआ। आपके पिता श्री दीवान चन्दजी माता श्री बसन्तीदेवी बडे ही उदार और प्रभुभक्त थे। भारत विभाजन के बाद आप अपने माता-पिता के साथ लुधियाना आ गये। वहाँ आपको दो ही वर्ष हुए होंगे कि आपने एक जैन साधु श्री मनोहर मुनिजी को दीक्षा लेते हुए देखा और तभी से आपकी आत्मा भी जागृत हो गयी। आयु चाहे आपकी बाल्यावस्था ही थी परन्तु अन्तःकरण मे वैराग्य का दीप प्रज्ज्वलित हो चुका था। अतः आप ११ वर्ष की अवस्था मे आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज के चरणो मे उपस्थित हुए और अपने विचार रखे। आचार्य श्री ने आपको अपनी दिव्य दृष्टि से देखा, कुछ पूछताछ हुई और आपका हाथ आपके गुरुदेव नवयुग सुधारक जैन विभूषण श्री भण्डारी पदमचन्द जी महाराज को पकडा दिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान सम्पादक प्रवचनभूषण

श्री अमरमुनि जी महाराज

जन्म :
वि० सं० १९९३ भाद्रपद सुदि ५
क्वेटा (बिलोचिस्तान)

दीक्षा
वि० सं० २००८ भाद्रपद सुदि ५
सोनीपत (पंजाब)

आप तभी से ज्ञान अर्जन मे लग गये और हिन्दी संस्कृत व प्राकृत आदि का तथा जैन दर्शन का आपने अच्छा अध्ययन किया और १५ वर्ष की आयु मे सोनीपत मण्डी, वि. सम्वत २००८ भाद्र पद शुदि ५ को साधु दीक्षा अंगीकार की । तब से आप निरन्तर जाग्रति पथ पर आगे ही आगे बढ़ रहे है। आप एक सुयोग्य विद्वान हैं। आपके अनेक भक्ति सग्रह प्रकाशित हुए हैं। कुछ सूत्रो (जैन आगमों) का भी सम्पादन किया है।

आपकी वाणी मे इतनी मधुरता है कि जो भी भक्त एक बार आपकी वाणी सुन लेता है वह आपका ही होकर रह जाता है। आपकी प्रवचन शैली भी अत्यन्त रोचक, ज्ञानमयी, एवं ऐसी समन्वयात्मक है कि सभी सम्प्रदाय के लोग आपके प्रवचनो में आते है। यही कारण था कि फरीदकोट चातुर्मास में आपको वहाँ के समाज ने 'प्रवचन भूषण' की उपाधि से अलंकृत किया था। जब आपने लुधियाना मे चातुर्मास किया तब आपकी ज्ञान गरिमा को तत्रस्थ उपाध्याय श्री फूलचन्द जी महाराज ने देखा तो आपको 'श्रुत वारिधि' की उपाधि प्रदान की। समाज के कई बिगड़े कार्य सुधरे, वर्षों से पड़ी अम्बाला जैन गर्ल्ज हाईस्कूल की बिल्डिग की योजना को मूर्तरूप दिया गया। सब आपकी प्रवचन शैली व अनुपम व्यक्तित्व का ही प्रभाव था वहाँ की समाज ने और परम पूज्य तपस्वी श्री सुदर्शन मुनिजी महाराज ने आपको 'हरियाणा केसरी' की उपाधि से सम्मानित किया।

आप प्रारम्भ से ही अपने गुरुदेव श्री भडारी जी महाराज के साथ रहे। आप स्वभाव से बडे सरल, निर्मल अन्त करण के है, आपका हृदय बडा ही दयालु और स्नेहमय है। गुणीजनों का आदर करना और दीन-दुखी पीडितों पर करुणा कर उनका उद्धार करना आपकी मानवीय उदार वृत्ति है।

गुरुदेव श्री भडारी जी महाराज सदा परोपकार, सेवा और जीवदया धर्म की प्रेरणा देते रहते है। आप भी गुरुदेव श्री की प्रत्येक योजना को सफल बनाने मे उनको कार्यरूप मे परिणत करने में दत्त चित्त रहते हैं।

आप श्री की प्रेरणा और मार्गदर्शन से पंजाब एव हरियाणा मे स्थान-स्थान पर धर्म स्थानक, वाचनालय, जैन हॉल, विद्यालय भवन, चिकित्सालय आदि की स्थापनाएँ हुई है और बड़े-बड़े लोक-सेवा के कार्य हुए है। जिनमें भटिण्डा, पदमपुर, मंडी (राजस्थान) हनुमान गढ (राजस्थान) मानसा मंडी, निहालसिहवाला आदि अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं।

आचार्य पूज्यश्री काशीराम जैन गर्ल्ज हाईस्कूल अम्बाला शहर, जैन हाईस्कूल डेरावासी, जैन स्थानक अशोक नगर, यमुनानगर आदि अगणित प्रेरणा स्तम्भ है।

इस वर्ष जैनाचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है, जिसके प्रेरणा स्रोत भी आप ही है।

अभी गत वर्ष कुरुक्षेत्र में आपका वर्षावास था, वहाँ जैनों की संख्या तो

बहुत ही कम है किन्तु आपकी वाणी के प्रभाव से प्रभावित जैन-अजैन सभी लोगो के सहयोग से बहुत ही थोडे समय में वहाँ विशाल जैन हॉल का निर्माण हो गया।

आपश्री ने पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज की जन्म शताब्दी वर्ष की पावन स्मृति के उपलक्ष्य मे विशाल जैन आगम भगवती सूत्र (करीब छह खडों मे) का संपादन-विवेचन भी किया है और वह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत कृति-जैन तत्वकलिका का नयी शैली मे सपादन भी आप ही के मार्गदर्शन एवं सान्निध्य मे हुआ है। इस प्रकार आप जैन धर्म, सस्कृति, साहित्य और समाज के अभ्युदय एवं कल्याण मे तीस वर्षों मे निरन्तर गतिशील है।

आपके गुरुदेव परम शान्तमना नवयुगसुधारक श्री भंडारी जी महाराज स्वयं जैन संस्कृति और साहित्य के अभ्युदय मे प्रयत्नशील है। आपके ही सत्प्रयत्न से पटियाला युनिवर्सिटी मे जैन चेयर की स्थापना हुई।

हम प्रभु से यही प्रार्थना करते है कि यह गुरु—शिष्य की सुन्दर जोडी चिरकाल तक जिन शासन की प्रभावना करते हुए मानवता की सेवा करती रहे।

हाकमचन्द जैन
मन्त्री आत्मज्ञान पीठ, मानसा

विषय-सूची

नवम कलिका

जैन तत्व कलिका

प्रथम कलिका

देव स्वरूप :

देव का अर्थ
अरिहंत देव स्वरूप—
अर्हत् शब्द का विशेषार्थ
अतिशय वर्णन
अरिहंत और तीर्थंकर
तीर्थंकर देवस्वरूप—
अठारह दोष-रहितता
बीस स्थानक
तीर्थंकरों की पंच कल्याणक-तालिका
चौबीस तीर्थंकर
चार ऐतिहासिक तीर्थंकर
सिद्धदेव स्वरूप—
शुद्ध आत्मा—सिद्ध आत्मा
सिद्धों के आठ गुण
सिद्धों के विविध प्रकार
परमात्मा की व्याख्या : नाम और सिद्धि

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्व-साहूणं।
एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

अर्थ—अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।

यह पंच-नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में श्रेष्ठ (प्रधान) मंगल है।

विशेष—इन पाँचों परमेष्ठियों में अरिहन्त या अर्हन्त और सिद्ध, ये दोनों देवकोटि में आते हैं; आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनों गुरुकोटि में आते हैं।

इनके अतिरिक्त नवकार मंत्र में (नव पद नाम से) **नमो नाणस्स, नमो दंसणस्स, नमो चरित्तस्स, नमो तवस्स** इन चार पदों का समावेश और किया जाता है। ये ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपः चार पद धर्मकोटि में आते हैं।

आराध्य-त्रिपुटी

यद्यपि नमस्कारमंत्र की चूलिकारूप में जो गाथा है, उसमें शेष चारों पद अंकित नहीं हैं, तथापि परम्परागत धारणा के अनुसार नवकारमंत्र के नौ पदों में पूर्वोक्त पाँच पदों के अतिरिक्त शेष चार पद ज्ञान, दर्शन,, चारित्र और तप, ये ही माने जाते हैं।

जैन जगत् में इन नौ पदों की आराधना-उपासना करने की परिपाटी प्रचलित है। चैत्र मास के शुक्लपक्ष और आश्विन मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी

से पूर्णिमा तक इन्हीं नौ पदों की आराधना-उपासना आयम्बिल तप के साथ की जाती है।

इस प्रकार देव, गुरु, धर्म की आराधना और उपासना जप, तप, व्रत, नियम, त्याग, वन्दन-नमस्कार, दर्शन आदि विविध रूपों में की जाती रही है।

धर्मसंघ के लिए तीन सुदृढ़ अवलम्बन

जैसे विना अवलम्बन के मनुष्य लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, वैसे ही इन तीन आराध्यों के सुदृढ़ अवलम्बन के बिना धर्मसंघ या संघ का कोई भी अनुगामी संशयग्रस्त होकर, कुसंग या मिथ्यात्वियों के संग में फँसकर अथवा धर्ममार्ग से फिसलकर, इन्द्रियविषय-भोगप्रधान मतों के चक्कर में फँसकर पतन के गड्ढे में गिर सकता है। इसलिए धर्मसंघ के लिए देव, गुरु और धर्म, इन तीन सुदृढ अवलम्बनों की आवश्यकता है।

सम्यक्त्व के तीन मूलाधार

देव, गुरु और धर्म, ये तीन व्यावहारिक सम्यक्त्व के मूलाधार है। इन तीन मूल आधारों के विना मनुष्य चाहे जिस देव, चाहे जैसे साधुवेशधारी नकली गुरु और भोगवासनाप्रधान नकली धर्म के चक्कर में पड़कर गुमराह हो जाएगा, दृष्टिभ्रान्त होकर ससार-भ्रमण के पथ पर भटक जाएगा। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने व्यावहारिक सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार दिया है—"देव में शुद्ध प्रकार की देवबुद्धि, गुरु में शुद्ध प्रकार की गुरुबुद्धि और शुद्धधर्म में शुद्ध धर्मबुद्धि होना, सम्यक्त्व कहलाता है।[1]

तीनों तत्त्वों का स्वरूप जानना आवश्यक

परन्तु इन आराध्य और उपास्य देव, गुरु और धर्म का स्वरूप क्या है? ये किन-किन दोषो से रहित और किन-किन सद्गुणो से युक्त होते हैं? इन तीनों पदों या तत्त्वों की आराधना-उपासना क्यों करनी चाहिए? इनकी आराधना या उपासना से क्या-क्या लाभ है? जीवन-निर्माण या जीवन-विकास में इन तीनों तत्त्वो का क्या स्थान है? आध्यात्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृ-

---

१ (क) या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ —योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक २

(ख) अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥ —आवश्यक सूत्र

तिक, नैतिक एवं धार्मिक उत्थान में इन तीनों तत्त्वों की आराधना-उपासना अनिवार्य रूप से क्यों उपादेय है ? मोक्ष रूप लक्ष्य की ओर गति-प्रगति करने में ये तीनों तत्त्व किस प्रकार से सहायक होते हैं ? आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी आवरणों और राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, माया, ईर्ष्या, द्रोह आदि विकारों और दोषों को दूर करने तथा आत्मा को शुद्ध, निर्विकार एवं निर्मल बनाने में इन तीनों आराध्य तत्त्वों से क्या और किस प्रकार से प्रेरणा मिल सकती है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का जब तक समाधान न हो जाए, तब तक सर्वांगीण रूप से सर्वात्मना इन तीनों तत्त्वों की आराधना और उपासना नहीं हो सकती।

अतः इन तीनों तत्त्वों का स्वरूप भली-भाँति हृदयंगम कर लेना आवश्यक है।

देवस्वरूप दिग्दर्शन

देव का अर्थ

'देव' शब्द यहाँ स्वर्ग में रहने वाले देव-देवी, मेघ, ब्राह्मण या राजा आदि का वाचक नहीं, परन्तु उस परमतत्त्व का संकेत करता है, जिसकी आराधना-उपासना करने से मनुष्य में धर्म का दिव्य तेज प्रकट होता है और वह उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास प्राप्त करना जाता है। आत्मिक दिव्यता से युक्त पुरुष को यहाँ देव कहा गया है।

देवपद में समाविष्ट : अरिहन्त और सिद्ध

इस परम तत्त्व का व्यवहार अनेक नामों से होता है। परन्तु जैनधर्म उसके लिए 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग करता है। जैनदृष्टि से अर्हत् (या अरिहन्त) और सिद्ध दोनों परमात्मा (परम+आत्मा) है। अरिहन्त साकार परमात्मा हैं, जबकि सिद्ध निराकार परमात्मा है। अरिहन्त परमात्मा चार घाती कर्मों का क्षय कर चुकते है, अर्थात्—वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन वीतराग-अवस्था (अक्षय चारित्र) और अनन्तवीर्य से युक्त होते है।

सिद्ध परमात्मा घाती और अघाती सभी कर्मों का नाश किये हुए कृतकृत्य होते हैं। वे निरंजन, निर्विकार, कर्म और काया से रहित होते हैं। इस कारण वे आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप में स्थिर होते है। अतः अर्हतदेव की तरह सिद्ध परमात्मा भी देवपद में गर्भित हैं।

पंचपरमेष्ठी मंत्र में सर्वप्रथम अरिहन्तों को नमस्कार किया जाता है, तत्पश्चात् सिद्धों को; इसका कारण यह है, कि अरिहन्त देव जीवन्मुक्त और सशरीरी होने से प्राणियों के लिए परम-उपकारी, परम-रक्षक, परम-दयालु

एवं विश्ववत्सल होते हैं। धर्म का साक्षात् उपदेश वे ही देते हैं और धर्मतीर्थ की स्थापना करके मुक्ति-मार्ग का प्रवर्तन करते हैं। सिद्ध-परमात्मा अरूपी और अशरीरी होते हैं, वे मुक्ति में विराजमान होते है, जन्म-मरण से सर्वथा रहित होते हैं। यद्यपि चरम लक्ष्य तो सिद्धत्व प्राप्त करना और मुक्त होना है, तथापि सबसे निकट उपकारी और धर्म के मुख्य उपदेष्टा एवं सत्य के साक्षात् द्रष्टा होने से अरिहन्त देव का सर्वप्रथम अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इस कारण प्रथम अरिहन्तदेव को स्मरण और नमन किया जाता है तथा उनकी ही प्रथम आराधना-उपासना की जाती है।

अतएव हम पहले अरिहन्त परमात्मा के सर्वांगीण स्वरूप का वर्णन करके तत्पश्चात् सिद्ध परमात्मा का वर्णन करेंगे।

□

अरिहन्तदेव स्वरूप

अर्हत् परमात्मा को जिन, जिनेश्वर, वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, देवाधिदेव आदि अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। हम क्रमशः इन सब विशिष्ट नामों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

देवाधिदेव क्यों और कैसे ?

अर्हत्—परमात्मा को देव के बदले देवाधिदेव कहा गया है। देवाधिदेव का शब्दशः अर्थ तो देवों के भी अधिष्ठाता (आराध्य—उपास्य—पूजनीय) देव होता है, किन्तु इसका विशेष स्वरूप जानने के लिए हमें शास्त्रों की गहराई मे उतरना होगा।

भगवती सूत्र में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से एक प्रश्न किया है कि 'भगवन ! देवाधिदेव (अर्हन्त), देवाधिदेव क्यों कहे जाते हैं ?'

इसके उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवान् हैं, वे समुत्पन्न (अनन्त) ज्ञान और (अनन्त) दर्शन के धारक होते हैं। अतीत, वर्तमान और अनागत (भविष्य) को (हस्तामलकवत्) जानते हैं। वे अर्हत्, जिन (राग-द्वेष-विजेता) केवली (सम्पूर्ण ज्ञान के धारक), सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। इस कारण से उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है।[1]

जो स्वर्ग के देव होते हैं, उनमें अधिक से अधिक अवधिज्ञान तक होता है, उनमें मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान नहीं होता; इस कारण वे अनन्तज्ञान-दर्शन के धारक या त्रिकालज्ञ, केवली, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे राग-द्वेषादि विकारों के विजेता नहीं होते, बल्कि वे देव

---

१ (प्र.) से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ देवाधिदेवा देवाधिदेवा ?

(उ.) गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंतो उपपन्ननाणदंसणधरातीय-पडुपन्नमणागया जाणया, अरहा जिणा केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी; से तेणट्ठेण "जाव देवाधिदेवा देवाधिदेवा। —भगवतीसूत्र, शतक १२, उद्देशक ९

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि विकारों से न्यूनाधिक रूप में अभिभूत होते है। देवों के राजा—इन्द्र-देवेन्द्र यद्यपि देवो द्वारा पूजनीय होते है, किन्तु वे जगद्वन्द्य—त्रिलोकपूज्य नही होते जबकि देवाधिदेव अर्हन्त उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त होते हैं। मनुष्यो में भूदेव (विप्र) एवं नरदेव (राजा) आदि देव कहलाते हैं; वे भी छद्मस्थ रागद्वेषाभिभूत एवं अल्पज्ञ होने के कारण देवाधिदेव की कथमपि समता नही कर सकते।

अर्हन् शब्द का विशेषार्थ

पूर्वोक्त देवाधिदेव का वर्तमान में सर्वाधिक प्रचलित नाम अर्हन् या अरिहन्त है। सम्यक्त्व ग्रहण-सूचक पाठ में 'अरिहन्तो महदेवो'[1] तथा योगशास्त्र का निम्नोक्त देवलक्षण प्रदर्शक श्लोक आदि इसके प्रमाणरूप हैं—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषास्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥[2]

अर्थात्—सर्वज्ञ, रागादिदोषविजेता, त्रैलोक्यपूजित, यथावस्थित पदार्थ-कथन करने वाला, परमेश्वर और अर्हन् (अरिहन्त) देव है।

जैनशास्त्रों में अर्धमागधी भाषा में अर्हन् शब्द के लिए अरहा, अरहन्त, अरुहन्त और अरिहन्त शब्द भी प्रयुक्त हुए है।

'अर्हन्' शब्द का अर्थ और स्वरूप समझने के लिए हमें शब्दशास्त्र की ओर दृष्टिपात करना होगा। 'अर्हन्' शब्द 'अर्ह्' धातु (क्रिया) से निष्पन्न हुआ है। 'अर्ह' धातु योग्य होना तथा पूजित होना, इन दो अर्थों मे प्रयुक्त होती है अतएव संस्कृत भाषा के सभी कोषों ने 'अर्हन्' का अर्थ किया है—जो 'सम्मान या पूजा के योग्य हो'।

प्रश्न हो सकता है, इस विश्व में माता-पिता, अधिकारीवर्ग, बड़े लोग, विद्यागुरु, सामाजिक या राष्ट्रीय नेता तथा राजा आदि सम्मान या पूजा के योग्य माने जाते है, तो क्या उन सभी को 'अर्हन्' कहा जा सकता है?

इसका समाधान धर्मशास्त्रों द्वारा इस प्रकार किया गया है—जो देव-दानव और मानव, इन तीनो के द्वारा पूज्य हों, अर्थात् त्रैलोक्यपूजित हो, उन्हें ही 'अर्हन्' समझना चाहिए।[3]

---

१ आवश्यक सूत्र, सम्यक्त्व पाठ २ योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक ४

३ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा।

— आवश्यकनिर्युक्ति गा० ९२२

विशेषतया अर्हन्तों में चार विशिष्ट अतिशय होते हैं, जो उन्हें पूजा और श्रेष्ठता के योग्य बनाते हैं— (१) पूजातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) वचनातिशय और (४) अपायापगमातिशय।

पूजातिशय

अर्हन्त तीर्थंकर अष्टमहाप्रातिहार्य आदि के पूजातिशय से सम्पन्न (उपलक्षित) होते हैं।[1]

अष्टमहाप्रातिहार्य क्या है ? इन्हें समझ लेना आवश्यक है। पूज्यता प्रकट करने वाली जो सामग्री प्रतिहारी (पहरेदार) की भाँति सदा साथ रहे, वह प्रातिहार्य है। अदभुतता या दिव्यता से युक्त होने के कारण इसे महा-प्रातिहार्य कहा जाता है। वह पूज्यता सामग्री आठ प्रकार की होने से उसे अष्टमहाप्रातिहार्य कहा जाता है। वह इस प्रकार है—

(१) अशोकवृक्ष	(४) चामर	(७) दुन्दुभि, और
(२) सुरपुष्पवृष्टि	(५) आसन	(८) आतपत्र (छत्र)।
(३) दिव्यध्वनि	(६) भामण्डल	

(१) **अशोक वृक्ष**—भूमण्डल को पावन करते हुए तीर्थंकर जहाँ धर्मो-पदेश देने के लिए बैठते या खडे होते है, वहाँ उनके शरीर से द्वादश गुणा ऊँचे अति सुन्दर अशोकवृक्ष की रचना हो जाती है, जो वृक्ष की समग्र शोभा से युक्त होता है। जिसे देखते ही भव्य प्राणियो का आध्यात्मिक शोक दूर हो जाता है।

(२) **सुरपुष्पवृष्टि**—जिस स्थान पर भगवान् का समवसरण (धर्म-सभा) होता है, वहाँ एक योजन तक देवगण पाँचो वर्णों के मनोहर सुगन्धित अचित्त पुष्पों की वर्षा करते हैं।

(३) **दिव्यध्वनि**—तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से सर्वभाषा में परिणत होने वाली अर्द्धमागधी भाषा में सर्ववर्णोपेत एवं योजनगामिनी दिव्यध्वनि (वाणी) निकलती हैं, जिसे सुनकर सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा में उसके भाव को संशयरहित होकर समझ जाते हैं।

(४) **चामर**—तीर्थंकर भगवान् के दोनो ओर श्वेत चामर ढुलाए जाते हैं।

(५) **आसन**—भगवान् जहाँ विराजमान होने लगते हैं, वहाँ पहले से ही अशोकवृक्ष के नीचे पादपीठ सहित स्वर्णमय सिंहासन रख दिया जाता है।

---

१ 'अमरवरनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः।'
—भगवती, अभय-वृत्ति, मंगलाचरण

(६) **भामण्डल**—भगवान् के मुख के पीछे एक तेजोमण्डल होता है, जो सूर्य मण्डल के समान प्रकाशमान होता है; जिससे दसों दिशाओं का अन्धकार विनष्ट हो जाता है।

(७) **देवदुन्दुभि**—जिस स्थान में तीर्थंकर विराजमान होते है, वहाँ देवता दुन्दुभिनाद द्वारा उद्घोषणा करते हैं, जिससे भगवान् के आगमन का पता लग जाने से अनेक भव्य जीव उनकी दिव्यवाणी सुनकर लाभ उठाते हैं, अपना कल्याण करते हैं।

(८) **आतपत्र**—देवगण भगवान् के सिर पर तीन छत्र रखते हैं, जिससे सूचित होता है कि भगवान त्रैलोक्य के स्वामी हैं।

ये आठ[1] महाप्रातिहार्य भगवान् के विशेष पुण्योदय से प्रकट होकर उनके 'पूजातिशय' को सूचित करते है।

इसके अतिरिक्त तीर्थंकर ६४ इन्द्रों के द्वारा पूजनीय हैं, यह भी उनका पूजातिशय है।

ज्ञानातिशय

अर्हन्त भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन के धारक होते है। उनसे अतीत, अनागत और वर्तमान काल की कोई भी बात छिपी नही रहती। वे त्रिकाल और त्रिलोक के ज्ञाता होते है। वे सम्पूर्ण (केवल) ज्ञानी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते है। उनके ज्ञान का अतिशय समग्र लोक को प्रकाशित कर देता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्वापत्य श्रमण केशीकुमार और भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर के संवाद[2] में केशी श्रमण श्री गौतम

---

१ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रमष्टौ महाप्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

२ अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठंति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोयंमि प्पाणिणं?
उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोयप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयंमि पाणिणं॥
भाणू य इइ के वुत्ते?, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी॥
उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोयंमि पाणिणं॥ — उत्तरा० २३, ७५-७८

स्वामी से पूछते हैं—'भयंकर गाढ़ अन्धकार में बहुत-से प्राणी रह रहे है। इस सम्पूर्ण लोक में प्राणियों के लिए कौन प्रकाश (ज्ञानोद्योत) करेगा ?

गौतम स्वामी ने कहा—"सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करने वाला निर्मल (ज्ञानरूपी) सूर्य उदित हो चुका है। वह सब प्राणियों के लिये प्रकाश करेगा।"

केशीकुमार श्रमण ने गौतम से पुनः पूछा—"आप सूर्य किसे कहते हैं ?"

गौतम स्वामी ने बताया—'जिसका संसार क्षीण हो चुका है, अर्थात्—जिस आत्मा का संसार के जन्म-मरण से सम्बन्ध छूट गया है, जो सर्वज्ञ (सर्वदर्शी) हो गया है तथा (सर्वज्ञता के प्रतिबन्धक राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीतकर) जिन भास्कर रूप में उदित हो गया है। (वही अज्ञान एवं मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से ग्रस्त) समग्र लोक के प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।

यह है अर्हन्त के ज्ञानातिशय का चमत्कार !

वचनातिशय

शास्त्रों में तीर्थंकरों की वाणी (सत्यवचन) के पैंतीस अतिशयों का वर्णन किया गया है।[1] वह क्रमशः इस प्रकार है—

---

१ (क) 'पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता।' —समवायांग, सम० ३५, सू० ३५

(ख) संस्कारवत्त्वमौदात्यमुपचारपरीतता ।
मेघगम्भीरघोषत्वं प्रतिनादविधायिता ॥१॥
दक्षिणत्वमुपनीतरागत्वं च महार्थता ।
अव्याहतत्वं शिष्टत्वं संशयानामसम्भवः ॥२॥
निराकृतान्योत्तरत्वं हृदयंगमताऽपि च ।
मिथः साकांक्षता प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥३॥
अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघाऽन्यनिन्दिता ।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशस्यता ॥४॥
अमर्मवेधितौदार्य-धर्मार्थप्रतिबद्धता ।
कारकाद्यविपर्यासो विभ्रमादि-वियुक्तता ॥५॥
चित्रकृत्त्वमद्भुतत्वं तथाऽनति विलम्बिता ।
अनेकजातिवैचित्र्यमारोपितविशेषता ॥६॥
सत्त्वप्रधानता वर्ण-पद-वाक्यविविक्तता ।
अव्युच्छित्तिरखेदित्वं पंचत्रिंशच्च वाग्गुणाः ॥७॥

— अभिधानचिन्तामणि कोष, देवाधिदेवकाण्ड

(१) **संस्कारवत्त्वम्**—तीर्थंकर भगवान् की वाणी संस्कारयुक्त होती है, अर्थात्—उनकी वाणी शब्दागम के नियमों से या संस्कृतादि लक्षणो से युक्त होती है।

(२) **उदात्तत्वम्**—भगवान की वाणी उच्चस्वर (बुलंद आवाज) वाली होती है, जिसे संपूर्ण समवसरण में चारों ओर बैठी हुई परिषद् भलीभाँति श्रवण कर लेती है।

(३) **उपचारोपेतत्वम्**—भगवद्वाणी तुच्छतारहित सम्मानपूर्ण गुण-वाचक शब्दो से युक्त होती है, उसमें ग्राम्यता नहीं होती।

(४) **गम्भीर शब्द**—उनकी वाणी मेघगर्जना की तरह सूत्र और अर्थ से गम्भीर होती है, अथवा उच्चारण और तत्त्व दोनो दृष्टियों से उनके वचन गहन होते है; जो उनकी स्वाभाविक योग्यता और प्रभाव को सूचित करते है।

(५) **अनुनादित्वम्**—जैसे गुफा मे और शिखरबद्ध प्रासाद मे बोलने से प्रतिध्वनि उठती है, वैसे ही भगवान् की वाणी की प्रतिध्वनि उठती है।

(६) **दक्षिणत्वम्**—भगवान् के वचन दाक्षिण्य-पूर्ण होते है अर्थात्—वे निश्छलता और सरलता से युक्त होते हैं।

(७) **उपनीतरागत्वम्**—भगवान् की वाणी मालकोश आदि ६ रागो ३० रागिनियों में परिणत होने से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध एवं तल्लीन कर देती है।

उपर्युक्त सातो वचनातिशय शब्द-प्रधान—शब्द से सम्बन्धित है। आगे के शेष २८ वचनातिशय अर्थप्रधान—अर्थ से सम्बन्धित हैं।

(८) **महार्थत्वम्**—भगवान् की वाणी सूत्ररूप होने से उसमें शब्द अल्प होते है, किन्तु उनमें महान् अर्थ गर्भित होता है।

(९) **अव्याहत पौर्वापर्यत्वम्**—भगवान् की वाणी पूर्वापरविरोध-रहित होती है। किन्तु अनेकान्तवाद से युक्त उनके सापेक्षवाक्य होते है।

(१०) **शिष्टत्वं**—उनका वचन अभिप्रेतसिद्धान्त की शिष्टता-योग्यता का सूचक होता है अथवा उनका भाषण अनुशासनबद्ध होता है।

(११) **असंदिग्धत्वम्**—भगवान के वाक्य असंदिग्ध होते है, वे श्रोताओं के मन में संदेह उत्पन्न नहीं करते, बल्कि पहले से उत्पन्न संशय को मिटा देते है।

(१२) **अपहृतान्योत्तरत्वम्**—भगवान् की वाणी में किसी के दूषणों का प्रकाश नहीं होता, किन्तु हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप से वस्तु-स्वरूप का कथन होता है।

(१३) **हृदयग्राहित्वम्**—भगवान् के वचन श्रोताओं के हृदयों को प्रिय लगते है, इतने प्रिय कि वे प्रसन्नतापूर्वक भगवद्वचनामृत का दत्तचित्त होकर पान करते है।

(१४) **देशकालाव्यतीतत्वम्**—भगवान के वचन देश-कालानुसारी एवं प्रस्तावोचित होते हैं।

(१५) **तत्त्वानुरूपत्वम्**—जिस तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है, भगवान् के जितने भी वाक्य होंगे, उसी तत्त्व के अनुरूप उसी को प्रकट करने वाले होते है।

(१६) **अप्रकीर्णप्रसृतत्वम्**—जिस प्रकरण पर विवेचन किया जा रहा है, उसके अतिरिक्त अप्रस्तुत विषय का वर्णन भगवान के वचनों में नहीं होता अथवा भगवान् की वाणी में सम्बन्धरहित अतिविस्तार भी नही होता।

(१७) **अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्**—भगवान् की वाणी में पदो की परस्पर सापेक्षता रहती है।

(१८) **अभिजातत्वम्**—भगवान् के वचन आबालवृद्ध—सभी प्रकार के श्रोताओं की भूमिका के अनुरूप, शुद्ध, स्पष्ट और सरल होते है।

(१९) **अतिस्निग्धमधुरत्वम्**—भगवान् के वचन घृत के समान अत्यन्त स्निग्ध (स्नेहयुक्त) और अमृत अथवा मधु के समान मधुर होते है, जो श्रोता-जनों को अत्यन्त रुचिकर, सुखकर और हितकर होते हैं।

(२०) **अपरमर्मावेधित्वम्**—भगवान् के वचन किसी के मर्मवेधी (हृदय को चोट पहुँचाने वाले) या गुप्त रहस्य को प्रकट करने वाले नही होते, अपितु शान्तरसवर्द्धक होते हैं।

(२१) **अर्थ-धर्माभ्यासानपेतत्वम्**—भगवान का वाक्य अर्थ और धर्म से प्रतिबद्ध होता है। अर्थात्—उनका उपदेश अर्थ और धर्म के स्वरूप का प्रतिपादक होने से सार्थक होता है।

(२२) **उदारत्वम्**—भगवान् अभिप्रेय अर्थ के पूर्णतया प्रतिपादक वाक्य का उच्चारण करते हैं।

(२३) **परनिन्दात्मोत्कर्ष विप्रयुक्तत्वम्**—भगवान् के वचन परनिन्दा और आत्मप्रशंसा से रहित—वीतरागतायुक्त होते हैं।

(२४) **उपगतश्लाघत्वम्**—भगवान् के वचन तीनों लोकों में श्लाघा प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि भगवान् के वचन सुनकर श्रोता बरबस प्रभावित होकर कह उठते हैं—'धन्य है, प्रभु की उपदेश शैली को; धन्य है, आपकी वक्तृत्वशक्ति को!'

(२५) **अनपनीतत्वम्**—भगवान् का वाक्य कारक, वचन, काल, लिंग आदि के व्यत्ययरूप वचनदोष से रहित होता है; अर्थात्—वह निर्दोष एवं सुसंस्कृत होता है।

(२६) **उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम्**—भगवान् का वचन श्रोताओं के हृदय में अविच्छिन्नता से अहोभाव (कौतुहलभाव) उत्पन्न करता है।

(२७) **अद्भुतत्वम्**—भगवान के वचन श्रोताओं के हृदय में अपूर्व-अपूर्व भाव उत्पन्न करने वाले होते है।

(२८) **अनतिविलम्बितत्वम्**—भगवान् की उपदेश करने की शैली न तो अत्यन्त विलम्बपूर्वक होती है और न ही अतिशीघ्रतापूर्वक होती है अपितु मध्यम रीति से प्रभावोत्पादक शैली में वे व्याख्यान देते है।

(२९) **विभ्रम—विक्षेप-किलकिंचितादि-विमुक्तत्वम्**—भगवान् के वचन भ्रान्ति, चित्तविक्षेप, रोष-भय, आसक्ति आदि मनोदोषो से रहित होते हैं, क्योंकि भगवान् के वचन आप्तवाक्य होते है, उनमें किसी भी प्रकार का मनोदोष नही होता।

(३०) **अनेक जातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम्**—भगवान् के वचनो में वस्तु स्वरूप का कथन नय-प्रमाणादि अनेक जाति के संश्रय के कारण विचित्रता से युक्त होता है।

(३१) **आहित विशेषत्वम्**—भगवान् के पवित्र वचन प्राणिमात्र के हित विशेष को लिये हुए होते है।

(३२) **साकारत्वम्**—भगवान् प्रत्येक वाक्य, अर्थ, पद, वर्णन को स्फुट कहते हैं। उनके वाक्य अस्पष्ट, मिश्रित या निरर्थक नहीं होते।

(३३) **सत्त्वपरिगृहीतत्वम्**—भगवान् ऐसे सात्त्विक वचन या सत्त्वशाली वचन कहते हैं, जिनसे श्रोताओं में साहस एवं निर्भयता का संचार हो।

(३४) **अपरिखेदितत्वम्**—भगवान् अनन्तबली होने से सोलह प्रहर तक देशना देते हुए भी खेद नहीं पाते, थकते नहीं।

(३५) **अव्युच्छेदितत्वम्** जब तक विवक्षित अर्थों की सम्यक् प्रकार से सिद्धि न हो जाए, तब तक तीर्थंकर भगवान् अविच्छिन्न रूप से उसकी सिद्धि समस्त नयों और प्रमाणों से सब प्रकार से योग्यतापूर्वक करते है।

इस प्रकार अर्हत् भगवान् के ३५ वचनातिशय है।

अपायापगमातिशय

समवायांग सूत्र में तीर्थकरों के चौतीस अतिशयों[1] का प्रतिपादन किया गया है, उनमें से अधिकांश अतिशय अपायापगमातिशय कोटि के है। वे चौतीस अतिशय इस प्रकार है—

---

१ चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—(१) अवट्ठिए केसमंसुरोमनहे, (२) निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी, (३) गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए, (४) पउमुप्पलगंधिए उस्सास-निस्सासे, (५) पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा, (६) आगास-गयं चक्कं, (७) आगासगयं छत्तं, (८) आगासगयाओ सेयवरचामराओ, (९) आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं, (१०) आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडि-याभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ, (११) जत्थ-जत्थ वि य णं अरहंता भगवंता चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ-तत्थ वि य णं तक्खणादेव (जक्खादेवा) संछन्नपत्त-पुप्फ-पल्लव-समाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवरपायवे अभिसंजायइ; (१२) ईसिं पिट्ठओ मउडट्ठाणमि तेयमडलं अभिसंजायइ, अंधकारे वि य णं दसदिसाओ पभासेइ, (१३) बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे, (१४) अहोसिरा कंटया जायंति (भवंति), (१५) उऊ विवरीया सुहफासा भवंति, (१६) सीयलेण समंतओ सुर-भिणा मारुएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंतओ संपमज्जिज्जइ, (१७) जुत्तफुसि-एण मेहेणय निहयरयरेणूयंकिज्जइ; (१८) जलथलय भासुरपभूतेणं बिंटट्ठाइणा दसद्धवण्णे णं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ; (१९) अमणु-ण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ, (२०) मणुण्णाण सद्दफरिसरसरूव गंधाणं पाउब्भावो भवइ; (२१) पच्चाहरओ वि य णं हिययगमणीओ जोयण णीहारीसरो, (२२) भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ, (२३) सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणोहियसिव-सुहय भासत्ताए परिणमइ, (२४) पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति, (२५) अण्ण-उत्थिय-पावयणिया वि य णमागया वंदंति (२६) आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवंति, (२७) जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाएणं ईत्ती न भवइ, (२८) मारी न भवइ, (२९) सचक्कं न भवइ, (३०) परचक्कं न भवइ, (३१) अइवुट्ठि न भवइ, (३२) अणावुट्ठि न भवइ, (३३) दुब्भिक्खं न भवइ, (३४) पुव्वुप्पण्णा वि य णं उप्पाइया वाही खिप्प-मिव उवसमंति। — समवायांगसूत्र, स्थान ३४ वाँ

(१) तीर्थंकर भगवान् के केश, दाढ़ी-मूँछ के बाल, शरीर के रोम और नख; ये (पुण्योपार्जन के फलस्वरूप) सदैव अवस्थितावस्था में (जिस हालत में होते है, उसी हालत में) रहते है। वे मर्यादा से अधिक नहीं बढ़ते।

(२) उनकी शरीरयष्टि नीरोग और रज, मैल आदि अशुभ लेप से रहित—निर्मल रहती है।

(३) उनके रक्त और मास गाय के दूध से भी अधिक उज्ज्वल एवं श्वेत होते है।

(४) उनके श्वासोच्छ्वास पद्मकमल से भी अधिक सुगन्धित होते हैं।

(५) उनके आहार और नीहार चर्मचक्षु वालों द्वारा दिखाई नही देते। अवधिज्ञानी आदि देख सकते हैं।

(६) जब भगवान् चलते हैं तो आकाश में आवाज करता हुआ धर्मचक्र चलता है, जिससे सबको मालूम हो जाता है कि भगवान् अमुक देश, ग्राम या नगर में विचरण कर रहे हैं।

(७) भगवान् के सिर पर आकाश में एक पर दूसरा और दूसरे पर पर तीसरा, ये तीन छत्र भी चलते है; जिससे भगवान् त्रिलोकी के नाथ सिद्ध होते है।

(८) आकाश में अत्यन्त श्वेत चामर भी चलते हैं, जो देवाधिदेव के लोकोत्तर राज्य के चिह्न प्रतीत होते है।

(९) आकाश के समान अत्यन्त निर्मल स्फटिक रत्नमय पादपीठ के सहित सिंहासन भी आकाश में चलता है।

(१०) आकाश में अत्यन्त ऊँचा तथा सहस्र लघुपताकाओ से परिमण्डित अत्यन्त मनोहर इन्द्रध्वज भगवान् के आगे-आगे चलता है; जिससे भगवान् का इन्द्रत्व (जिनेन्द्रत्व) सूचित होता है।

(११) जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवान् खड़े होते है, या बैठते है, वहाँ-वहाँ तत्क्षण पत्तो और फूलो से युक्त तथा छत्र, ध्वज, घंटा और पताका के सहित श्रेष्ठ अशोक वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इससे भगवान् पर छाया हो जाती है।

(१२) भगवान् के पृष्ठ भाग में (मस्तक के पीछे) मुकुट के स्थान में एक तेजोमंडल होता है, जो दसो दिशाओं में फैले हुए अन्धकार को मिटाकर प्रकाश कर देता है।

(१३) भगवान् जहाँ विचरण करते हैं, वह भूभाग अत्यन्त सम और रमणीय हो जाता है।

(१४) भगवान् के विहरण-मार्ग में पड़े हुए कांटे अधोशिर (उलटे) हो जाते हैं।

(१५) ऋतु विपरीत होने पर भी सुखद स्पर्श वाली हो जाती है। यह भगवान् की पुण्यराशि का माहात्म्य है।

(१६) भगवान् जहाँ विराजमान होते है, वहाँ शीतल सुखद स्पर्श-वाली सुगन्धित हवा से एक योजन परिमित परिमण्डल (क्षेत्र) चारों ओर से प्रमार्जित (साफ—शुद्ध) हो जाता है।

(१७) हवा से आकाश में उड़ी हुई रज (धूल) हल्की-हल्की अचित्त जल की वृष्टि से शान्त हो जाती है, जिससे वह स्थान प्रशस्त एवं रम्य हो जाता है।

(१८) भगवान् के विराजने के स्थान में देवों द्वारा विक्रिया से निर्मित अचित्त जलज और स्थलज चमकीले पाँच वर्णों के पुष्पों का घुटने-घुटने तक ढेर हो जाता है। जिनका ठंडल (टेंट) नीचे की ओर और मुख ऊपर की ओर होता है।

(१९) भगवान के समवसरण में अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का अपकर्ष (नाश) हो जाता है।

(२०) (इसके विपरीत) मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(२१) उपदेश करते समय भगवान् का स्वर (आवाज) एक योजन तक होता है, जो अतिमधुर और श्रोताओं हृदय को रुचिकर होता है।

(२२) तीर्थंकर भगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्मकथा करते है। अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा का एक रूप है।

(२३) उस अर्द्धमागधी भाषा में जब भगवान् भाषण करते है, तब वह आर्य-अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग (वन्य पशु), पशु (ग्राम्य पशु), पक्षी, और साँप आदि सबकी अपनी-अपनी हितकारी, शिव (कल्याण) कारी और सुखकारी भाषा के रूप में परिणत (तब्दील) हो जाती है।

(२४) तीर्थंकर भगवान् के चरणों में बैठे हुए देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग इत्यादि विविध जाति के देवगणों का पहले वैर बँधा हुआ होने पर भी (तीर्थंकर भगवान की पूर्ण अहिंसा की निष्ठा के कारण उनके सान्निध्य में) वे प्रशान्त चित्त होकर धर्मकथा श्रवण करते हैं।

(२५) तीर्थंकर भगवान के अतिशय के प्रभाव से स्वमताभिमानी अन्य तीर्थिक एवं प्रावचनिक भी सम्मुख आते ही नम्र होकर वन्दना करने लगते हैं।

(२६) अर्हत् भगवान् को पराजित करने के उद्देश्य से आये हुए वादी अर्हन्त भगवान् के चरणों में आते ही निरुत्तर (निष्प्रतिवचन) हो जाते हैं।

(२७) जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवान् विचरण करते हैं, उस-उस देश-प्रदेश में पच्चीस योजन तक ईति नहीं होती, अर्थात् धान्यादि का नाश करने वाले टिड्डी, मूषक आदि का उपद्रव नहीं होता।

(२८) उस देश में २५ योजन अर्थात् सौ कोस तक मारी (महामारी रोग) का उपद्रव नहीं होता।

(२९) स्वचक्र (अपने राष्ट्र के शासक अथवा अपने राष्ट्र के आन्तरिक विग्रह) से उपद्रव नहीं होता।

(३०) परचक्र (दूसरे राष्ट्र के शासकों) की ओर से भी कोई उपद्रव नहीं होता।

(३१) भगवान् जहाँ विचरण करते हैं, उस क्षेत्र में अतिवृष्टि नहीं होती।

(३२) भगवान् के अतिशय-प्रभाव से अनावृष्टि भी नहीं होती।

(३३) वहाँ किसी प्रकार का दुर्भिक्ष (दुष्काल) नहीं पड़ता।

(३४) पूर्व-उत्पन्न ज्वरादि रोग, उत्पात, व्याधियाँ आदि अनिष्ट शीघ्र ही उपशान्त हो जाते है।

इन चौतीस अतिशयों में से दूसरे से पाँचवें तक चार अतिशय तीर्थंकरों के जन्म से होते है। कतिपय अतिशय दीक्षा के पश्चात् केवलज्ञान होने पर प्रकट होते हैं तथा कई अतिशय भवप्रत्यय और कई देवकृत माने जाते हैं। ये सभी अतिशय तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के माहात्म्य से उत्पन्न होते है। समवसरण रचनादि ११ अतिशय घाती कर्मों का नाश होने के पश्चात् उत्पन्न होते है।[1]

अरिहन्त का स्वरूप

अरिहन्त में दो शब्द है—'अरि' और 'हन्त'। 'अरि' का अर्थ है—राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रु और 'हन्त' का अर्थ है - नष्ट करने वाला। तात्पर्य यह है कि जो मुमुक्षु आत्मा अध्यात्मसाधना के बल पर मन के विकारों से लड़ते हैं, वासनाओं और राग-द्वेषादि विकारों से जूझते हैं, और अन्त में इन्हें पूर्णतया नष्ट कर डालते हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं।

---

१ साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा, वैरेतयो मार्यतिवृष्टयः।
दुर्भिक्षमन्यस्वचक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः। —अभिधानचिन्तामणि

वस्तुतः अरिहन्त होने पर ही अर्हन्त होते हैं—सुरासुर-नर-मुनिजन द्वारा वन्दनीय—पूजनीय होते हैं, त्रिलोक की प्रभुता प्राप्त करते हैं, अनन्त-ज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तचारित्र-अनन्तवीर्य (शक्ति) रूप अनन्त चतुष्टय के धारक होते हैं, वे अखिल विश्व के ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं, ऐसे महापुरुष संसार सागर के अन्तिम किनारे पर पहुँचे हुए होते हैं। उनके मन, वचन और काया कषाय से अलिप्त रहते हैं। समभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए होते हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र, भवन-वन, मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन सब पर वे राग-द्वेष से रहित, मध्यस्थ व एकरस रहते हैं।

अरिहन्त और तीर्थंकर की भूमिका में अन्तर

अरिहन्त शब्द व्यापक है और तीर्थंकर शब्द व्याप्य। अरिहन्त की भूमिका में तीर्थंकर अरिहन्त भी आ जाते हैं और दूसरे सब अरिहन्त भी। तीर्थंकर और दूसरे केवली अरिहन्तों में आत्मविकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। सब अरिहन्त अन्तरंग में समान भूमिका पर होते हैं। सब का ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य समान ही होता है। सबके सब अरिहन्त क्षीणमोह गुणस्थान पार करने पर सयोगी केवली गुणस्थान में पूर्ण वीतराग होते हैं। कोई भी न्यूनाधिक नहीं होते; क्योंकि क्षायिक भाव में कोई तरतमता नहीं होती।

प्रत्येक तीर्थंकर अरिहन्त अपने द्वारा स्थापित श्रमणसंघ (तीर्थ) का सर्वोपरि अधिष्ठाता होता है, किन्तु वह अरिहन्त दशा प्राप्त साधकों से वन्दन नहीं कराता। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने केवलज्ञानी तथा अरिहन्तदशा प्राप्त अपने सात-सौ शिष्यों को अपने समान बतलाया है, उन्होंने उनसे वन्दन भी नहीं कराया; क्योंकि आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से वह बराबर की भूमिका है।

अतएव '**नमो अरिहन्ताणं**' पद से प्रत्येक कालचक्र में होने वाले अनन्त-अनन्त तीर्थंकर कोटि के अरिहन्तों को नमस्कार होता ही है, परन्तु उनके अतिरिक्त राम, हनुमान आदि सब अरिहन्त दशा प्राप्त महापुरुषों को, स्वलिंगी, अन्यलिंगी, गृहलिंगी, केवली अरिहन्तों को तथा स्त्री-अरिहन्तों को एवं पुरुष अरिहन्तों को भी नमस्कार हो जाता है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के निम्नोक्त दो श्लोक इसी तथ्य को प्रकाशित करते हैं—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥१॥

यत्र-यत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद् एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥२॥[1]

—संसार-बीज के अंकुर के जनक रागद्वेषादि जिसके क्षय हो चुके है, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन हो, उसे मेरा नमस्कार है।

जिस-जिस समय में जो-जो, जिस किसी भी नाम से हो गया हो, यदि रागादि दोषों की कलुषता से अतीत हो चुका है तो (मेरे लिए) वह एक ही है, हे भगवन् ! तुम्हे मेरा नमस्कार हो।

जैन धर्म गुणपूजक है, एकान्त व्यक्तिपूजक नही। इसी कारण **'नमो अरिहंताणं'** में गुणवाचक 'अरिहंताण' पद से उन सब अरिहन्तो को नमस्कार है, जिन्होंने रागद्वेषादि आन्तरिक शत्रुओ का नाश कर दिया हो। नमस्कर्ता की दृष्टि से इस पद मे शब्द रूप नमस्कार एक है, किन्तु नमस्करणीय अरिहन्तों को भावदृष्टि से वह अनन्त हो जाता है।

इतना सब होते हुए भी देव कोटि में तीर्थंकर रूप अरिहन्तो को ही लिया गया है, सामान्य केवली अरिहन्तों को नही। यद्यपि सामान्य अरिहन्तों और तीर्थकरो के ज्ञान के विषय में कोई अन्तर (विशेष) नही होता, परन्तु तीर्थकर रूप अरिहन्त के तीर्थकर नामकर्म अवश्य विशेष होता है, जिसके उदय के कारण चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी के अतिशय तथा अष्ट-महाप्रातिहार्य, समस्त इन्द्रपूज्यत्व आदि पूजातिशय तीर्थकररूप अरिहन्तों के होते है, सामान्य अरिहन्तो के नही। तीर्थ की स्थापना, कर्मभूमि में, क्षत्रियकुल में जन्म आदि विशेषताएँ भी तीर्थकररूप अरिहन्त मे होती है, सामान्य अरिहन्तो में नही। तीर्थंकरनामकर्म के उदय के कारण ही वे अनेक भव्य प्राणियो का कल्याण करते हुए मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

यही इन दोनो में अन्तर है। अतएव तीर्थंकर रूप अर्हत् को ही देवकोटि में परिगणित किया गया है।

'जिन' शब्द का रहस्य

अरिहन्तों या अर्हन्तो के लिए 'जिन' 'जिनेश्वर' या 'जिनेन्द्र' शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'अर्हन्', 'वीतराग', 'परमेष्ठी', 'भगवान्' आदि शब्द 'जिन' के पर्यायवाची शब्द है। इसीलिए 'जिन' के भक्त को 'जैन' और 'जिन' द्वारा उपदिष्ट धर्म को 'जैन धर्म' कहा जाता है।

---

१ महादेवस्तोत्र

'जिन' शब्द का वास्तविक रहस्य क्या है ? इसे जानना चाहिए। 'जिन' शब्द 'जि' धातु से बना है। जि 'धातु' जय अर्थ में है। अतः 'जिन' शब्द का अर्थ होता है—जीतने वाला (Victorious)। किसे जीतने वाला ? यह यहाँ 'गुप्त' एवं 'अध्याहृत' है। जैनागमों के अवलोकन से इसका रहस्य ज्ञात हो जाता है। भगवान् महावीर की अन्तिम देशना के रूप में माने जाने वाले प्रसिद्ध शास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

जो दुर्जय संग्राम में सहस्र-सहस्र योद्धाओं—शत्रुओं को जीत लेता है, (उसे हम वास्तविक जय नहीं मानते) एक आत्मा को जीतना ही परम जय है।

हे पुरुष ! तू आत्मा के साथ हो युद्ध कर, बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ है ? जो आत्मा द्वारा आत्मा को जीतता है, वही सच्चा सुख प्राप्त करता है।[1]

इन उद्‌गारों से यह निश्चित होता है कि यहाँ बाह्य शत्रुओं के साथ लडकर उन्हें जीतने की बात नही, किन्तु आन्तरिक शत्रुओ के साथ जूझकर उन्हें जीतने की बात है। यह युद्ध कैसे करना ? यह भी यहाँ बता दिया है कि आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतना। इसका अर्थ हुआ—अपना आत्मबल, सकल्प-शक्ति और वीर्योल्लास बढाकर अन्तःकरण में स्थित महान् शत्रुओ पर नियंत्रण करना।

जैन धर्म के अनुसार अन्तःकरण के प्रबल शत्रु हैं—राग, द्वेष और मोह। इन्हीं के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, तृष्णा आदि दुष्ट-वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं के कारण कर्मबन्धन होता है, जिनके फल-स्वरूप नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण करना और जन्म-मरणादि दुःख सहना होता है। वैसे देखा जाय तो दुष्कृत्यों या दुर्वृत्तियों में प्रवृत्त आत्मा (मन आदि इन्द्रिय समूह) भी आत्मा का शत्रु बन जाता है।[2] इस प्रकार आन्तरिक शत्रुओं की गणना अनेक प्रकार से होती है।

---

१ जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥
—उत्तराध्ययन, अ० ९, गा० ३४-३५

२ अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ। —उत्तराध्ययन, अ० २०, गा० ३७

तात्पर्य यह है कि जो इन आन्तरिक शत्रुओं को जीत लेते हैं। वे 'जिन' कहलाते है।

भगवद्गीता[1] में भी इसी तथ्य को उजागर किया गया है—

'अपनी आत्मा का उद्धार आत्मा (स्वयं) से ही होता है। अतः आत्मा को पतन की ओर न ले जाए। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसने अपने आत्मा (मन एवं इन्द्रिय-समूह) को जीत लिया, उसका आत्मा बन्धु है, परन्तु जिसने अपने आत्मा को नहीं जीता उसका आत्मा ही शत्रु के रूप में शत्रुता का बर्ताव करता है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में जिसने अपने आत्मा को जीता है, ऐसे अतिशान्त पुरुष का आत्मा परमात्मा बनता है।

निष्कर्ष यह है कि राग-द्वेष, मोह का सर्वथा नाश करके वीतराग या निर्मोही अवस्था प्राप्त करना और समस्त दोषों से रहित होकर आत्मभाव में स्थित रहना और परम शान्त दशा का अनुभव करना—जिन-अवस्था का सच्चा रहस्य है।

योगवाशिष्ठ में श्रीराम के मुख से जिनावस्था प्राप्त करने की भावना प्रकट की गई है—

'मैं राम नही, मुझे किसी प्रकार की इच्छा नही, न ही अब पदार्थों में मेरा मन रमता है। जैसे जिन अपने आत्मा में शान्तभाव से स्थित रहते है, वैसे मैं भी शान्तभाव से रहना चाहता हूँ।"[2]

भारत में जैन, बौद्ध, वैदिक तीनो धर्मों की धाराओं में 'जिन' पद को गौरवपूर्ण मनाकर अपने उपास्य देव को 'जिन' कहलाने में गौरव समझा जाता था।

---

१ उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

—भगवद्गीता, अ० ६, श्लो० ५-६-७

२ नाऽहं रामो, न मे वाञ्छा, भावेषु न च मे मनः।
शान्त आस्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनोयथा॥

—योगवाशिष्ठ वैराग्यप्रकरण

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने 'अनेकार्थ संग्रह' ग्रन्थ में 'जिनोऽर्हद्-बुद्धविष्णुषु' इस श्लोक द्वारा यह सूचित किया है कि जैन अपने उपास्य अर्हद् देव के लिए, बौद्ध अपने उपास्य देव बुद्ध के लिए और वैष्णव अपने उपास्य देव विष्णु के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग करते हैं।

अतः यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सामान्य आत्मा जब 'जिन' बनता है, तब 'जिन' का अर्थ सामान्य केवली अरिहन्त होता है और जब विशेष अरिहन्त के लिए 'जिन' शब्द प्रयुक्त होता है, तब जिन शब्द से जिनेश्वर या जिनेन्द्र (तीर्थंकर) समझा जाता है।

तीर्थंकर का स्वरूप

'अर्हन्' का एक विशिष्ट रूप—'तीर्थंकर' भी होता है। 'तीर्थंकर' का अर्थ है—जो तीर्थ को बनाता है, तीर्थ की स्थापना करता है। तीर्थ का शब्दशः अर्थ होता है—"जिसके द्वारा तैरा जा सके, वह तीर्थ है।"[1]

तैरने की क्रिया दो प्रकार से होती है। एक तो जलाशय में रहे हुए पानी को तैरने की और दूसरी संसार रूपी सागर को तैरने की। इन दो क्रियाओं में से प्रथम क्रिया जिस स्थान में, जिससे अथवा जिसके द्वारा होती है, उसे लौकिक तीर्थ कहते है, जबकि द्वितीय क्रिया जिसके आश्रय से अथवा जिससे, जिस साधन द्वारा होती है, उसे लोकोत्तर तीर्थ कहते हैं।

लोक व्यवहार में तीर्थ शब्द पवित्र स्थान, सिद्ध क्षेत्र या पवित्र भूमि, नदी या सरोवर के तटवर्ती घाट अथवा समुद्र में ठहरने के स्थान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु प्रस्तुत में तीर्थ का सम्बन्ध पूर्वोक्त लोकोत्तर तीर्थ के साथ है। अतः तीर्थ का अर्थ यहाँ आगमवचनों के अनुसार चतुर्विध श्रमण संघ अथवा प्रथम गणधर है,[2] अथवा भावतीर्थ ज्ञान-दर्शन-चारित्र है।

अतः केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद जो अर्हन्त धर्म की परम्परा चलाने के लिए श्रमणप्रधान चतुर्विधसंघ, अर्थात्—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चातुर्वर्ण्य धर्मसंघ की, प्रथम गणधर की अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भावतीर्थ की स्थापना करते हैं, इसीलिए वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर उनके साक्षात् मुख्य शिष्य गणधर द्वादशांगी श्रुत (बारह अंगशास्त्रों का समूह) की रचना करते है। उक्त

---

१ 'तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्'

२ 'तित्थं पुण चाउवण्णे समणसंघे पढम गणहरे वा।'

द्वादशांगी श्रुत को भी 'तीर्थ' कहते है। उक्त द्वादशांगी रूप तीर्थ के प्ररूपक या प्रवचनकार होने से भी वे तीर्थंकर कहलाते है।[1]

तीर्थंकर शब्द की महिमा

तीर्थंकरत्व में अर्हन्तों की विशिष्ट महत्ता रही हुई है। इस जगत् में स्वोपकार करने वाले तो अनेक मिलेंगे, परन्तु स्वोपकार के साथ परोपकार करने वाले विरले ही होते हैं। परोपकारकर्त्ताओं में भी अन्न-पानादि के दान देने वाले तो बहुत होते है, किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के दानकर्त्ता तो विरलातिविरल होते है। तीर्थंकर तीर्थस्थापना द्वारा इस विरलातिविरल कार्य का सम्पादन करते है और जगत् के सभी जीवों पर उपकार की वर्षा करते है। इस जगत् को मंगलमय, कल्याणकारी, श्रेयःसाधक धर्म का पवित्र प्रकाश उनके द्वारा ही प्राप्त होता है। इसलिए विश्व पर उनका उपकार सबसे महान् है।

तीर्थंकर देव के अनेक विशेषण

तीर्थंकर देव की इसी परमोपकारिता को प्रकट करने वाले अनेक विशेषण शक्रस्तव (**नमोत्थुणं**) के पाठ में[2] प्रयुक्त किये गए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार है—

अरिहन्त—आत्मगुणविघातक चार घाती कर्मों को तथा कर्मोत्पादक राग-द्वेषादिरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाले।

भगवान्—तीर्थंकर या अरिहन्त को भगवान् कहने का कारण यह है कि वे 'भग' वाले होते है। युग की भाषा में कहें तो, वे लोकोत्तर सौभाग्य सम्पन्न होते है। 'भग' शब्द के छह विशिष्ट अर्थ होते हैं—समग्र ऐश्वर्य, सर्वांगीण रूप अथवा धर्म, सर्वव्यापी यश, समग्र ज्ञानादि श्रीसम्पन्नता, अखण्ड वैराग्य और मोक्ष पुरुषार्थ की पूर्णता।[3]

(१) देवेन्द्र भक्तिभाव से तीर्थंकर के चरणों का स्पर्श करते है और शुभानुबन्धी अष्ट महाप्रातिहार्यों द्वारा उनकी भक्ति करते हैं, यह ऐश्वर्य की पूर्णता है।

---

१ (क) तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं, प्रवचनाधारश्चतुर्विधः संघः तत्करोतीति तीर्थंकरः।

(ख) 'धम्मतित्थयरे जिणे।' —आवश्यक सूत्र

२ नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं·······सव्वन्नूणं सव्वदरिसिणं' इत्यादि। —शक्रस्तव पाठ

३ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य (रूपस्य) यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य (प्रयत्नस्य) षण्णां भग इतीङ्गना॥

(२) अरिहन्त का रूप अतिशय सुन्दर होता है। यदि समस्त देव मिलकर अपना रूप अँगूठे जितने प्रमाण में संगृहीत करें तो भी वे अरिहन्त भगवान् के चरण के अँगूठे की समानता नहीं कर सकते। अथवा भगवान् में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म अथवा सूत्र-चारित्र रूप धर्म, अथवा दान-शीलतपोभाव रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट रूप में विकसित होता है।

(३) राग-द्वेष, परीषह एवं उपसर्गों का निवारण करने के कारण अरिहन्तों का यश सर्वत्र फैलता है, यह उनके यश की परिपूर्णता है।

(४) उनमें केवल ज्ञानादि श्री (लक्ष्मी) की भी परिपूर्णता है।

(५) वे संसार, शरीर और शरीर सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति तथा इन्द्रियादि विषयक भोगोपभोगों के प्रति सर्वथा विरक्त, अनासक्त रहते हैं।

(६) तीर्थंकर के चाहे जैसे और चाहे जितने घोर और कठोर कर्म हों, वे उसी भव में पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा उनका पूर्णतया क्षय करके मोक्ष के अधिकारी बनते हैं, यह उनके मोक्षपुरुषार्थ (प्रयत्न) की पूर्णता है।

आदिकर—अपने-अपने शासन (संघ) की अपेक्षा से श्रुत-चारित्ररूप धर्म की आदि करने वाले।

तीर्थंकर—धर्मतीर्थ और चतुर्विध श्रमण संघ की स्थापना करने वाले।

स्वयंसम्बुद्ध—गुरु आदि किसी के उपदेश के बिना स्वयमेव प्रतिबोध को प्राप्त होकर स्वयमेव प्रव्रजित होते हैं।

पुरिसुत्तमाणं—एक हजार आठ उत्तम लक्षण तथा अतुल बल, वीर्य, सत्त्व और पराक्रम आदि गुणों से सम्पन्न होने से भगवान् समस्त पुरुषों में परमोत्तम पुरुष होते हैं।

तीर्थंकर मानवरूप में अवश्य जन्म लेते हैं, किन्तु वे सामान्य कोटि के मानव नहीं होते, वे महामानव या असाधारण मानव या नित्शे की भाषा में सुपरमेन (Superman) होते हैं।

सुप्रसिद्ध योगी अरविन्द घोष ने कहा था—इस जगत् में असाधारण कार्य करने के लिए असाधारण आत्मबल के साथ शरीर भी असाधारण कोटि का होना चाहिए।

जैन शास्त्रों में बताया है कि जो पुरुष समस्त भूमण्डल को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त करते है, उनमें जितना बल, वीर्य, ऐश्वर्य, सत्त्व और पराक्रम होता है, उससे अनन्तगुणा बल, वीर्य, ऐश्वर्य सत्त्व और पराक्रम तीर्थंकरों में होता है। उनके शरीर की आकृति समानुपाती और रचना अति-

सुन्दर (समचतुरस्र संस्थान वाली) होती है तथा उनके शरीर का गठन उत्तम कोटि का एवं सुदृढ़ (वज्रऋषभनाराच संहनन) होता है। यही कारण है कि अत्यन्त आत्मबली नरवीर तीर्थंकर घोर परीषहों और उपसर्गों को समभाव-पूर्वक सहन कर लेते हैं, कुटिल कर्मशत्रुओं, रागद्वेषादि रिपुओं और कषायों के साथ युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे कठोर से कठोर साधना उत्साहपूर्वक करके आत्मशुद्धि कर सकते हैं।

इस प्रकार पुरुषों में सर्वोत्तमता धारण करने वाले होने से भगवान् पुरुषोत्तम है।

पुरुषसिंह—सिंह की तरह निर्भय और शूरवीर होकर पाषण्डियों को परास्त करते हुए स्वप्रवर्तित मार्ग में प्रवृत्त होते है।

पुरुषवरपुण्डरीक—श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान कामरूपी कीचड़ और भोगरूप जल से अलिप्त रहकर महादिव्य यशः सौरभ में वे अनुपम है।

पुरुषवरगन्धहस्ति—वे पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान परीषहों और उपसर्गों की परवाह न करते हुए मुक्तिपथ पर आगे बढ़ते ही जाते हैं।

लोकोत्तम—बाह्य (अष्टमहाप्रातिहार्य आदि) और आन्तरिक (अनन्तज्ञानादि) सम्पत्ति के कारण समग्र लोक में समस्त जीवों में उत्तम।

लोकनाथ—कल्याणमार्ग का योग क्षेम करने से लोक के नाथ।

लोकहितकर—उपदेश और प्रवृत्ति से समस्त लोक के हितकर्त्ता।

लोकप्रदीप—भव्यजीवों के हृदय-सदनस्थ मिथ्यात्वान्धकार को मिटा-कर ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा सत्यासत्य प्रकाशक लोकदीपक।

लोकप्रद्योतकर—जन्म के समय तथा केवलज्ञान के बाद ज्ञानालोक द्वारा सूर्य के समान समस्त लोक के प्रकाशक।

अभयदाता—सर्वजीवों को अभयदान देने वाले तथा सात प्रकार के भयों से मुक्त करने वाले।

चक्षुदाता—ज्ञानचक्षुओं पर बँधी हुए ज्ञानावरण रूपी पट्टी को हटाकर ज्ञानरूप चक्षु देने वाले।

मार्गदाता—अनादिकाल से मार्ग भूले हुए तथा संसाराटवी में फंसे हुए प्राणी को मोक्षमार्ग के प्रदर्शक।

शरणदाता—चार गतियों के दुःखों से त्राण पाने हेतु शरण में आए हुए जीवों को ज्ञानरूप सुभट का शरण देने वाले।

जीवनदाता—मोक्ष स्थान तक पहुँचाने के लिए संयमरूप जीवनदाता।

बोधिदाता—भव्य जीवों को बोधिलाभ देने वाले।

धर्मदाता—आत्मोन्नति से गिरते हुए जीवों को धारण करके रखने वाले श्रुत-चारित्र रूप धर्म के दाता।

धर्मदेशक—धर्म के यथार्थ स्वरूप के उपदेशक।

धर्मनायक—चतुर्विध संघ रूप धर्म के रक्षक, प्रवर्तक और नेता (अगुआ)।

धर्मसारथी—चतुर्विध तीर्थ को धर्मरूप रथ में बिठाकर उन्मार्ग से बचाकर सन्मार्ग से मोक्ष नगर में ले जाने वाले धर्मसारथी।

धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती—धर्म के पूर्ण आचरण द्वारा चारो गतियों (जन्म-मरण) का अन्त करने वाले धर्मचक्रवर्ती।

अप्रतिहतज्ञान-दर्शनधर—अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शन के धारक।

विवृत्तछद्म—छद्मस्थ (सराग) अवस्था से निवृत्त। आत्मप्रदेशों को आच्छादन करने वाले घाती कर्मों से रहित।

जिन—राग-द्वेषादि अंतरंग शत्रुओ के स्वयं विजेता।

जापक—अन्यजनो (अपने अनुयायियो) को अन्तरंग शत्रुओं से जिताने वाले; जीतने की युक्ति बताने वाले।

तीर्ण—स्वयं संसार समुद्र से पारंगत—तिरे हुए।

तारक—दूसरों को सन्मार्गोपदेश द्वारा संसार समुद्र से पार उतारने वाले।

बुद्ध—स्वयं समस्त तत्त्वों का सम्पूर्ण बोध प्राप्त।

बोधक—अन्य (भव्य) जीवों को बोध प्राप्त करने वाले।

मुक्त—राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मबन्धनों से मुक्त।

मोचक—संसारी प्राणियो को कर्म जंजाल से मुक्त कराने वाले।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी—समस्त पदार्थों को अपने पूर्ण ज्ञान से जानने वाले तथा देखने के स्वभाव वाले, सर्वज्ञाता—सर्वद्रष्टा।

अभिधान चिन्तामणि में भी तीर्थंकरों के अनेक नामों (विशेषणों) का उल्लेख मिलता है। जैसे—अर्हन्, जिन, पारगत (संसार समुद्र के पारंगत), त्रिकालवित्, क्षीणाष्टकर्मा (ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्मों का क्षय करने वाले), परमेष्ठी (परम-उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित), अधीश्वर (जगत् के जीवों के आश्रयभूत), शम्भु (सनातन सुखसमुदाय में रहने वाले), स्वयम्भू (अपने भव्यत्वादि की सामग्री का परिपाक होने से दूसरों के उपदेशक बिना स्वयं प्रबुद्ध होने वाले), भगवान्, जगत्प्रभु, तीर्थंकर, स्याद्वादी, अभयद, सार्व (सर्व प्राणियों के लिए हितकारी), सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, देवाधिदेव,

बोधिद, पुरुषोत्तम, वीतराग एवं आप्त (जीवों के हितैषी, हितोपदेष्टा) आदि।[1]

भक्तामरस्तोत्र में भी स्तुति करते हुए उन्हें निम्नोक्त शब्दों (विशेषणों) से सम्बोधित किया गया है—अव्यय (चयापचय को प्राप्त न होने वाले, सर्वकाल में स्थिर), विभु (ज्ञान से त्रिलोकव्यापी, अथवा परम ऐश्वर्य से सुशोभित या इन्द्रों के स्वामी), अचिन्त्य (आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा अचिन्तनीय), आद्य (पंचपरमेष्ठियों में प्रथम या सामान्य केवलीजनों में मुख्य), ब्रह्म (केवलज्ञान या निर्वाण पाने वाले), ईश्वर (सकल सुरासुरनरनायकों पर शासन करने में समर्थ), अनन्त (अनन्तचतुष्टय धारक, अनन्तगुण सम्पन्न), अनंगकेतु (कामदेव के लिए शत्रु समान), योगीश्वर, विदितयोग (योग जिनको भली-भाँति ज्ञात हो चुका है), अनेक (गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक), एक (अद्वितीय या आर्हन्त्य की अपेक्षा से एक), ज्ञानस्वरूप (सम्पूर्ण ज्ञानमय), अमल (मलों—कर्ममलों—दोषों से, विकारों से सर्वथा रहित)।[2]

इस प्रकार अन्य अनेक नामों एवं विशेषणों से तीर्थंकर भगवान् की स्तुति की जाती है। जिनसहस्रनाम स्तोत्र में जिनेन्द्र भगवान् के १००८ नामों का उल्लेख किया गया है।

अरिहन्तों (तीर्थंकरों) के मुख्य १२ गुण

तीर्थंकर भगवान् निम्नलिखित मुख्य १२ गुणों से युक्त होते हैं—

(१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदर्शन, (३) अनन्तचारित्र, (४) अनन्ततप, (५) अनन्तबलवीर्य, (६) अनन्तक्षायिक सम्यक्त्व, (७) वज्रऋषभनाराच-संहनन, (८) समचतुरस्रसंस्थान, (९) चौंतीस अतिशय,[3] (१०) पैंतीस वाणी के अतिशय (गुण), (११) एक हजार आठ लक्षण और (१२) चौंसठ इन्द्रों के पूज्य।[4]

---

१ अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित् क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।
शम्भुः स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभुः तीर्थंकरस्तीर्थकरो जिनेश्वरः ॥१॥
स्याद्वाद्यभयद-सार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शि-केवलिनौ।
देवाधिदेव-बोधिद-पुरुषोत्तम-वीतरागाऽऽप्ताः ॥२॥—अभिधान० देवाधिदेवकाण्ड

२ त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं, ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं, ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥
—भक्तामर स्तोत्र श्लो० २४

३ अपायापगमातिशय और वागतिशय का वर्णन पहले किया जा चुका है।

४ अन्यत्र अनन्तज्ञानादि चार और पूर्वोक्त अष्टमहाप्रातिहार्य मिलकर तीर्थंकरों के १२ गुण बताये गये हैं।

भगवान् के इन और पूर्वोक्त किञ्चित् गुणगणों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः देखा जाए तो तीर्थंकर भगवान् आत्म-विकास की पराकाष्ठा को, परमात्मदशा को तथा सम्पूर्ण विशुद्ध-चेतनास्वभाव को प्राप्त कर चुकने के कारण अनन्त-अनन्त गुणों के धारक हैं। उनके समस्त गुणो का वर्णन या कथन नितांत असंभव है।

तीर्थंकरों का लक्षण : अष्टादशदोषरहितता

प्राचीनकाल में अनेक विशिष्टगुणसम्पन्न या बौद्धिकप्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे, जो वाक्पटु एवं धर्मोपदेशकुशल थे। वे वाक्कौशल अथवा हस्त-कौशल, सम्मोहन अथवा मंत्र-तंत्र-ज्योतिष आदि विद्याओं के प्रयोग से चमत्कार बताकर जिन, तीर्थंकर या अर्हत् कहलाने लगे थे।

भगवान् महावीर के युग में ही श्रमणो के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। जिनमें से छह प्रसिद्ध श्रमणसम्प्रदायों का उल्लेख बौद्ध साहित्य[1] में भी आता है। वे क्रमशः इस प्रकार थे--

१. अक्रियावाद का प्रवर्तक- पूरणकाश्यप।
२. नियतिवाद का प्रवर्तक—मक्खली गोशाल (आजीवक आचार्य)।
३. उच्छेदवाद का आचार्य—अजितकेशकम्बली।
४. अन्योऽन्यवाद का आचार्य--पकुद्ध कात्यायन।
५. चातुर्याम-संवरवाद के प्ररूपक—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र।
६. विक्षेप(संशय)वाद का आचार्य—संजयवेलट्ठिपुत्र।

इनमें से प्रायः सभी अपने अनुयायियो द्वारा तीर्थंकर' या 'जिन' अथवा 'अर्हत्' कहे जाते थे। बुद्ध भी जिन एवं अर्हत् कहलाते थे। गोशालक तथा जमाली भी अपने आपको जिन या तीर्थंकर कहते थे। सभी के भक्तो और अनुयायियों ने अपने-अपने आराध्य पुरुष के जीवन के साथ देवों का आगमन, अमुक-अमुक सिद्धियों की प्राप्ति, मंत्र-तंत्रादि से आकाश में उड़ना, पानी पर चलना, तथा अन्य वैभवपूर्ण आडम्बरों से जनता की भीड़ इकट्ठी कर लेना आदि कुछ न कुछ चमत्कार जोड़ दिये थे। इस कारण वास्तविक तीर्थंकर जिन या अर्हत् की परीक्षा सहसा नही हो पाती थी। चमत्कारों और आडम्बरो के नीचे तीर्थंकरत्व या आर्हत्पद दब गया था।

उपर्युक्त पंक्तियों में जो बारह मुख्य गुण अरिहन्त के बताये है, इनमें से अधिकांश तो अतिशय है, बाकी रहे अनन्त-ज्ञानादि; इनकी अचानक कोई भी पहिचान नहीं हो सकती, क्योंकि ये आत्मिक विभूतियाँ हैं, भौतिक नहीं। इसीलिए

---

१ विसुद्धिमग्गो

आचार्य समन्तभद्र ने देवागमस्तोत्र (अष्टसहस्री) में तीर्थंकर को चमत्कारों और अतिशयों के गज से नापने से असहमति प्रकट की और उन्हें चमत्कारों के आवरण से निकालकर यथार्थवाद के आलोक में देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

"देवागम—नभोयान—चामरादि विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥"[1]

"भगवन्! देवताओं का आगमन, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि वैभव ऐन्द्रजालिक जादूगरों के भी हो सकते हैं। इन कारणो से आप हमारे लिए महान् (महनीय-पूजनीय) नही हो सकते। आप इसलिए महान् हैं कि आपकी वाणी ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप (सत्य) को अनावृत किया था।"

आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी यथार्थवाद की धारा का अवलम्बन लिया। उन्होने कहा—"आपके चरणकमल में इन्द्र लोटते थे, इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते है या अपने इष्टदेव को भी इन्द्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जिन अकाट्य सिद्धान्तो या वस्तुतत्त्व का यथार्थ निरूपण किया, उसका वे कैसे निराकरण कर सकते है ?"[2]

जैन आगमों में तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा इसका समाधान दूसरे पहलू से भी किया गया। उनके कथन का फलितार्थ यह था कि अतिशयो आदि से तीर्थंकर भगवान् की पहचान करने में आनाकानी या संकोच हो तो दूसरी कसौटी है—अठारह दोषों से रहित होने की। वास्तविकता यह है कि चार घनघाती कर्मों का नाश होने पर अर्हन्त-अवस्था प्रकट होती है। घातिकर्मों से रहित होने पर अर्हन्त भगवन्तो में किसी प्रकार का विकार या दोष नहीं रह सकता। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, ये चार आत्मगुणघाती कर्म ही विकारो या दोषो को उत्पन्न करते हैं। इन चारों घातिकर्मों का नाश हो जाता है तो आत्मा विभाव परिणति का सर्वथा त्याग करके स्वभाव परिणति में आ जाताहै। ऐसी स्थिति में वीतराग आत्मा निर्दोष, निर्विकार एवं निष्कलंक हो जाता है। अतएव तीर्थंकर—वास्तविक तीर्थंकर या अर्हन्त वही है, जो समस्त दोषों से रहित– अतीत हो।

---

१ देवागमस्तोत्र, श्लोक—१

२ 'क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा, तवांघ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः।
इदं यथावस्थित वस्तुदेशनं, परैः कथंकारमपाकरिष्यते ॥
— अन्ययोग-व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका १३

प्रस्तुत में तीर्थंकर को जो अठारह दोषों से रहित बतलाया है, वे तो उपलक्षणमात्र हैं। इन दोषों का अभाव तो अरिहन्त की बाह्य पहिचान है, इन्हीं दोषों के अभाव से उनमें समस्त दोषों का अभाव समझना चाहिए।

अठारह दोष रहितता

तीर्थंकर भगवान् में निम्नलिखित अठारह दोषों[1] का अभाव होता है—

(१—५) **पाँच अन्तराय**—तीर्थंकर भगवान् के अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उनमें दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच दोष नहीं रहते।

दानान्तराय कर्म के क्षय हो जाने से तीर्थंकर अरिहन्तप्रभु में दान देने की अनन्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वे चाहें तो विश्व भर का दान कर सकते हैं। इसी प्रकार लाभान्तराय के क्षय से लाभ की अनन्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वीर्यान्तराय के क्षय से अनन्त आत्मिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। भोगान्तराय एवं उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से भोग्य (एक बार भोगने योग्य) और उपभोग्य (बार-बार भोगने योग्य) पदार्थों को भोगने की अनन्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि अन्तराय कर्म की पाँच मूल प्रकृतियों के क्षय करने से पाँचों ही अनुपम शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह बात अवश्य है कि तीर्थंकरों के मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न ये शक्तियाँ विकार भाव को प्राप्त नहीं होती। अतः अनन्त शक्ति प्राप्त तीर्थंकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग कभी नहीं करते।

---

१ (क) अन्तराया दान—लाभ—वीर्य भोगोपभोगाः।
हास्यो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥१॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाऽप्यमी ॥२॥

(ख) जैनतत्त्व प्रकाश आदि ग्रन्थों में तीर्थंकर अरिहन्त भगवान् को निम्नोक्त १८ दोषों से रहित बताया गया है—(१)मिथ्यात्व, (२) अज्ञान, (३) मद, (४) क्रोध, (५) माया, (६) लोभ, (७) रति, (८) अरति, (९) निद्रा, (१०) शोक, (११) अलीक, (१२) चौर्य, (१३) मत्सरता, (१४) भय, (१५) हिंसा, (१६) प्रेय (प्रेम), (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य।

—जैनतत्त्वप्रकाश पृ० १६ से १८ तक

कोई कह सकता है कि अन्तराय कर्म के नाश से उत्पन्न शक्तियों का लाभ तीर्थंकर को क्या हुआ ? इस शंका का समाधान यह है कि उनकी ये पाँचों शक्तियाँ आत्मभावों में रमण करने में, ब्रह्मचर्य में, सर्वभूत वात्सल्य एवं आत्मवत् सर्वभूतेषु आदि में लगती है। जैसे किसी व्यक्ति को लक्ष्मी की प्राप्ति हुई, तो क्या उसे मदिरापान, मांसभक्षण, द्यूत कर्म, वेश्यागमन आदि में लगाने से उसने प्राप्त लक्ष्मी का लाभ लिया कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। अतः तीर्थंकर अनन्त शक्तियों के प्रकट हो जाने पर भी सदैव निर्विकार अवस्था में रहते है।

(६) **हास्य**—तीर्थंकर भगवान हास्यरूप दोष से रहित होते है। हास्य चार कारणों से उत्पन्न होता है। यथा—(१) हास्यपूर्वक (हँसी मजाक में) बात करने से, (२) हास्यकारी बात सुनने से, (३) हँसते हुए को देखने से और (४) हास्योत्पादक बात का स्मरण करने से। निष्कर्ष यह है कि हास्य अपूर्व बात के कारण उत्पन्न होता है और तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते है। ऐसी स्थिति में उनके लिए अपूर्व बात कोई हो ही नही सकती, क्योंकि वे तो तीनो कालो और तीनों लोको की सभी बातें प्रत्यक्ष देखते जानते हैं। अतः अर्हन्त प्रभु हास्यरूप दोष से सर्वथा रहित होते हैं।

(७) **रति**—इष्टवस्तु की प्राप्ति से होने वाली खुशी या प्रीति रति कहलाती है। यह मोहनीय कर्म के उदय से होती है। तीर्थंकर अवेदी, अकषायी, वीतराग होने से उनमें मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होता है। अतः वे तिलमात्र भी रतिदोष का अनुभव नही करते।

(८) **अरति**—अनिष्ट और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग से होने वाली अप्रीति, अरुचि, अप्रसन्नता या द्वेष भावना अरति कहलाती है। अरिहन्त भगवान् समभावी होने से किसी भी दुःखप्रद संयोग या अनिष्ट पदार्थ के संयोग से उन्हे अप्रीति या द्वेष भावना नही होती। अतः वे अरतिदोष से सर्वथा रहित है।

(९) **भीति**—भगवान् सब प्रकार के भयों से मुक्त होते हैं। भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान (अत्राण) भय, (४) अकस्मात्भय, (५) आजीविकाभय, (६) अपयश-भय और (७) मरण भय।

भय उत्पन्न होता है मोहनीय कर्म के उदय से अल्पसत्त्व वालों को। भगवान् तो अनन्त शक्तिमान् है और मोहनीय कर्म रहित हैं। अतः भगवान् भयदोष से सर्वथा रहित हैं।

(१०) **जुगुप्सा**—भगवान् जुगुप्सा—घृणा से बिलकुल रहित है। घृणा रागी और द्वेषी आत्मा को ही उत्पन्न हो सकती है। भगवान् तो राग-द्वेष से सर्वथा रहित हैं। घृणा वाला पुरुष मार्दव भाव से रहित होता है जबकि भगवान् मार्दव गुण से विभूषित है। वीतराग प्रभु अपने केवलज्ञान में प्रत्येक पदार्थ के अनन्त-अनन्त पर्यायों को यथावस्थित रूप में देखते है। तब भला वे किसी पदार्थ पर घृणा कैसे कर सकते हैं? अतः वे जुगुप्सा दोष से भी रहित है।

(११) **शोक**—भगवान् शोक से भी रहित है, क्योंकि हर्ष और शोक राग-द्वेषयुक्त या संयोग-वियोग के रस से युक्त व्यक्ति को ही हो सकता है। खासकर इष्ट वस्तु के वियोग से शोक, चिन्ता एवं मानसिक अशान्ति होती है। अरिहन्त भगवान् राग-द्वेषरहित है, उनके लिए कोई भी वस्तु न तो इष्ट है, न अनिष्ट तथा परवस्तु के साथ उनका राग-द्वेष युक्त संयोग भी नहीं होता। अतः वियोग का उनके लिए कोई प्रश्न ही नही है। अतः भगवान् शोकरूप दोष से रहित है।

(१२) **काम**—भगवान् कामदोष से भी सर्वथा रहित होते हैं; क्योकि कामवासना मोहनीय कर्म के उदय से ही होती है, भगवान् तो मोहनीय कर्म का पहले ही क्षय कर चुकते हैं और फिर कामी आत्मा कभी सर्वज्ञ हो ही नहीं सकती जबकि भगवान् सर्वज्ञ होते हैं। अतः वे कामदोष से सर्वथा मुक्त होते हैं।

(१३) **मिथ्यात्व**—भगवान् मिथ्यात्व के दोष से भी सर्वथा मुक्त होते हैं। पदार्थों के स्वरूप को विपरीत रूप से जानना-मानना और विपरीत श्रद्धा रखना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व-दशा में पड़े हुए जीव सद्बोध से रहित होते है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव बार-बार जन्म-मरण करता है, नाना प्रकार के मिथ्या प्रपंच संसार में रचता है। किन्तु भगवान् के दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से वे मिथ्यात्व की समस्त प्रकृतियाँ नष्ट कर चुके हैं, केवल ज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो जाने के कारण वे पूर्ण ज्ञान और पूर्ण बोधि (दर्शन) से युक्त हैं।

तीर्थंकर पद प्राप्त करने के बाद भावी जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा रहित हो जाते हैं, सांसारिक मिथ्या प्रपंच करने का तो उनके लिए कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः तीर्थंकर भगवान् मिथ्यात्व दोष से सर्वथा रहित होते है।

(१४) **अज्ञान**—सम्यग्ज्ञान न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना

अज्ञान है। ज्ञान न होने का कारण ज्ञानावरणीय कर्म है और विपरीत ज्ञान होने का कारण मोहनीय कर्म है। तीर्थकर भगवान् इन दोनों कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं। जैसे—सूर्योदय होते ही अन्धकार भाग जाता है, वैसे ही केवलज्ञानरूपी सूर्योदय होते ही भगवान् का समस्त अज्ञान तिमिर भाग चुका होता है। अतः सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवली भगवान् में अज्ञान-भाव लेशमात्र भी नहीं होता है।

(१५) **निद्रा**—निद्रा का कारण दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। भगवान् तो इस कर्म का पहले से ही क्षय कर चुके होते हैं। जब निद्रा का कारण ही नष्ट हो गया, तब फिर भगवान् को निद्रारूप कार्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है? सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों से रहित होने से सदाकाल जागृतावस्था में रहते हैं। यदि भौतिक दृष्टि की प्रमुखता मानकर यह तर्क दिया जाए कि निद्रा का मुख्य कारण आहारादि है। गरिष्ठादि आहार करने से नींद आती है, तो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। पहले कहा जा चुका है कि निद्रा का मूल कारण दर्शनावरणीय कर्म है जबकि क्षुधा का कारण वेदनीय कर्म का उदय है। केवली भगवान् के साता वेदनीयकर्म का उदय तो रहता है, किन्तु निद्रा के कारणभूत दर्शनावरणीय कर्म का अस्तित्व भी नहीं रहता। अतः आहारादि कारणों से निद्रादि कार्यों की कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है। अतएव तीर्थंकर निद्रा दोष से रहित होते हैं।

(१६) **अविरति**—तीर्थंकर विरतियुक्त होते है अतएव वे अप्रत्याख्यानी नहीं होते, किन्तु प्रत्याख्यानी और अप्रमत्त संयत पद धारक होते हैं। अतएव वे अविरति दोष से भी मुक्त होते हैं।

(१७) **राग**—रागरूप दोष से तो भगवान् सर्वथा रहित ही होते हैं। क्योंकि राग का कारण मोहनीय कर्म है, जिसका सदा के लिए वे क्षय कर चुकते हैं। अगर तीर्थंकर का पदार्थों पर अथवा अपने संघ, भक्त, शरीर आदि पर रागभाव बना रहा तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। रागयुक्त व्यक्ति अल्पज्ञों के समान संसार में रहेगा तब तक अनर्थकारी कुकृत्य करेगा, उनके दुःखजनक परिणाम भी जन्ममरणरूप संसार में भ्रमण करता हुआ भोगेगा। राग में माया और लोभ का भी अन्तर्भाव हो जाता है। फलतः रागी आत्मा को माया और लोभ से युक्त भी मानना पडेगा। वीतराग सर्वज्ञ भगवान् इन सबसे परे होने के कारण उनमें लेशमात्र भी दोष नहीं हो सकता।

(१८) द्वेष—वीतराग प्रभु द्वेष से भी सर्वथा रहित होते हैं, क्योंकि जब उनके आत्मा में किसी पदार्थ पर रागभाव नहीं रहा, तब उनमें द्वेषभाव भी नहीं रह सकता; क्योंकि रागी आत्मा में एक पदार्थ पर राग होगा, तो दूसरे पदार्थ पर द्वेषभाव अवश्यमेव होगा और जिस आत्मा में राग-द्वेष विद्यमान रहेंगे, उस आत्मा को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कैसे माना जा सकेगा ? फिर तो हमारी तरह भगवान् भी रागी-द्वेषी कहलाएँगे, किन्तु वे ऐसे नहीं हैं। वे तो राग-द्वेष से सर्वथा रहित होते है।

यदि यह कहा जाए कि जब प्रभु अभयदान, प्राणिदया, जीवरक्षा आदि का उपदेश देते हैं, प्रेरणा करते है, जीवों को इस प्रकार बचाते हैं, तब क्या उस-उस जीव पर उनका राग नहीं होता ? यह कथन भी युक्ति-विरुद्ध है; क्योंकि राग स्वार्थभाव है जबकि करुणा, दया, रक्षा आदि निःस्वार्थभाव से की जाती है।

राग तीन प्रकार के होते हैं—कामराग (विषयों पर), स्नेहराग (सम्बन्धियो तथा मित्रों पर) और दृष्टिराग (अपनी मान्यताओं और धारणाओ पर)। ये तीनो प्रकार के राग आशा, प्रतिफल और स्वार्थ से युक्त होते हैं, जबकि भगवान् के द्वारा कृत या उपदिष्ट करुणा आदि आशा, प्रतिफल और स्वार्थ से रहित होते हैं।

यदि यह कहा जाए कि करुणा, दया आदि क्रियाओं के फलस्वरूप भगवान् को भी कर्मबन्ध होता है, जिसका फल भी उन्हें भोगना पड़ेगा। इस शंका का समाधान यह है कि भगवान् सर्वजीवों के प्रति मैत्री, दयामय चित्त से एवं वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर प्राणिमात्र की रक्षा का उपदेश करते हैं;[1] न कि राग-द्वेष भावों के वशीभूत होकर।

वास्तविकता यह है कि कर्मों के बन्धन के मुख्य कारण राग-द्वेष हैं, न कि दयाभाव, करुणा, वात्सल्य आदि। ये तो भगवान् के स्वाभाविक निजगुण हैं। जैसे सूर्य का निजगुण—प्रकाश स्वाभाविक होता है, वैसे ही भगवान् का सर्वजीवों के प्रति वात्सल्यभाव स्वाभाविक गुण है।[2] जैसे दीपक द्वारा प्रकाश करने की इच्छा वाले व्यक्ति को उस प्रकाश के कतिपय अन्य सहकारी पदार्थों को एकत्र करना पड़ता है, किन्तु सूर्य को प्रकाश के लिए किसी भी

---

१ 'सव्वजगज्जीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। —प्रश्नव्याकरणसूत्र

२ जयइ जगजीवजोणी वियाणओ जगगुरु जगाणंदो।
जगणाहो, जगबन्धू, जयइ जगप्पियामहो भयवं॥
—नन्दीसूत्र, वीरस्तुति गा० १

सहकारी पदार्थ की आवश्यकता नही रहती। सूर्य का प्रकाश एकरसमय होता है। ठीक इसी तरह रागादि द्वारा जीवो की रक्षा दीपकप्रकाश-तुल्य होती है, परन्तु वीतराग भाव से की जाने वाली रक्षा, दयादिरूप प्रवृत्ति सूर्यप्रकाश-तुल्य एकरसमय होती है।

अतः भगवान् के द्वारा कृत या उपदिष्ट करुणा, दया, वात्सल्य आदि मे रागादि की या कर्मबन्धन की कल्पना करना उनकी वीतरागता, निर्मोहता आदि को झुठलाना है और व्यर्थ ही उन पर कीचड उछालना है।

वीतराग प्रभु राग-द्वेष आदि से सर्वथा अलिप्त रहते है। इस प्रकार तीर्थंकर अरिहन्त पूर्वोक्त अठारह दोषो से सर्वथा रहित होते है।

तीर्थंकर की पूर्वोक्त कसौटी में खरा उतरने पर ही किसी व्यक्ति को वास्तविक तीर्थंकर माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर पद प्राप्ति के जो कारण शास्त्र में बताये गये है, उनसे भी वास्तविक तीर्थंकर की पहिचान हो सकती है।

तीर्थंकर पद-प्राप्ति के बीस स्थानक (कारण)[1]

कौन-सा आत्मा अर्हत् या अरिहन्त तीर्थंकर बन सकता है? किन-किन क्रियाओं या किस-किस की आराधना से अर्हत्पद या तीर्थंकरत्व की प्राप्ति हो सकती है? इस विषय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने अर्हत् बनने की एक ही शर्त रखी है कि जो भव्यात्मा विश्व के प्राणियो को तारने की महा-करुणा-भावना से ओत-प्रोत हो, वही अर्हत् बन सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस आत्मा ने अनेक जन्मो में सद्गुणो की आराधना करके शुभ संस्कारो का—अपरिमित पुण्य राशि का—संचय किया हो तथा 'समस्त जीवो को मोक्षमार्ग के यात्री बनाऊँ', ऐसी अनुप्रेक्षा द्वारा प्राणिमात्र का

---

१ इमेहिं य णं वीसाएहिं य कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहि तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निव्वत्तिसु, तं जहा—

अरहंत१, सिद्ध२, पवयण३, गुरु४, थेर५, बहुस्सुए६, तवस्सीसु७।
वच्छलया य तेसिं, अभिक्खणणाणोवओगे८ य ॥१॥
दंसण९, विणए१०, आवस्सए य११, सीलव्वए निरइयार१२।
खणलव१३, तव१४ च्चियाए१५, वेयावच्चे१६, समाही य१७॥२॥
अपुव्वणाणगहणे१८, सुयभत्ती१९, पवयणे पभावणया२०।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

—समवायांग, समवाय २०

कल्याण करने की अत्यन्त उच्च भावना की अत्यन्त गहराई से अनुचिन्तन किया हो, वही आत्मा भविष्य में समस्त गुणों के भण्डार-सदृश अर्हत्पद को प्राप्त कर सकता है।

शास्त्रों में तीर्थंकर-पद की प्राप्ति के लिए बीस स्थान—कारण बताये है। जो जीव इन बीस स्थानको (कारणो) में से किसी भी एक-दो या अधिक यावत् बीस स्थानको की पहले के तीसरे भव में यथोचित विशिष्ट तथा अपूर्व आराधना करता है, वह तीर्थंकरनामकर्म को निकाचित रूप से उपार्जित कर लेता है; वह आत्मा उस भव की अपेक्षा से आगामी तीसरे भव में अर्हत्-तीर्थंकर पद को प्राप्त कर लेता है।

इन बीस स्थानको का विशेष विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) **अरिहन्त-भक्ति**—जिन आत्माओं ने कर्मकलंक दूर कर दिया है और केवलज्ञान-केवलदर्शन से युक्त होकर सत्यमार्ग का उपदेश देते हैं; इतना ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति जिनकी वत्सलता, करुणा और दया है; षट्काय के जीवो के साथ जिनकी मैत्री है तथा जो इन्द्रों, देवो और चक्रवर्तियों आदि के द्वारा पूज्य है, सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी, वीतराग अर्हन्त देवो का अन्तःकरण से गुणकीर्तन करना तथा उनके सद्गुणो के प्रति अनुराग करना, उनके गुणों का अनुकरण करके अपनी आत्मा को गुणों से विभूषित करने का प्रयत्न करते रहना, अपने हृदय में अर्हन्तप्रभु को बसा लेना, अर्थात्—अपने हृदय में प्रभु के नाम की सतत रटन रहे ताकि कदापि प्रभु-नाम विस्मृत न हो, अर्हन्त-शब्द के साथ ही अपने श्वासोच्छ्वास को जोड़े रखना, प्रत्येक श्वास के साथ अर्हन् शब्द की ध्वनि निकलती रहे साथ ही अरिहन्त भगवान की आज्ञाओ का पालन करते रहना, यही अरिहन्त प्रभु की भक्ति है।

जब इस प्रकार अरिहन्त प्रभु के नाम से प्रीति लग जाती है, तब वह आत्मा उत्कृष्ट भावना का रसायन आने से तीर्थंकर-गोत्रनामकर्म का उपार्जन कर लेता है, जिसके प्रभाव से स्वयं संसार-सागर को पार करता है और अनेक भव्य प्राणियों को संसार-सागर से पार कर देता है तथा उसके द्वारा उपदिष्ट एव निर्दिष्ट धर्म-पथ पर चलकर अनेक भव्यजीव संसार-सागर से पार होते रहते है।

(२) **सिद्ध-भक्ति**—जो आत्मा आठ कर्मों से तथा जन्म, जरा, मृत्यु, भय, रोग, शोक, राग-द्वेष आदि से सर्वथा रहित हैं, अजर-अमर-शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त कर चुके हैं। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, निरंजन-निर्विकार एवं अशरीरी हो चुके है, वे सिद्ध हैं। वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य

(शक्ति), क्षायिक सम्यक्त्व, अमूर्तिकत्व, अगोत्र, अगुरुलघु और निरायु इत्यादि अनेक गुणों के धारक है। वे अपने अनन्तज्ञान-दर्शन द्वारा सर्व लोकालोक को हस्तामलकवत् देख रहे है। उनको अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति हो गई है, अतः सदैव आत्मिक सुख में निमग्न रहते हैं। यदि तीनों कालों के देवों के सुखसमूह को एकत्रित किया जाए तो वह सुख उन मुक्तात्माओं के सुख का अनन्तवाँ अंश भी नहीं है।

ऐसे सिद्धप्रभु के गुणों के प्रति अनुराग करने से तथा अन्तःकरण से अहर्निश उनका गुणोत्कीर्तन करने से जीव तीर्थंकरगोत्रनामकर्म का उपार्जन करता है।

(३) **प्रवचन-भक्ति**—भगवान् के उपदेशों के संग्रह का नाम प्रवचन है। उस द्वादशांगी रूप प्रवचन की—अथवा जिनवाणी के रूप में ज्ञाननिधि की भक्ति करना, उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति एव बहुमान रखना, उसका वाचना आदि पाँच प्रकार से स्वाध्याय करना, श्रद्धाभक्ति आदर-सत्कारपूर्वक अध्ययन अध्यापन करना, प्रवचन की स्वय आशातना न करना, जो अश्रद्धालु या नास्तिक लोग सर्वज्ञोक्त उपदेश की आशातना करते हैं, उन्हें हितशिक्षा देकर आशातना करने से रोकना, तथा जिन-प्रवचन के सदैव गुणोत्कीर्तन करते रहना, यथा—'देवानुप्रिय सज्जनो! यही परमार्थ है, शेष सब सासारिक कार्य-साधक है, अनर्थोत्पादक है।' इस प्रकार प्रवचन-भक्ति करने से आत्मा तीर्थंकर-गोत्र-नामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

प्रवचन का दूसरा अर्थ 'संघ' भी है। तीर्थंकरो द्वारा स्थापित – रचित धर्मसंघ (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ-संघ) एवं साधर्मिकों के प्रति उसी प्रकार स्नेहभाव वात्सल्य रखना जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है। संघ का कोई भी सदस्य संकटग्रस्त, पीडित, दुःखित, विपद्ग्रस्त, व्याधि-ग्रस्त हो अथवा धर्म से पतित या अस्थिर हो रहा हो तो उसे यथाशक्ति सहयोग देकर संकटमुक्त, रोगमुक्त, धर्म में स्थिर एवं दृढ करना; संघ की भक्ति करना, आदि ये सब संघवात्सल्य में रूप हैं। इससे भी जीव तीर्थंकर-गोत्रनामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

(४) **गुरु या आचार्य की भक्ति**—जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुरूप श्रमणधर्मयुक्त जीवन व्यतीत करने वाले स्वपरकल्याण-साधक, षट्-काय प्रतिपालक, प्राणिमात्र के हितैषी, महाव्रतधारी, धीर, भिक्षामात्रजीवी,

सामायिक (समतायोग) में स्थित, भगवदुपदिष्ट धर्मोपदेशक,[1] जैन सिद्धान्त प्रचारक, धर्मदेव, धर्मगुरु कहलाते हैं। इस प्रकार के धर्मगुरुओं को भक्ति, बहुमान और गुणोत्कीर्त्तन करने से जीव तीर्थंकरगोत्रनामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

अथवा धर्माचार्यों (जो शास्त्रोक्त छत्तीस गुणो से युक्त हों) के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने, उनका बहुमान और गुणोत्कीर्त्तन करने से भो जीव तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लेता है।

(५) **स्थविर-भक्ति**—जो मुनि बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले, साठ वर्ष या इससे अधिक आयु वाले एवं सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि शास्त्रों के ज्ञाता हो, वे स्थविर कहलाते हैं। ऐसे दीक्षास्थविर, वयःस्थविर एवं श्रुतस्थविर प्राणिमात्र के हितैषी होने से धर्म से गिरते—स्खलित होते, शिथिल होते हुए व्यक्तियों को धर्म में स्थिर करते हैं। वे स्वयं श्रमणधर्म के मौलिक आचार-विचार में दृढ़ रहते है तथा दूसरे साधकों को भी दृढ़ करते है, उनकी साधना में—आचार-शुद्धि में सहायक बनते है। संघ, गण, गच्छ आदि को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए देशकालानुसार समाचारी (आचार-संहिता) भी बनाते है। ऐसे स्थविर अल्पवयस्क हों तो भी वृद्धो के समान गम्भीर होते हैं।

इस प्रकार के स्थविरों की भक्ति- बहुमान एवं गुणोत्कीर्त्तन द्वारा भी जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्म का बन्ध कर लेता है।

(६) **बहुश्रुत-भक्ति**—अनेक प्रकार के शास्त्रों के अध्येता, विद्वान् स्वसिद्धान्त-परसिद्धान्त (स्वसमय-परसमय) के पूर्ण वेत्ता, तत्त्वचिन्तक, स्वसिद्धान्तप्रतिपादन में कुशल, स्वमत-परमत के ज्ञाता, स्वमत में दृढ़, सर्व-शास्त्रपारगामी, सर्वदर्शनो के अभ्यासी, प्रतिभासम्पन्न, गाम्भीर्य-धैर्य आदि गुणों से युक्त, हर्ष-शोक में समभावी, श्रुतविद्या से अलंकृत, वादी-मान-मर्दक, सर्वशंका-निवारक एवं श्रीसंघ में पूज्य श्रमण बहुश्रुत कहलाते हैं। ऐसे बहुश्रुत विद्वान् देशकाल विशेषज्ञ मुनिवरों की भक्ति, बहुमान एवं गुणोत्कीर्त्तन करने तथा उनके गुणों को धारण करने से जीव तीर्थंकरत्व को प्राप्त करता है।

(७) **तपस्वी-भक्ति**—अपनी आत्मशुद्धि एवं कर्म-निर्जरा के लिए

---

१ महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥ —योगशास्त्र, प्र० २, श्लो० ८

अनशनादि छह बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि छह आभ्यन्तर तप, यों बारह प्रकार के तपश्चरण में अत्यन्त उत्साह, उमंग और हार्दिक उल्लास के साथ अहर्निश पुरुषार्थ करने वाले मुनिगण तपस्वी कहलाते हैं। जैसे साबुन आदि क्षारीय पदार्थों से वस्त्र में प्रविष्ट मैल के परमाणु पृथक् किये जाते है तथा अग्नि आदि पदार्थों से सोने में प्रविष्ट मैल दूर करके उसे शुद्ध किया जाता है, वैसे ही आत्मा में प्रविष्ट कर्मों के परमाणुओं को जो तपस्वी मुनि तपः कर्म द्वारा आत्मा से पृथक् करते है, तथैव आत्मारूपी स्वर्ण में प्रविष्ट कर्म-मल तपस्यारूपी अग्नि से दूर करके आत्मा को शुद्ध करते है, उन तपस्वी मुनियों की भक्ति, सेवा और हार्दिक श्रद्धापूर्वक गुणोत्कीर्त्तन करने से जीव तीर्थंकरगोत्रनामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

(८) **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**—बार-बार तत्त्वविषयक ज्ञान में उपयोग लगाने एवं जागृत रहने से जीव उक्त कर्म का उपार्जन कर लेता है। जो जीव स्त्री-भक्त-राज-देश-विकथादि या व्यर्थ की गप्पें अथवा सासारिक प्रपंचों को छोड़कर अहर्निश सदैव अध्यात्मज्ञान या शास्त्रज्ञान में ही अपना उपयोग लगाते हैं, उनके अज्ञान का क्षय होने के साथ-साथ क्लेशों का भी क्षय हो जाता है। जैसे—वायु के शान्त होने पर जल मे बुलबुलो के उठने की सम्भावना नही रहती, वैसे ही क्लेश के क्षय होने से चित्त-समाधि में विक्षेप होने की सम्भावना नही रहती; चित्त-समाधि स्थिर हो जाती है। जब ज्ञानपिपासु व्यक्ति मतिज्ञान आदि मे पुनः-पुनः उपयोग लगाएगा तो वह पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जान जाएगा, जिसका परिणाम होगा—आत्मा की ज्ञानसमाधि में निमग्नता। इसी ज्ञानसमाधि या चित्तसमाधि के फल-स्वरूप जीव तीर्थंकरगोत्र नाम-कर्म का उपार्जन कर सकता है।

(९) **दर्शनविशुद्धि**—विशुद्ध निर्मल निरतिचार रूप से सम्यग्दर्शन का ग्रहण, धारण और पालन करना, मिथ्यात्व-सम्बन्धी क्रियाओ, मिथ्या सिद्धान्तों, मिथ्यातत्त्वों आदि से दूर रहना, सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखना, अपने सम्यक्त्व में चल (चंचलता), मल (मलिनता) और अगाढ (अदृढता) दोष उत्पन्न न होने देना; अर्हत्कथित तत्त्वो और सिद्धान्तो पर निर्मल और दृढ रुचि-श्रद्धा रखना, तथा सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म का सच्चा स्वरूप समझकर उस पर पुनः-पुनः मनन-चिन्तन करके अपने सम्यग्दर्शन को और अधिक सुदृढ़ और निर्मल करना; दर्शनविशुद्धि है।

दर्शनविशुद्धि-परायण साधक निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानकर आत्मतत्त्व पर पूर्ण विश्वास करता है, आत्म बाह्य

पदार्थों—परभावों पर से अपनी रुचि और श्रद्धा हटाता है, प्रायः आत्मस्वरूप में रमण करता है; हेय, ज्ञेय और उपादेय को जानकर हेय पदार्थ को त्याज्य, ज्ञेय को जानने योग्य और उपादेय को ग्रहण करने योग्य मानता है। दशविध मिथ्यात्व या २५ प्रकार के मिथ्यात्वों से अपनी आत्मरक्षा करता है, (१) शुभ (२) अशुभ और (३) शुद्ध—इन तीन परिणतियों में शुद्ध परिणति का ही प्रायः पुरुषार्थ करता है, शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित पदार्थ और आत्मा के भेदविज्ञान में पारंगत होता है। वह सम्यक्त्व के पाँच अतिचारो से सदैव बचकर, शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य में सतत गति-प्रगति करने का प्रयास करता है।

उसका यह दृढ विश्वास होता है कि मोक्षमार्ग या रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन प्रधान, प्रथम और अनिवार्य है, उसके बिना सारा ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और उसके बिना सारा चारित्र कुचारित्र है। सम्यग्दर्शन के बिना आचरित धार्मिक क्रियाएँ एक के अंक के बिना लगी हुई बिन्दियों के समान व्यर्थ है। इसलिए सम्यग्दर्शन को किसी भी हालत में प्रलोभन, लोभ, भय या संकट आदि के आने पर भी नहीं छोडना है, न ही उससे स्खलित या शिथिल होना है। सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से आत्मा अर्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल में एक न एक दिन निश्चित ही मुक्ति पा सकता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की सुरक्षा, विशुद्धि और विशुद्ध आराधना-साधना से आत्मा तीर्थंकरगोत्रनामकर्म उपार्जित कर लेता है।

(१०) **विनयसम्पन्नता**—मतिज्ञानादि पाँच ज्ञानों अथवा ज्ञान के साधन शास्त्र, ग्रन्थ आदि की अथवा सम्यग्ज्ञानी पुरुषो की विनय-भक्ति करना, ज्ञान के १४ अतिचारो से बचना, ज्ञान और ज्ञानी की आशातना-अविनय-निन्दा-अवर्णवाद निह्नवता, मात्सर्य-अन्तराय आदि न करना;[1] इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनियों की विनय भक्ति करना, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्त्वी की आशातना, निह्नवता, निन्दा मात्सर्य, अन्तराय, अवर्णवाद आदि न करना, इसी प्रकार सम्यक्चारित्र और चारित्रवान् की अविनय-आशातना—अभक्ति न करना, उनको भक्ति-विनय-बहुमान करना, चारित्र सम्बन्धी अतिचारों से बचकर चारित्र-विशुद्धि और वृद्धि का प्रयत्न करना, चारित्रात्मा के प्रति अश्रद्धा प्रकट न करना, इत्यादि प्रकार से चारित्रविनय करना तथा आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, ग्लान-रुग्ण, साधु

---

१ 'ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः' —तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० २३

साध्वी, गण, कुल एवं संघ, साधु आदि की सेवा—उपचार विनय करना विनय सम्पन्नता है।

ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और विस्मृत न होना ज्ञानविनय है।

तत्त्व की यथार्थ प्रतीति-स्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली शंकाओं का निवारण करके निःशंकभाव से साधना करना दर्शनविनय है।

सामायिक आदि चारित्रों में चित्त को समाहित रखना चारित्र-विनय है।

जो साधक अपने से सद्गुणों में श्रेष्ठ हो, उसके प्रति अनेक प्रकार से यथोचित व्यवहार करना; जैसे—उनके सम्मुख जाना, उनके आने पर खड़े होना, आसन देना, वन्दन करना, उन्हें आदर देना इत्यादि उपचार-विनय है।[1]

इस चारों प्रकार के विनय से आत्मविशुद्धि होती है; अहंकार, उद्धतता एवं स्वच्छन्दता के भावों का नाश होता है। अहंकारादि के मिटते ही आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से समृद्ध एवं उन्नत होती है, वह समाधिभाव में या स्वरूप रमणता में लग जाती है। विनय से जीवन पवित्र एवं उच्चकोटि का होता है, विनयी आत्मा का विनय देखकर अनेकों जीवों को विनय की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार की विनयसम्पन्नता से जीव तीर्थंकरगोत्रनामकर्म का उपार्जन कर लेता है।

(११) **आवश्यक क्रिया का अपरित्याग**—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना (गुरुवन्दन), प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान, इन छह आवश्यकों के अनुष्ठान को रुग्णता, व्याधि, चिन्ता, शोकग्रस्तता, विपत्ति, संकट, इष्ट-वियोग, अनिष्टसंयोग आदि किसी भी परिस्थिति में द्रव्य और भाव से न छोड़ना[2] प्रतिदिन नियमित रूप से अप्रमत्त भाव से आवश्यक धार्मिक क्रियाएँ करना '**आवश्यकापरिहाणि**' है।

आवश्यक से संयम की एवं आत्मा की विशुद्धि होती है, दिन और रात्रि

---

१ देखें चारों प्रकार के विनय का स्वरूप, तत्त्वार्थसूत्र—पं० सुखलालजी, द्वारा संपादित नया संस्करण पृ० २२०

२ देखें "आवश्यकापरिहाणि' का अर्थ, तत्त्वार्थ सूत्र—पं० सुखलालजी, नया संस्करण, पृ० १६२

में अपने व्रत, नियम और अन्य प्रवृत्तियों में लगे हुए मानसिक, वाचिक एवं कायिक अतिचारों—दोषों की विशुद्धि होती है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में असावधानी एवं प्रमाद, कषाय एवं अशुद्ध मन-वचन-काया के योगों से कोई दोष लग गया हो तो उसकी विशुद्धि प्रतिक्रमण आवश्यक के अन्तर्गत आलोचना, निन्दना (आत्मनिन्दा-पश्चात्ताप), गर्हणा (गुरुसाक्षी से आत्मालोचना), प्रतिक्रमण (पीछे हटना), पंचपरमेष्ठी वन्दना, प्रायश्चित्तादि तथा मैत्री, क्षमा आदि भावना से हो जाती है।

इस प्रकार की आवश्यक क्रिया से आश्रव रुक जाता है, नूतन कर्मों का संवर हो जाता है, निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो जाता है जिससे निर्वाणपद के निकट आत्मा पहुँच जाता है। इस प्रकार आवश्यक क्रिया को हार्दिक श्रद्धा-भक्ति एवं उत्साह, उल्लास के साथ नियमित रूप से अनिवार्य समझकर करने से तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन हो जाता है।

(१२) निरतिचार रूप से शील-व्रत पालन—'शील' शब्द उत्तरगुणों से सम्बन्ध रखता है और 'व्रत' शब्द मूलगुणों से। मूलगुण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, आदि पाँच महाव्रत या पाँच अणुव्रत हैं; और उत्तरगुण है—नियम-त्याग-प्रत्याख्यानादि अथवा छठे दिशापरिमाण नामक गुणव्रत से लेकर बारहवें अतिथिसंविभाग व्रत नामक शिक्षाव्रत तक के गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत। इस प्रकार व्रत और शील मे,[1] अर्थात्—मूलगुणों और उत्तरगुणो में असावधानी, भूल या प्रमाद से भी शास्त्रोक्त किसी भी प्रकार का अतिचार या दोष न लगने देना; निरतिचाररूप से व्रतों और शीलो का पालन करना, शुद्धता-पूर्वक गृहीत व्रतो और शीलो की साधना करना तीर्थंकरत्व प्राप्ति का कारण है।

श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक स्वीकृत व्रतो और शीलों में किसी प्रकार की मलिनता न आने देने से अर्थात्—उनका शुद्धतापूर्वक दृढता से पालन करने से आत्मबल, मानसिक शक्ति, संकल्प शक्ति एवं दृढ़ता बढ़ती है; आत्मविकास एवं अलौकिक आत्मप्रकाश होने लगता है, जिसके कारण सहज ही तीर्थंकर-नामकर्म के उपार्जन का द्वार खुल जाता है।

(१३) क्षण-लव (अभीक्ष्ण-संवेग भाव) की साधना—यो तो क्षण और लव ये दोनों शब्द कालवाचक है। किन्तु क्षण-लव शब्द के उपलक्षण से

---

१ देखें, 'व्रतशीलेषु पंच-पंच यथाक्रमम्' तथा इस पर विवेचन पं० सुखलालजी सम्पादित तत्त्वार्थसूत्र—नया संस्करण, पृ० १८६

क्षण-क्षण में अथवा प्रत्येक क्षण संवेगभाव धारण करना अथवा अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) में अपने जीवन के क्षण व्यतीत करना अथवा धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय (क्षण= नाश) करना अथवा अपने जीवन के क्षण-लव को शुद्धोपयोग में व्यतीत करना; ये अर्थ ग्रहण करने चाहिए।

जन्म-मरणरूप संसार अथवा सांसारिक भोग वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधक बनते है, यह सोचकर संसार में या सांसारिक भोगों से उद्विग्न होना, डरना या उपरत होना अथवा उनमे न ललचाना संवेग भाव है।[१] संवेग और वैराग्य का बीजवपन होता है जगत्-स्वभाव एवं काय-स्वभाव का चिन्तन—अनुप्रेक्षा करने से।[२] इस प्रकार सवेग-वैराग्य भाव में, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं में, शुभध्यान, मौन, तत्त्वचिन्तन एवं शुद्धोपयोग—आत्मा के शुद्ध स्वभाव के चिन्तन में, अपने जीवन के प्रत्येक पवित्र एवं अमूल्य क्षण को बिताने से अनायास ही पुरातन कर्मों का क्षय होने से तथा क्षयोपशमभाव से तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन हो जाता है।

(१४) **यथाशक्ति तपश्चरण**—यथाशक्ति बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना करते रहने से, अपना जीवन तपोमय बनाने और तपश्चर्या से अपनी आत्मशुद्धि तथा अशुभ कर्म की निर्जरा करने से भी तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित हो जाता है।

शर्त यह है कि वह तप प्रदर्शन, आडम्बर, यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा, निदान (नियाणा), लब्धि, सिद्धि, चमत्कार प्रदर्शन अथवा लौकिक-पारलौकिक स्वार्थ, अविवेक, अहंकार, प्रतिस्पर्धा, आवेश, क्रोध आदि के वश न किया गया हो; तभी वह उपर्युक्त फलदायी होता है।

इसी का समर्थन तपःसमाधि के सन्दर्भ मे दशवैकालिक[३] सूत्र में मिलता है।

तात्पर्य यह है कि तपःसमाधि तभी प्राप्त हो सकती है, जब अतः-करण के उल्लास, उमग, उत्साह एव शारीरिक-मानसिक समाधि एवं शुभ-

---

१ तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन प० सुखलालजी, नया संस्करण पृ० १६३

२ 'जगत्कायस्वाभावौ च सवेग-वैराग्यार्थम्।' —तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० ७

३ न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, न कित्ति-वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक अ० ९, उ० ४

ध्यानपूर्वक तपश्चरण किया गया हो। उससे आत्मा शक्तिमान, तेजस्वी, स्वस्थ और आनन्दमय होता है। आत्मा में शुद्ध तपश्चरण से कष्ट सहिष्णुता, तितिक्षा, आत्मशक्ति, मनोबल, परीषहोपसर्गसहन शक्ति, अशुभ कर्मों के क्षय हो जाने से मनःसमाधि बढती है। इससे सर्वज्ञता सर्वदर्शिता तक प्राप्त हो जाती है।

यथाशक्ति तपश्चरण का फलितार्थ यह भी होता है कि अपनी शक्ति छिपाये बिना विवेकपूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर तप का अभ्यास अहर्निश करते रहना चाहिए। यद्यपि तपश्चर्या से आमर्षौषधि आदि अनेक लब्धियाँ तथा शाप-आशीर्वाद प्रदान करने की शक्ति आदि कई उपलब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, कई दुःसाध्य शारीरिक रोग भी मिट जाते है, तथापि आत्मशुद्धि के इच्छुक साधक को इन सब फलाकांक्षाओ को छोड़कर तपश्चरण करना चाहिए। ऐसा तप ही तीर्थंकरत्व प्राप्ति का कारण होता है।

(१५) **यथाशक्ति त्याग**—अपनी शक्ति को जरा भी छिपाये बिना आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान, औषधदान आदि से अथवा वस्त्र, आहार, उपकरण आदि साधनो का त्याग-प्रत्याख्यान करने से व्यक्ति तीर्थंकरत्व की प्राप्ति कर सकता है।

इन दानो में श्रुत (ज्ञान) दान सबसे बढकर है और दानो से तो इह-लौकिक और पारलौकिक सुख ही मिल सकते है किन्तु श्रुतदान से मोक्ष के अनन्त (असीम) सुखों की प्राप्ति भी हो सकती है तथा इहलोक में असीम अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

इतना ही नही, श्रुतज्ञान के प्रचार से अनेक आत्माएँ अज्ञान और मिथ्यात्व से बचकर रत्नत्रय की साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। उचित सुपात्र को दान देने से भी पुण्यवृद्धि होती है।

इस प्रकार दान की प्रबल भावना और अहर्निश सुपात्रदान से तीर्थं-करनामकर्म का अनायास ही बन्ध हो सकता है।

(१६) **वैयावृत्यकरण**—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) तपस्वी, (४) नवदीक्षित, (५) ग्लान (रोगादि से क्षीण), (६) स्थविर, (७) गण, (८) कुल, (९) संघ, (१०) साधु तथा समनोज्ञ (ज्ञानादि गुणों में समान अथवा समान शील, साधर्मिक) इन दस सेव्य (सेवायोग्य पात्रों) पुरुषों की यथायोग्य एवं यथोचित रूप से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सेवाशुश्रूषा, परिचर्या एवं संकट निवा-रण में सहयोग प्रदान करना, इन्हें सुख-शान्ति एवं समाधि पहुँचाना वैयावृत्य-करण है।

भिन्न-भिन्न आचर्यों के शिष्यरूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने से समान वाचना वाले हो तो उनका समुदाय **गण** है। एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य परिवार **कुल** है। एक ही धर्म का अनुयायी समुदाय **संघ** है, जो साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविक रूप है। इनकी वैयावृत्य का उद्देश्य है—इनकी और संघ की आत्मोन्नति हो, आध्यात्मिक विकास हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वृद्धि हो, इन्हें समाधि प्राप्त हो। अतः इनकी वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा ही परम धर्म है, इसी से कल्याण हो सकता है, ऐसा समझकर उत्कृष्ट भाव से अन्तःकरण से इनकी वैयावृत्य करने से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन हो सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इस विषय में कहा गया है—

वेयावच्चे णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वेयावच्चे णं तित्थयर नामगोयं कम्मं निबंधइ।[1]

भगवन् ! वैयावृत्य करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

वैयावृत्य से वह तीर्थंकरनामगोत्रकर्म का निबन्धन करता है।

(१७) **समाधि**— उत्कृष्ट आत्मसमाधि प्राप्त होने से भी तीर्थकरत्व की प्राप्ति हो सकती है। समाधि दो प्रकार की है— (१) द्रव्यसमाधि और (२) भावसमाधि।

किसी व्यक्ति को जब उसका इच्छित अभीष्ट पदार्थ मिल जाता है तो उसके चित्त में समाधि आ जाती है; परन्तु यह समाधि द्रव्यसमाधि है, जो चिरस्थायी नहीं होती। दाहज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को बहुत जोर की प्यास लगती है, यदि उसे उस समय शीतल जल पीने को मिल जाए तो वह अपने चित्त में समाधि मानने लगता है, परन्तु वह समाधि कितने समय तक टिकती है ? थोड़ी ही देर के बाद उस व्यक्ति की फिर वही दशा (असमाधि) हो जाती है। इसी प्रकार अन्य अभीष्ट पदार्थों की उपलब्धि से होने वाली द्रव्यसमाधि के विषय में समझना चाहिए।

ऐसा भी होता है कि एक अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि हो भी गई किन्तु समय, परिस्थिति आदि के परिवर्तन के कारण यदि वह वस्तु मन से उतर गई तो फिर वही वस्तु असमाधिदायक बन जाती है और तब वह व्यक्ति दूसरी किसी वस्तु को पाने की इच्छा करता है। इसी प्रकार दूसरी वस्तु भी उसे समाधि प्रदान करने में असमर्थ रहती है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, ४४वाँ बोल।

तात्पर्य यह है--क्षणस्थायी द्रव्यसमाधि अन्त में असमाधिकारक सिद्ध होती है; किन्तु भावसमाधि—जो कि आत्माधीन और स्थायी होती है, वह इस प्रकार की नहीं होती।

भावसमाधि तीन प्रकार की है—(१) ज्ञानसमाधि (२) दर्शनसमाधि और (३) चारित्रसमाधि।

ज्ञान में आत्मा जब निमग्न हो जाती है, तब ज्ञानसमाधि उपलब्ध होती है। जिस समय ज्ञान में पदार्थों का यथावस्थित अनुभव होने लगता है, तब आत्मा में अलौकिक आनन्द उत्पन्न हो जाता है। वह आनन्द का समय समाधिरूप ही होता है।

जब जिनोपदिष्ट तत्त्वों पर दृढ़श्रद्धा, रुचि एवं प्रतीति हो जाती है, शंका, कांक्षा आदि दोष उत्पन्न नहीं होते, देव-गुरु-धर्म पर अविचल श्रद्धा हृदय में हो जाती है, यहाँ तक कि कोई भी देव, दानव, मानव या तिर्यंच उसे धर्मसिद्धान्त, धर्मक्रिया—व्रत, नियम, देव-गुरु धर्मश्रद्धा आदि से भय, प्रलोभन आदि दिखाकर विचलित करना चाहे तो भी उसकी आत्मा सुमेरु पर्वत की तरह अडोल, अकम्प एवं अविचल रहे, तब समझना चाहिए कि चित्त दर्शन-समाधि में स्थिर हो गया है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म, सामायिक, तपस्या, संयम, संवर, धर्मक्रियाएँ आदि सब चारित्र है। इस प्रकार चारित्र-पालन किसी प्रकार के प्रदर्शन, आडम्बर, निदान, स्वार्थ, यशकीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रलोभन, भय, अहंकार आदि से रहित होकर केवल कर्मनिर्जरा अथवा वीतरागता प्राप्ति के उद्देश्य से उत्साह एवं श्रद्धापूर्वक किया जाए तो चित्त चारित्र समाधि में स्थिर हो जाता है।

दशवैकालिक सूत्र में उल्लिखित चार प्रकार की समाधि भी भाव-समाधि है। वह इस प्रकार है—(१) श्रुतसमाधि, (२) विनयसमाधि, (३) आचारसमाधि और (४) तपःसमाधि।

श्रुत समाधि चार प्रकार से होती है, यथा—(१) मुझे शास्त्र का अर्थ उपलब्ध हो जाएगा, इस दृष्टि से, (२) एकाग्रचित्त हो जाऊँगा, इस दृष्टि से, (३) आत्मा को स्वभाव में स्थित करने की दृष्टि से, (४) स्वयं स्वभाव में स्थित होकर दूसरों को स्वभाव में स्थित करूँगा, इस दृष्टि से अध्ययन (स्वाध्याय) करने से।

विनय समाधि के भी चार प्रकार हैं—(१) गुरु आदि हितकर अनुशासन

(शिक्षा) देखकर उनकी शुश्रूषा करने से, (२) गुरु आदि की शिक्षा को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करने से, (३) उनकी आज्ञा का पालन करके विनम्रतापूर्वक आराधना करने से, और (४) अभिमानग्रस्त होकर आत्मा को मद से मत्त न करने से।

तपःसमाधि भी चार प्रकार से प्राप्त होती है—(१) इहलोक के लिए (२) परलोक के लिए; और (३) कीर्ति, वर्ण (प्रशंसा), शब्द एवं श्लोक के लिए तपस्या न करने से किन्तु (४) एकान्त निर्जरा (आत्मशुद्धि) के लिए तप करने से। जो साधक विविध प्रकार के तपश्चरण में रत रहता है, बिना थके (परिश्रान्त) हुए निर्जरा के लिए तप करता है, वह सदा तपःसमाधि से युक्त होकर अपने पुरातन कर्मों को नष्ट कर डालता है।

आचारसमाधि भी चार प्रकार से सम्पन्न होती है। यथा—(१-२-३) इस लोक, परलोक, या कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए आचार का पालन न करे, (४) केवल आर्हत्पद (वीतरागता) के कारणों से आचार का अनुष्ठान करे। जिनवचन में रत, रोषरहित (शान्त), दान्त एवं वीतराग-भाव में संलग्न संवृत्त मुनि आचारसमाधि से सम्पन्न होता है।[1]

इस प्रकार आत्मा में पूर्वोक्त तीनों प्रकार की अथवा इन चारों प्रकार की भावसमाधि उत्पन्न करके साधक अशुभ एवं क्लेश-कलुषित कर्मों का क्षय करके तीर्थंकर नामगोत्रकर्म का उपार्जन कर लेता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार इस पद का समग्र रूप है—**संघ-साधु-समाधि-करण** जिसका अर्थ किया गया है—चतुर्विध संघ और विशेषकर साधुओं को समाधि (आत्मशान्ति) पहुँचाना; जिससे वे तन-मन से स्वस्थ रह सकें।[2]

(१८) **अपूर्वज्ञान**—अपूर्व-अपूर्व (नया-नया) ज्ञान ग्रहण करने-सीखने से भी तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

ज्ञान से हेय, ज्ञेय और उपादेय के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना और हृदय में सम्यक् रूप से स्थापित करना अपूर्व ज्ञान ग्रहण है। किसी भी पदार्थ का यथावस्थित ज्ञान होने या नया-नया ज्ञान सीखने से आत्मा में अचिन्तनीय, अनिर्वचनीय, अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है। उस आनन्द के प्रभाव से उसकी आत्मा में सदैव समाधि बनी रहती है, उसका चित्त प्रफुल्ल एवं प्रसन्नता से ओत-प्रोत रहता है। तात्पर्य यह है कि जब तक

---

१ दशवैकालिक सूत्र अ० ९, उद्देशक ४, श्लो० १ से ४ तक

२ तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६ सू०२३, विवेचन प० सुखलालजी, पृ० १६३

ऐसी ज्ञानसमाधि उत्पन्न नहीं होती, तब तक आत्मा में अन्य समाधियों का प्रादुर्भाव संभव नही है; और ज्ञानसमाधि के प्रादुर्भाव के लिए अपूर्व ज्ञान ग्रहण करना अनिवार्य है।

जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानरूपी अन्धकार का भी स्वयमेव अभाव हो जाता है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब आत्मा में समाधि उत्पन्न हो ही जाती है।

(१६) **श्रुतभक्ति**—श्रुत (शास्त्र, आगम या सिद्धान्त) के प्रति श्रद्धा-भक्ति श्रुतानुसार या श्रुताज्ञानुसार प्रवृत्ति करने से भी जीव तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन कर सकता है।

श्रुत-भक्ति की विधि क्या है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार गुरुभक्ति की जाती है उसी प्रकार श्रुतभक्ति होनी चाहिए। गुरुभक्ति का मुख्य उद्देश्य गुरु-आज्ञा पालन करना है, उसी प्रकार श्रुत की आज्ञानुसार धार्मिक क्रियाएँ करना श्रुतभक्ति है। साथ ही श्रुत की अविनय-अभक्ति न करना, जिज्ञासु और योग्य व्यक्ति को शास्त्र-ज्ञान (श्रुत) सहर्ष प्रदान करना, जनता के हृदय में श्रुत का महत्त्व बिठाना, जिससे वह श्रुत का बहुमान कर सके, श्रुतश्रवण-मनन-निदिध्यासन कर सके, श्रुतवाक्य को हृदयंगम करके श्रुत कथनानुसार अपने जीवन को पावन कर सके।

शास्त्र में बताया है कि श्रुत की आराधना करने से अज्ञान और क्लेश दोनो नष्ट हो जाते है। क्लेश भी तभी तक टिकता है, जब तक अज्ञान है। अतः सिद्ध हुआ कि श्रुतभक्ति द्वारा तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध करके जीव अनेक आत्माओं का कल्याण करता हुआ मोक्षगमन कर लेता है।

(२०) **प्रवचन प्रभावना**—तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट या रचित प्रवचन (शास्त्र अथवा संघ) की प्रभावना करने से जीव तीर्थंकरनामकर्म का बंध कर सकता है।

प्रवचन प्रभावना का एक अर्थ है—भगवदुपदिष्ट द्वादशांगी प्रवचनों का बार-बार स्वयं स्वाध्याय करके अपने हृदय में अनुप्रेक्षापूर्वक उसे स्थापित करना और भव्य आत्माओं को प्रमाद छोडकर शास्त्रविहित उपदेश सुनाकर उनके हृदय में उनका प्रभाव बिठाना। सच्ची प्रभावना तो तभी हो सकती है, जबकि इस ढंग से शास्त्र सुनाये जाएँ जिन्हें सुनकर भव्य जीव प्रभावित होकर संसार-विरक्त हो सकें और मोक्षमार्ग की आराधना कर सके।

(२) प्रवचन प्रभावना का दूसरा अर्थ है --अभिमान छोडकर ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना और दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढाना, प्रभावित करना। इसे मोक्षमार्ग प्रभावना भी कहा जाता है।

(३) प्रवचन प्रभावना का तीसरा अर्थ है--तीर्थंकरों द्वारा स्थापित धर्म-संघ की उन्नति करना, संघ को ज्ञान, दर्शन-चारित्र से समृद्ध बनाना, संघ में स्नेह-वात्सल्य बढाकर उससे दूसरे लोगों को प्रभावित करना, संघ में नये प्रवेश करने वाले अनुयायियों को धर्म में सुदृढ करना, उनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रखने हेतु प्रयत्नशील रहना, सहयोग देना ।

इस प्रकार की उत्कृष्ट प्रवचन प्रभावना से जीव तीर्थंकर नामगोत्र कर्म अवश्य ही उपार्जित कर सकता है।

उपर्युक्त बीस कारणों से जब जीव तीर्थंकरगोत्रनामकर्म का निबंधन कर लेता है, तब बीच में देवलोक या नरक का एक भव करके तीसरे भव में वह तीर्थंकर-अरिहन्त पद को प्राप्त करता है। इस भव में वह मनुष्य लोक में उत्तम कुल में जन्म धारण करके गृहवास का त्याग करके मुनिवृत्ति धारण कर लेता है। मुनिवृत्ति, रत्नत्रय एवं तप की उत्कृष्ट आराधना करके ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है, जिससे वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग, अर्हन् बन जाता है। फिर वह अपने पवित्र उपदेशों द्वारा साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ (संघ) की स्थापना करता है, जिससे अनेक भव्य जीव अपना आत्मकल्याण करते हुए मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते है।

तीर्थंकर और अवतार में अन्तर

वैदिक परम्परा के धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार काल के कृत (सत्) युग आदि चार विभाग किये गये है, उसी प्रकार जैन शास्त्रों में काल के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो मुख्य विभाग करके प्रत्येक को छह-छह आरों में विभक्त किया गया है। इन बारह आरों का एक पूर्ण कालचक्र होता है।

तीर्थंकर इसी कालचक्र के तीसरे-चौथे आरे में हमारी ही तरह मनुष्य के रूप में होते है। जो तीर्थंकर अथवा अरिहन्त केवली आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, वे सदा के लिए शाश्वत स्थान--मोक्ष में जा विराजते हैं। वे पुनः संसार में नहीं आते।

इस वर्णन से यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि जो-जो जीव इस विश्व में तीर्थंकर होते हैं, वे किसी परमात्मा के अवतार नहीं होते, किन्तु समस्त तीर्थंकर पृथक्-पृथक् आत्माएँ हैं।

जैनधर्म अवतारवादी नहीं, अपितु उत्तारवादी है। **उत्तारवाद** का अर्थ है—नीचे से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक क्रमशः ऊपर उठते-उठते मनुष्य रूप में जन्म लेकर स्वयं पुरुषार्थ से तीर्थंकरत्व प्राप्त करते हैं, फिर अपने ही पुरुषार्थ से आत्मस्वरूप का विकास करने का अभ्यास पराकाष्ठा पर पहुँचने पर समस्त कर्मरूप आवरणों को विध्वस्त करके पूर्णरूप से वे जीव अपना चैतन्य-विकास सिद्ध कर लेते हैं, अर्थात् संसार के जन्ममरण रूप चक्र को सदा के लिए तोड़ देते हैं और उत्थान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं, स्वयं निरंजन-निर्विकार परमात्मा बन जाते हैं।

अवतारवाद का अर्थ है—इतनी सर्वोच्च भूमिका पर पहुँचकर भी पुनः संसार में परमात्मा के आंशिक अथवा पूर्ण रूप में अवतार लेना—जन्म लेना।

किन्तु मुक्त होने के बाद संसार में पुनः अवतार लेने की अयुक्तिक बात जैनधर्म को मान्य नहीं है।

तीर्थंकर देवों की कुछ विशेषताएँ

माता को उत्तम स्वप्न दर्शन

देव अथवा नारक का आयुष्य पूर्ण करके अर्हन्-तीर्थंकर पद को प्राप्त करने वाला आत्मा जब मनुष्यलोक के १५ कर्मभूमिक क्षेत्रों में से किसी क्षेत्र में माता के गर्भ में आते हैं, तब माता चौदह सुन्दर स्वप्न देखती हैं।[1] गर्भावस्था में ही तीर्थंकर के जीव को तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधिज्ञान—होते हैं, जिससे प्रसंग आने पर वे इन ज्ञानों का उपयोग करके वस्तुस्थिति को जान-देख सकते हैं।

जन्म महोत्सव

सवा नौ महीने पूर्ण होने पर, चन्द्रबल आदि उत्तम योग में शुभ मुहूर्त

---

१ चौदह स्वप्न—(१) ऐरावत हाथी, (२) धोरी (श्वेत) वृषभ, (३) शार्दूलसिंह, (४) लक्ष्मी देवी, (५) पुष्पमाला-युगल, (६) पूर्ण चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) इंद्र-ध्वजा, (९) पूर्णकलश, (१०) पद्मसरोवर, (११) क्षीरसागर, (१२) देवविमान, (१३) रत्नराशि और (१४) निर्धूम अग्निज्वाला।

में, उपर्युक्त तीन ज्ञान सहित तीर्थंकर कर्मभूमि[1] में प्राय: पुरुष रूप में[2] जन्म लेते है। जिस प्रकार वर्तमान में राज्य नही मिलने पर भी भविष्य मे राज्य मिलने वाला है, इसलिए राजकुमार को राजा कहा जाता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भी बाल्यावस्था में केवलज्ञानी न होने से उनमें वास्तविक तीर्थंकरत्व न होने पर भी उसी जीवन में भविष्य में तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाले हैं, इसलिए वे जन्म से ही 'तीर्थंकर' कहे जाते है।

तीर्थंकरों को अपने जीवन में असाधारण एवं उच्च अध्यात्म साधनामय पुरुषार्थ करना होता है, उसके लिए उन्हें असाधारण शूरवीरता, वत्सलता और पराक्रम की आवश्यकता होती है, साथ ही जनता को विशेष प्रभावित एवं आकर्षित करने हेतु भी उच्चकुलगत वंश मे जन्म लेना होता है, इसलिए उनका प्रबल पुण्यबल उन्हें उत्तम कुल में जन्म प्राप्त कराता है।

तीर्थंकरो के जन्म के समय सारे विश्व मे प्रकाश की किरणें व्याप्त हो जाती हैं, और प्रकृति की प्रसन्नता बढ जाती है। जहाँ सतत दारुण दुःख का अनुभव होता है, ऐसे नरकस्थानो में भी उस समय क्षणभर के लिए सुखानुभूति की लहर सी दौड जाती है।

तीर्थंकरो के जन्म के समय छप्पनदिक् कुमारिका[3] आदि देवियाँ आकर

---

१ विश्व में मानव निवास वाली भूमि दो प्रकार की हैं—एक सांस्कृतिक जीवन वाली, और दूसरी सहज जीवन वाली। इनमे सास्कृतिक जीवन वाली भूमि को कर्मभूमि कहते है, क्योंकि उसमे कृषि, व्यापार, न्याय, युद्ध, वाणिज्य, उद्योग, कला तथा तप, सयम आदि कर्मों की प्रधानता होती है। सहज जीवन वाली भूमि मे कृषि आदि कर्म नही होते। वहाँ के मानव स्वाभाविक रूप से दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाले भोगोपभोग्य साधनों आदि पर जीवन निर्वाह करते हैं। इसलिए इस भूमि को अकर्मभूमि कहते है। इन दो प्रकार की भूमियों मे से तीर्थंकर का जन्म कर्मभूमि मे ही होता है, क्योंकि तप, सयम, साधुता, श्रमण धर्म आदि वही होते हैं।

२ तीर्थंकर प्राय: पुरुषरूप मे जन्म लेते है, फिर भी अनन्तकाल मे कदाचित् आश्चर्य-स्वरूप वे स्त्रीरूप में भी जन्म लेते हैं। इसमें मुख्य कारण तदनुकूल पूर्वबद्ध कर्म है। वर्तमान चौबीसी में १९वें तीर्थंकर श्रीमल्लिनाथ स्त्रीरूप मे उत्पन्न हुए थे।

३ छप्पन दिक्कुमारिकाएं इस प्रकार हैं—(१) आठ अधोलोक में रहने वाली, (२) आठ ऊर्ध्वलोक में रहने वाली, (३) आठ पूर्व रुचक पर रहने वाली, (४) आठ दक्षिण रुचक पर रहने वाली, (५) आठ पश्चिम रुचक पर रहने वाली, (६) आठ उत्तर रुचक पर रहने वाली और (७) आठ विदिशा रुचक पर रहने वाली, यों कुल मिलाकर ५६ दिशाकुमारिका देवियाँ हैं।
विशेष वर्णन के लिए देखिए—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र

जन्म महोत्सव करती हैं। चौंसठ इन्द्र आदि देव अपने जीतव्यवहार (परम्परागत व्यवहार) के कारण तीर्थंकरो को मेरुपर्वत के पण्डकवन में ले जाकर बहुत ही उमंग और धूमधाम से उनका जन्म महोत्सव मनाते हैं। तत्पश्चात् तीर्थंकर के माता-पिता अपने यहाँ जन्म-महोत्सव करके उनका नाम रखते हैं।

निम्नलिखित चार विशेषताएँ तीर्थंकरो के जन्म से होती है—

(१) उनका शरीर लोकोत्तर अद्‌भुत स्वरूप वाला होता है। उसमें प्रस्वेद (पसीना), मैल या रोग नहीं होता;

(२) उनका श्वासोच्छ्‌वास सुगन्धमय होता है;

(३) उनके रक्त और मांस का रंग दूध जैसा श्वेत होता है; और

(४) उनका आहार और नीहार (मलविसर्जन क्रिया) सामान्य मानव के चर्मचक्षुओं द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता।[1]

बाल्य एवं युवावस्था

तीर्थंकर बाल्यक्रीडा करके यौवनवय में आने पर यदि भोगावली कर्म का उदय होता है तो उत्तम कुल की श्रेष्ठ नारी के साथ विधिवत् पाणिग्रहण करते है। वे मनुष्य के पंचेन्द्रियजन्य पांचो प्रकार के काम-भोग रूक्ष (उदासीन) भाव से अनासक्तवृत्ति से भोगते हैं; अर्थात्—उनमें उन्हें मूर्च्छा (आसक्ति) नही होती।[2]

वर्षी-दान

तीर्थंकर दीक्षा-ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान देते है। इस प्रकार वे एक वर्ष में कुल तीन अरब, अठासी करोड़ स्वर्णमुद्राओ का दान दे देते है।[3] इसके पश्चात् वे गृह-त्याग करके स्वयं प्रव्रजित होते है। तीर्थंकर स्वयं संबुद्ध होते हैं,[4] अर्थात

१ समवायांगसूत्र

२ नमो पंचविहेसु माणुसभोगेसु अमुच्छियाणं अरिहंताणं—अर्थात् 'मनुष्य सम्बन्धी पाँच प्रकार के भोगों में मूर्च्छित—आसक्त न होने वाले अरिहन्त भगवंतों को नमस्कार हो।'
—अर्हन्नमस्कारावलिका, सूत्र ३२

३ 'नमो वरवरिआघोसपुव्वं संवच्छरिअ—दाण—दायगाणं अरिहंताण।
अर्थात्—'वरवरिका (इच्छित वस्तु का दान देने के लिए की जाने वाली घोषणा) पूर्वक सांवत्सरिक (वार्षिक) दान देने वाले अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो।'
—अर्हन्नमस्कारावलिका, सूत्र ३७

४ 'सयं-संबुद्धाणं'
—शक्रस्तवपाठ

वे किसी के उपदेश के बिना स्वयं बोध पाकर गृहादि का त्याग करते हैं। उनका कोई गुरु नहीं होता।[1]

गृहादि-त्याग के कुछ काल पूर्व उनके वैराग्य की अनुमोदना करने हेतु अपने कल्प के अनुसार नौ लोकान्तिक देव देवलोक से आकर इस प्रकार के वचन बोलते है—

भयवं ! तित्थं पवत्तेह

'भगवन् ! तीर्थ-प्रवर्त्तन (तीर्थ स्थापन) कीजिए।'

लोकान्तिक देवो का इस प्रकार का कल्प (जीत-व्यवहार) होने से उनके ये वचन उपचाररूप होते हैं, प्रतिबोध रूप या उपदेशरूप नही होते।

तीर्थंकर भगवान् पूर्वजन्मो की ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि-साधना के फल स्वरूप वर्तमान भव में दूसरो के उपदेश के बिना जीवादिरूप तत्त्वों को यथा-वस्थित अविपरीत रूप से जानते है।

चतुर्थ ज्ञान की प्राप्ति

तीर्थंकर '**करेमि सामाइयं**' से समतायोग की साधना की प्रतिज्ञापूर्वक जब तीन करण और तीन योग से आरम्भ-परिग्रह का त्याग करते है, तभी (इस प्रकार की जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करते ही) उन्हे मनःपर्यव (मन के स्थूल और सूक्ष्म भावों को प्रत्यक्ष जान सकने वाला चतुर्थ ज्ञान) प्राप्त हो जाता है।

उत्कट तपःसाधना

तीर्थंकर पूर्वोक्त समतायोग (सामायिक) के साधना काल मे एकाकी रूप से निःसंग भाव से वायु की भांति अप्रतिबद्धतापूर्वक विचरण करते रहते है।[2] छद्मस्थ-अवस्था में रहते हुए वे किसी को न तो धर्मोपदेश देते है और न ही शिष्य बनाते है। छद्मस्थ-अवस्था में एकाकी रहकर वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की उत्कृष्ट एवं कठोर शुद्ध साधना करते है। उत्कट तपश्चर्या करते समय तीर्थंकरो पर यदि देव-दानव-मानव-तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आते हैं, तो उन्हें वे पूर्ण समभाव से (बिना रोष-तोष या राग-द्वेष के) सहते हैं। किसी-किसी तीर्थंकर को उपसर्ग नहीं भी आते। परन्तु उपसर्ग, संकट

---

१ यद्यपि भवान्तरेषु तथाविधगुरुसन्निधानायत्तबुद्धास्तेऽभूवन्, तथापि तीर्थंकरजन्मनि परोपदेशनिरपेक्षा एव बुद्धाः। —योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति पृ० ३१८

२ नमो आयासुव्व निरासय गुण संसोहियाणं अरिहंताणं'—आकाश की भांति निरालम्बन (निराश्रय) गुण से शोभायमान अरिहंतों को नमस्कार हो। —अर्हन्नमस्कारावली

या कष्ट (परीषह) आने पर वे किसी से—यहाँ तक कि अपने भक्त देवी-देवों, इन्द्रों या नरेन्द्रों तक से भी सहायता नहीं चाहते—न लेते हैं, वे एकाकी ही अपने पुरुषार्थ के बल पर समत्वसाधना की सफलता की सीढ़ियों पर चढ़ते हैं और दुष्कर तपश्चरण एवं उपसर्ग सहन करके चार घनघाती कर्मों का क्षय करके वीतरागत्व—जिनेन्द्रत्व को प्राप्त कर लेते हैं।[1]

अर्हत्पद प्राप्ति का क्रम

अर्हत्पद प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होने से अनन्त आत्मगुणरूप यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों का एक साथ नाश हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने से वे समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को जानने लगते है—सर्वज्ञ हो जाते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलदर्शन की प्राप्ति होती है जिससे वे पूर्वोक्त द्रव्यादि पाँचो को देखने लगते हैं—सर्वदर्शी हो जाते है।

अन्तरायकर्म का क्षय होने से अनन्त दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि की प्राप्ति होती है; जिससे वे अनन्त शक्तिमान होते हैं।

केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होने के बाद ही वे धर्मोपदेश देते हैं और त्यागी तथा गृहस्थ शिष्य बनाते हैं।[2]

उपर्युक्त चारों घनघाती कर्मों के क्षय होने पर ही अरिहन्त (तीर्थंकर) पद की प्राप्ति होती है, और वे पूर्वोक्त १२ गुणों, चार कोटि के अतिशयों,

---

१ (क) मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने।
स्ववलेनैव जिनेन्द्राः गच्छन्ति परमं पदम्॥

(ख) इंदा! न एवं भूयं, न एवं भव्वं, न एवं भविस्सइ, जं अरिहन्ता····

—महावीरचरियं

२ देखो, हारिभद्रीय 'योगबिन्दु'

अथवा ३४ अतिशयों और ३५ वाणी के अतिशयों (गुणों) से युक्त तथा अठारह दोषों से रहित होते है।

उपर्युक्त चार घनघातीकर्मों का क्षय होने के पश्चात् (१) वेदनीय, (२) आयुष्य, (३) नाम और (४) गोत्र, ये चार अघाती कर्म शेष रह जाते हैं। ये चारो कर्म शक्तिरहित होते हैं। जैसे—भुना हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न नही कर सकता, उसी प्रकार ये अघातीकर्म अरिहन्त भगवान् की आत्मा मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही कर सकते। तीर्थंकर भगवान् की आयु पूर्ण होने पर आयुष्य के साथ ही शेष समस्त कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

तीर्थंकरों के जीवन के महत्त्वपूर्ण पचकल्याणक

तीर्थंकरो के जीवन में पाँच प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थात्—परम-कल्याणकारी माने जाते है। इसलिए वे जैन जगत् में पंचकल्याणक के नाम से प्रसिद्ध है।

१—देवलोक या नरक से च्यवन कर माता के गर्भ मे अवतरित होने (आने) को प्रथम—'**च्यवन-कल्याणक**' कहते है।

२—तत्पश्चात् जन्म लेने को द्वितीय '**जन्मकल्याणक**' कहते है।

३—इसके बाद जब भावी तीर्थंकर गृहादि का त्याग करके संयमी जीवन की दीक्षा लेते है, तब उसे तृतीय—'**दीक्षाकल्याणक**' कहा जाता है।

४—जब उन्हे संयम, समत्वयोग, तप एवं सुध्यान के योग से केवलज्ञान प्राप्त होता है, तब वह चतुर्थ—'**केवलज्ञानकल्याणक**' कहलाता है।

५—जब वे समस्त कर्मों का क्षय करके, मन, वचन, काया का एवं जन्म-मरण का सदा के लिए त्याग करते है, तब उस पंचम प्रसंग को '**निर्वाण-कल्याणक**' कहते है।

इन पाँचों कल्याणकों को विशेष पर्व मान कर जैनधर्मानुयायी उस तिथि को उक्त तीर्थंकर की विशेष भक्ति-भावपूर्वक उपासना-आराधना करते हैं, तथा तप-संयमादि गुणों की वृद्धि करके अपने आत्मकल्याण में प्रगति करते हैं।

तीर्थंकरों के पंचकल्याणक की तालिका

क्रम	तीर्थंकर नाम	च्यवन कल्याणक	जन्म कल्याणक	दीक्षा कल्याणक	केवलज्ञान कल्याणक	निर्वाण कल्याणक
१	श्री ऋषभदेवजी	आषाढ वदी ४	चैत्र वदी ८ विनीता नगरी	चैत्र वदी ८	फाल्गुन वदी ११ पुरिमताल	माघ वदी १३ कैलाश पर्वत
२	श्री अजितनाथजी	वैशाख सुदी १२	माघ सुदी ८ अयोध्या	माघ वदी ९	पौष वदी ११ अयोध्या	चैत्र सुदी ५ सम्मेतशिखर
३	श्री संभवनाथजी	फाल्गुन सुदी ८	माघ सुदी १४ श्रावस्ती	मार्गशीर्ष शु० १५	कार्तिक वदी ११ श्रावस्ती	चैत्र शुक्ला ५ सम्मेतशिखर
४	श्री अभिनन्दनजी	वैशाख सुदी ४	माघ शुक्ला २ अयोध्या	माघ शुक्ला १२	पौष वदी १३ अयोध्या	वैशाख शुक्ला ८ सम्मेतशिखर
५	श्री सुमतिनाथजी	श्रावण शुक्ला २	वैशाख शु० ८ अयोध्या	वैशाख शुक्ला ९	चैत्र शुक्ला ११ अयोध्या	चैत्र शुक्ला ९ सम्मेतशिखर
६	श्री पद्मप्रभजी	माघ वदी ६	कार्तिक वदी १२ कौशाम्बी	कार्तिक वदी १३	चैत्र शुक्ला १५ कौशाम्बी	मार्गशीर्ष कृष्णा ११ सम्मेतशिखर
७	श्री सुपार्श्वनाथजी	भादवा वदी ८	ज्येष्ठ शुक्ला १२ वाराणसी	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन वदी ६ वाराणसी	फाल्गुन कृष्णा ७ सम्मेतशिखर
८	श्री चन्द्रप्रभजी	चैत्र वदी ५	पौष वदी १२ चन्द्रपुरी	पौष वदी १३	फाल्गुन वदी ७ चन्द्रपुरी नगरी	भाद्रपद वदी ७ सम्मेतशिखर

क्रम	तीर्थंकर नाम	च्यवन कल्याणक	जन्म कल्याणक	दीक्षा कल्याणक	केवलज्ञान कल्याणक	निर्वाण कल्याणक
९	श्री सुविधिनाथजी	फाल्गुन वदी ९	मार्गशीर्ष कृ० ५ काकंदी नगरी	मार्गशीर्ष कृ० ६	कार्तिक शुक्ला ३ काकंदी नगरी	भाद्रपद शु० ९ सम्मेतशिखर
१०	श्री शीतलनाथजी	वैशाख वदी ६	माह वदी १२ भद्दिलपुर	माह वदी १२	पौष वदी १४ भद्दिलपुर	वैशाख कृष्णा २ सम्मेतशिखर
११	श्री श्रेयांसनाथजी	जेठ वदी ६	फाल्गुन वदी १२ सिंहपुरी	फाल्गुन वदी १३	माघ वदी ३ सिंहपुरी	श्रावण कृष्णा ३ सम्मेतशिखर
१२	श्री वासुपूज्यजी	जेठ सुदी ९	फाल्गुन वदी १४ चम्पापुरी	फाल्गुन शु० १५	माघ शु० २ चम्पापुरी	आषाढ़ शु० १४ चम्पापुरी
१३	श्री विमलनाथजी	[illegible]	माघ सुदी ३ कम्पिलपुर	माघ सुदी ४	पौष शुक्ला ६ कम्पिलपुर	आषाढ़ वदी ७ सम्मेतशिखर
१४	श्री अनन्तनाथजी	श्रावण वदी ७	वैशाख वदी १३ अयोध्या	वैशाख वदी १४	वैशाख वदी १४ अयोध्या	चैत्र शु० ५ सम्मेतशिखर
१५	श्री धर्मनाथजी	वैशाख सुदी ७	माघ शुक्ला ३ रत्नपुरी	माघ शु० १३	पौष शु० १५ रत्नपुरी	ज्येष्ठ शुक्ला ५ सम्मेतशिखर
१६	श्री शान्तिनाथजी	भादवा वदी ७	जेठ वदी १३ गजपुर	जेठ वदी १२	पौष शु० ९ गजपुर	ज्येष्ठ वदी १३ सम्मेतशिखर

१७	श्री कुन्थुनाथजी	श्रावण वदी ९	वैशाख वदी १४ गजपुर	चैत्र वदी ५	चैत्र शु० ३ गजपुर	वैशाख वदी १ सम्मेतशिखर
१८	श्री अरनाथजी	फाल्गुन सुदी २(१)	मार्गशीर्ष शु० १० गजपुर	मार्गशीर्ष शु० १२	कार्तिक शु० १२ गजपुर	मार्गशीर्ष शु० १० सम्मेतशिखर
१९	श्री मल्लिनाथजी	फाल्गुन सुदी ४	मार्गशीर्ष शु० ११ मिथिला नगरी	मार्गशीर्ष शु० ११	मार्गशीर्ष शु० ११ मिथिला नगरी	फाल्गुन शु० १२ सम्मेतशिखर
२०	श्री मुनिसुव्रतजी	श्रावण सुदी १५	जेठ वदी ८ राजगृह	फाल्गुन शु० १२	फाल्गुन वदी १२ राजगृह	ज्येष्ठ कृष्णा ९ सम्मेतशिखर
२१	श्री नमिनाथजी	आसोज सुदी १४	श्रावण वदी ८ मथुरा नगरी	आषाढ वदी ९	मार्गशीर्ष शु० ११ मथुरा नगरी	वैशाख वदी १० सम्मेतशिखर
२२	श्रीअरिष्टनेमिजी	कार्तिक वदी १२	श्रावण शु० ५ सौरिपुर	श्रावण सुदी ६	आसोज वदी ३० गिरनार	आषाढ़ शु० ८ गिरनार
२३	श्री पार्श्वनाथजी	वैशाख सुदी १२	पौष वदी १० वाराणसी	पौष वदी ११	चैत्र वदी ४ वाराणसी	श्रावण शुक्ला ८ सम्मेतशिखर
२४	श्री महावीर स्वामीजी	आषाढ सुदी ६	चैत्र शु० १३ क्षत्रियकुण्ड	मार्गशीर्ष वदी ११	वैशाख शु० १० ऋजुबालुकातट	कार्तिक कृष्णा ३० पावापुरी

तीर्थंकर कहां-कहां और कब होते हैं ?

जिसमें आप और हम रहते है, वह भरतक्षेत्र कहलाता है। यह 'जम्बूद्वीप' के दक्षिण भाग में है। इसके उत्तर भाग में ऐरवतक्षेत्र और मध्यभाग में महाविदेह क्षेत्र है। महाविदेहक्षेत्र में लगातार तीर्थंकर होते रहते है जबकि भरत-ऐरवत क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते है।

भरतक्षेत्र की वर्तमानकालीन चौबीसी का संक्षिप्त परिचय

जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतक्षेत्र में वर्तमानकाल में हुए चौबीस तीर्थंकरों का संक्षिप्त परिचय यहाँ हम दे रहे हैं, जिससे पाठक तीर्थंकर देवो के जीवन की कल्याणकारिणी संक्षिप्त झाँकी पा सके।

इसके अतिरिक्त तीर्थंकरदेवो के सभी नाम गुणनिष्पन्न होते है। भव्यप्राणी इन नामों का अवलम्बन लेकर इन नामो के अनुसार गुणों के प्रति अनुराग रखते हुए, उन गुणो को हृदय में स्थापित करते है तथा गुणानुसरण करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाते है।

चौबीस तीर्थंकरो का क्रमशः परिचय इस प्रकार है—

(१) श्री ऋषभदेवजी

भूतकाल की, अर्थात्—इस अवसर्पिणीकाल के पहले वाली चौबीसी के अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थंकर के निर्वाण के बाद अठारह कोटा-कोटी सागरोपम बीत जाने पर इक्ष्वाकुभूमि (ईख के खेत के किनारे), नाभिकुलकर की पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी (आदिनाथजी) का जन्म हुआ।

भगवान् के दोनो उरुओ में वृषभ (बैल) का लक्षण था, तथा भगवान् की माता ने जो १४ स्वप्न देखे थे, उनमें प्रथम स्वप्न 'वृषभ' का ही देखा था। इसलिए भगवान् का गुणनिष्पन्न शुभ नाम ऋषभदेव या वृषभनाथ रखा गया था। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला था। इनका लक्षण (लाँछन या चिह्न)[1] वृषभ का था। इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष की, और आयु ८४ लाख पूर्व[2] की थी। ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था

---

१ यह लक्षण या चिह्न तीर्थंकरों के पैर मे और किसी-किसी के कथनानुसार वक्षस्थल में होता है।

२ ७० लाख ५६ हजार वर्ष को १ करोड़ से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है।

में रहे, तथा एक लाख पूर्व तक श्रमणधर्म का पालन करके तीसरे आरे के जब ३ वर्ष, ८ मास और १ पक्ष (पन्द्रह दिन) शेष रहे थे, तब दस हजार (१०,०००) साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(२) श्री अजितनाथजी

श्री ऋषभदेवजी से ५० लाख करोड़ सागर के बाद, अयोध्यानगरी के राजा जितशत्रु की रानी विजयादेवी से दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी हुए। २२ परीषह, ४ कषाय, ८ मद और ४ प्रकार के उपसर्ग, ये सब भगवान् को जीत न सके, इसलिए भगवान् का गुणनिष्पन्न शुभ नाम अजितनाथजी हुआ।

एक घटना यह भी है कि भगवान् जब माता के गर्भ में थे, उस समय मनोविनोद के लिए राजा और रानी दोनो चौपड़ खेल रहे थे, उस समय राजा रानी को जीत न सका, इसलिए माता-पिता ने भगवान् का नाम 'अजितनाथ' रखा।

इनके शरीर का वर्ण स्वर्णसदृश पीला और लक्षण हाथी का था। देह की ऊँचाई ४५० धनुष की और आयु ७२ लाख पूर्व की थी। ७१ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे। एक लाख पूर्व तक संयम पालकर अन्त में एक हजार (१०००) साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(३) श्री सम्भवनाथजी

श्री अजितनाथजी से ३० करोड़ सागरोपम पश्चात् श्रावस्ती नगरी में जितारि राजा की सेनादेवी रानी से तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथजी का जन्म हुआ। जिसकी स्तुति करने से 'शं' अर्थात्—सुख तथा कल्याण प्राप्त होता है, उसे 'शंभव' कहते है। अन्य घटना यह भी है कि जिस समय भगवान् माता के गर्भ में आए, उस समय पृथ्वी पर धान्यों की अत्यन्त उत्पत्ति (सम्भव) हुई, इसलिए भगवान् का नाम 'सम्भवनाथ' हुआ। इनके शरीर का भी वर्ण स्वर्णसम पीला और लक्षण अश्व का था। शरीर की ऊँचाई ४०० धनुष की तथा आयु ६० लाख पूर्व की थी। ५९ लाख पूर्व तक गृहवास में रहे, एक लाख पूर्व तक संयम-पालन किया और अन्त में एक हजार (१०००) साधुओं के साथ मोक्ष पधारे।

(४) श्री अभिनन्दनजी

श्री सम्भवनाथजी के मोक्षगमन के उपरान्त दस लाख करोड़ सागरोपम व्यतीत हो जाने पर विनीतानगरी में संवर राजा की सिद्धार्था रानी की

कुक्षि से चौथे तीर्थंकर श्री अभिनन्दनजी का जन्म हुआ। देवेन्द्र आदि के द्वारा अभिनन्दन (स्तुति-स्तव) किया गया, इस कारण आपका '**अभिनन्दन**' नाम पड़ा अथवा जब से भगवान् गर्भ में आए थे, तभी से शक्रेन्द्र द्वारा बार-बार अभिनन्दन किये (बधाई दिये या स्तुति किये) जाने के कारण भगवान् का नाम '**अभिनन्दन**' दिया गया। इनके शरीर का वर्ण स्वर्ण सदृश पीला तथा लक्षण कपि का था। शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष की तथा आयु ५० लाख पूर्व की थी। ४९ लाख पूर्व तक गृहवास में रहे, एक लाख पूर्व तक चारित्र पाला और अन्त में एक हजार (१०००) साधुओं के साथ मुक्ति प्राप्त की।

(५) श्री सुमतिनाथजी

तदनन्तर ९ लाख करोड सागरोपम बीत जाने पर कंचनपुर नगर में मेघरथ राजा की सुमंगला रानी की कुक्षि से पाँचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथजी का जन्म हुआ। सुन्दर मति होने से इनका नाम 'सुमति' हुआ। एक घटना यह भी है कि भगवान् जिस समय माता के गर्भ में आए, तभी से माता की मति सुव्यवस्थित—सुनिश्चित हो गई थी, अतएव भगवान् का नाम '**सुमतिनाथ**' रखा गया। इसके शरीर का वर्ण भी स्वर्णसम पीत और लक्षण क्रौंच पक्षी का था। इनका देहमान ३०० धनुष का तथा आयुष्य ४० लाख पूर्व का था। ३९ लाख पूर्व तक गृहस्थवास में रहे, एक लाख पूर्व तक संयम का पालन करके अन्त में, एक हजार (१०००) मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(६) श्री पद्मप्रभजी

तत्पश्चात् ९० हजार करोड़ सागरोपम के पश्चात् कौशाम्बी नगरी में श्रीधर राजा की सुसीमा रानी से छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभजी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण माणिक्य के समान लाल और लक्षण पद्म (कमल) का था। विषयवासनारूपी पंक से निर्लिप्त पद्म के समान प्रभा होने के कारण '**पद्मप्रभ**' नाम हुआ। अन्य कारण यह भी था—माता को पद्मशय्या पर शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ था, वह देवता द्वारा पूर्ण किया था, तथा शरीर का वर्ण पद्म कमल सदृश था, इस कारण भी इनका नाम 'पद्मप्रभ' रखा गया।

इसके शरीर की ऊँचाई २५० धनुष की और आयु ३० लाख पूर्व की थी। २९ लाख पूर्व तक गृहस्थवास में और १ लाख पूर्व तक मुनि जीवन में रहे, अन्त में तीन सौ आठ (३०८) मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

(७) श्री सुपार्श्वनाथजी

तदनन्तर नौ हजार करोड़ सागरोपम के पश्चात् वाराणसी नगरी में

प्रतिष्ठ राजा की पृथ्वीदेवी रानी की कुक्षि से सातवें तीर्थंकर श्रीसुपार्श्वनाथ जी का जन्म हुआ। इनके शरीर का वर्ण स्वर्णसम पीला और लक्षण स्वस्तिक का था। दोनों पार्श्व (बाजू) शोभनीय होने से इनका नाम 'सुपार्श्व' हुआ; अथवा भगवान् जब गर्भ में थे तब माता के दोनों पार्श्व (बाजू) शोभनीय होगए थे। अतएव भगवान् का नाम **सुपार्श्व** रखा गया।

आपके शरीर की ऊँचाई २०० धनुष की और आयु २० लाख पूर्व की थी। १९ लाख पूर्व तक गृहस्थजीवन में और १ लाख पूर्व संयमी जीवन में रहे। अन्त में पाँच सौ (५००) मुनियों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(८) श्री चन्द्रप्रभजी

श्री सुपार्श्वनाथजी के ९०० करोड़ सागर के पश्चात् चन्द्रपुरी नगरी के महासेन राजा की लक्ष्मणादेवी रानी से आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभजी का जन्म हुआ। चन्द्रमा के समान सौम्य प्रभा—लेश्या होने के कारण तथा भगवान् जब गर्भ में आए थे, तब माता को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण प्रभु का नाम **चन्द्रप्रभ** रखा गया। इनके शरीर का वर्ण हीरे के समान श्वेत और लक्षण चन्द्रमा का था।

आपके शरीर की ऊँचाई १५० धनुष की और आयु १० लाख पूर्व की थी। आप नौ लाख पूर्व तक गृहवास में और एक लाख पूर्व मुनिजीवन में रहे। अन्त में, एक हजार साधुओं के साथ मुक्त हुए।

(९) श्री सुविधिनाथजी

श्री चन्द्रप्रभजी से ९० करोड़ सागरोपम के पश्चात् काकन्दी नगरी के सुग्रीव राजा की रामादेवी रानी से नौवें तीर्थंकर श्रीसुविधिनाथजी का जन्म हुआ। सुन्दर विधि-विधान वाले होने से अथवा भगवान् के गर्भ में आने पर माता सुन्दर विधि-विधान करने वाली हो गई थी, इसलिए '**श्री सुविधिनाथ**' नाम रखा गया।

इनका शरीर-वर्ण हीरे के समान श्वेत और लक्षण मत्स्य का था। देहमान १०० धनुष का एवं आयुष्य दो लाख पूर्व का था, जिसमें से १ लाख पूर्व गृहस्थवास में और १ लाख पूर्व मुनिजीवन में बिताए। अन्त में, एक हजार (१०००) साधुओं सहित मुक्त हुए। आपका दूसरा नाम '**पुष्पदन्त**' भी है।

(१०) श्री शीतलनाथजी

तदनन्तर नौ करोड़ सागरोपम के बाद भद्दलपुर नगर के राजा दृढ़रथ

की रानी नन्दादेवी से श्री शीतलनाथजी का जन्म हुआ। समस्त जीवों का सन्ताप-हरण करने से तथा भगवान् जब माता के गर्भ में थे, उस समय आपके पिता को पित्तदाह का रोग था, वह वैद्यो के उपचारो से शान्त नही हो सका। किन्तु भगवान् की माता के स्पर्श से रोग शान्त हो गया उसकी तपन मिट कर शीतलता व्याप्त हो गई। इस प्रकार गर्भस्थ जीव का माहात्म्य जानकर भगवान् का नाम '**शीतलनाथ**' रखा गया।

आपके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान पीला और लक्षण श्रीवत्स का था। देहमान ६० धनुष और आयुष्य १ लाख पूर्व का था। पौन लाख पूर्व तक गृहस्थवास में रहे और पाव लाख पूर्व तक संयम पालन करके अन्त मे एक हजार (१०००) मुनियो के साथ सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

(११) श्री श्रेयांसनाथजी

छयासठ लाख छब्बीस हजार एक सौ सागर कम एक करोड़ सागरोपम के पश्चात् सिंहपुरी नगरी में, विष्णु राजा की विष्णुदेवी रानी से ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथजी का जन्म हुआ। जगत् के सर्वप्राणियों का श्रेय—कल्याण करने से तथा भगवान् जब गर्भवास मे थे, तब आपके पिता के घर में एक देवाधिष्ठित शय्या थी। उस पर कोई भी बैठ नही सकता था। यदि कोई बैठता तो उसे असमाधि उत्पन्न हो जाती थी। किन्तु गर्भ के प्रभाव से रानी को उस शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। अतः वह उस शय्या पर सो गई। किन्तु गर्भस्थ भगवान के अतुलनीय प्रभाव से देवता ने किसी भी प्रकार का उपसर्ग नही किया; इस कारण से भगवान् का नाम '**श्री श्रेयांसनाथ**' रखा गया।

इनके शरीर का वर्ण सोने-सा पीला और लक्षण था—गैंडे का। आपका शरीरमान ८० धनुष का और आयुष्य ८४ लाख वर्ष का था। जिसमें से ६३ लाख वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे, तत्पश्चात् २१ लाख वर्ष तक संयम-पालन किया। अन्त में एक हजार (१०००) मुनियो के साथ मोक्ष पहुँचे।

(१२) श्री वासुपूज्यजी

तदनन्तर ५४ सागरोपम व्यतीत होने पर चम्पापुरी नगरी में वसुपूज्य राजा की जयादेवी रानी की कुक्षि से बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य का जन्म हुआ। वसुपूज्य राजा के पुत्र होने से, अथवा वसु—देवो द्वारा पूजनीय होने से तथा श्रीभगवान् जब गर्भावस्था में थे, तब वसु (हिरण्य-सुवर्णरूप धन) द्वारा वैश्रमण देव ने घर को पूरा भर दिया था, इसलिए श्री भगवान् का

नाम वासुपूज्य हुआ। अथवा 'वासव' नामक इन्द्रों द्वारा पूजित होने से आपका नाम '**वासुपूज्य**' पड़ा।

आपके शरीर का वर्ण माणिक्य जैसा लाल था। आपका लक्षण महिष (भैंसे) का था। आपके शरीर की ऊँचाई ७० धनुष और आयु ७२ लाख वर्ष की थी। जिसमें से अठारह लाख वर्ष कुमार अवस्था में रहे, विवाह नहीं किया और ५४ लाख वर्ष तक मुनिजीवन में रहे। अन्त में, छह सौ (६००) मुनिवरों के साथ आपने मुक्ति प्राप्त की।

(१३) श्री विमलनाथजी

तत्पश्चात् ३० सागरोपम व्यतीत होने पर कम्पिलपुर नगर में कृतवर्म राजा की श्यामादेवी रानी से तेरहवे तीर्थंकर श्री विमलनाथजी का जन्म हुआ। आठकर्मरूपी मल दूर हो गया था अथवा निर्मलज्ञानादि के योग से 'विमल' नाम हुआ। अथवा भगवान् जब गर्भ में थे, तब उनकी माता की मति तथा देह निर्मल हो गई थी, इस कारण से भगवान् का नामकरण किया गया—'**विमलनाथ**।'

आपके शरीर का वर्ण स्वर्ण सदृश पीला और वाराह (शूकर) का लक्षण था। शरीर की ऊँचाई ६० धनुष की तथा आयु ६० लाख वर्ष की थी। जिसमें से ४५ लाख वर्ष तक गृहवास में रहे और १५ लाख वर्ष तक संयम पाला। अन्त में, छह हजार (६०००) मुनियो के साथ आप सर्वकर्म-मुक्त होकर मोक्ष में जा विराजे।

(१४) श्री अनन्तनाथजी

उसके बाद नौ सागरोपम बीत जाने पर अयोध्यानगरी में सिंहसेन राजा की सुयशा रानी से चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथजी का जन्म हुआ। आपके गुणों का कोई अन्त नहीं था, इस कारण से अथवा अनन्त कर्मों के अंश को जीतने से अनन्तज्ञान उत्पन्न होने के कारण '**अनन्तनाथ**' नाम पड़ा।

आपके शरीर का वर्ण सोने-सा पीला था, और लक्षण सिकरे पक्षी का था। शरीर की ऊँचाई ५० धनुष की और आयु ३० लाख वर्ष की थी, जिसमें से साढ़े बाईस लाख वर्ष तक गृहवास में रहे, साढ़े सात लाख वर्ष तक संयम पाला और अन्त में सात हजार (७०००) मुनिवरों के साथ निर्वाण को प्राप्त हुए।

(१५) श्री धर्मनाथजी

तत्पश्चात् चार सागरोपम व्यतीत होने पर रत्नपुरी नगरी में, भानु

राजा की सुव्रता रानी से पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथजी का जन्म हुआ। दुर्गति में पड़ते हुए प्राणियों को धारण करने वाले होने से तथा जब आप माता के गर्भ में थे, तब माता की रुचि दान आदि धर्मकार्यों में विशेष हो गई थी। इस कारण से भगवान् का नाम '**धर्मनाथ**' रखा गया।

इनके शरीर का रंग सोने का सा पीला था, लक्षण वज्र का था। देहमान ४५ धनुष का तथा आयु १० लाख वर्ष की थी। जिसमें से साढ़े सात लाख वर्ष तक गृहस्थ जीवन में और ढाई लाख वर्ष संयमी जीवन में व्यतीत किये। अन्त में, आठ सौ (८००) साधुओं के साथ सिद्धि प्राप्त की।

(१६) श्री शान्तिनाथजी

श्री धर्मनाथजी के बाद पौन पल्य कम तीन सागरोपम व्यतीत हो जाने पर हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन को अचिरा रानी से सोलहवें तीर्थ-कर श्री शान्तिनाथजी का जन्म हुआ। शान्ति के योग से अथवा शान्ति करने वाले होने से शान्तिनाथ नाम रखा गया था अथवा भगवान् जब गर्भवास में थे, तब देश में जो महामारी का अशिव (रोग) था, उसकी शान्ति हो गई थी। अतएव आपका नाम '**शान्तिनाथ**' रखा गया।

आपके शरीर का वर्ण पीला स्वर्ण-सा था, लक्षण मृग का था। देहमान ४० धनुष और आयुष्य १ लाख वर्ष का था। जिसमें से ७५ हजार वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे और शेष २५ हजार वर्ष तक संयम पालन किया। अन्त में ६०० मुनियो के साथ मुक्ति प्राप्त की।

(१७) श्री कुन्थुनाथजी

तत्पश्चात् आधा पल्योपम व्यतीत होने पर हस्तिनापुर के सूर राजा की श्री रानी से सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथजी का जन्म हुआ। 'कु' अर्थात् पृथ्वी पर स्थित हो गए, इससे भगवान् का नाम 'कुन्थु' पड़ा। अथवा भगवान् जब गर्भ में थे, तब उनकी माता ने रत्नमय कुन्थुओं की राशि को देखा था, इस कारण भगवान् का नाम '**कुन्थुनाथ**' रखा गया।

इनके शरीर का वर्ण सोने-सा पीला था। इनका लक्षण अज था। इनके शरीर की ऊँचाई ३५ धनुष की और आयु ६५ हजार वर्ष की थी। सवा इकहत्तर हजार वर्ष तक गृहस्थवास में और पौने चौबीस हजार वर्ष तक मुनिधर्म में रहे। अन्त में, एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(१८) श्री अरनाथजी

श्री कुन्थुनाथजी के एक करोड एक हजार वर्ष कम पाव पल्योपम के पश्चात् हस्तिनापुर नगर के सुदर्शन राजा की देवी रानी से अठारहवें

तीर्थंकर श्री अरनाथजी का जन्म हुआ। सबसे उत्तम महासात्त्विक कुल में जो उत्पन्न होता है तथा जो कुल की वृद्धि करने वाला होता है, उसे वृद्ध पुरुष 'अर' कहते हैं तथा जब भगवान् गर्भ में थे, तब माता ने स्वप्नावस्था में सर्वरत्नमय अर (करवत) देखा था। इसी कारण से भगवान् का शुभ नाम **'अरनाथ'** रखा।

भगवान् के शरीर का वर्ण स्वर्णसदृश पीला था। इनका लक्षण था—नन्द्यावर्त स्वस्तिक। देह की ऊँचाई ३० धनुष की और आयु ८४ हजार वर्ष की थी। वे ६३ हजार वर्ष गृहस्थाश्रम में रहे और २१ हजार वर्ष तक संयम पालन किया। अन्त में, एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पधारे।

(१९) श्री मल्लिनाथजी

तदनन्तर एक करोड़ एक हजार वर्ष बीत जाने पर मिथिलानगरी के कुम्भ राजा की प्रभावती रानी से उन्नीसवें तीर्थंकर भगवती मल्लि का जन्म हुआ। परीषह आदि मल्लों को जीतने के कारण आपका नाम **'मल्लि'** पड़ा अथवा जब भगवती माता के गर्भ में थीं, तब माता को सुगन्धित पुष्पों की माला की शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था, जो देवता द्वारा पूर्ण किया गया। इसीकारण से आपका नाम मल्लि रखा गया।

आपके शरीर का वर्ण पन्ना के समान हरा था। आपका लक्षण कुम्भ था। आपका देहमान २५ धनुष का और आयुष्य ५५ हजार वर्ष का था। आप १०० वर्ष तक गृहस्थवास में और ५४९०० वर्ष तक संयमीजीवन में रहीं। अन्त में, ५०० साधुओं और ५०० आर्याओं के साथ आपने मुक्ति प्राप्त की।

(२०) श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी

तदनन्तर ५४ लाख वर्ष के पश्चात् राजगृह नगर के सुमित्र राजा की पद्मावती रानी से बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी का जन्म हुआ। जो जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करता है, वह मुनि है, जिसके सुन्दर मुनिव्रत हैं, वह मुनिसुव्रत होता है तथा जब भगवान् माता के गर्भ में थे, तब उनकी माता मुनि के समान सुन्दर व्रत वाली हो गई थी। इस कारण भगवान् का नाम **मुनिसुव्रत** रखा गया।

भगवान् के शरीर का वर्ण नीलम जैसा श्याम था। आपका लक्षण था—कूर्म (कछुआ)। देह की ऊँचाई २० धनुष की और आयु ३० हजार वर्ष की थी। आप साढ़े बाईस हजार वर्ष तक गृहवास में और साढ़े सात हजार वर्ष तक मुनि जीवन में रहे। अन्त में, एक हजार मुनियों सहित मोक्ष पहुँचे।

(२१) श्री नमिनाथजी

फिर ६ लाख वर्षों के बाद, मथुरानगरी के विजय राजा की विप्रादेवी रानी से इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथजी का जन्म हुआ। परीषह, उपसर्ग आदि शत्रुओं को नमा—झुका देने से 'नमि' नाम पड़ा तथा भगवान् जब गर्भवास में थे, तब वैरी राजा आकर भगवान् के पिता के आगे नम—झुक गए, नमस्कार करने लग गए। इसी कारण आपका नाम '**नमिनाथ**' रखा गया।

आपके शरीर का वर्ण सोने-सा पीला और लक्षण नीलकमल का था। आपके शरीर की अवगाहना १५ धनुष की और आयु दस हजार वर्ष की थी। जिस में से साढ़े सात हजार वर्ष तक गृहस्थावस्था मे रहे और शेष ढाई हजार वर्ष तक संयम-पालन किया। अन्त में एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

(२२) श्री अरिष्टनेमिजी (नेमिनाथजी)

तत्पश्चात् ५ लाख वर्षों के बाद सौरीपुर नगर के समुद्रविजय राजा की शिवादेवी रानी की कुक्षि से बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमिजी का जन्म हुआ। धर्मचक्र की नेमि (पुट्ठी या धारा) के समान जिसके जीवनचक्र की नेमि (धारा) हो यह नेमि है तथा जब भगवान् माता के गर्भ में थे, तब माता ने अरिष्टरत्नमय नेमि (चक्र धारा) आकाश में, उत्पन्न होती देखी थी, इस कारण से आपका नामकरण '**अरिष्टनेमिनाथ**' किया।

आपके शरीर का वर्ण नीलम के समान श्याम था और लक्षण था—शंख का। देहमान १० धनुष का और आयुष्य एक हजार वर्ष का था। जिसमें से ३०० वर्ष तक गृहवास मे और शेष ७०० वर्ष तक संयमी जीवन-साधना में रहे। अन्त में, ५३६ मुनियों के साथ मोक्ष में पधारे।

(२३) श्री पार्श्वनाथजी

श्री अरिष्टनेमि के पश्चात् ८३ हजार ७५० वर्ष बीत जाने पर वाराणसी के अश्वसेन राजा की वामादेवी रानी से तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। जो ज्ञान से सर्वभावों को स्पर्श करता—जानता है, वह पार्श्व है। अथवा पार्श्व नामक यक्ष जिनकी वैयावृत्य—सेवा करता है, उस पार्श्वयक्ष के नाथ होने से भी आप पार्श्वनाथ कहलाते है। जब भगवान् गर्भावास में थे, तब शय्या पर स्थित माता ने रात्रि के गाढ़ अन्धकार में सर्प देखा था, अतः 'पश्यति'—देखती है, इस कारण से भी आपका नाम पार्श्व रखा गया।

इनके शरीर का वर्ण पन्ने का-सा हरा और लक्षण सर्प था। देहमान ६ हाथ का और आयुष्य १०० वर्ष का था। ३० वर्ष तक गृहवास में और ७० वर्ष तक मुनि पर्याय में रहकर अन्त में ३३ श्रमणों के साथ मुक्ति प्राप्त की।

(२४) श्री महावीरस्वामी

भगवान् पार्श्वनाथ से २५० वर्ष के पश्चात् क्षत्रियकुण्ड नगर के सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशलादेवी से चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान (महावीर) का जन्म हुआ। भयंकर उपसर्गों और परीषहों को सहने में महान् वीर होने के कारण इनका नाम महावीर पड़ गया। जन्म-नाम वर्द्धमान था। माता के गर्भ में आने के बाद इनके घर में धन-धान्य, स्वर्ण-रजत आदि की दिनोंदिन वृद्धि होने लगी; इस कारण आपके माता-पिता ने आपका नाम 'वर्द्धमान' रखा।

आपके शरीर का वर्ण स्वर्ण सदृश पीला था; सिंह का लक्षण था। देह की ऊँचाई सात हाथ की और आयु ७२ वर्ष की थी। तीस वर्ष गृह-स्थावस्था में रहे और ४२ वर्ष तक संयम-पालन किया। जब चौथे आरे के तीन वर्ष साढे आठ मास शेष थे, तभी आप अकेले ही पावापुरी में निर्वाण को प्राप्त हुए।

जम्बूद्वीपीय भरतक्षेत्र की भूतकालीन चौबीसी

जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतक्षेत्र के भूतकाल में जो २४ तीर्थंकर हुए हैं, उनकी नामावली इस प्रकार है—

१ श्री केवलज्ञानीजी	१३. श्री सुमतिजी
२. ,, निर्वाणीजी	१४. ,, शिवगतिजी
३. ,, सागरजी	१५. ,, अस्तांगजी
४. ,, महायशजी	१६. ,, नमीश्वरजी
५ ,, विमलजी	१७. ,, अनिलजी
६. ,, सर्वानुभूतिजी	१८. ,, यशोधरजी
७ ,, श्रीधरजी	१९. ,, कृतार्थजी
८. ,, दत्तजी	२०. ,, जिनेश्वरजी
९. ,, दामोदरजी	२१. ,, शुद्धमतिजी
१०. ,, सुतेजाजी	२२. ,, शिवंकरजी
११. ,, स्वामीनाथजी	२३. ,, स्यन्दननाथजी
१२ ,, मुनिसुव्रतजी	२४. ,, सम्प्रतिजी

जम्बूद्वीपीय भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकरों का परिचय

(१) श्रेणिक राजा का जीव प्रथम स्वर्ग से आकर प्रथम तीर्थंकर '**श्री पद्मनाभ**' के रूप में जन्म लेगा।

(२) श्री महावीर स्वामी के चाचा श्री सुपार्श्व का जीव देवलोक से आकर द्वितीय तीर्थंकर '**श्री सुरदेव**' के रूप में जन्म लेगा।

(३) कोणिक राजा के पुत्र (पाटलीपुरपति) उदायी राजा का जीव देवलोक से आकर '**श्री सुपार्श्व**' नामक तृतीय तीर्थंकर रहेगा।

(४) पोट्टिल अनगार का जीव तीसरे देवलोक से आकर '**श्री स्वयम्प्रभ**' नामक चतुर्थ तीर्थंकर होगा।

(५) दृढ़ायुद्ध श्रावक का जीव पाँचवे देवलोक से आकर '**श्री सर्वानुभूति**' नाम का पाँचवाँ तीर्थंकर होगा।

(६) कार्तिक श्रेष्ठी[1] का जीव, प्रथम देवलोक से आकर '**श्री देवश्रुति**' नामक छठा तीर्थंकर होगा।

(७) शंख[2] श्रावक का जीव देवलोक से आकर सप्तम तीर्थंकर '**श्री उदयनाथ**' के रूप में जन्म लेगा।

(८) आनन्द श्रावक[3] का जीव देवलोक से आकर '**श्री पेढाल**' नाम का आठवाँ तीर्थंकर होगा।

(९) सुनन्द श्रावक का जीव देवलोक से आकर '**श्री पोटिल्ल**'[4] नामक नौवाँ तीर्थंकर होगा।

(१०) पोक्खली श्रावक के धर्मभाई शतक श्रावक का जीव देवलोक से आकर दसवाँ तीर्थंकर '**श्री शतक**'[5] होगा।

(११) श्रीकृष्ण की माता देवकी रानी का जीव नरक से आकर '**श्री मुनिव्रत**' नामक ग्यारहवाँ तीर्थंकर होगा।

---

१ यह कार्तिक श्रेष्ठी, जो प्रथम देवलोक का इन्द्र बना है, वह नहीं है, कोई और ही है; क्योंकि प्रथम देवलोक के इन्द्र की आयु दो सागरोपम है और इसका अन्तर थोड़ा है। —सं०

२ भगवतीसूत्र में वर्णित शंख श्रावक यह नहीं है, यह कोई और ही शंख श्रावक है। —सं०

३ उपासकदशांग में वर्णित आनन्द श्रावक से यह भिन्न है। यह सम्यग्दृष्टि, माण्डलिक राजा, चक्रवर्ती, साधु, केवलज्ञानी और तीर्थंकर इन ६ पदवियों के धारक होंगे।

४-५ ये दोनों भी पूर्वोक्त छह पदवियों के धारक होंगे।

(१२) श्रीकृष्ण का जीव '**अमम**' नामक बारहवाँ तीर्थंकर होगा।

(१३) सुज्येष्ठजी का पुत्र, सत्यकीरुद्र का जीव नरक से आकर तेरहवाँ '**श्री निष्कषाय**' नामक तीर्थंकर होगा।

(१४) श्रीकृष्ण के भ्राता बलभद्रजी का जीव पाँचवें देवलोक से आकर '**श्री निष्पुलाक**' नामक चौदहवाँ तीर्थंकर होगा।

(१५) राजगृह के धन्ना सार्थवाह की बान्धवपत्नी सुलसा श्राविका का जीव देवलोक से आकर '**श्री निर्मम**' नामक पन्द्रहवाँ तीर्थंकर होगा।

(१६) बलभद्रजी की माता रोहिणी का जीव देवलोक से आकर '**श्री चित्रगुप्त**' नामक सोलहवें तीर्थंकर के रूप में उत्पन्न होगा।

(१७) कोल्हापाक बहराने वाली रेवती गाथापत्नी का जीव देवलोक से आकर सत्रहवाँ तीर्थंकर '**श्री समाधिनाथ**' होगा।

(१८) शततिलक[1] श्रावक का जीव देवलोक से आकर '**श्री संवरनाथ**' नामक अठारहवाँ तीर्थंकर होगा।

(१९) द्वारिका नगरी को दग्ध करने वाले द्वैपायन ऋषि का जीव देवलोक से आकर उन्नीसवाँ तीर्थंकर '**श्री यशोधर**' होगा।

(२०) कर्ण[2] का जीव देवलोक से आकर '**श्री विजय**' नाम का बीसवाँ तीर्थंकर होगा।

(२१) निर्ग्रन्थपुत्र[3] (मल्ल नारद) का जीव देवलोक से आकर '**श्रीमल्यदेव**' नामक इक्कीसवाँ तीर्थंकर होगा।

(२२) अम्बड[4] श्रावक का जीव देवलोक से आकर '**श्री देवचन्द्र**' के रूप में बाईसवाँ तीर्थंकर होगा।

(२३) अमर का जीव देवलोक से आकर '**श्री अनन्तवीर्य**' नामक तेईसवें तीर्थंकर के रूप में होगा।

(२४) शनक का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से आकर चौबीसवाँ तीर्थंकर '**श्री भद्रंकर**' होगा।

---

१ कोई-कोई गांगुली तापस को भी शततिलक कहते हैं। तत्त्वं केवलिगम्यम्।
—सं०

२ इस कर्ण को कोई कौरवों का साथी कर्णराजा और कोई चम्पापुरीपति वासुपूज्यजी के परिवार का मानते हैं।

३ कोई-कोई इसे रावण युग के नारद के जीव मानते हैं।

४ यह उववाईसूत्र वर्णित अम्बड नहीं है, किन्तु सुलसा श्राविका की सम्यक्त्व-दृढ़ता की परीक्षा लेने वाला अम्बड परिव्राजक है।

वर्तमानकाल में पंचमहाविदेहक्षेत्र में विहरमान बीस तीर्थंकर

निम्नलिखित बीस तीर्थंकर वर्तमानकाल में महाविदेहक्षेत्र में विचरण कर रहे हैं, जिन्हें बीस विहरमान तीर्थंकर कहते हैं—

(१) श्री सीमंधर स्वामी	(११) श्री वज्रधरस्वामी
(२) ,, युगमन्धरस्वामी	(१२) ,, चन्द्राननस्वामी
(३) ,, बाहुस्वामी	(१३) ,, चन्द्रबाहुस्वामी
(४) ,, सुबाहुस्वामी	(१४) ,, ईश्वरस्वामी
(५) ,, सुजातस्वामी	(१५) ,, भुजंगस्वामी
(६) ,, स्वयम्प्रभस्वामी	(१६) ,, नेमप्रभस्वामी
(७) ,, ऋषभाननस्वामी	(१७) ,, वीरसेनस्वामी
(८) ,, अनन्तवीर्यस्वामी	(१८) ,, महाभद्रस्वामी
(९) ,, सुरप्रभस्वामी	(१९) ,, देवसेनस्वामी
(१०),, विशालधरस्वामी	(२०) ,, अजितवीर्यस्वामी

इन बीसों विहरमान तीर्थंकर का जन्म जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हुए सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथजी के निर्वाण के पश्चात् एक ही समय में हुआ था। बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के निर्वाण के बाद सबने एक ही समय में दीक्षा ग्रहण की। ये बीसों तीर्थंकर एक मास तक छद्मस्थ-अवस्था में रहकर एक ही समय में केवलज्ञानी हुए और ये बीसों ही तीर्थंकर भविष्यकाल की चौबीसी के सातवें तीर्थंकर श्री उदयनाथजी के निर्वाण के पश्चात् एक साथ मोक्ष पधारेंगे।

तीर्थंकर परम्परा शाश्वत

ये बीसों तीर्थंकर जिस समय मोक्ष पधारेंगे, उसी समय महाविदेह क्षेत्र के दूसरे विजय में जो-जो तीर्थंकर उत्पन्न हुए होंगे, वे दीक्षा ग्रहण करके तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे। ऐसी परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है और आगे अनन्तकाल तक चलती रहेगी। अर्थात्—कम से कम बीस तीर्थंकर तो अवश्य होंगे ही—इनसे कम कभी न होंगे और अधिक से अधिक १७० तीर्थंकरों से अधिक कभी नहीं होंगे। इस प्रकार विभिन्न कर्मभूमिक क्षेत्रों में अनन्त तीर्थंकर भूतकाल में हो गये हैं, बीस वर्तमानकाल में विद्यमान (विहरमान) हैं; और अनन्त तीर्थंकर भविष्य में होंगे।

ये सभी तीर्थंकर, तीर्थंकर के पूर्वोक्त स्वरूप से युक्त हुए हैं, हैं और होंगे। इन सबका शरीर चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल, शान्त, एवं सौम्य;

सूर्य से भी अधिक तेजस्वी एवं प्रकाशमान तथा निधूंम अग्नि के समान देदीप्यमान होता है।

ऐसे अनन्तगुणों के धारक, सकल-अघ (पाप) निवारक, सम्पूर्ण जगत् के उद्धारक, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं के संहारक, अपूर्व उद्योतकारक, त्रिविधताप के अपहारक, भूमण्डल के भव्यजीवों के तारक, अज्ञानतिमिर-विदारक और सन्मार्गप्रचारक तथा नरेन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्र और मुनीन्द्र आदि त्रिलोकी के वन्दनीय, पूजनीय, महनीय, उपास्य, आराध्य और सुसेव्य देवाधिदेव अरिहन्त भगवान् जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं।

चार ऐतिहासिक तीर्थंकरों के जीवन की झाँकी

(१) प्रथम तीर्थंकर : भगवान ऋषभदेव

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव तक वर्तमान इतिहास नहीं पहुँचा है। किन्तु वैदिक परम्परा में भी भागवत पुराण में ऋषभदेव का जीवन-चरित्र मिलता है। जैनशास्त्रों और पराणों आदि में तो उनके जीवन के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला गया है। इसलिए मध्यकालीन अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा ऋषभ-देव का स्थान व्यापक है और जैन-जैनेतर दोनों समाजों में उन्हें उपास्य देव और पूज्य अवतारी पुरुष माना है। बंगाल आदि कुछ प्रान्तों में अवधूत आदि पथों में अवधूत या गृहस्थ, अवधूत योगी के रूप में ऋषभदेव के जीवन को अनुकरणीय आदर्श मानते है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में आर्यजाति के वे सामान्य उपास्य देव थे।

जैन और जैनेतर साहित्य से तथा प्राचीन शिलालेखों से और पुरातात्त्विक उत्खनन तथा गवेषणाओं से यह स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव इस युग में जैनधर्म आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर थे।

यौगलिक परम्परा

कालचक्र जगत् के ह्रास और विकास के क्रम का साक्षी है। जब यह कालचक्र नीचे की ओर जाता है, तब ह्रासोन्मुखी गति होती है, जिसे अव-सर्पिणी कहते हैं। इसमें भौगोलिक परिस्थिति, मानवीय सभ्यता और संस्कृति की तथा वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है। किन्तु जब कालचक्र ऊपर की ओर जाता है तब इन सबकी क्रमशः उन्नति होती है। इस विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहते हैं।

अवसर्पिणी की चरमसीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ है और उत्स-

---

१ चार तीर्थंकर (पं० सुखलालजी), पृ० ८

र्पिणी का अन्त ही अवसर्पिणी का जन्म है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह आरे (पर्व) होते हैं।

इस समय हम अवसर्पिणी काल के पंचम आरे में जी रहे हैं। भगवान् ऋषभदेव इसी अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में हुए। अवसर्पिणी काल के ६ भागों में से प्रथम और द्वितीय भाग (आरे) में न कोई धर्म-कर्म होता है, न राजा और न कोई समाज। एक परिवार में पति और पत्नी, ये दो ही होते हैं। पास में लगे वृक्षों से, जो कि कल्पवृक्ष कहलाते है, उन्हें अपने जीवननिर्वाह के लिए सभी आवश्यक पदार्थ मिल जाते है, उसी में वे प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रहते हैं। एक पुत्र और पुत्री को जन्म देकर वे दोनों चल बसते हैं। ये दोनों बालक ही बडे होने पर पति-पत्नी के रूप में रहने लगते है। विवाह प्रथा का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

तीसरे आरे का बहुत-सा अंश बीत जाने पर भी यही क्रम रहता है। इस काल में मनुष्यों का जीवनक्रम भोगप्रधान होने से इसे भोगभूमिकाल कहते हैं। यही यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। न कुल था, न वर्ग और न जाति, समाज और राज्य की तो कल्पना ही नहीं थी। जनसंख्या बहुत ही कम थी। जीवन की आवश्यकताएँ भी बहुत ही कम थी। न खेती होती थी, न वस्त्र बनता था और न मकान। भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्पवृक्ष थे। शृंगार, आमोद-प्रमोद, विद्या, कला, विज्ञान सभ्यता और संस्कृति का तो कोई नाम ही नहीं जानता था। न कोई वाहन था, न कोई यात्री। ग्राम और नगर बसे ही न थे। न घर बने थे। न कोई स्वामी था, न ही सेवक; शासक और शासित या शोषक और शोषित भी कोई न था। पारिवारिक सम्बन्ध भी नहीं था। न धर्म था और न ही धर्म-प्रचारक थे।

उस समय के लोग सहज-धर्म पालते थे, शान्त स्वभाव के होते थे। निन्दा, चुगली, आरोप, हत्या, मार-काट, चोरी, असत्य आदि विकृतियाँ उनमें नहीं थी। हीनता और उत्कर्ष की भावना भी नहीं थी शस्त्र और शास्त्र दोनो से वे अनजान थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। लोग सदा सहज आनन्द और शान्ति में लीन रहते थे।

कुलकर परम्परा

तीसरा आरा लगभग बीतने आया, तभी सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। कल्पवृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो चली। यह कर्मभूमियुग के आने का संकेत था। यौगलिक व्यवस्था टूटने लगी। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यक-

ताएँ बढ़ने लगीं। परिणामस्वरूप अपराध, संघर्ष और अव्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इस स्थिति ने यौगलिक जनता को नयी व्यवस्था के लिए सोचने को मजबूर कर दिया। फलस्वरूप कुलव्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे।

कुलों का एक नेता होता था, जो 'कुलकर' कहलाता था। वह कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखता और अपराधों पर नियंत्रण रखता। यह शासनतंत्र का आदिरूप था।

कुलकर व्यवस्था में तीन दण्डनीतियाँ प्रचलित हुईं—(१) हाकार, (२) माकार और (३) धिक्कार। अन्तिम (सातवें) कुलकर 'नाभि' के समय तक धिक्कारनीति का प्रयोग होने लगा था।

नाभि कुलकर का नेतृत्व चल रहा था। इसी दौरान कल्पवृक्षों से अपर्याप्त साधन मिलने के कारण आपस में संघर्ष होने लगे। जो युगल शान्त और सन्तुष्ट थे, उनमें क्रोध और असन्तोष का उदय होने लगा। परस्पर लड़ने-झगड़ने लगे। इन परिस्थितियों से घबराकर वे नाभिराय से इस विषय में परामर्श करने हेतु पहुँचे। उन्होंने इस समस्या के हल के लिए अपने पुत्र ऋषभकुमार के पास जाने को कहा। ऋषभदेव से जब उन्होंने सारी स्थिति कही तो उन्होने कर्म करने, राजा बनाने और उसके शासन के नियंत्रण में रहने की आवश्यकता पर बल दिया। फलस्वरूप कुलकर नाभिराय के कहने पर सबने ऋषभदेव को अपना राजा घोषित किया, उनका राज्याभिषेक किया।

प्रथम राजा

ऋषभदेव ने राज्य संचालन के लिए जो नगरी बसाई उसका नाम रखा—विनीता (अयोध्या)। लोग अरण्यवास छोड़कर नगरवासी बन गये। युग के प्रथम राजा ऋषभ बने, शेष जनता प्रजा बन गई, जिसका वे अपनी संतान की भाँति पालन करने लगे। ऋषभदेव के क्रान्तिकारी और सुव्यवस्था से युक्त संचालन से कर्मभूमिक युग का श्रीगणेश हुआ। वस्तुओं की आदान-प्रदान प्रणाली तथा उनके हिसाब-किताब के लिए वैश्य वर्ग की स्थापना की। अपराधों पर नियंत्रण करने, अपराधी को दण्ड देने, सज्जनों को सुरक्षा एवं न्याय देने के लिए क्षत्रिय (आरक्षक) वर्ग की स्थापना की। राज्य की दण्डशक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसके लिए उन्होंने आरक्षक दल तथा चतुरंगिणी सेना आदि की व्यवस्था की। शस्त्रप्रयोग भी सिखाया, परन्तु साथ ही निरपराधी एवं सज्जन पुरुषों पर इसका प्रयोग निषिद्ध बताया।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी चुना। यही राजतन्त्र का क्रम बन गया।

विवाह पद्धति

नाभि अन्तिम कुलकर थे, उनकी पत्नी थी मरुदेवा। इसी से पुत्र के रूप में 'उसभ' या 'ऋषभ' का जन्म हुआ। युगल के एक साथ जन्म लेने और मरने की व्यवस्था क्षीण हो चली। उन्हीं दिनों एक विशेष घटना हो गई। ताड के नीचे एक युगल सोया हुआ था। उनमें से बालक के सिर पर ताड़ का फल गिर गया, जिससे उसकी मृत्यु हो गई, बालिका अकेली रह गई। यह उस युग की पहली अकाल मृत्यु थी। अकेली बालिका जब नाभि कुलकर के पास लाई गई तो उन्होंने युवक 'ऋषभदेव' के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। यही से विवाहपद्धति का सूत्रपात हुआ।

विद्या-कला-प्रशिक्षण

ऋषभदेव ने जनता को श्रम करना सिखाया। खेती करना, अन्न बोना, काटना, पकाना आदि सब विद्याएँ और विभिन्न शिल्प एवं कलाएँ भगवान् ऋषभदेव ने जनता को सिखाई।

दान धर्म का प्रारम्भ

धर्मानुप्राणित नीति के अनुसार लोक व्यवस्था का प्रवर्तन सुचारु रूप से करके ऋषभदेव राज्य करने लगे। वे दीर्घकाल तक राजा रहे। जीवन के अन्तिम स्वल्प भाग में वे विरक्त हो गये। अपने सब पुत्रो को राज्यभार सौंपा और स्वयं ही श्रमण बन गये। समौन, निराहार रहकर वे घोर तपश्चरण करने लगे। उनकी देखा-देखी हजारो राजा तथा राजकुमारों ने भी दीक्षा ले ली, किन्तु वे साधुचर्या से अनभिज्ञ थे। साथ ही जनता भी दान-धर्म से अनभिज्ञ थी। साधु को भोजन-पान देने की विधि नहीं जानती थी। इसलिए उन्हें भोजन न मिल सका और वे भूख-प्यास के कष्ट को न सह सके। फलतः वे उत्तम मुनिधर्म से भ्रष्ट होकर सरल पथ पर चलने लगे।

भगवान् तो क्षुधा को परीषह मानकर कर्मनिर्जरा हेतु समभाव से उसे दीर्घकाल तक सहन करते रहे। फिर दीर्घतप के पश्चात् उन्होंने पारणे के लिए प्रस्थान किया, किन्तु उस समय की भोली जनता श्रमण धर्म तथा श्रमण की भिक्षाचरी के नियमो से अनभिज्ञ थी। अतः घोड़ा, हाथी, युवती स्त्री, आभूषण आदि ले-लेकर लोग उनकी सेवा में उपस्थित होकर भेंट करने

लगते । भगवान् के लिए ये सब वस्तुएँ अग्राह्य थी । अतः वे आगे बढ़ जाते । यों घूमते-घूमते भगवान् ऋषभदेव को एक वर्ष व्यतीत हो गया । एक दिन वे हस्तिनापुर पहुँचे । वहाँ के राजा श्रेयांस ने एक दिन पूर्व ही रात्रि में स्वप्न देखा था, तदनुसार शान्त अवधूत श्रमण भगवान् ऋषभदेव को देखते ही उसमें दान की भावना उमड़ पड़ी । श्रेयांस राजा को जातिस्मरणज्ञान हो गया । उसने अपने राजभवन में रखे हुए इक्षुरस से भगवान् को पारणा कराया । यह पारणा एक वर्ष बाद—वैशाख शुक्ला तृतीया—अक्षयतृतीया को हुआ था । इसी प्रथा का अनुसरण करते हुए श्वेताम्बर जैन वर्षीतप करते हैं, और अक्षयतृतीया के दिन इक्षुरस से पारणा करते है ।

धर्म तीर्थ-प्रवर्तन

हजार वर्ष की साधना के पश्चात् एक दिन भगवान् पुरिमताल नगर के उद्यान मे ध्यानस्थ थे, तभी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । वे अरिहन्त तीर्थंकर बने । साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ (संघ) की स्थापना की । फिर उन्होने मुनिधर्म के पांच महाव्रतों और गृहस्थधर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया । अपने शिष्य समुदाय के साथ ग्राम-नगर में विचरण करते हुए भगवान् धर्मोपदेश करने लगे । उनकी धर्मसभा का नाम समवसरण था, जहाँ किसी भेदभाव के या पूर्वबद्ध वैर का स्मरण किये बिना देव-देवी और मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी आदि भी यथास्थान बैठ जाते और एकाग्रचित्त होकर उनका धर्मोपदेश श्रवण करते थे ।

इस प्रकार इस जीवन (भव) के अन्त तक प्राणिमात्र को हितकर धर्मोपदेश करते रहे । अन्त में, कैलाशपर्वत पर वे समस्त कर्मों को क्षय करके 'निर्वाण' पहुँचे, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

इस युग (काल) में उनके द्वारा ही जैनधर्म का प्रारम्भ हुआ ।

(२) बाईसवें तीर्थंकर : भगवान अरिष्टनेमि

बौद्ध साहित्य निश्चित रूप से तथागत बुद्ध के बाद का ही है । जैन-साहित्य का भी विशाल भाग यद्यपि भगवान् महावीर के पूर्व का तो नही कहा जा सकता, परन्तु भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के विषय में उसमें बहुत कुछ मिलता है ।

श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी थे । श्री अरिष्टनेमि समुद्रविजय के और श्रीकृष्ण वसुदेव के पुत्र थे । समुद्रविजय और वसुदेव दोनों सगे भाई थे । इस दृष्टि से श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई होने के कारण उनमें परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध भी था ।

इतिहासकारों के मतानुसार वेदों का अस्तित्व आज से पाँच हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। वेदो में स्वस्तिवाचन में अरिष्टनेमि के तार्क्ष्य विशेषण लगाकर उनसे कल्याण की कामना की गई है। श्रीकृष्ण का वैदिक परम्परा के साहित्य में बहुत वर्णन है उसमें भी श्री अरिष्टनेमि के जीवन की झांकी मिल जाती है।

जैनागमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि थे।[1] छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस प्रतीत होते हैं। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को आध्यात्मिक विद्या की त्रिपदी का उपदेश दिया है—'तू **अक्षत-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राणसंशित-अतिसूक्ष्म प्राण है।**[2] इस त्रिपदी को सुनकर श्रीकृष्ण आत्मविद्या के सिवाय अन्य विद्याओ के प्रति तृष्णाहीन हो गये। यह उपदेश जैन परम्परा से भिन्न नहीं है।

'**इसिभासियं**'[3] में आंगिरस नामक प्रत्येकबुद्ध ऋषि का उल्लेख है। वे भगवान् अरिष्टनेमि के शासनकाल में हुए थे। इस आधार से बहुत सम्भव है कि आंगिरस या तो श्री अरिष्टनेमि के शिष्य अथवा उनके विचारों से प्रभावित कोई ऋषि रहे हों।

जैनागमों में श्रीकृष्ण के यथार्थरूप का वर्णन मिलता है। श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि के विचारों से तथा उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे। श्री अरिष्टनेमि के विवाह के लिए श्रीकृष्ण ने प्रयत्न किया था।[4]

मथुरा के आसपास फले-फूले यदुवंश पर आपत्ति आने की सम्भावना पर समस्त यादवगण श्रीकृष्ण के साथ मथुरा-शौरीपुर आदि छोड़कर जूनागढ़ के पास समुद्रतट पर द्वारिका नगरी का निर्माण करके वहीं बस जाते हैं। अरिष्टनेमि का बाल्यकाल और यौवन द्वारिका में व्यतीत हुआ।

श्रीकृष्ण की प्रेरणा से राजीमती के साथ अरिष्टनेमि का विवाह निश्चित हुआ था। बडी धूमधाम से बरात लेकर वे जूनागढ़ के राजमहलों के निकट पहुँचे, तभी उनकी दृष्टि बाड़े में बन्द पशुओं[5] पर पडी। उन्होंने सारथि को रथ रोककर पूछा कि "ये पशु इस तरह क्यों रोके गए हैं?" सारथि से यह जानकर श्री अरिष्टनेमि के करुणाशील हृदय को अत्यन्त दुःख हुआ कि

---

१ ज्ञाताधर्मकथा, ५, ६
२ छान्दोग्य उपनिषद् ३, १७, ६
३ इसिभासियं
४ उत्तराध्ययन अ० २२, ६-८
५ वही, अ० २२

उनकी बरात में आये हुए अनेक राजाओं को भोज देने के लिए इन पशुओं का वध किया जाएगा। इसीलिए ये पशु बाड़े में बन्द किये गये हैं। उन्होंने तत्काल विवाह न करने का निर्णय कर लिया और सारथि को वहीं से रथ लौटा देने का कहा।

जब वे रथ से नीचे उतरकर वापस लौटने लगे तो बरातियों में बड़ा कोहराम मच गया। उस समय उनमें से प्रतिष्ठित लोगों ने अरिष्टनेमि को बहुत समझाया, किन्तु उन्होंने उस समय जो हृदयद्रावक वक्तव्य दिया, वह समस्त यादवजाति के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुआ।[1]

जब श्री अरिष्टनेमि को गिरनार के पहाड़ों की ओर जाते देखा, तब राजीमती शोकमग्न हो गई। अरिष्टनेमि को मुनिधर्म में दीक्षित देखकर अन्ततोगत्वा राजीमती ने भी उसी मार्ग का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया। श्रीकृष्ण ने राजीमती को दीक्षा के समय बहुत ही भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया।[2] सचमुच, राजीमती को पूर्वजन्मों का ज्ञान हो गया था कि मेरा और अरिष्टनेमि का सम्बन्ध इस जन्म का हो नहीं, पिछले आठ जन्मों का है।

श्री अरिष्टनेमि ने मुनिधर्म में दीक्षित होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप की आराधना की। चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थंकर बने और पूर्ववत् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके उपदेश देने लगे।

श्रीकृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने श्री अरिष्टनेमि से दीक्षा ली और उसी दिन बारहवीं भिक्षुप्रतिमा की उत्कृष्ट साधना करके वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।[3] श्रीकृष्ण की आठ रानियाँ भी अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं।[4] श्रीकृष्ण के अनेक पुत्र और पारिवारिक जन द्वारिकादहन से पूर्व ही दीक्षित होकर अरिष्टनेमि के शिष्य बने।[5]

इस प्रकार जैन साहित्य में श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं[6] के अनेक उल्लेखों से श्री अरिष्टनेमि तीर्थंकर की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना और पशुओं के प्रति करुणा को जगाने में तीर्थंकर अरिष्टनेमि का बहुत बड़ा हाथ है।

---

१ उत्तराध्ययन अ० २२, गाथा० २५-२६ २ वही० अ० २२, गा० ३१
३ अन्तकृत ३, ८, ४ वही० ५, १-८
५ वही० १, १-१०; २, १-८, ४, १-१० ६ ज्ञाताधर्मकथा ५, १६

तीर्थंकर अरिष्टनेमि अपने समस्त कर्मों का अन्त करके गिरनारपर्वत से मुक्त हुए।

(३) तेईसवें तीर्थंकर : पुरुषादानीय भगवान् श्री पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं।[1] उनका तीर्थप्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ था। आज से लगभग ३ हजार वर्ष पहले वाराणसी नगरी में आपका जन्म हुआ था। प्रारम्भ से ही आपकी चित्तवृत्ति वैराग्य से ओत-प्रोत रहती थी।

एक बार आप गंगा के किनारे घूम रहे थे। वहाँ पर कमठ नामक तापस लक्कड जलाकर तप रहा था। उसके साथ उसके कुछ शिष्य भी थे। राजकुमार पार्श्व उसके पास पहुँचे और बोले—"आप इन लक्कड़ों को जला कर क्यों जीवहिंसा करते है ?"

राजकुमार की बात सुनकर कमठ तापस बहुत झल्लाया और बोला—"तुम राजकुमार हो, इस तपस्या के बारे में तुम्हें कुछ ज्ञान नहीं है। अगर तुम्हें कुछ ज्ञान हो तो बताओ, इसमें कहाँ जीव है ?"

इस पर राजकुमार पार्श्व ने कमठ तापस से कुल्हाडो लेकर ज्यों ही जलते हुए, लक्कड को चीरा उसमें से नाग और नागिन का जलता हुआ जोड़ा निकला। राजकुमार ने उन्हें मरणोन्मुख जानकर णमोकारमंत्र सुनाया। ये दोनो नाग-नागिन मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती बने।

इस घटना मे राजकुमार पार्श्व का हृदय द्रवित हो गया। जीवन की अनित्यता ने आपके हृदय को संसार से विरक्त कर दिया। अतः सांसारिक काम-भोग और राज्यसुख आदि को निःसार समझकर आप प्रव्रजित हो गये।

मोक्षमार्ग एवं तप संयम की साधना करते हुए आप एकाकी विचरण करने लगे।

एक बार आप अहिच्छत्र के वन में ध्यानस्थ थे। आपको देखते ही पूर्वजन्म के वैरी मेघमाली देव (कमठ तापस का जीव) के मन में पूर्वजन्म का वैरभाव भडक उठा। उसने भगवान् के ध्यान में विघ्न डालने के लिए पत्थरों की वर्षा की। जब इससे आप विचलित न हुए तो मूसलाधार वर्षा करने लगा। चारों ओर पानी ही पानी हो गया। आपके गले तक पानी आ गया। इस घोर उपसर्ग के समय धरणेन्द्रदेव और पद्मावतीदेवी अपने

1 That Parswa was a historiceal person, is now admitted by all as very probable —डॉ० जेकोबी, Sacred Books of the East ;Vol. XLV

उपकारी पर उपसर्ग जानकर तुरंत वहाँ आए। पद्मावती देवी ने अपने मुकुट पर भगवान् को उठा लिया एवं धरणेन्द्रदेव ने सहस्र फणवाले सर्प का रूप धारण करके भगवान् पर अपना फन फैला दिया। इस तरह इस उपसर्ग से उनकी रक्षा की। उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने के कारण चार घातीकर्मों का क्षय हो गया और भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अतः उक्त वैरी देव ने आपके चरणों में सिर झुकाकर आप से क्षमायाचना की।

इसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ ने तीर्थस्थापना की। स्वयं धर्मोपदेश देने लगे। अपने संघ के साधु-साध्वियों को धर्म-प्रचार के लिए उत्तर भारत, बिहार, बंगाल आदि प्रान्तों में भेजा।

भगवान पार्श्वनाथ का संघ सबसे सुदृढ़ और व्यवस्थित था, ऐसा बौद्ध साहित्य से पता लगता है। भगवान् पार्श्वनाथ से पहले और उनके धर्म-शासनकाल में ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, जो केवल यज्ञ-याग का ही प्रचार करते थे। दूसरा वर्ग तापसों का था, जो यज्ञ-याग के विरुद्ध थे, किन्तु पंचाग्नि तप, जल-समाधि, कंदमूलभक्षण, आदि को तप मानकर साधना करते थे। वे प्रायः वनवासी थे, लोगों से कम मिलते-जुलते थे, समाज को धर्म का उपदेश, प्रेरणा आदि नहीं देते थे।

भगवान् पार्श्वनाथ का साधु-साध्वी संघ चातुर्याम—धर्म का पालन करता था, मोक्षमार्ग पर चलता था, दूसरों को भी यह उपदेश देता था। चातुर्याम इस प्रकार थे—

(१) सर्व प्राणातिपात से विरमण,
(२) सर्व-मृषावाद से विरमण,
(३) सर्व-अदत्तादान से विरमण,
(४) सर्व-बहिद्धादान से विरमण।[1]

इसमें चौथे 'बहिद्धादान-विरमण याम का अर्थ इस प्रकार किया है—बहिद्धा—अर्थात्—मैथुन और आदान यानी परिग्रह; अथवा बहिः अर्थात्—धर्मोपकरण के सिवाय, जो आदान अर्थात्—जितना भी परिग्रह (परिग्राह्य पदार्थ) है, वह बहिद्धादान है। मैथुन परिग्रह के अन्तर्गत है, क्योंकि स्त्री भी एक प्रकार से परिगृहीत (परिग्रह) ही होती है।

---

१ मज्झिमगा बावीसं अरिहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं जहा··· बहिद्धादाणाओ वेरमणं। —स्थानांग सू० २२६ वृत्ति पत्र २०१

भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी व श्रमणोउपासक थे[1]। भगवान् महावीर ने तीर्थंकर होने के नाते भले ही नये सिरे से तीर्थ की स्थापना की हो, चातुर्याम के बदले पंच महाव्रत का निरूपण किया हो तथा द्वादशांगी की प्ररूपणा की हो, किन्तु भगवान् महावीर को मुख्यतया तीन बातें भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से मिली थीं—(१) संघरचना, (२) आचार और (३) श्रुत।

आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, स्थानांग और उत्तराध्ययन में वर्णित पाठों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर के संघ में सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत रूप धर्म से आकृष्ट होकर कई पार्श्वापत्यिक स्थविर, मुनि प्रविष्ट हो जाते हैं।

अतः भगवान् पार्श्वनाथ का संघ भी समृद्ध तथा व्यवस्थित था तथा उनके शिष्यों और श्रमणों ने सामायिक, संयम, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, विवेक आदि चारित्र (आचार) सम्बन्धी प्रश्न भगवान् महावीर के स्थविरों से किये हैं। वे प्रश्न और पारिभाषिक शब्द भगवान् महावीर के आचार सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों[2] से मिलते-जुलते हैं।

इसी तरह कई पार्श्वापत्यिक स्थविरों द्वारा लोक में रात्रि दिवस सम्बन्धी, जीवों की उत्पत्ति-च्यवन सम्बन्धी प्रश्न पूछे गये है,[3] वे भी यह सूचित करते हैं कि भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान या श्रुत से भगवान् पार्श्वनाथ का तत्त्वज्ञान या श्रुत कितना मिलता था।[4]

यही कारण है कि स्वयं भगवान् महावीर संयम के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित या तत्त्वज्ञान के विषय पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देते समय भगवान् पार्श्वनाथ के मन्तव्यों का आधार भी लेते हैं और पार्श्वनाथ के

---

१ समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जसमणोवासगा यावि होत्था। —आचारांग, द्वितीय, भावचूलिका

२ ····पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामे अणगारे········थेरेभगवंते वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसियत्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। —व्याख्याप्रज्ञप्ति श० १, उद्दे० ९ सू० ७६

३ ····पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो ·· समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा ·· सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए····। —भगवती श० ५, उ० ९, सूत्र २२६

४ सूत्रकृतांग नालंदीय अध्ययन, २, ७, ७२-८१।

'पुरुषादानीय' (पुरुषों में आदेय) आदि सम्मानपूर्ण विशेषण लगाकर उनके प्रति हार्दिक आदरभाव व्यक्त करते हैं।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ लगभग ७० वर्ष तक भ्रमण करके धर्मोपदेश करने के बाद १०० वर्ष की आयु में सम्मेतशिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए। इन्हीं के नाम से आज सम्मेतशिखर 'पारसनाथ हिल' कहलाता है। इसके आस-पास विहार तथा बंगाल में बसी हुई सराक जाति भगवान् पार्श्वनाथ को अपना इष्टदेव मानती है। आज भी जैनेतर जनता में भगवान् पार्श्वनाथ की विशेष ख्याति है।

(४) चौबीसवें तीर्थंकर दीर्घतपस्वी श्रमण भगवान महावीर—

आज से लगभग २६००-२७०० वर्ष पहले, जबकि महावीर का जन्म नही हुआ था, तब भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थिति एक विशिष्ट आदर्श की अपेक्षा रखती थी। देश में अनेक मठ थे, जिनमें अनेक साधुबाबा रहते और तामसिक तपस्याएँ करते थे, ऐसे अनेक आश्रम थे, जिनमें साधारण सांसारिक मनुष्यो जैसी ममता धारण करके वर्तमान महंतो जैसे बड़े-बड़े धर्मगुरु रहते थे। कई संस्थाएँ ऐसी भी थीं, जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्मकाडो—विशेषतः यज्ञयागों का महत्त्व बताया जाता था और उनका प्रचार किया जाता था। उन कर्मकांडों में पशुबलि को धर्म बताया जाता था।

समाज में एक बडा वर्ग ऐसा भी था, जो पूर्वजों के द्वारा पुरुषार्थ से प्राप्त गुरुपद को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता था। इस वर्ग में विद्या, पवित्रता और उच्चता-नीचता की ऐसी कृत्रिम अस्मिता घर कर गई थी, जिसके कारण वह दूसरे (अन्य सभी वर्ग के) लोगों को अपवित्र, अज्ञानी और अपने से नीच और घृणा का पात्र मानकर अपनी परछाईं के स्पर्श तक को पाप मानता था। वह ग्रन्थों के केवल अर्थरहित पठन एवं उच्चारण में ही पाण्डित्य मानकर दूसरों पर अपने गुरुपद की धाक जमाता था। शास्त्र और उनकी व्याख्या अति क्लिष्ट एवं विद्वानों के ही समझने योग्य भाषा में लिखी होने से सामान्य लोग उन ग्रन्थों से कोई लाभ नहीं उठा सकते थे।

स्त्रियों, शूद्रों और अतिशूद्रों को तो किसी भी विषय में प्रगति करने का अवसर ही नहीं मिलता था। उनकी आध्यात्मिक उन्नति की इच्छाएँ मन ही मन में घुटती रहती थीं। परापूर्व से चली आती हुई जैन गुरुओं की परम्परा में भी अत्यन्त शिथिलता आ गई थी।

---

१ ····से नूणं भंते ! गंगेया ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए वुइए····

राजनैतिक एकता भी टूट गई थी। गणतंत्र या राजतंत्र की प्रणाली से चलने वाले राज्यो में भी छिन्नभिन्नता आ चुकी थी। परस्पर फूट, द्वेष और कलह का ही प्राधान्य था।

ऐसी परिस्थिति कितने ही विचारशील और दयालु लोगों के लिए असह्य थी। परन्तु इस परिस्थिति को बदल सकें इसके लिए असाधारण प्रयत्न कर सकने वाले किसी प्रभावशाली नेता की अपेक्षा थी। ऐसे समय में बुद्ध और महावीर का जन्म हुआ।

जन्म, जाति और वंश

तीर्थंकर श्री महावीर की जाति क्षत्रिय थी। उनका वंश नाय (ज्ञात) था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला क्षत्रियाणी था। माता त्रिशला के अन्य नाम विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी भी थे। महावीर के चाचा का नाम सुपार्श्व था। महावीर के नंदीवर्द्धन नामक बड़े भाई थे, जिनका विवाह वैशाली नगरी के अधिपति महाराजा चेटक की पुत्री के साथ हुआ था। उनकी बडी बहन सुनन्दा का विवाह क्षत्रियकुण्ड में हुआ था। उसके जमाली नाम का एक पुत्र था, जिसका विवाह महावीर की पुत्री प्रियदर्शना के साथ हुआ था। श्वेताम्बर शास्त्रो के मतानुसार श्री महावीर विवाहित थे। उनका विवाह यशोदादेवी के साथ हुआ था।

भगवान महावीर के विशेषतः तीन नामो का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है—वर्धमान, विदेहदिन्न और श्रमण भगवान्। वर्धमान नाम सर्व-प्रथम था, तत्पश्चात् साधकजीवन मे वे महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए और उपदेशक जीवन में श्रमण भगवान् कहलाए।

गृहि-जीवन

वर्धमान का बाल्यकाल स्वाभाविक रूप से प्रायः बालक्रीडाओं में व्यतीत होता है। फिर भी उनमें चिन्तनशीलता रही। यौवनवय में प्रवेश करते-करते उनके जीवन में त्याग, तप एवं वैराग्य के संस्कारों के कारण गम्भीरता आ गई थी। उस समय की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर महावीर ने चिन्तन न किया हो, ऐसी बात नही थी, फिर भी उन्हें सर्वप्रथम अपने आपको त्याग, तप और संयम से आत्मबली बनाना था। फिर अपने कुलधर्म (पार्श्वनाथ भगवान् के चातुर्याम धर्म) की ओर उनका सुसंस्कारी मन आकर्षित हुआ हो, ऐसा भी सम्भव है। एक ओर जन्मसिद्ध वैराग्य के बीज और दूसरी ओर कुलधर्म के त्याग-तपोमय आदर्शों का प्रभाव; इन दोनों परिबलों के कारण वयस्क होते ही वर्धमान ने अपने जीवन का उच्च ध्येय निश्चित कर लिया हो, ऐसा सम्भव है।

इस प्रकार के ध्येय के कारण विवाह के प्रति उनकी अरुचि होना स्वाभाविक था। परन्तु माता-पिता के अति-आग्रह के कारण तथा उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु महावीर को विवाहित जीवन स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि अनगार धर्म में दीक्षित होने की उनकी प्रबल इच्छा थी, किन्तु माता-पिता के मन को दुःख न हो, इसलिए उनके जीवित रहते दीक्षा न लेने के लिए वे प्रतिज्ञाबद्ध हुए। माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उन्होंने अपने गृहत्याग की तैयारी बताई, लेकिन बड़े भाई नंदीवर्धन को मनोदुःख न हो, अतः उनके आग्रहवश दो वर्ष और गृहवास में रुकना पड़ा। परन्तु गृहवास में रहते हुए भी उन्होंने इन दो वर्षों में बिलकुल अलिप्त, अनासक्त रहकर त्यागी जीवन व्यतीत किया।

साधकजीवन

तीस वर्ष के तरुण क्षत्रियपुत्र वर्धमान जब गृहत्याग करते हैं, तब उनका जीवन एकदम बदल जाता है। सुकुमार राजपुत्र अपने हाथों से केश-लोच करते हैं, समस्त वैभव और परिजनों एवं सहायकों का भी त्याग करके एकाकी और परिग्रहमुक्त लघुता का जीवन स्वीकार करते है। साथ ही आजीवन सामायिक चारित्र (समभाव से रहने का नियम) स्वीकार करते है। वे समतायोग का पूर्णतया पालन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—

"देव, मनुष्य और तिर्यंच जाति की ओर से चाहे जितनी विघ्न-बाधाएँ, संकट एवं विपत्तियाँ (उपसर्ग) आएँ, मैं किसी की भी सहायता लिये बिना उन सभी परीषहों को समभावपूर्वक सहन करूँगा।"

इस प्रतिज्ञा के कारण वर्धमान साधकजीवन में महावीर के रूप में विख्यात होते है।

तीर्थंकर महावीर की साधना-सम्बन्धी पगडंडियों का प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन[1] आचारांग सूत्र में सुरक्षित है। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महावीर ने मुख्य रूप से अहिंसा तत्त्व की साधना की थी, उसके लिए उन्होंने संयम और तप, इन दो साधनों को पसंद किया था।

इस साधना के दौरान उन्होंने चिन्तन किया कि जब मनुष्य अपनी ही कायिक सुखशीलता को महत्त्व देता है तभी परिवार, समाज और राष्ट्र में संघर्ष, हिंसा और अशान्ति बढ़ती है। इसलिए कायिक सुखशीलता को महत्त्व न देकर तप और संयम की धुरा पर चलना चाहिए। इसी विचार-

---

1 आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध—"महावीर-जीवनचर्या"

धारा को उन्होंने अपना जीवनसूत्र बना लिया—दूसरों को जिलाते हुए जीओ।

यही कारण है कि अपनी सुखसुविधा का ध्यान न रखकर श्री महावीर दूसरे जीवों की रक्षा का तथा उन्हें जरा भी पीड़ा न पहुँचाने का ध्यान रखते थे। इसके लिए वे जन समूह से दूर एकान्त निर्जन स्थान में कायोत्सर्ग, ध्यान, मौन आदि साधना करते थे; क्योंकि संयम का सम्बन्ध मुख्य रूप से मन और वचन के साथ होता है, अतः उसमें ध्यान मौन का समावेश हो जाता है।

तप और संयम को सिद्ध करने के लिए भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक वीरता, धीरता, अप्रमत्तता और तत्परतापूर्वक तपश्चरण किया, जिसका नमूना इतिहास में और कोई नही मिलता। महावीर का तप यद्यपि उग्र तप था, परन्तु देहदमन नही था। संयम और तप की उत्कटता के कारण महावीर ज्यों-ज्यों अहिंसा तत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुँचते गए त्यों-त्यों उनकी गंभीर शान्ति बढने लगी। उसका प्रभाव आस-पास के प्राणियों पर अपने आप पडने लगा। इसी कारण मगध और विदेह के अनेक तापसों, परिव्राजकों, पार्श्वापत्यिक स्थविरो, श्रमणो आदि का जीवन परिवर्तन हुआ। वे महावीर के धर्म में प्रव्रजित हो गए।

उपदेशक जीवन

श्रमण भगवान् महावीर का ४३ वें वर्ष से लेकर ७२ वर्ष तक का दीर्घ जीवन तीर्थंकर होने के नाते सार्वजनिक सेवा, धर्मोपदेश, धर्मप्रेरणा और धर्म-सिद्धान्त प्रचार आदि में व्यतीत हुआ। उसमें मुख्यतया निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य हुए—

(१) **देव पूजा की अपेक्षा मानव प्रतिष्ठा**—मनुष्य अनेक देवी-देवों की पूजा, मनौती आदि करके उनसे अपने सुख और कल्याण की आशा रखता था, भगवान् महावीर ने कर्मवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करके मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

उन्होंने कहा—हे मानव! तुममें अनन्त शक्ति है। उस शक्ति को प्रकट करने के लिए पुरुषार्थ करो। जब रत्नत्रयरूपधर्म में तुम्हारी अनन्य निष्ठा होगी, तब तुम्हारे अशुभ कर्म स्वतः नष्ट हो जाएँगे और तुम्हारे समक्ष अक्षय सुख और शान्ति का भण्डार खुला मिलेगा। अतः देव पूजा के बदले मनुष्य की अटल प्रतिष्ठा भगवान् ने बताई।

(२) **मुक्ति का द्वार सबके लिए खुला**—केवल स्वतीर्थिक मुनिवेषी के लिए ही नहीं, सभी धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेष के स्त्री-पुरुषों के लिए यहाँ तक कि गृहस्थों तक के लिए खुला है, चाहिए रत्नत्रय की साधना।

(३) **जातिभेद की महत्त्वहीनता**—उन्होंने जातिपांति का जरा भी भेदभाव रखे बिना सभी वर्णों और जातियों के लिए, यहाँ तक कि शूद्रों और और अतिशूद्रों तक के लिए भी **भिक्षुपद और गुरुपद तथा श्रावकपद का मार्ग खुला कर** दिया। श्रेष्ठता का निश्चय जन्म से नहीं, परन्तु गुणों से, गुणों में भी पवित्र जीवन से होता है; उन्होंने सर्वत्र ऐसी उद्घोषणा की।

(४) **स्त्रियों को भी पूर्ण विकास का अधिकार**—धर्माराधना और —मोक्ष की साधना में जितना **अधिकार** पुरुषों को है, उतना ही स्त्रियों को है। स्त्रियों को भी अपने विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उनमें भी ज्ञान और आचार—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म पालन करने की सम्पूर्ण योग्यता है, वे भी मुक्ति प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने स्त्रियों को भी पूर्ण विकास की स्वतन्त्रता दी।

(५) भगवान् महावीर ने अपने **तत्त्वज्ञान और आचार के उपदेश** उस समय की प्रचलित **लोकभाषा में** देकर विद्वद्गम्य संस्कृत भाषा का मोह कम कर दिया। योग्य अधिकारी को ज्ञान प्राप्ति करने में भाषागत अन्तराय दूर कर दिया।

(६) त्याग और तप के नाम से प्रचलित रूढ़ शिथिलाचारों, आडम्बरों, इहलौकिक-पारलौकिक सुखवांछा, यशःप्राप्ति आदि प्रतिबन्धन के स्थान में भगवान् महावीर ने नामना-कामनारहित **निष्कांक्ष तप, त्याग और आचार को प्रतिष्ठित** किया।

(७) धर्म के नाम से या स्वर्गादिसुखों की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाते पशुबलिदान या अन्य हिंसाकांडों का भगवान् ने सर्वत्र निषेध किया और आध्यात्मिक यज्ञ एवं क्रूरकर्मों, कषायों तथा रागद्वेषादि विकारों की बलि देने और **सभी प्रवृत्तियों में अहिंसा-सत्यादि धर्म को मुख्यता दी।**

(८) ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए किये जाने वाले यज्ञयाग आदि कर्मकांडों के स्थान में **संयम और तप के स्वावलम्बी और पुरुषार्थ प्रधान मार्ग** की **स्थापना** की।

इन उदार और सार्वजनिक उपदेशों के सिवाय, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों को विविध पहलुओं से समझाने के कारण श्रमण भगवान् महावीर के संघ में सभी वर्णों और जातियों के तथा अन्य मतों के

गृहस्थ और त्यागी दोनो प्रचुर संख्या में आए। उनके संघ में त्यागी श्रमणो की संख्या १४ हजार और साध्वियों—भिक्षुणियो की संख्या—३६००० थी। लाखों की संख्या में गृहस्थ श्रावक-श्राविका वर्ग था।

भगवान् के श्रमण शिष्यों में इन्द्रभूति आदि ११ गणधर **ब्राह्मण** थे, मेघकुमार जैसे अनेक **क्षत्रिय पुत्र** थे; शालिभद्र, धन्ना जैसे अनेक **वैश्य** वर्ण के थे; तथा अर्जुन; मैतार्य और हरिकेशी जैसे अनेक **शूद्र-अतिशूद्र** वर्ण के शिष्य थे। ये सभी भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित होकर सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर सके थे।

चन्दनबाला आदि कई क्षत्रिय कन्याएँ, देवानन्दा आदि ब्राह्मणपुत्रियाँ तथा अन्य सभी वर्णों की श्रमणी शिष्याएँ भी संघ में दीक्षित होकर स्व-पर-कल्याण कर चुकी थी।

गृहस्थो में वैशालीपति चेटक, श्रेणिक (बिम्बसार) और अजातशत्रु कोणिक इत्यादि अनेक क्षत्रिय राजा थे, आनन्द, कामदेव आदि दस मुख्य श्रमणोपासको में वणिक् और कुम्भकार जाति के गृहस्थ थे। स्कन्दक, अम्बड आदि अनेक परिव्राजक तथा सोमिल आदि अनेक विद्वान् ब्राह्मण भगवान् के अनुगामी बने थे। गृहस्थ उपासिकाओं में रेवती, सुलसा और जयन्ती आदि प्रख्यात, श्रद्धालु एवं विचारवती श्राविकाएँ थी।

श्रमण भगवान् महावीर ने चातुर्याम धर्म के स्थान पर सप्रतिक्रमण, पंचमहाव्रत रूप धर्म को स्थापित किया। इनके पालन करने के लिए व्यवस्थित ढंग से नियमोपनियम और आचार-विचार समाचारी की रचना की। इसी प्रकार श्रावको के लिए ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत बताए, जिनमे संयम और तप के छोटे-बडे अनेक नियम समाविष्ट हो गए थे।

आचार में अहिंसा और विचार मे अनेकान्त भगवान् महावीर के उपदेश के प्रमुख तत्त्व थे। भगवान् महावीर का भ्रमण (पादविहार) विदेह, मगध, काशी, कौशल, कुरुजागल आदि अनेक देशो में हुआ था। श्रावस्ती, कौशाम्बी, ताम्रलिप्ती, चम्पा और राजगृही; ये नगरियाँ उनके धर्मप्रचार की मुख्य केन्द्र रही।

भगवान् के परिस्थिति परिवर्तनसूचक उपदेशों से उस युग की जनता के धार्मिक और सामाजिक जीवन में जबर्दस्त क्रान्ति आ गई थी।

निर्वाण

आज से लगभग २५०० वर्ष पहले राजगृह के निकट पावापुरी नामक

पवित्र स्थान में भगवान् महावीर ने अपनी अन्तिम धर्मदेशना दी, जो उत्तराध्ययनसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। तत्पश्चात् कार्तिक वदी अमावस्या की रात्रि में इस भौतिक शरीर, जन्म-मरण रूप संसार और कर्मों का सदा के लिए त्याग करके निर्वाण प्राप्त किया। उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध धर्म-संघ का भार उनके मुख्य शिष्य गणधर सुधर्मास्वामी ने सँभाला।

इन चार तीर्थंकरों के जीवन की झाँकी पर से अरिहन्तदेवों की विशेषताओं का स्पष्ट रूप से पता लग जाता है।

□

सिद्धदेव स्वरूप

अरिहन्त और सिद्ध में अन्तर

अरिहन्त के बाद सिद्ध परमात्मा भी देवपद में समाविष्ट है; क्योंकि केवलज्ञान, केवलदर्शन और उपयोग द्वारा अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा दोनो लोकालोक में व्यापक है। अतः सभी पदार्थ इन दोनो के ज्ञान मे व्याप्त होते हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तबल, इन बातों में दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता नही है। दोनो अनन्त गुणो के धारक हैं।

यह बात भी भलीभाँति निर्विवाद सिद्ध है कि जो धर्मोपदेश अरिहन्त (तीर्थंकर) देवो ने दिया है, वही धर्मोपदेश सिद्ध परमात्मा का भी है (रहा है); क्योंकि केवलज्ञान की अपेक्षा से श्री अरिहन्त (तीर्थंकर) देव और सिद्ध परमात्मा में अभेदता सिद्ध होती है।

एक बात यह भी है कि अरिहन्त देव को अवश्यमेव मोक्ष-गमन करना है। जब वह (तीर्थंकर) मोक्षगमन करते हैं, तब उनकी अरिहन्त या तीर्थंकर संज्ञा समाप्त होकर 'सिद्ध संज्ञा' हो जाती है। अतः '**साम्प्रतिका-भावेभूतपूर्वगतिः**' इस न्याय से वह पूर्वोक्त उपदेश एक तरह से सिद्ध परमात्मा का ही कहा जाता है '**सिद्धा एवं वदंति**'[1] ('सिद्ध इस प्रकार कहते हैं') इस प्रकार के शास्त्रोक्त वचनो से यह निश्चय हो जाता है कि अरिहन्त देवो को ही समान गुण होने से अपेक्षा दृष्टि से सिद्ध माना गया है।

शास्त्र में सिद्धों के दो प्रकार बतलाए गए है—भाषकसिद्ध और अभाषकसिद्ध।[2] अरिहन्त भगवान् भाषकसिद्ध (बोलने वाले सिद्ध भगवान्) कहलाते है। वे धर्मोपदेश देते है, इसलिए 'भाषक' हैं और निकट भविष्य में ही उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है तथा वे जीवन्मुक्त और कृतकृत्य होते है, इस कारण सिद्ध कहलाते है। भविष्यत् नैगमनय की दृष्टि से भी अर्हद्देव को सिद्ध कह सकते है, क्योंकि आयुष्यकर्म के क्षय हो जाने पर अर्हद्देव अवश्य ही मोक्षगमन करते हैं।

---

१ भगवतीसूत्र　　२ प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद, सिद्ध प्रज्ञापना

इस प्रकार ज्ञान की समानता और चार घाती कर्मों के अभाव की तुल्यता होने से अर्हद्देव और सिद्ध परमात्मा ये दोनों पद 'देव कोटि' में माने गये हैं; क्योंकि देव (देवाधिदेव) की परिभाषा जैनागमों में यही की गई है— 'जो सब प्रकार के दोषों (अठारह दोषों) से सर्वथा रहित हो गया हो'। अरिहन्तों की तरह सिद्ध भी समस्त दोषों से रहित हो चुके हैं तथा जो देव होते हैं, वे दूसरों के कल्याण के लिए नाना प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं, निःस्वार्थ—निष्कामभाव से सत्य एवं हितकर उपदेश देते हैं। दूसरों के सुख के लिए अपने जीवन का भी व्युत्सर्ग कर देते हैं; परोपकारपथ से किञ्चित् भी विचलित नहीं होते। अरिहन्त और सिद्ध दोनों इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। अतएव देवपद में अरिहन्तदेव और सिद्ध परमात्मा दोनों को लिया गया है।

इन दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि अरिहन्त देव शरीरधारी होते हैं, जबकि सिद्ध परमात्मा अशरीरी होते हैं। इसके अतिरिक्त अरिहन्तदेव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय; इन चार कर्मों से मुक्त होकर केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) और केवलदर्शी (सर्वदर्शी) होते हैं, जबकि सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म इन आठों कर्मों से रहित होते है। वे सदा निजानंद में मग्न रहते हैं। सिद्ध परमात्मा अजर, अमर, निरंजन निर्विकार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारंगत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और ज्ञानस्वरूप होते हैं।

उन सिद्ध भगवन्तों को दीक्षा के समय तीर्थंकरदेव भी नमस्कार करते हैं।[1] अतएव श्री सिद्ध भगवान् भी देवाधिदेव हैं। मुनिजन तीर्थंकर जब मोहनीयकर्म का उपशम या क्षय करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, या क्षय कर लेते है, तब अन्तिम श्रेणी (चौदहवें गुणस्थान) पर पहुँचने के लिए उन्हीं (सिद्धों) को ही ध्येय बनाकर आत्मा को परम शुद्ध बनाते हैं। स्वरूप में ही सदा-सर्वदा वे निमग्न रहते हैं। वे निजात्म स्वरूपी हैं; इसी कारण उन्हें अभाषक (बोलने वाले) सिद्ध कहा गया है।

सिद्ध-परमात्मा कृतकृत्य और समस्त कर्म कलंक से रहित होकर सच्चिदानन्दपद प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए सिद्ध-आत्मा परमसुखों का पुञ्ज है।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप

शक्रस्तव पाठ (नमोत्थुणं) में सिद्ध भगवान् का स्वरूप बताते हुए

---

1 सिद्धाणंनमोकिच्चा' —उत्तरा० अ० २० गा० १

सिद्धिगति का वर्णन किया गया है कि वह शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, दंश-मशक, सर्प आदि से होने वाली सर्वबाधाओं से तथा उपद्रवों से रहित होने के कारण वह '**शिव**' है। स्वाभाविक अथवा प्रयोगजन्य हलन-चलन या गमनागमन का कोई भी कारण न होने से वह '**अचल**' है। रोग के कारणभूत शरीर और मन का सर्वथा अभाव होने से वह '**अरुज**' (रोगरहित) है। अनन्त पदार्थों सम्बन्धी ज्ञानमय होने से '**अनन्त**' है। सादि होने पर भी अन्तरहित होने के कारण वह '**अक्षय**' है, अथवा सुख से परिपूर्ण होने के कारण पूर्णिमा के चन्द्र के समान '**अक्षत**' है। दूसरों के लिए (आने वाले मुक्तात्माओं के लिए) अथवा अपने लिए किसी प्रकार बाधाकारी न होने से '**अव्याबाध**' है। एक बार सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद मुक्तात्मा फिर संसार में नहीं आता, वह सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है, इस कारण अपुनरावृत्ति है। ऐसा सर्वथा निरामय और निरूपम परमानन्दमय सिद्धधाम लोक के अग्रभाग में है, जो सिद्धिगति स्थान कहलाता है, उसी स्थान को सम्प्राप्त आत्मा सिद्ध कहलाते है।[1]

सर्वथा शुद्ध आत्मा : सिद्ध परमात्मा

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में परमविशुद्ध आत्मा का जो स्वरूप बताया है, वही सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है। वह इस प्रकार है—

शुद्ध आत्मा (सिद्ध) का वर्णन करने में कोई भी शब्द (स्वर) समर्थ नहीं है। कोई भी तर्क-वितर्क शुद्ध-आत्मा के विषय में नहीं चलता। मति या कल्पना का भी वहाँ (शुद्ध-आत्मा के विषय में) प्रवेश (अवगाहन) नहीं है। केवल सम्पूर्ण ज्ञानमय शुद्ध आत्मा ही वहाँ है।

शुद्ध आत्मा न तो दीर्घ (लम्बा) है, न ही ह्रस्व (छोटा) है। वह वृत्त (गोलाकार) नही, न त्रिकोण है, न चौकोर है, न ही परिमण्डलाकार (चूड़ी के आकार का) है। न ही काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न ही शुक्ल (श्वेत) है। न ही सुगन्धित है, न दुर्गन्धित है। वह तिक्त नही, कटु नही, कसैला नही, खट्टा नही, न ही मीठा है। न वह कठोर है, न कोमल, न गुरु (भारी) है, और न लघु (हलका) है, न शीत है, न उष्ण है, न ही स्निग्ध है, और न ही रूक्ष है।

वह स्त्री नही, पुरुष नही और न नपुंसक है। केवल परिज्ञानरूप है;

---

१ 'सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं।'
—शक्रस्तव—नमोत्थुणं का पाठ

ज्ञानमय है।' उसके लिए कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती। वह अरूपी-अलक्ष्य है। उसके लिए किसी पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह शब्द-रूप-गन्ध-रस स्पर्शरूप नहीं है। इस प्रकार समस्त पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय और सत्-चिदानन्दमय (शुद्धात्म) सिद्धस्वरूप है।[1]

सिद्ध कैसे कहाँ और किस रूप में होते हैं ?

मध्यलोक में, ढाई द्वीप में, पन्द्रहकर्मभूमियो में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ही आठो कर्मों को समूल नष्ट करके सिद्ध होते हैं। औदारिक, तैजस और कार्मण आदि सभी प्रकार के शरीर का सर्वथा त्याग करके अशरीर आत्मा सिद्ध होते है।

उत्तराध्ययन और औपपातिकसूत्र में सिद्ध भगवान् के विषय में प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं—

प्रश्न—सिद्ध भगवान् कहाँ जाकर रुके हैं ? सिद्ध परमात्मा कहाँ जा कर स्थित हो रहे है ? सिद्ध भगवान् कहाँ शरीर त्याग कर—अशरीरी हो कर—किस जगह जाकर सिद्ध हुए है ?

उत्तर—सिद्ध भगवान् लोक से आगे-अलोक से लग कर रुके हैं; लोक के अग्रभाग में वे प्रतिष्ठित (विराजमान) है। सिद्धपरमात्मा यहाँ मनुष्यलोक में शरीर का त्याग करके वहाँ—लोक के अग्रभाग में—जाकर सिद्ध[2] हुए हैं।

---

१ सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ।।

से न दीहे, न हस्से, ण वट्टे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले। न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे न दुरिगंधे। न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अबिले, न महुरे। न कक्कडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न णिद्धे, न लुक्खे। न काऊ, न रुहे, न संगे। न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा। परिण्णे सण्णे।

उवमा न विज्जलि, अरूवी सत्ता।
अपयस्स पयं णत्थि, से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेतावंती।

—आचारांग सूत्र श्रु त० १, अ० ५, उद्देशक ६

२ (प्र०) कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोंदि चइत्ताणं, कत्थ गतूण सिज्झइ ?
(उ०) 'अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदि चइत्ताणं, तत्थगंतूण सिज्झइ।।'

—औपपातिकसूत्र, उत्तराध्ययन० अ० ३६ गा० ५५-५६

सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में ही जाकर क्यों स्थित हो जाते हैं? इसके दो कारण हैं—(१) आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन (गति) करने का होने से और (२) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकाकाश में ही है, आगे नहीं है, इस कारण।

जैसे पाषाण आदि पुद्गलों का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है, वायु का स्वभाव तिरछी दिशा में गति करने का है, इसी प्रकार कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है। आत्मा जब तक कर्मों से लिप्त रहता है, तब तक उसमें एक प्रकार की गुरुता रहती है। इस गुरुता के कारण आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगतिशील होने पर भी ऊर्ध्वगति नहीं कर पाता।

जैसे— तूम्बा स्वभाव से ही जल के ऊपर तैरता है, किन्तु मिट्टी का लेप कर देने पर भारी हो जाता है, इस कारण वह जल के ऊपर नहीं आ सकता; किन्तु ज्यों ही मिट्टी का लेप हटता है, त्यों ही तूम्बा ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा ज्यों ही कर्मलेप से मुक्त हो जाता है, त्यों ही वह अग्निशिखा की भाँति ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे—एरण्ड का फल फटते ही उसके भीतर का बीज ऊपर की ओर उछलता है, वैसे ही जीव (आत्मा) शरीर और कर्म का बन्धन हटते ही ऊर्ध्वगमन करके एक समय मात्र काल में ही लोक के अग्रभाग (अन्तिम छोर) तक जा पहुँचता है। सिद्ध जीव की वह ऊर्ध्वगति विग्रहरहित होती है, इसलिए लोकाग्र तक पहुँचने में उसे केवल एक समय लगता है।[1]

सिद्ध जीव लोक के अग्रभाग में ही ठहर जाता है आगे अलोक में नहीं जाता, इसका कारण यह है कि आगे (अलोक में) धर्मास्तिकाय नहीं है। धर्मास्तिकाय जीव की गति में सहायक होता है। अतः जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जीव की गति होती है। धर्मास्तिकाय के अभाव में आगे अलोकाकाश में गति नहीं होती। इसी कारण कहा गया है कि सिद्ध परमात्मा लोक के अग्रभाग में स्थित है और अलोक से लग कर रुक गए हैं।

कई लोग यह कहते है कि मुक्तात्मा अनन्तकाल तक निरन्तर अविरत गति से अनन्त आकाश में ऊपर ही ऊपर गमन करता रहता है, कभी किसी काल में ठहरता नहीं; किन्तु यह कथन यथार्थ और युक्तिसंगत नही है।

---

१ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।
पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धछेदात्तथागति-परिणामाच्च तद्गतिः।'

—तत्त्वार्थ० अ० १०, ५-६

सिद्धगतिस्थान की पहचान

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर पैंतालीस लाख योजन की लंबी-चौड़ी गोलाकार छत्राकार **सिद्धशिला** है। वह मध्य में आठ योजन मोटी और चारों ओर क्रमशः घटती-घटती किनारे पर मक्खी के पंख से अधिक पतली हो जाती है। वह पृथ्वी अर्जुन (श्वेतस्वर्ण) मयी है, स्वभाव से निर्मल है और उत्तान (उलटे) छाते के आकार की है अथवा तैल से परिपूर्ण दीपक के आकार की है। वह शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प-सी श्वेत, निर्मल और शुभ है। इसकी परिधि लम्बाई-चौड़ाई से तिगुनी अर्थात्-१४२३०२४९ योजन की है। इस सीता नाम की ईषत्प्राग्भागा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त है।

उस सिद्धशिला के बारह नाम हैं—(१) ईषत्, (२) ईषत्प्राग्भारा, (३) तनु, (४) तनुतर, (५) सिद्धि, (६) सिद्धालय, (७) मुक्ति, (८) मुक्तालय, (९) लोकाग्र, (१०) लोकाग्रस्तूपिका, (११) लोकाग्र-बुध्यमान और (१२) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वसुखावहा।

इस सिद्धशिला के एक योजन ऊपर, अग्रभाग में ४५ लाख योजन लम्बे-चौड़े और ३३३ धनुष, ३२ अंगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्तसिद्ध भगवान् विराजमान हैं। यही भव प्रपंच से मुक्त, महाभाग, परमगति—सिद्धि को प्राप्त सिद्ध अग्रभाग में स्थित है।

उस एक योजन के ऊपर का जो कोस है, उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना होती है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान-दर्शन से युक्त, संसार के पार पहुँचे हुए, परम-गति-सिद्धि को प्राप्त वे सिद्ध लोक के एक देश में स्थित हैं।[1]

जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनन्त सिद्ध हैं

प्रश्न होता है—एक ही स्थान में अनेक सिद्ध कैसे रह सकते हैं? इसका समाधान यह है कि जैसे एक ही पुरुष की बुद्धि में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भिन्न-भिन्न भाषाएँ समभाव से रहती हैं, उनका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार का होते हुए भी उनमें परस्पर संघर्ष नहीं होता, वे एकरूप मिलकर रहती हैं; इसी प्रकार जहाँ एक सिद्ध विराज-मान है, उसी स्थान में अनन्तसिद्ध विराजमान हैं।[2]

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३६, गा० ५७ से ६७ तक,

२ 'जत्थ एगो सिद्धो, तत्थ अणंतक्खय भवविप्पमुक्को'''।'

जिस प्रकार एक कमरे में रखे हुए अनेक दीपकों का प्रकाश परस्पर मिल जाता है, फिर वह एकरूप से दृष्टिगत होने लगता है; इसी प्रकार अनेक सिद्धो के आत्मप्रदेश परस्पर मिलकर एकरूप होकर स्थित हो जाते हैं।

जैसे घट, पट आदि की आकृति भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही पुरुष के हृदय में ठहर जाती है, वैसे ही सिद्धो के प्रदेश भी परस्पर मिलकर रहते है।

जैसे—चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान से नाना प्रकार के आकार वाले पदार्थ ज्ञानात्मा में एकरूप से निवास करते है, इसी प्रकार अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त इत्यादि नामों से युक्त सिद्ध भगवान् भी एकरूप से विराजमान है।

मुक्ति : आत्मा की विशिष्ट पर्याय

साधारण लोग यह समझते हैं कि जैसे नरक एक विशेष भूभाग को तथा स्वर्ग एक स्थान विशेष को कहते है, वैसे ही मोक्ष भी किसी स्थान का नाम है, किन्तु वास्तव में मोक्ष कोई स्थान नही है, वह आत्मा की विशिष्ट पर्याय है। सर्वथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सिद्ध रूप आत्मा की अवस्था (पर्याय) मोक्ष कहलाती है। सिद्ध-आत्मा लोक के अग्रभाग में विराजमान होता है, इस कारण उसे सिद्धिगति स्थान कहते है; किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जो जीव उस स्थान में रहते है, वे सभी सिद्ध है या उस स्थान को ही मोक्ष कहते है। वास्तव में कर्मों से रहित अवस्था मुक्ति कहलाती है और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग में स्थित होते है। वास्तव में सिद्ध परमात्मा आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होते है, जिससे बढ़कर पवित्र या शुद्ध अवस्था इस जगत् में अन्य कोई नही है।

सिद्धों के गुण

यो तो सिद्ध परमात्मा में अनन्तगुण होते है, तथापि ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के क्षय की अपेक्षा से उनमें ३१ गुण विशेषतया आविर्भूत हो जाते है। वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप और अनन्तगुणों का समुदायरूप है; परन्तु कर्मजन्य उपाधिभेद से संसारी आत्माओं के वे गुण आवरणयुक्त हो रहे है।

जैसे—सूर्यप्रकाश रूप होने पर भी बादलो के कारण उस पर आवरण आ जाता है उसका प्रकाशवानरूप हमें दिखाई नही देता। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकाशमान है, उस पर आए हुए आवरण जब दूर हो जाते हैं, तब वह गुण समुदाय प्रकट हो जाता है, फिर उस पूर्ण शुद्ध आत्मा को

सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्तशक्ति सम्पन्न इत्यादि शुभ नामों से पुकारा जाता है। वे ३१ गुण[1] इस प्रकार है—

(१) सिद्ध परमात्मा के आभिनिबोधिक ज्ञानावरण क्षीण हो चुका है। अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों में से आभिनिबोधिक ज्ञान के २८ भेद हैं, उन पर आए हुए कर्म परमाणुओं के आवरणों का क्षय हो चुकता हैं।

(२) श्रुत ज्ञानावरण (श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं, उन पर आए हुए आवरण) का क्षय हो चुका है।

(३) अवधिज्ञान (के ६ भेदों) पर आए हुए आवरण का क्षय हो चुका है।

(४) मनःपर्यवज्ञान (के दो भेदों) पर आये हुए आवरण का क्षय हो चुका है।

(५) केवलज्ञान (के केवल एक भेद) पर आए हुए आवरण का भी क्षय हो चुका है।

ज्ञानावरण की पाँचों प्रकृतियों के आवरण क्षीण (दूर) हो जाने से सिद्ध भगवान् को सर्वज्ञ कहा जाता है।

(६) **चक्षुदर्शन पर आया हुआ आवरण** सिद्ध परमात्मा का क्षय हो चुका है।

(७) **चक्षुर्वर्जित श्रोत्रेन्द्रियादि** इन्द्रियों पर आया हुआ आवरण (**अचक्षुर्दर्शनावरण**) भी क्षीण हो चुका है।

(८) **अवधिदर्शन** पर आया हुआ **आवरण** भी निर्मूल हो गया है।

---

१ एक्कतीसं सिद्धाइगुणा पण्णत्ता, त जहा-खीणे आभिणि-बोहियणाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे, खीणे ओहिणाणा-वरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे खीणे केवलणाणावरणे; खीणे चक्खुदंसणावरणे, खीणे अचक्खुदंसणावरणे, खीणे ओहि-दंसणावरणे, खीणे केवलदंसणावरणे, खीणे निद्दा, खीणे निद्दा-निद्दा, खीणे पयला, खीणे पयला-पयला, खीणे थीणद्धी; खीणे सायावरणिज्जे, खीणे असायावरणिज्जे; खीणे दंसणमोहणिज्जे, खीणे चरित्तमोहणिज्जे; खीणे नेरइआउए, खीणे तिरियाउए, खीणे मणुस्साउए, खीणे देवाउए; खीणे उच्चागोए, खीणे निच्चागोए; खीणे सुभनामे, खीणे असुभणामे, खीणेदाणांतराए, खीणे लाभांतराए, खीणे भोगांतराए खीणे उवभोगतराए खीणे वीरिअंतराए।

—समवायांगसूत्र ३१ वां समवायाध्ययन।

(६) **केवलदर्शनगत आवरण** भी क्षीण हो चुका है।

(१०) **निद्रा** (सुखपूर्वकशयन) रूप दर्शनावरण भी चला गया है।

(११) **निद्रा-निद्रा** (सुखपूर्वक शयन करने के पश्चात् दुःखपूर्वक जागृत अवस्था) रूप दशा भी जाती रही है।

(१२) **प्रचला** (बैठे-बैठे ही निद्रागत होने रूप) अवस्था भी उनकी नहीं रही।

(१३) **प्रचला-प्रचला** (पशु की तरह प्रायः चलते-चलते निद्राधीन हो जाने रूप) दशा भी समाप्त हो गई है।

(१४) **स्त्यानर्द्धि** (अत्यन्त घोर निद्रा, जिसके उदय से वासुदेव का आधा बल प्राप्त हो जाए, ऐसी अत्यन्त भयंकर निद्रा) दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं रही।

इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की सभी प्रकृतियों का क्षय होने के कारण सिद्ध भगवान् सर्वदर्शी बन जाते है।

(१५-१६) सिद्ध भगवान् के वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियाँ—**साता रूप प्रकृति और असाता रूप प्रकृति**—क्षीण हो चुकी है, इसलिए वे अक्षय आत्मिक सुख में मग्न हैं।

(१७-१८) मोहनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों—**दर्शन मोहनीय** और **चारित्र मोहनीय** के क्षय हो जाने से सिद्ध परमात्मा क्षायिक सम्यक्त्व के धारक हो जाते हैं।

(१६-२०-२१-२२) आयुष्यकर्म की चारों प्रकृतियो—नरकायु, तिर्यंचायु मनुष्यायु और देवायु—के क्षय हो जाने से भगवान् निरायु हैं, अतएव उन्हें शाश्वत कहा जाता है, क्योंकि आयुष्यकर्म के कारण जीव की अशाश्वत दशाएँ होती है।

(२३-२४) गोत्रकर्म की दोनो प्रकृतियाँ—उच्चगोत्र और नीचगोत्र—का भी अभाव हो चुका है। गोत्रकर्म के कारण जीव की उच्च-नीच-दशा होती रहती है। गोत्रकर्म के न रहने से सिद्ध भगवान् की उच्च-नीच दशा भी समाप्त हो गई।

(२५-२६) इसी प्रकार शुभनाम और अशुभनामरूप नामकर्म की जो दो प्रकृतियां हैं, वे भी समाप्त हो चुकी हैं। सादि-सान्तरूप नामकर्म के क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान् अनादि-अनन्तपदरूप नाम संज्ञा में स्थित हो गए हैं। अर्थात्—अपने अनन्त गुणों की अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा अनन्त नाम कहलाते हैं।

(२७-२८-२९-३०-३१) सिद्ध भगवान् के अन्तरायकर्म की पाँचों प्रकृतियाँ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय—क्षय हो चुकीं, तब अन्तरायकर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से उक्त पाँचों अनन्त शक्तियाँ उनमें प्रादुर्भूत हो गईं। इसी कारण से सिद्ध परमात्मा को अनन्तशक्तिमान् कहा जाता है।

सिद्ध भगवान् को अनेक सिद्धों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त कहा जाता है, किन्तु किसी एक मोक्षगत जीव की अपेक्षा से सिद्ध भगवान् को सादि-अनन्त कहा जाता है, क्योंकि जिस काल में अमुक व्यक्ति मोक्ष पहुँचा है, उस काल की अपेक्षा से उस जीव की आदि तो है,[1] परन्तु अपुनरावृत्ति होने से उसे 'अनन्त' कहा जाता है। अतः जो अनादि-अनन्तयुक्त सिद्ध पद है, उसमें पूर्वोक्त गुण सदा से चले आ रहे हैं; परन्तु जो सादि-अनन्त सिद्धपद है, उसमें उक्त गुण आठ कर्मों के क्षय हो जाने से प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार सोना मलरहित हो जाने पर अपनी शुद्धता और चमक-दमक धारण करने लग जाता है, उसी प्रकार जब जीव सभी प्रकार के कर्ममल से रहित हो जाता है तब अपनी शुद्ध, निर्मल, अनन्तगुणरूप निजदशा को शाश्वत रूप से धारण कर लेता है।

पूर्वोक्त ३१ गुणों की अपेक्षा से पूर्वाचार्यों ने सिद्धों के संक्षेप में आठ गुण बताए है—वे इस प्रकार हैं—(१) अनन्तज्ञानत्व, (२) अनन्तदर्शनत्व, (३) अव्याबाधत्व, (४) क्षायिकसम्यक्त्व, (५) अव्ययत्व, (६) अरूपित्व, (७) अगुरु-लघुत्व और (८) अनन्तवीर्यत्व।

ये आठ गुण ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न हुए हैं। जैसे—

(१) पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान् में अनन्त (केवल) ज्ञान प्रकट हो गया, जिससे वे सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानते हैं।

(२) नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से अनन्त (केवल) दर्शन-गुण प्रकट हुआ, जिससे वे सर्वद्रव्य-क्षेत्रादि को देखने (सामान्यरूप से जानने) लगे।

---

१ एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य॥

—उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा ६५

(३) दोनों प्रकार के वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से उन्हें अव्याबाध (निराबाध) सुख की प्राप्ति हो गई, वे बाधा-पीड़ारहित हो गए; क्योंकि अनन्त सिद्धों के प्रदेश परस्पर सम्मिलित हो जाने पर भी उन्हें कोई बाधा-पीड़ा नहीं होती। सिद्धों के शुद्ध आत्मप्रदेशों का परस्पर सम्मिलित होना, अव्याबाधसुखोत्पादक होता है।

(४) दो प्रकार के मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से उन्हें क्षायिक सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हो गई, जिससे वे स्व-स्वरूप में सतत रमण करते हैं।

(५) चारों प्रकार के आयुष्यकर्म का क्षय हो जाने से वे अव्यय (अजर-अमर) हो गए। जब तक आयुष्यकर्म रहता है, तब तक आत्मा की बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, रोगित्व, नीरोगित्व आदि दशा की संभावना रहती है। जब आयुष्यकर्म के प्रदेश आत्मप्रदेशों से सर्वथा पृथक् हो जाते है, तब वह आत्मा अव्ययत्वगुण का धारक हो जाता है। आयुष्यकर्म स्थिति-युक्त है। आयुष्य-कर्म के प्रदेशों की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम होती है। यह कर्म स्थिति युक्त होने से जीव सादि-सान्त पद वाला होता है, किन्तु जब सिद्धों के आयुष्य-कर्म का अभाव हो जाता है, तब वे सादि-अनन्त पद को धारण करते हुए अव्ययत्व गुण के धारक भी होते है।

(६) दो प्रकार के नामकर्म का क्षय हो जाने से वे अमूर्तिक हुए। नामकर्म के होने से शरीर, इन्द्रिय, अंगोपाग, जाति आदि की रचना होती है। नामकर्म वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-पुद्गलजन्य होता है। जब आयुष्य और नामकर्म का क्षय कर दिया तो सिद्ध भगवान् शरीरादि तथा वर्णादि से रहित हो गए। शरीर से रहित आत्मा अमूर्त्तिक और अरूपी होता है; क्योंकि आत्मा का निज गुण अमूर्तिक है।

(७) गोत्रकर्म का क्षय हो जाने से सिद्ध भगवान् अगुरुलघुत्व-गुण से युक्त हो गए। जब गोत्रकर्म रहता है, तब उच्चगोत्र के कारण नाना प्रकार के गौरव (गुरुता) की प्राप्ति होती है और नीचगोत्र के कारण नाना प्रकार की लघुता (हीनता-तिरस्कार) का सामना करना पड़ता है। जब गोत्रकर्म ही क्षीण हो गया, तब गुरुता-लघुता (मान-अपमान) ही नहीं रहे और सिद्ध भगवान् अगुरुलघुत्व गुण के धारक हो गए।

यहाँ एक शंका होती है कि 'सिद्ध भगवान् भक्तों द्वारा उपास्य और पूज्य हैं, किन्तु जो नास्तिक है, वे तो सिद्ध भगवान् के अस्तित्व में ही शंका करते हैं, अतः नास्तिकों द्वारा वे उपास्य और पूज्य नहीं होते, ऐसी स्थिति में सिद्ध भगवान् के प्रति उच्चता-नीचता (गुरुता-लघुता) का भाव आ जाने से उनमें गोत्रकर्म का सद्भाव क्यों नहीं माना जाए ?'

इसका समाधान यह है कि गोत्रकर्म की वर्गणाएँ परमाणुरूप हैं; अतः वे पुद्गलजन्य होने से रूपी भाव को धारण करती हैं और जीव जब तक गोत्रकर्म से युक्त होता है, तब तक वह शरीरधारी अवश्य होता है। उस समय गोत्रकर्म द्वारा उस जीव को उच्च या नीच दशा की प्राप्ति होना गोत्रकर्म का फल माना जा सकता है, किन्तु सिद्ध अरूपी हैं, अमूर्तिक है और शरीर रहित हैं, ऐसी स्थिति में सिद्धों के साथ गोत्रकर्म का सद्भाव न होने से उनमें उच्च-नीच दशा की प्राप्ति कथमपि सम्भव नहीं है। केवल आस्तिकों या नास्तिकों द्वारा ही पूर्वोक्त क्रियाओं के करने से सिद्धों में गोत्रकर्म का सद्भाव नही माना जा सकता। अतः सिद्धपरमात्मा में अगुरुलघुत्व गुण ही मानना चाहिए, जो कि शुद्ध आत्मा का निज गुण है।

(८) पाँच प्रकार के अन्तरायकर्म का क्षय हो जाने से सिद्धों में उक्त प्रकार की अनन्त शक्ति प्रादुर्भूत हो गई। वे अनन्त शक्तिमान हो गए।

अनन्त ज्ञानदर्शन के द्वारा वे सब पदार्थों को हस्तामलकवत् यथा-वस्थितरूप से जानते और देखते हैं और वे अपने स्वरूप से कदापि स्खलित नहीं होते। इसीलिए उन्हें सच्चिदानन्दमय कहा जाता है। जो अक्षय आत्मिक सुख सिद्ध परमात्मा को प्राप्त होता है, वह सुख देवों या चक्रवर्ती आदि विशिष्ट मनुष्यो को बिलकुल प्राप्त नहीं है। क्योंकि आत्मिक सुख के समक्ष पौद्गलिक सुख कुछ भी नहीं है। जैसे सूर्य के प्रकाश के साथ दीपक आदि के प्रकाश की तुलना नही की जा सकती, उसी प्रकार सिद्धों के सुख के समक्ष अन्य सुख क्षुद्रतम प्रतीत होते है। इसीलिए उत्तराध्ययन में कहा है कि वे अरूप हैं, सघन हैं, (अनन्त) ज्ञान-दर्शनसम्पन्न हैं; जिसकी कोई उपमा नहीं है, ऐसा अतुल सुख उन्हें प्राप्त है।

सिद्धों—मुक्तात्माओं के प्रकार

जैनदर्शन के अनुसार कोई भी मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु-संन्यासी हो, चाहे उसकी दार्शनिक मान्यताएँ या क्रियाकाण्ड जैनधर्म के अनुसार हों अथवा अन्य धर्म (तीर्थ)-सम्प्रदाय के अनुसार मुक्त (सिद्ध) हो सकता है।

जैनधर्म मोक्षप्राप्ति में वेष या लिंग की किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता।

जैनदर्शन के अनुसार स्त्री भी मुक्त हो सकती है, पुरुष भी और नपुंसक भी मुक्त हो सकता है। तीर्थंकर भी मुक्त हो सकते हैं और साधारण जन भी मुक्त हो सकते हैं। जैनधर्म के साम्प्रदायिक रूप वाले स्वलिंगी साधु भी मुक्त

हो सकते हैं और अन्य सम्प्रदाय वाले अन्यलिंगी साधु भी मुक्त हो सकते हैं। परन्तु इन सबके लिए एक ही शर्त है, वह है—वीतरागता की, रागद्वेष के विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को मारा वह जैनधर्म के अनुसार सिद्ध (मुक्त) परमात्मा हो सकता है।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है—चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो अथवा अन्य कोई हो, यदि समभाव (वीतरागभाव) से उसकी आत्मा भावित है तो वह अवश्य ही (निःसन्देह) मोक्ष प्राप्त करता है।[1]

वास्तव में वीतरागता अथवा समतायोग मानसिक या आन्तरिक धर्म है। जब किसी व्यक्ति में सच्ची वीतरागता प्रकट हो जाती है, तब उसका प्रभाव उसके विचार वाणी और व्यवहार पर पड़े बिना नहीं रहता। वीतरागता से मोक्ष प्राप्ति के लिए साधु धर्म (अनगारधर्म) को यदि मान लें, तब भी ऐसा एकान्त नहीं है कि उसके बिना वीतरागता से मुक्ति की साधना शक्य न हो अथवा उसकी प्राप्ति न हो सके।

नीचे हम आगम पाठ के अनुसार १५[2] प्रकारो में से किसी भी प्रकार से सिद्ध मुक्त होने की जैनधर्म की उदार मान्यता दे रहे है—

(१) **तीर्थंकरसिद्ध**—जो तीर्थंकर पद प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। जैसे—वर्तमान चौबीसी के भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक सभी तीर्थंकर सिद्ध-मुक्त हो चुके है।

(२) **अतीर्थंकरसिद्ध**—जो सामान्य केवली होकर या अर्हद्दशा प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

(३) **तीर्थसिद्ध**—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ (जैनसंघ) से जो सिद्ध होते है।

(४) **अतीर्थसिद्ध**—जो तीर्थ की स्थापना से पहले या तीर्थ का

---

१ सेयंबरो वा आसंबरो, वा बुद्धो व तहेव अन्नोवा।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं, न संदेहो॥ —संबोधसत्तरी

२ १. तित्थसिद्धा, २. अतित्थसिद्धा, ३. तित्थयरसिद्धा, ४. अतित्थयरसिद्धा, ५. सयंबुद्धसिद्धा, ६. पत्तेयबुद्धसिद्धा, ७. बुद्धबोहियसिद्धा, ८. इत्थिलिंगसिद्धा, ९. पुरिसलिंगसिद्धा, १०. नपुंसकलिंगसिद्धा, ११. सलिंगसिद्धा १२. अन्नलिंगसिद्धा १३. गिहिलिंगसिद्धा, १४. एगसिद्धा, १५. अणेग सिद्धा।
—नंदीसूत्र, केवलज्ञानप्रकरण; प्रज्ञापना, प्रथम प्रज्ञापनापद, सिद्ध प्रज्ञापना

विच्छेद हो जाने के बाद सिद्ध होते हैं; अथवा तीर्थ (जैन धर्म संघ) का आश्रय लिए बिना ही स्वतंत्र रूप से सिद्ध होते हैं।

(५) **स्वयंबुद्धसिद्ध**—जातिस्मरण आदि ज्ञान से अपने पूर्वभवों को जानकर गुरु के बिना स्वयं प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा धारण करके जो सिद्ध-मुक्त होते हैं।

(६) **प्रत्येकबुद्धसिद्ध**—जो वृक्ष, वृषभ (बैल), श्मशान, मेघ, वियोग या रोग आदि का निमित्त पाकर अनित्य आदि भावना से प्रेरित (प्रतिबुद्ध) होकर स्वयं दीक्षा लेकर जो सिद्ध हुए हों। जैसे—करकण्डु राजा बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए, स्वयं दीक्षा ली और मुक्त हुए थे।

(७) **बुद्धबोधितसिद्ध**—आचार्य आदि से बोध प्राप्त करके दीक्षित होकर जो सिद्ध होते हैं।

(८) **स्त्रीलिंगसिद्ध**—वेद-विकार का क्षय करके स्त्री-शरीर से वीतरागता प्राप्त करके जो सिद्ध-मुक्त होते हैं। जैसे—मरुदेवी माता ने हाथी के हौदे पर बैठे मोहादि विकारों को निर्मूल कर दिया था; और वहीं वीतरागता प्राप्त करके मुक्त (सिद्ध) हो गई थी।

(९) **पुरुषलिंगसिद्ध**—जो पुरुष-शरीर से वीतरागता प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए हैं।

(१०) **नपुंसकलिंगसिद्ध**—जो नपुंसक-शरीर से सिद्ध होते हैं।

(११) **स्वलिंगसिद्ध**—रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि स्वलिंग (जैन-सम्प्रदाय का साधुवेष) धारण करके सिद्ध हुए हों।[1]

(१२) **अन्यलिंगसिद्ध**—अन्य सम्प्रदाय के लिंग—वेष में जो सिद्ध-मुक्त हुए हों।[2]

(१३) **गृहिलिंग सिद्ध**—गृहस्थ वेष में धर्माचरण करते-करते परिणाम-विशुद्धि हो जाने पर केवलज्ञान एवं वीतरागता प्राप्त हो जाने पर जो मुक्त हो।[3]

(१४) **एकसिद्ध**—जो व्यक्ति एक समय में अकेला ही सिद्ध-मुक्त हुआ हो।

---

१ उत्तराध्ययन, अध्ययन २३, गाथा ३३, भावविजयगणिकृत टीका—
ज्ञानाद्य व मुक्तिसाधनम्, न तु लिंगम्।....

२ ....मोक्षप्राप्ति न वेषप्राधान्यं, किन्तु समभाव एव निर्वृत्तिहेतुः।
—सम्बोधसत्तरी, टीका गुणविजय वाचक

३ उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा ४६

(१५) **अनेकसिद्ध**— एक समय में दो, तीन आदि से लेकर १०८ तक जो सिद्ध हों, वे अनेक सिद्ध कहलाते हैं।

जैन धर्म वेषपूजक या क्रियाकाण्डपूजक नहीं है, वह व्यक्तिपूजक भी नही है, किन्तु गुणपूजक हैं। उसका यह दावा नहीं है कि उसकी ही मान्यता, क्रियाकाण्ड, वेष आदि वाले ही मुक्त (सिद्ध) होते हैं, हुए है या हो सकते हैं। जैन धर्म की मान्यता है कि मुक्ति पर किसी का एकाधिकार (Monopoly) नहीं है। जैन धर्म में जहाँ कही भी व्यक्तिपूजा को स्थान मिला भी है, वहाँ वह व्यक्ति मे अवस्थित आदरास्पद गुणो को ध्यान में रखकर ही है।

जैन धर्म का यह स्पष्ट आघोष है कि संसार का कोई भी मनुष्य, भले ही वह किसी भी जाति, धर्म—सम्प्रदाय, देश, वेष और रूप का हो, वीतरागता आदि आध्यात्मिक गुणो का विकास करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त परमात्मा बन सकता है।

विभिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों की गणना

शास्त्र मे किस अपेक्षा से कितने सिद्ध होते है ? इसकी गणना दी गई है।

(१) तीर्थ की विद्यमानता मे एक समय में १०८ तक सिद्ध होते है।

(२) तीर्थ का विच्छेद होने पर एक समय में १० सिद्ध होते है।

(३) तीर्थंकर एक समय में एक साथ बीस सिद्ध हो सकते है।

(४) अतीर्थंकर (सामान्य केवली) एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते है।

(५) स्वयबुद्ध एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं।

(६) प्रत्येक बुद्ध एक समय में ६ सिद्ध हो सकते है।

(७) बुद्ध-बोधित एक समय में १०८ तक सिद्ध हो सकते है।

(८) स्वलिंगी एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते है।[१]

(९) अन्यलिंगी एक समय में १० सिद्ध हो सकते हैं।

(१०) गृहिलिंगी एक समय मे ४ सिद्ध हो सकते है।

(११) स्त्रालिंगी एक समय मे २० सिद्ध हो सकते है।

(१२) पुरुषलिंगी एक समय मे १०८ सिद्ध हो सकते है।[२]

---

१ उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६ गाथा ५१-५२

२ यह जो गणना बतलाई है, वह सर्वत्र एक समय मे अधिक से अधिक सिद्ध होने वालो की है।

(१३) नपुंसकलिंगी एक समय में १० सिद्ध हो सकते हैं।

पूर्वभवाश्रित सिद्ध—पहली, दूसरी और तीसरी नरकभूमि से निकल कर आने वाले जीव एक समय में १० सिद्ध होते हैं। चौथी नरकभूमि से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पृथ्वीकाय और अप्काय से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यञ्च और तिर्यञ्ची की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकलकर मनुष्य बने हुए १० जीव सिद्ध होते हैं। मनुष्यनी से आए हुए २० सिद्ध होते हैं।

भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों से आए हुए २० सिद्ध होते हैं। वैमानिक देवों से आये हुए १०८ सिद्ध होते हैं और वैमानिक देवियों से आये हुए २० जीव सिद्ध होते हैं।

क्षेत्राश्रित सिद्ध—ऊर्ध्वलोक में ४,[१] अधोलोक में २० और मध्यलोक में १०८ सिद्ध होते है। समुद्र में २, नदी आदि[२] सरोवरों में ३, प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध हो (तो भी एक समय में १०८ से अधिक जीव सिद्ध नहीं हो सकते), मेरुपर्वत के भद्रशाल वन, नन्दनवन और सोमनसवन में ४, पाण्डुकवन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्रों में १०, कर्मभूमि के क्षेत्रों में १०८; प्रथम, द्वितीय, पंचम तथा छठे आरे में १० और तीसरे-चौथे आरे में १०८ जीव सिद्ध होते है।[३]

अवगाहनाश्रित सिद्ध—जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४ सिद्ध होते हैं, मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की[४] अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं।

तात्पर्य यह है कि संसार-अवस्था में कार्मण वर्गणा के पुद्गलो के साथ आत्मा के प्रदेश, क्षीर-नीर की तरह मिले रहते हैं। सिद्ध-अवस्था प्राप्त होने पर कर्मप्रदेश भिन्न हो जाते है और केवल आत्मप्रदेश ही रह जाते हैं और वे सघन हो जाते हैं। इस कारण अन्तिम शरीर से तीसरे भाग कम, आत्मप्रदेशों की अवगाहना सिद्धदशा में रह जाती है। उदाहरणार्थ—५०० धनुष की अवगाहना वाले शरीर को त्यागकर जो जीव सिद्ध हुआ है, उसकी अवगाहना वहाँ ३३३ धनुष और ३२ अंगुल की होगी। जो जीव सात

---

१ उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा ५४

२ समुद्र, नदी, अकर्मभूमि के क्षेत्र, पर्वत आदि स्थानों में कोई हरण करके ले जाए तो वहाँ वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

३ यह संख्या भी सर्वत्र एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वालों की है।

४ उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा ५३

हाथ के शरीर का त्यागकर सिद्ध हुए हैं, सिद्धावस्था में उनकी अवगाहना ४ हाथ और १६ अंगुल की होती है। जो जीव दो हाथ की अवगाहना वाले शरीर को त्यागकर सिद्ध हुए हैं, उनकी अवगाहना सिद्धावस्था में १ हाथ और ८ अंगुल की होती है।

देवतत्त्व कैसा, क्यों और कैसे माना जाए ?

'देव' तत्त्व के स्वरूप और लक्षण के विषय में विस्तृत रूप से विश्लेषण किया जा चुका है। अरिहंत जीवन्मुक्त रूप में और सिद्ध. विदेहमुक्त रूप में आत्मविकास की पूर्ण अवस्था पर पहुँचे हुए हैं। अतः पूर्ण रूप से पूज्य होने के कारण ये दोनो देवत्व की कोटि मे गिने जाते हैं।

देवकोटि के इन दोनो आराध्य तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर व्यक्ति सरागी और आत्मकल्याण के लिए अप्रेरक व्यक्ति या देव को देव नही मानकर परम आदर्श रूप अनुकरणीय वीतराग व्यक्ति (देवाधिदेव) को ही देव मानेगा।

इतना जान लेने पर भी देवतत्त्व के विषय में कुछ बातें और जाननी शेष रह जाती हैं।

देवतत्त्व को मानने से लाभ

देवकोटि में जिन दो प्रकार के देवो का वर्णन किया है, उनमें से सिद्ध परमात्मा तो निरञ्जन, अरूपी एव केवल आत्मस्वरूप होने से दिखाई ही नही देते; किन्तु अरिहन्त (तीर्थंकर) देव साकार एव सदेह होते हुए भी वर्तमान काल में भरतक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं है, अतः इन दोनो कोटि के देवो को क्यो माना जाए ? उनको मानने या पूजने से, उनकी भक्ति करने से क्या-क्या लाभ है ? इन सब विषयों पर विचार करना अत्यावश्यक है।

सिद्ध परमात्मा या अरिहन्तदेव चाहे हमें चर्मचक्षुओ से न दिखाई दे, फिर भी यदि उनके स्वरूप का अपने स्वच्छ अन्तःकरण में चिन्तन किया जाय, उनका मानसिक रूप से सान्निध्य या सन्निकटत्व प्राप्त किया जाए तो मनुष्य को दृष्टिविशुद्धि, आत्मबल एवं वीतरागता की प्रेरणा आदि अनेको लाभ है और ये लाभ आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जिन्होंने पूर्ण परमात्म पद प्राप्त किया है, वह वीतराग देव सद्देव जिस मनुष्य के आदर्श और अनुकरणीय हैं; उनकी वीतरागता के सम्बन्ध में विचार चिन्तन करने पर वह व्यक्ति भी वीतरागता की प्राप्ति कर सकता है। ऐसी प्रतीति और विश्वास उसमें पैदा हो जाता है।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में बताया है कि **'वीतराग (रागरहित) का ध्यान (चिन्तन-मनन प्रणिधान) करने से मनुष्य स्वयं रागरहित होकर कर्मों से मुक्त बन जाता है और रागी (सराग) का आलम्बन लेने वाला मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष-शोक एवं राग द्वेषादि विक्षेप या विक्षोभ पैदा करने वाली सरागता को प्राप्त करता है।'**[1]

आत्मा स्फटिक के समान है। जैसे—स्फटिक के पास जैसे रंग का फूल रखा जाता है, वैसा ही रग वह (स्फटिक) अपने में धारण कर लेता है, ठीक वैसे ही राग-द्वेष के जैसे संयोग—ससर्ग आत्मा को मिलते हैं, वैसे ही संस्कार आत्मा में शीघ्र उत्पन्न हो जाते है; जिनसे मनुष्य रागी बनकर दुःख, अशान्ति आदि प्राप्त करता है। अतः सभी दुःखों के उत्पादक राग-द्वेष को दूर करने के और वीतरागता प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष रहित परमात्मा (अर्हन्त और सिद्ध) का पवित्र संसर्ग प्राप्त करना या अवलम्बन लेना, वैसे संसर्ग में रहना परम उपयोगी एवं आवश्यक है। वीतरागदेवों का स्वरूप परम निर्मल, शान्तिमय एवं वीतरागता युक्त है। रागद्वेष का रंग या उसका तनिक-सा भी प्रभाव उनके स्वरूप में बिलकुल नहीं है। अतः उनका ध्यान करने—चिन्तन-मनन करने तथा उनका अवलम्बन लेने से आत्मा में वीतराग-भाव का संचार होता है।

सदा से ही शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों के लिए महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने और मनन करने का जो निर्देश किया जाता रहा है, उसके पीछे भी शिक्षा विशारदों का यही अभिप्राय रहा है कि यदि विद्यार्थी महापुरुषों के जीवन-चरित्र का पठन-मनन करेंगे तो उनके जीवन में महापुरुष बनने की प्रेरणा जगेगी और वे भी एक दिन महापुरुष बन सकेंगे।

यह तो सर्वविदित है कि एक रूपवती रमणी के संसर्ग से साधारण मनुष्य के मन में एक विलक्षण प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। पुत्र या मित्र को देखने और मिलने पर वात्सल्य या स्नेह जागृत होता है और एक समभावी साधु के दर्शन से हृदय में शान्तिपूर्ण आल्हाद का अनुभव होता है।

सज्जन का सान्निध्य और संग सुसंस्कार का और दुर्जन का सान्निध्य और संग कुसंस्कार का भाव पैदा करता है। इसलिए यह कहावत प्रसिद्ध है—**'जैसा संग वैसा रंग'**।

जब वीतरागदेव का सान्निध्य प्राप्त किया जाता है, तब हृदय में

---

१ वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य, रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥—योगशास्त्र प्र० ६, श्लोक १३

अवश्य ही वीतरागता के भाव एवं संस्कार जागृत होते हैं। वीतरागदेव का सान्निध्य पाने या सत्संग करने का अर्थ है—उनका नामस्मरण, भजन, स्तवन, नमन, *गुणगान या गुणस्मरण करना।*

वीतराग देव के सान्निध्य से लाभ

वीतरागदेव के सान्निध्य का लाभ जितना-जितना अधिक लिया जाता है, वैसे-वैसे मन के भाव, उल्लास और शुद्धता बढ़ते जाते हैं। अर्थात्—परमात्मदेव के सान्निध्यकर्ता का मोहावरण हटता जाता है, वासना झड़ती जाती है और वह अधिकाधिक सत्त्वसम्पन्न (ज्ञानादियुक्त) होता जाता है। इस प्रकार उच्चदशारूढ़ होकर आत्मा महात्मा की भूमिका से आगे बढ़कर परमात्मपद की भूमिका में प्रविष्ट होता है। उक्त सान्निध्य के प्रबल अभ्यास से राग-द्वेष की वृत्तियाँ स्वतः शान्त होने लगती है।

जैसे—अग्नि के पास जाने वाले मनुष्य की ठंड अग्नि के सान्निध्य से स्वतः उड़ जाती है; अग्नि किसी को वह फल देने के लिए अपने पास नहीं बुलाती तथा प्रसन्न होकर वह फल देती भी नहीं; इसी प्रकार वीतराग परमात्मा के सान्निध्य एवं उपासना से, उनके गुणस्मरण रूप प्रणिधान से रागादि दोषरूप ठंड स्वतः उड़ने लगती है; और सान्निध्यकर्त्ता व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास के रूप में फल स्वतः मिलता जाता है।

अतः प्रत्येक मुमुक्षु साधक को वीतराग देव (अरिहन्त-सिद्ध) की उपासना, गुणस्मरण, नमन-वन्दन आदि अवश्य करना चाहिए।

उपास्य परमात्मा की उपासना से लाभ

परमात्मा वीतराग है, वे किसी पर रुष्ट या तुष्ट नहीं होते। अगर मनुष्य के द्वारा की गई स्तुति, या उपासना से अथवा भक्ति के उपचार से वीतराग प्रभु प्रसन्न होंगे, तो वह स्तुति उपासना या भक्ति न करने वाले पर वह अप्रसन्न भी होंगे, परन्तु वीतराग परमात्मा ऐसी प्रकृति के नहीं हैं। वीतराग प्रभु तो राग-द्वेष रहित, पूर्णात्मा, पूर्णानन्द, विश्वम्भर हैं।

उपास्य परमात्मा उपासक से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखते, वे कुछ भी नहीं चाहते; और न ही उपास्य परमात्मा की उपासना उपासक द्वारा की जाने से उपास्य परमात्मा को कुछ भी लाभ या उपकार होता है। उपासक सिर्फ अपनी आत्मा के उपकार के लिए ही उपास्य परमात्मा की उपासना करता है; तथा उपास्य परमात्मा के अवलम्बन से, उसके गुणों के एकाग्रतापूर्वक स्मरण से वह स्वयं स्व-चित्तशुद्धिरूपी फल प्राप्त करता है; उसकी भावना के विकास से उसका स्वतः आत्मविकास होता जाता है। इस

प्रकार परमात्मा की उपासना का यह फल उपासक स्वयं अपने आध्यात्मिक प्रयत्न से ही प्राप्त करता है।

यह निर्विवाद है कि वेश्या का संग करने से मनुष्य की दुर्गति होती है। यहाँ यह विचारणीय है कि दुर्गति में ले जाने वाला कौन है? वेश्या को दुर्गति का भान भी नहीं और न वह या और कोई किसी को दुर्गति में ले जाने में समर्थ है। इसीलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि मनुष्य के मन की अशुभ वृत्तियाँ ही दुर्गति में ले जाने वाली हैं। इसके विपरीत मनुष्य के मन की शुभ वृत्तियाँ उसे सुगति में ले जाने वाली है।

अतः वीतराग प्रभु के स्मरण, चिन्तन, उपासन, आराधन (परमात्मा के मानसिक सत्संग) से मनःस्थित मोहरूपी कालुष्य का प्रक्षालन होता है, वृत्तियाँ शुभ और आगे चलकर शुद्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार देवोपासना आदि से चित्तशुद्धि, मानसिक विकास और आत्मिक प्रसन्नता का जो लाभ प्राप्त होता है, वह भगवान् का दिया हुआ कहा जा सकता है, किन्तु केवल उपचार से; जैसा कि चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) के पाठ में कहा गया है—**'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'**—(सिद्ध-परमात्मा) मुझे सिद्धि प्रदान करें। यह प्रार्थना केवल भक्तिप्रधान एवं औपचारिक है। वस्तुतः सिद्ध भगवान् किसी को सिद्धि देते-लेते नहीं, किन्तु शुभभावनाशील आत्मा द्वारा भगवत्स्मरण आदि से चित्तशुद्धि, राग-द्वेष कषाय वृत्तियों पर विजय आदि से अन्ततोगत्वा सिद्धि-मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

ईश्वर कर्त्तृत्व या आत्म कर्त्तृत्व ?

यदि परमात्मा के हाथ में सीधी तौर से किसी व्यक्ति को ज्ञानादि का प्रकाश देने का सामर्थ्य होता तो वह किसी के भी अन्तःकरण में अन्धकार न रहने देता। अधम और दुराचारी व्यक्तियों को भी सद्बुद्धि-सम्पन्न और सदाचारी बना देता, प्रत्येक प्राणी को उसकी नीची भूमिका से उठाकर ऊपर की भूमिका पर चढ़ा देता, समग्र विश्व के जीवों को पूर्णतः प्रकाशमय और आनन्दमय बना देता।

परन्तु वैदिक आदि धर्मों का यह मत है कि "ईश्वर जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता है। उसी के हाथ में समस्त प्राणियों का जीवन-मरण है।" परन्तु जैनदर्शन इस बात से स्पष्ट इन्कार करता है। वह तर्क प्रस्तुत करता

है कि पूर्ण शुद्ध, निरंजन-निराकार, सर्वकर्मरहित, परम कृतार्थ वीतराग ईश्वर भला जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता बनने के लिए पुनः कर्मबल से घूमते हुए संसार चक्र में क्यों लौटकर आएँगे ? जिस संसार चक्र को वे तोड़ चुके हैं, जन्म-मरण से रहित हो चुके है, ऐसे कृतार्थ सिद्ध परमात्मा में राग-द्वेषयुक्त संसार-कर्त्तृत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? फिर भी अगर ईश्वर को जगत्कर्त्ता माना जाएगा तो उस पर पक्षपात, असामर्थ्य, राग-द्वेष, अन्याय आदि कई दोष रूप आक्षेप आएँगे। अतः जैन दर्शन का स्पष्ट आघोष है कि पूर्ण शुद्ध निरंजन-निराकार वीतरागस्वरूप मुक्त परमात्मा न तो किसी पर प्रसन्न होते है और न अप्रसन्न। वे अपने आत्मस्वरूप में निमग्न है। प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख अपने-अपने कर्म संस्कार पर अवलम्बित है। यह चेतन-अचेतन रूप सारा जगत् प्रकृति के नियम से संचालित है। यह जगत् प्रवाहरूप से अनादि—अनन्त है। उसके कर्त्तृत्व का भार वहन करने के लिए किसी परमात्म सत्ता को मानने और उसे जन्म देने की आवश्यकता नही।

इस प्रकार जैन दर्शन में परमात्मा का अस्वीकार नही है, किन्तु उसकी विश्वसृजनसत्ता का अस्वीकार है।

जैनदर्शन एक ही सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नही मानता, वह संसार की सभी आत्माओ में ईश्वरत्व मानता है। इस दृष्टि से वह प्रत्येक आत्मा के कर्त्तृत्ववाद की योजना करता है। जैसा कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है—

> पारमैश्वर्ययुक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वरः।
> स च कर्त्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः॥[1]

आत्मा परम ऐश्वर्य-युक्त है, अतः वही ईश्वर है। वह कर्त्ता (शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता) है। इस दृष्टि से जैनदर्शन में कर्त्तृत्ववाद व्यवस्थित है।

एक शंका : समाधान

एक शंका यह उपस्थित होती है कि 'जैनदर्शन जब संसार की समस्त आत्माओं को ईश्वर मानता है, तब तो सभी आत्माएँ स्वयं अनन्त-ज्ञान दर्शनादि से प्रकाशमान हैं, फिर उन आत्माओं को—खासकर मनुष्यों को अरिहन्तदेव या सिद्ध परमात्मा को स्मरण करने, उनका ध्यान करने, उनको

---

१ शास्त्रवार्ता समुच्चय, स्तबक ३, श्लोक १४

नमस्कार करने, उनकी भक्ति, उपासना—आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका समाधान यह है कि निश्चयनय अथवा आत्मा के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से यह बात यथार्थ है कि सभी आत्माएँ अपने शुद्धरूप में ज्ञानादि से प्रकाशमान है, किन्तु उनके आत्मप्रदेशो पर विभिन्न कर्मों (कर्म संस्कारों) का न्यूनाधिक रूप में आवरण पड़ा हुआ है, इस कारण उनके ज्ञान-दर्शन आदि आच्छादित हो रहे हैं। उन विभिन्न कर्मवर्गणाओं को दूर करने के लिए उन कर्मरहित शुद्ध आत्माओं (परमात्मदेवों) को आदर्श मानकर उनका ध्यान, स्मरण, गुणगान, भक्ति-स्तुति, उपासना-आराधना आदि विविध अनुष्ठान किये जाते हैं।

यही कारण है कि जैनदर्शन ने संसार की समस्त आत्माओं को तीन कक्षाओं में वर्गीकृत किया है—

(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

बहिरात्मा के समक्ष देह ही सब कुछ होता है। उस देह में विराजमान चैतन्यमय आत्मा का अस्तित्व उसे ज्ञात नहीं होता। **अन्तरात्मा** की कक्षा में यह सत्य उपलब्ध हो जाता है कि जैसे दूध में मक्खन व्याप्त होता है, वैसे ही शरीर में चैतन्यमय सत्ता—आत्मा व्याप्त है। तीसरी कक्षा **परमात्मा** की है। इसमें चैतन्यमय आत्मा पर देह और देह सम्बन्धो (परभावों—विभावों) के कारण आई हुई कर्मरज दूर हो जाती है। आत्मा राग-द्वेष मोह कषाय आदि से रहित होकर परमात्मा के रूप में प्रकट हो जाता है।

अतः परमात्मा के सिवाय शेष दोनों कक्षाओं की आत्माएँ परमात्मा को अपना ध्येय या आदर्श मानकर उनका नमन-वन्दन, भक्ति-उपासना गुणस्मरण आदि करके अपने में वीतरागता, समता आदि गुणों को प्रतिष्ठित कर सकती हैं, उस परमदेव की आराधना-उपासना करके अपने में धर्म का तेज प्रकट कर सकती हैं। उत्तरोत्तर आत्म-विकास करते हुए धर्मपालन की चरमसीमा तक पहुँच सकती है।

वीतरागदेव का ज्ञानादि प्रकाश ग्रहण करने की क्या आवश्यकता ?

उपर्युक्त तथ्यों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औपचारिक भक्ति के गाने-बजाने से, अलंकार आदि चढ़ाने से अथवा मिठाई की थालियाँ भरकर भोग चढ़ाने से तथा इसके विपरीत गायन-वादन या मिष्टान्न अर्पण न करने से वीतरागदेव न तो प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न। यह

तो मनुष्य के अपने सामर्थ्य पर निर्भर है कि वह अपने मन-वचन-काय को वीतराग देव रूपी ध्येय या आदर्श के सन्मुख करे, तदनुसार अपने जीवन को ढाले। मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से अपने में परमात्मत्व जगा सकता है। दूसरी कोई ईश्वरीय शक्ति या परमात्मा उसे हाथ पकडकर प्रत्यक्ष रूप से परमात्मा नहीं बना सकती। जैसे—सूर्य स्वयं प्रकाशित होता है, किन्तु उसका प्रकाश लेना या न लेना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है, उसका प्रकाश लेने वाले को लाभ है, न लेने वाले को स्वास्थ्य हानि है; उसी प्रकार वीतराग देवरूपी सूर्य अनन्तज्ञानादि से प्रकाशमान है, उनके सदुपदेश भी प्रकाशित हैं। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह वीतराग प्रभु का ज्ञानादि प्रकाश ग्रहण करे या न करे। अगर व्यक्ति वीतराग देवों से समतादि गुणों की प्रेरणा लेता है, उनके सदुपदेशों का प्रकाश लेता है तो उससे परमात्म-पद-प्राप्ति तक का लाभ है, किन्तु न लेने वाले की बहुत बड़ी आत्मिक हानि है।

ध्येय के अनुसार ध्याता है

अब प्रश्न यह है कि वीतराग देव को आदर्श या ध्येय मानकर उन्हें वन्दन-नमन करने, उनके गुण स्मरण करने या उनकी उपासना करने से कोई व्यक्ति कैसे आदर्शपद—परमात्म-पद तक पहुँच सकता है ?

इसका समाधान यह है, भले ही वीतराग प्रभु हमारे लिए कुछ करते-कराते नहीं, न ही मोक्ष-स्वर्गादि कुछ देते है, फिर भी वे सर्वोत्तम गुणीजन है, उन्हें वन्दन-नमन करने, उनकी उपासना-भक्ति करने या उनके गुणस्मरण करने मे व्यक्ति अवश्य ही उन आराध्यदेवो के गुणों की ओर आकृष्ट होता है; स्वयं वैसा बनने की इच्छा करता है। फलतः धीरे-धीरे अपने उपास्य के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है। मनुष्य का हृदय यदि कल्याणकामी हो, परमात्मदेव के अभिमुख हो, उनकी भक्ति और शरण में लीन हो, उनके ही गुणस्मरण से सत्त्वसंशुद्ध और वीतरागत्व-सम्मुख बनता जाता हो तो एक दिन उसकी अपूर्णता पूर्णता में परिणत हो सकती है। अपने ही प्रबल पुरुषार्थ—मोक्षमार्ग पर चलने के प्रयत्न से वह उस पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। जब परमशुभ्र, परमोज्ज्वल परमात्मतत्त्व के प्रति एकाग्र ध्यान का बल परिपक्व हो जाएगा, तब वह ध्याता के हृदयकपाटों को खोल देगा। उसके हृदय पर ऐसी प्रतिक्रिया होगी कि उसकी राग-द्वेष-मोह की ग्रन्थियाँ टूटती जाएँगी, ध्येयतत्त्व की शुद्धता का प्रकाश उस (ध्याता) पर पड़ने

लगेगा। निष्कर्ष यह है कि ध्येयानुसार ध्याता भी उसी रूप में परिवर्तित हो जाएगा।[1]

परमात्मदेव को नमन, गुणगान, गुणस्मरण या नामस्मरण आदि भावविशुद्धि, आत्मशुद्धि, पवित्रभावना एवं आदर्श में स्थिरता करने के लिए किये जाते हैं। आदर्श या आराध्यदेव की आराधना, उपासना या तदनुसार भावना जागृत रखी जाए, निष्क्रिय न बैठकर निरन्तर ध्येय प्राप्ति के लिए आदर्श से प्रेरणा प्राप्त की जाए, तो परमपद प्राप्त होते या जीवन का कल्याण होते देर नहीं लगती। यह निर्विवाद है कि ध्यान का विषय जैसा होगा, मन पर उनका असर भी वैसा ही पड़ेगा। जैसा ध्येय होता है, वैसे ही गुण प्रायः उस ध्याता में प्रकट होने लगते है।

जैसे—किसी विषय-भोगी का ध्येय एक युवती होती है, तो फिर वह विषयी आत्मा उस ध्येय के प्रभाव से उस युवती से विषय बासना सेवन करने के उत्कट भावों में लीन रहने लगता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह अपनी वासनापूर्ति के लिए अनेक प्रकार की योग्य—अयोग्य क्रियाओं में प्रवृत्त होने लगता है; इसी प्रकार जिस आत्मा का ध्येय वीतरागदेव होते हैं; उस आत्मा के आत्मप्रदेश राग-द्वेष के भावों से हटकर समताभाव में आने लगते हैं। फिर वह आत्मा वीतराग पद प्राप्त करने की चेष्टाएँ करने लग जाता है।

जिस प्रकार विषयी आत्मा विषयपूर्ति करने की चेष्टा में लगा रहता है, उसी प्रकार वीतरागप्रभु को ध्येय बनाने वाला ध्याता भी वीतरागपद की प्राप्ति के लिए तप और संयम तथा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, उत्तम ध्यान और समाधि में चित्तवृत्ति लगाने की चेष्टा करता रहता है। उसके आत्मप्रदेशों से फिर कर्मवर्गणाएँ स्वतः ही पृथक् होने लगती हैं।

जिस प्रकार मिट्टी की बनी हुई पुरानी दीवार की मरम्मत न करने पर उसके मिट्टी के दल अपने आप गिरने लगते हैं, इसी प्रकार आत्मप्रदेशों में ध्येयानुसार वीतरागता (समता) का भाव धारण करने से राग-द्वेषादिजनित पुरातन कर्मवर्गणाएँ भी स्वतः दूर होने लगती हैं।

जिस प्रकार पुष्प या जल का ध्यान करने से आत्मा में एक प्रकार की शीतलता-सी उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव का ध्यान

---

१ 'यद् ध्यायति, तद् भवति' —एक लोकोक्ति

करने से आत्मप्रदेशों से क्रोध, मान, माया और लोभ के परमाणु हटकर सिर्फ समत्वभाव ही प्रस्फुटित हो जाते हैं।

एक कहावत लोक में प्रसिद्ध है कि लट के सामने बार-बार गुञ्जार करती हुई भ्रमरी के ध्यान से भ्रमरी के द्वारा काट लेने पर वह लट भी भ्रमरी बन गई।[1] इसी प्रकार वीतराग के सतत ध्यान से व्यक्ति वीतराग बन जाए इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

महाराणा प्रताप के नाम की चर्चा चलती है, तब कायर हृदय में भी वीरता का संचार हो जाता है। क्या महाराणा प्रताप उन कायरों में वीरता की बिजली भरते हैं? नही, व्यक्ति की मनोभावना एवं विश्वास ही इसमें कारण है।

देवस्वरूप चिन्तन से स्वरूपभान

भक्तिपूर्वक अरिहन्त देव और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है, तब साधक-आत्मा को अपने विस्मृत या भ्रान्त स्वरूप का भान हो जाता है।

एक गडरिये द्वारा पाला हुआ शेर का बच्चा अपने को भेड़ का बच्चा समझने लगा, किन्तु एक दिन वन में शेर को देखा तो उसका भेड़पन भाग गया, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का भान हो आया। इसी प्रकार अनादिकालीन मोह-माया के गाढ अन्धकार के कारण आत्मा अपने स्वरूप का भान भूला हुआ है, परन्तु ज्यों ही आत्मस्वरूप तेजोमय सूर्य अरिहन्त देव या सिद्ध प्रभु का चिन्तन होता है तो व्यक्ति को अपने स्वरूप का भान हो जाता है।[2]

नामस्मरण से आध्यात्मिक विकास

देवाधिदेव अरिहन्त भगवान् के अनन्त गुण होने से अनन्त नाम हो सकते हैं। व्यक्ति आराध्यदेव का जिस नाम से बार-बार स्मरण करता है, उनके वैसे ही गुण उसमें आते जाते है और अन्त में वह उनके जैसा ही बन जाता है। गीता में कहा है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः[3] जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है।' अतः भगवान् के शुभ नाम

---

१ 'ईलिका भ्रमरी जाता ध्यायन्ती भ्रमरी यथा।'

२ अजकुलगत केहरी लहेरे, निजपद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवी लहेरे, आतम शक्ति संभाल॥

—अजित जिन स्तवन—उपा० देवचन्द्र जी

३ भगवद्‌गीता, अध्याय १८

भी रागादि विघ्नदोष-निवारक और आत्मकल्याणकारक बन जाते हैं । जैसे—कोई व्यक्ति 'जिन-ध्यान' करता-करता वर्ण विपर्यय करके 'निज ध्यान' करने लगता है; इसी प्रकार तीर्थंकर देव का नामस्मरण भी आध्यात्मिक विकासकारक हो सकता है ।

देवत्व को जगाने के लिए

योगशास्त्र में बताया गया है कि जिस-जिस भाव से जिस-जिस स्थान में आत्मा को योजित किया जाता है, उस-उस निमित्त को प्राप्त कर उस-उस स्थान में वह तन्मयता प्राप्त करता है । जैसे—स्फटिकमणि के आसपास लाल, पीली, हरी आदि वस्तुएँ रखने से वह स्फटिक मणि उस रंग की दिखाई देती है, उसी प्रकार आत्मा को भी जैसे-जैसे भावों द्वारा प्रेरित किया जाए, उस रूप में वह ढलती जाती है ।[1] शरीर में रहा हुआ आत्मा तात्त्विक दृष्टि से तो परमात्मा है, देव है, परन्तु कर्मों से आवृत होने से अशुद्धभाव में विद्यमान है, जिसके कारण भवचक्र में भ्रमण करता है । अगर वह भावों से अपनी आत्मा को शुद्धभाव में—आत्मस्वभाव—में प्रेरित करे तो वह अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्रकट कर सकता है, अपने में सोये हुए देवत्व—परमात्मत्व को जगा सकता है । अरिहन्त एवं सिद्धदेव हमें अपने देवत्व को प्राप्त कराने के लिए प्रेरक हैं—प्रकाश स्तम्भ हैं, आदर्श हैं ।

परम उपकारी वीतरागदेव के प्रति कृतज्ञता

वीतरागदेव हममें देवत्व जगाने में प्रबल निमित्त हैं । इसलिए जिस ध्येय या आदर्श के निमित्त से चित्तशुद्धि, आत्मशुद्धि तथा आत्मविकास होता है, अन्त में वीतरागत्व एवं परमात्मत्व प्रकट होता है, उस महान् उपकारी परमात्मदेवों के उपकारों के प्रति कृतज्ञ होकर उनका गुणगान, कीर्तन, स्तुति, आराधना-उपासना, भक्ति आदि करना व्यवहारनय की दृष्टि से आवश्यक है ।

जिस प्रकार विद्यार्थी में स्वयं में (बुद्धि में) ज्ञान तो भरा हुआ है, किन्तु उस ज्ञान को प्रकट करने में अध्यापक प्रबल निमित्त है । विद्यार्थी अध्यापक के सहारे से पुस्तक पढ़ने लगता है और एक दिन वह विद्वान् बनकर स्वयं अध्यापक बन जाता है । अध्यापक एवं विद्वान् बन जाने पर

---

१ येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति, विश्वरूपो मणिर्यथा ॥

—योगशास्त्र प्र० ६, श्लोक १४

भी वह अपने में निहित ज्ञान को प्रकट करने वाले प्रबल निमित्त उक्त अध्यापक का हृदय से उपकार मानता है, उनकी प्रशंसा, भक्ति-बहुमान, नमन आदि करता है, उसी प्रकार वीतराग देवरूप ध्येय के निमित्त से एक दिन स्वयं वीतराग बन जाने वाला या वीतराग प्ररूपित मार्ग से सुगति परमात्मपद या सिद्धगति प्राप्त कर लेने वाला मुमुक्षु भी उनके प्रति कृतज्ञ होकर उनका कीर्तन, नमन, वन्दन, भक्ति-बहुमान आदि करे, इसमें कोई अयुक्त नहीं है।

परमात्मवाद का सदुपयोग और दुरुपयोग

पूर्वोक्त तथ्यों से यह प्रतिफलित हो जाता है कि परमात्मवाद अर्थात् ईश्वरवाद (परमात्मा के अस्तित्व की मान्यता) मनुष्य के अन्तःकरण को निर्मल बनाने में, चरित्र गठन में तथा आत्मविकास की प्रेरणा प्राप्त करके सन्मार्ग की ओर प्रगति करने में, जीवन की ग्लानि दूर करने, आत्मा को धैर्य बँधाने, आश्वासन देने तथा संतोष और शान्ति प्रदान करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। शुद्ध परमात्मोपासक व्यक्ति प्रभु के प्रति अपनी निर्मल भक्ति को विकसित करके अपनी निष्ठा और श्रद्धा को पुष्ट करके संकट, आपत्ति, कष्ट और पीड़ा के समय उनके निवारण का उपाय करता हुआ भी जब सफलता प्राप्त नहीं कर पाता, तब निराश और हताश होने के बदले अपनी आत्मा को धैर्य और आश्वासन देता है कि—"होगा वही, जो सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपने ज्ञान में देखा है, फिर घबराता क्यों है? उन्होंने जो कर्म सिद्धान्त बताया है, उसके अनुसार भी जैसे—मेरे कर्म बांधे हुए होंगे, तदनुसार ही फल मिलेगा; आदि-आदि।" वह विकट से विकट परिस्थिति में भी सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञान से कर्म का खेल समझकर मन को समत्व में स्थिर रख सकेगा। वह दुःख के समय तड़फेगा नहीं और सुख में अभिमान से फूलेगा नहीं।

कुछ लोग यह शंका प्रकट करते हैं कि जब अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग देव त्रिकाल त्रिलोक के भावों को हस्तामलकवत् जानते-देखते हैं, तब जीव के द्वारा पुरुषार्थ करने की स्वतंत्रता और पुरुषार्थ भी व्यर्थ सिद्ध होगा; क्योंकि अनन्तज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान में जो कुछ जाना-देखा है, वही होगा; उसके अतिरिक्त तो कुछ होगा नहीं; फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है? जीव स्वतंत्रतापूर्वक कुछ कर भी सकेगा क्या?

यह परमात्मवाद का दुरुपयोग है जिसे जीव अज्ञानतावश करता है।

परमात्मा की सर्वज्ञता से लाभ

उपर्युक्त शंका का समाधान यह है कि माना कि वीतराग सर्वज्ञ प्रभु अपने ज्ञान में त्रिकाल-त्रिलोक के भावों को यथावत् जानते हैं, परन्तु उनका ज्ञान जीव की क्रियाओं पर प्रतिबन्धक नहीं होता। जैसे—सूर्य पृथ्वी पर प्रकाशित होता है, किन्तु उसका प्रकाश किसी जीव की क्रिया को रोक नहीं सकता, सभी जीव अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति कर सकते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा सर्व जीवों के भावों को जानते-देखते हैं, परन्तु वे या उनका ज्ञान किसी जीव की क्रिया को रोक नहीं सकता, सभी जीव अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं।

दूसरी बात—सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कुछ अपने ज्ञान में देखा है, वही होगा, अन्यथा नहीं; यह बात तो ठीक है, किन्तु उन्होंने अपने ज्ञान में हमारे विषय में क्या-क्या जाना-देखा है, यह तो कोई भी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) नहीं जानता, अतः प्रत्येक सर्वज्ञ परमात्म देव के भक्त का कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास रखकर भगवत्प्रतिपादित मोक्षमार्ग में सत्पुरुषार्थ द्वारा कर्मक्षय करे, अथवा शुभकार्यों में प्रवृत्ति करे। परमात्मवाद और परमात्मा सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित कर्मवाद जैसे महान् सिद्धान्तों का निष्क्रियता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये निष्क्रियता का पाठ नहीं पढाते, अपितु कर्त्तव्यपरायणता की प्रेरणा देते हैं। परमात्मवाद के सिद्धान्त में वीतराग या मोक्षमार्गी बनने के लिए परमात्मा का अवलम्बन लेने की ध्वनि है, अथवा रत्नत्रयरूप धर्मसाधना द्वारा परमात्मपद-प्राप्ति या वीतरागता-प्राप्ति की अभिव्यञ्जना है। कर्मवाद के सिद्धान्त में सत्कार्यों या शुद्ध धर्माचरण द्वारा सुभाग एवं महाभाग बनने की ध्वनि है।

सर्वज्ञ परमात्मा का वचन है—'कृतकर्मों का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं है।' इसके अनुसार जब अशुभकर्म उदय में आ जाएँ तब दोनों नयों का अवलम्बन लेना चाहिए। निश्चयनय का अवलम्बन लेकर चित्त में शान्ति, समता और समाधि उत्पन्न करनी चाहिए और व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर या तो शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होना चाहिए, अथवा कर्मक्षय करने की चेष्टा करनी चाहिए।

अथवा सर्वज्ञपरमात्मा का ज्ञान सर्वत्र व्याप्त हो रहा है; अर्थात्—वे अपने ज्ञान द्वारा त्रिकाल—त्रिलोक के भावों को यथावत् देख रहे हैं, उनसे हमारी कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति छिपी नहीं रह सकती, न ही उनसे कोई

बात हम प्रच्छन्न (गुप्त) रख सकते है । अतः इस बात पर पूर्ण विश्वास रख कर हमें अनुचित निकृष्ट हिंसादि प्रवृत्तियों या कार्यों से बचना चाहिए ।

लोक व्यवहार में यह देखा जाता है कि लोग अपने से बड़े, बुजुर्ग अथवा माता-पिता, शासक आदि के समक्ष या उनके जानते-देखते कोई भी अनुचित प्रवृत्ति नहीं करते। उनके अन्तःकरण में सदैव उनसे भय-सा बना रहता है कि कहीं ये हमारी अनुचित या निकृष्ट प्रवृत्ति या क्रिया को देख न लें । किन्तु अरिहन्त देव या सिद्ध परमात्मा अपने केवलज्ञान द्वारा त्रिकाल-त्रिलोक के भावों को पूर्णतः जानते-देखते हैं तो किसी भी समय अथवा किसी भी स्थान पर प्रकट या गुप्त रूप से भी हमें कोई भो अनुचित या निकृष्ट प्रवृत्ति या क्रिया नहीं करनी चाहिए । वस्तुतः सर्वज्ञ तीर्थंकर देव या सिद्ध परमात्मा को मानने और उन पर श्रद्धा-भक्ति रखने का यही मुख्य प्रयोजन है ।

भला जब चर्मचक्षुवालों से इतनी भीति और लज्जा रखी जाती है कि उनके जानते—देखते कोई भी अनिष्ट या अनुचित कार्य नही किया जाता तो फिर दिव्य ज्ञानचक्षु वाले देवाधिदेव सर्वज्ञों से तो विशेष भीति और लज्जा रखकर कोई भी अनिष्ट या अनुचित प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

जो लोग सर्वज्ञ वीतराग देव के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते हुए भी जान-बूझकर अनुचित प्रवृत्ति या पाप कर्म करते हैं, वे नाम-मात्र के भक्त या उपासक हैं या सर्वज्ञात्मा तीर्थंकरदेव के नकली भक्त बनकर स्व-पर-वञ्चना करते हैं ।

जो लोग अरिहन्तदेव या सिद्ध परमात्मा के भक्त-अनुगामी, उपासक या श्रद्धालु बनकर तथा उन्हें सर्वज्ञ मानकर भी धृष्टतापूर्वक पापाचरण करते हैं, बेखटके अनुचित—निकृष्ट प्रवृत्ति करते हैं, वे अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं । वे परमात्मवाद का दुरुपयोग करते हैं । जिस परमात्मवाद से वे आत्मिक विकास की सीढ़ियों पर चढ़ सकते थे, उसी के दुरुपयोग से आत्मिक पतन के गर्त में स्वयं को धकेलते हैं ।

परमात्मा की उपासना का मानव जीवन पर प्रभाव

कई लोग कहते हैं, कि वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा अपने ज्ञान में भले ही हमारे अच्छे-बुरे कर्मों के देखते रहें, हमारे कर्म (भाग्य) में परिवर्तन या हमारे कर्मक्षय वे नहीं कर सकते, हमारे अच्छे या बुरे कार्यों से उन्हें हर्ष-शोक नहीं होता, वे हमारे शुभाशुभ आचरण से हमें आशीर्वाद या शाप नहीं देते, फिर उनको मानने, उनका अवलम्बन लेने या उनकी श्रद्धा-भक्ति स्तुति या उपासना करने से क्या लाभ है ?

वास्तव में परमात्मवाद के विषय में यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। निश्चयनय की दृष्टि से तो ऐसा ही है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से देखें तो वीतराग परमात्मा को न मानने या अवलम्बन न लेने से हमारी अपनी ही बहुत बड़ी आध्यात्मिक हानि है। वीतराग देव को मानने और उनका अवलम्बन लेने से व्यक्ति में धर्म-भावना विकसित होती है, धर्म-साधना होती है, उनकी उपासना से आत्मविशुद्धि तथा आत्मिक सद्गुणों का विकास होता है। इन सबके अनुपात में हमारे कर्म (भाग्य) पर भी प्रभाव पड़ता है। हमारे जो अशुभकर्म (दुर्भाग्य) हैं, उन्हें शुभकर्म (सद्भाग्य) में परिणत करने का अथवा अशुभकर्मों को शुभभावों द्वारा क्षय करने का यही सर्वोत्तम राजमार्ग है।

जो व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञदेव की धर्मानुप्राणित आज्ञाओं को न मानकर निरंकुश होकर धर्मविरुद्ध या वीतराग की आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति करता है, यद्यपि उस पर वीतरागप्रभु शाप नहीं बरसाते, न ही उसे रोकते हैं, किन्तु भगवदाज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति से उसकी बहुत बड़ी हानि है—अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने अनुभव की भाषा में कहा—

"वीतराग प्रभो! आपकी सेवा-भक्ति क्या है? आपकी आज्ञाओं का परिपालन ही आपकी भक्ति-सेवा है। क्योंकि आपकी आज्ञाओं की आराधना मोक्षदायिनी है, और विराधना है—भवभ्रमणकारिणी।"[1]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में औपचारिक रूप से ईश्वर कर्त्तृत्ववाद की संयोजना करते हुए दूसरी तरह से इस प्रश्न का समाधान किया है—

"राग-द्वेष मोहरहित पूर्ण वीतराग, पूर्णज्ञानी परमात्मा ही ईश्वर है और उसके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग (सम्यग्ज्ञान-दर्शनचारित्र) की आराधना-सेवना करने से मुक्ति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उपचार से मुक्ति का दाता वीतराग परमात्मा हो सकता है तथा उक्त परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग को आराधना न करने से जो भवभ्रमण करना पड़ता है, वह उक्त

---

१ 'वीतराग ! तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम् ।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥'

—वीतरागस्तव १९-४

ईश्वर के उपदेश को न मानने का (आज्ञाविराधना का) परिणाम है।"[1] अब रहा यह प्रश्न कि अरिहन्तदेव तथा सिद्ध परमात्मा की स्तुति क्यों की जाए?

इस विषय में हम पिछले पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। संक्षेप में इस प्रश्न का यही समाधान है कि जगत् के प्रति ऐसे निरपेक्ष-निःस्पृह परमोपकारी अनन्तगुणसम्पन्न वीतरागदेवों के प्रति कृतज्ञताप्रकाशन करना परम धर्म है। यद्यपि उससे वीतरागप्रभु को कोई लाभ या हानि नहीं है, उससे लाभ है तो स्तुतिकर्त्ता को ही है; **'गुणिषु प्रमोदम्'** की भावना से उन देवाधिदेवो के पवित्र गुणो में अनुराग उत्पन्न होता है। गुणानुवाद से उस व्यक्ति की आत्मा भी उन्ही गुणों को ग्रहण करने योग्य बन जाती है।

यद्यपि निजगुणनिमग्न, सदा सुखरूप वीतराग-सर्वज्ञदेव किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होते, तथापि उनकी स्तुति एवं गुणानुवाद से व्यक्ति में अवगुण दूर होकर आत्मगुणों का प्रकाश होता है; चित्त में प्रसन्नता होती है, तत्काल दुर्विचारों के हट जाने से चित्त शुद्धि भी होती है।

जिस प्रकार मन्त्र के पद सर्प आदि का विष उतारने में समर्थ होते हैं; चिन्तामणिरत्न, रत्न के स्वामी की मनोवाञ्छा पूर्ण करने में सहायक होता है, उसी प्रकार वीतराग परमात्मा की स्तुति भी तत्काल आत्मा में समता एवं शान्ति का संचार करती है। जिससे व्यक्ति वीतराग-परमात्मा को अपना ध्येय बना लेता है और फिर वह सिद्धपद प्राप्ति के योग्य भी हो जाता है।

वीतराग भक्ति का सफल रहस्य

वीतरागदेव की भक्ति में क्यो और क्या का प्रश्न ही नही रहता, बशर्ते कि वह व्यक्ति, भक्तिपात्र (वीतरागप्रभु) के स्वरूप को पूर्णतया जानले हृदयंगम करले; क्योंकि जिसे हमें अपनी भक्ति अर्पित करनी है, उसे पहचाने बिना उसके प्रति भक्तिभाव उत्पन्न ही हो कैसे सकता है? भक्तिपात्र की विशिष्टता का ज्ञान होने के बाद उसके प्रति जो सात्त्विक शुभ आकर्षण

---

१ ईश्वरः परमात्मैव, तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्त्ता स्याद् गुणभावतः॥
तदनासेवनादेव यत् संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेन तस्याऽपि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति॥

—शास्त्रवार्तासमुच्चय, स्तवक ३

भक्त के हृदय में पैदा होता है; उसके प्रभाव से वह भक्तिपात्र के गुणों के प्रति प्रेमविभोर होकर उसमें तन्मय हो जाता है, सदैव सतत उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ। उन गुणों को आत्मा में धारण करने का प्रयत्न करता रहता है। यही ज्ञानपूर्वक भक्तिभाव है।

जिसमें ऐसा उन्नत भक्तिभाव होता है, वह अपने भक्तिपात्र (वीतराग देव) की स्तुति, गुणगान, गुणों का चिन्तन आदि करता है, उसकी आज्ञानुसार अपने आचरण में संशोधन करता है, अपने भक्तिपात्र का अनुसरण करता है, उसकी आज्ञा के अधीन रहता है, अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसको समर्पित कर देता है। इससे आगे बढ़कर अपने आराध्यदेव जैसा ही स्वयं बनने के लिए उत्कण्ठित हो जाता है, उसकी पदपंक्तियों का अनुसरण करते हुए उसके जैसा बनने का प्रयत्न करता है। उसके जैसा सद्गुणी, सच्चारित्री, परमज्ञानी बनने हेतु वह अपना जीवन उसके चरणों में न्योछावर कर देता है।

इस प्रकार की ज्ञानसंयुक्त भक्ति के बल पर ही समर्पण की भावना से पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाते है। वीतरागदेव के प्रति बहुमान से आत्म-गुण प्रगट होते है। अन्ततोगत्वा उस आत्मा को भक्तिरस में निमग्न होने से वीतराग परमात्मा के गुणो के प्रति तन्मयता प्राप्त हो जाती है; जिससे वह भक्तिरस में सराबोर होकर उत्तम समाधि की दशा प्राप्त कर लेता है।

दूसरी बात यह है कि वीतरागदेव की भक्ति के आवेग में जब भक्त मुग्ध हो जाता है, तब उस समर्पित व्यक्ति के लिए अपने जीवन को पवित्र और आचरण को शुद्ध बनाने का मार्ग भी सरल बन जाता है। इस तरह भक्ति का पर्यवसान आचरण—चारित्र की शुद्धि में आता है। यही वीतराग देव की भक्ति की सफलता का रहस्य है। वीतरागदेव का भक्त होकर जो आचरण मलिन रखता है, वह भक्ति का क-ख-ग भी नहीं जानता। निर्मल परमात्मा के साथ मलिन आत्मा का मेल ही नहीं बैठ सकता।

यद्यपि **'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'** (सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि मुक्ति प्रदान करें) **'आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु'** (मुझे आरोग्य, बोधि-लाभ और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी भावसमाधि दें)[1] ऐसी प्रार्थना से वीतरागदेव रागद्वेषरहित होने से फलप्रदाता नहीं होते, तथापि भक्तिरस में निमग्न, प्रभुचरणों में समर्पित, वीतरागता के आचरण के लिए तत्पर भक्तजन की

1 चतुर्विंशतिस्तव पाठ

ऐसी प्रबल भावना (प्रार्थना) स्वतः सफल होती है। ऐसी भावसमाधि, सिद्धि या बोधि की प्रार्थना भक्ति के वश होकर करता है तो अनुचित नहीं है, यह प्रार्थना प्रकारान्तर से वीतरागता और मुक्ति की प्राप्ति की ही है। कर्मों से रहित होने की है, इसलिए उचित ही है। ऐसी पवित्र प्रार्थना से मन में वीतरागदेव रूप ध्येय तक पहुँचने का संकल्पबल प्रबल होता है तथा चित्तशुद्धि, आस्तिकता, जीवन को पवित्र और मोक्षमार्ग के लिए पुरुषार्थी बनाने की तीव्र अभिलाषा पैदा होती है। ऐसी दृढ़धर्मिता के बल से व्यक्ति अपने कल्याण के साथ-साथ अनेक भव्यआत्माओ का कल्याण करने में भी निमित्त बनता है।

वीतरागदेव की भावपूजा क्यों और क्यों ?

वीतरागदेव—परमात्मा का भक्तिपूर्वक स्मरण, वन्दन, स्तवन, उपासना और प्रार्थना करना ही वास्तविक भावपूजा है। वस्तुतः वीतराग-देव के साथ तादात्म्य साधने के आन्तरिक प्रयत्न का नाम ही भावपूजा है।

भावपूजा भावना में परिवर्तन लाती है, सद्गुणो और सत्कार्यों की भावना को जागृत करके चित्त को आनन्दित और सद्वृत्तियो से समृद्ध बनाती है। भावपूजा का ओज जैसे-जैसे खिलता जाता है, वैसे-वैसे चित्त-शुद्धि और आत्मकल्याण की भावना अधिकाधिक विकसित होती जाती है।

अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भावपूजा आन्तरिक दोषो को दूर करने की, विचारो की संशुद्धि करने की, भावना के अभ्यास एवं संवर्धन की तथा आत्मशक्ति को विकसित एवं जागरित करने की सर्वश्रेष्ठ पगडंडी है। भावपूजा परम श्रेयःसाधिका और आत्मविकासकारिणी माता है।

भावपूजा क्या है ? यह जानने के लिए आचार्य हरिभद्रसूरि के अष्टक के ये श्लोक पढ़िए—

> 'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमलोभता।
> गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥
> एभिर्देवाधिदेवाय बहुमान-पुरःसरा।
> दीयते पालनाद् या तु सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥'[1]

अर्थात्—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निर्लोभता, गुरुभक्ति, तप

---

१ (क) हरिभद्रीय अष्टक प्रकरण, तृतीय अष्टक

(ख) देखिए भगवद्गीता मे भाव पूजा—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दतिमानवः' ।

और ज्ञान, ये आठ प्रशस्त एवं पवित्र सत्पुष्प कहलाते हैं। इन गुणों का पालन करके बहुमानपूर्वक इन पुष्पों को देवाधिदेव को अर्पण करना—चढ़ाना ही वास्तव में शुद्धपूजा कही गई है।'

इस प्रकार की शुद्धपूजा के लिए ही भावपूजा है। भावपूजा प्रभुगुण-भक्ति वीतराग गुणप्रणिधान के निमित्त से बढ़ती है। ऐसे भावपूजक भक्त के हृदय में सदैव भक्तिरस बहता रहता है। स्थान और काल की मर्यादाएँ भावपूजा में नहीं होती। भक्तजन रसोल्लासपूर्वक जब चाहे तब और जहाँ चाहे वहाँ, भगवान् की ऐसी भावपूजा कर सकता है। समझना चाहिए ऐसा व्यक्ति नीतिमत्ता और सत्यनिष्ठा के साथ व्यवसाय एवं अन्य कार्य करते समय भी उन सद्गुणों के रूप में भावपूजा कर रहा है।

ऐसा भावपूजक भक्त जब तक वीतरागता की पूर्ण उज्ज्वल स्थिति प्राप्त न हो, तब तक अहर्निश ऐसी प्रार्थना करता रहता है—'मेरा वीतराग के सिवाय कोई अन्य देव नहीं है। वही मेरा अन्तिम ध्येय है। भव-भव में सदैव सतत वीतरागदेव में—उनके सद्गुणों में मेरी भक्ति बनी रहे, ताकि मैं किसी भी समय दुर्गुणों में या परभाव में न फँस जाऊँ। त्रिकाल और त्रिलोक में यदि कोई भवचक्र से या दुःखचक्र से बचाने वाला है तो वह एकमात्र वीतरागप्रभु का (या वीतरागता) का अवलम्बन ही है।'

वह वीतरागदेव को वन्दन भी इस रूप में करता है कि "कर्मरूपी पर्वतो का भेदन करने वाले, रागद्वेषविजेता, विश्वतत्त्वों के ज्ञाता, परमतत्त्व के प्रकाशक एवं मोक्षमार्ग पर ले जाने वाले वीतरागदेव को उनके जैसे गुणो की उपलब्धि के लिए वन्दन करता हूँ।"[1]

निष्कर्ष यह कि भावपूजा अपनी दुष्प्रकृति, दुष्प्रवृत्ति, बुरा स्वभाव, बुरी आदतों और अपलक्षणो को दूर करके वीतरागरूप ध्येयानुसार वीतरागता के आत्मविकासरूप सद्गुणों को जीवन व्यवहार में—आचरण में प्रकट करने में है। ऐसे उत्तम भावों को विकसित करके सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने की ओर प्रेरित करना ही भावपूजा का मुख्य उद्देश्य है।

भावपूजक वीतरागदेवतत्त्व को अन्तिम ध्येय से रूप में मानकर वीतराग परमात्मा के स्मरण में सतत निरत रहकर वीतरागता को प्राप्त कर लेता है।

---

१ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

—तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि, मंगल प्रकरण

देवत्व को प्राप्त करने वाला ही सच्चादेव

तात्त्विक दृष्टि से शरीर में रहा हुआ आत्मा ही अपने मूलस्वरूप में सत्ता रूप से विद्यमान परमात्मदेव है। परन्तु वर्तमान में वह कर्मावरणों से आवृत होने के कारण अशुद्धभाव में विद्यमान है। जिसके कारण वह भवभ्रमण करता है। वह अपनी अशुद्धता को दूर कर अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकाशित हो सकता है। अर्थात्—वीतरागता को सिद्ध करके देवत्व को प्राप्त कर सकता है। एक प्राचीन आचार्य ने इसी तथ्य को निम्नोक्त श्लोक द्वारा अभिव्यक्त किया है—

> 'देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवः सनातनः।
> त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत ॥'

देह ही देवालय कहा गया है, जीव उस देवालय में स्थित, सनातन, देव है। अतः अज्ञानरूपी कलंक-दोष का त्याग करके 'सोऽहंभाव' (मैं—आत्मा वही—परमात्मा हूँ, इस भाव) से आत्मपूजा करे, वही परमात्मपूजा है।'

मनुष्य पूर्वोक्त बीस स्थानकों की आराधना में सत्पुरुषार्थ द्वारा अपने में इस प्रकार का वीतरागदेवत्व प्रकट कर सकता है, यही तीर्थंकरदेवों का कथन है।

यह है, पूर्वोक्त देवतत्त्व का सर्वांगीण स्वरूप, जिसे हृदयंगम करके व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है।

□

जैन तत्व कलिका

द्वितीय कलिका

गुरु स्वरूप :—

गुरु की महिमा
गुरु के लक्षण
पांच महाव्रत एवं उनकी भावनाएं
पंचाचार (ज्ञान, दर्शन आदि)
तप वर्णन
आचार्य के छत्तीस गुण (विविध दृष्टियों से)
आठ सम्पदाएं
उपाध्याय का सर्वांगीण स्वरूप :—
उपाध्यायपद - महत्व व कर्तव्य
पच्चीस गुण
आगम परिचय
उपाध्याय जी की सोलह उपमाएं
साधु का सर्वांगीण स्वरूप—
साधु—अर्थ, लक्षण, विविध नाम
सत्ताईस गुण
दशविध समाचारी
बारह भावनाएं
बारह भिक्षु प्रतिमाएं
पांच चारित्र : बाईस परिषह
सत्रह प्रकार संयम :
दस श्रमणधर्म । लब्धियां
इकत्तीस उपमाएं
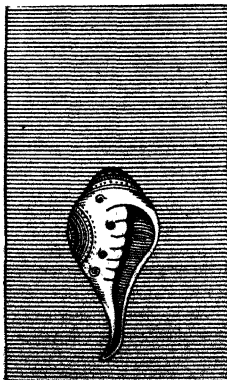
द्वितीय-कलिका

गुरु-स्वरूप

जैनधर्म के तीन आराध्य तत्त्वों में देवतत्त्व के बाद दूसरा आराध्य गुरुतत्त्व है। हमारा आदर्श पूर्वोक्त देवत्व प्रकट करना है। इस देवत्व (अर्हत्पद) को प्राप्त करने की साधना में जो सुयोग्यरूप से प्रयत्नशील है, वह त्यागी, संयमी, अपरिग्रही सन्त गुरु है।

आचार्यदेव का सर्वांगीण स्वरूप

गुरु की महिमा

भारतीय संस्कृति में गुरु की बहुत महिमा है। अरिहन्त या तीर्थंकर अथवा देव के बाद अगर कोई पूजनीय होता है तो गुरु ही होता है। अरिहन्त या तीर्थंकर प्रत्येक काल में विद्यमान (प्रत्यक्ष) नहीं होते। उनकी अनुपस्थिति में उनका प्रतिनिधित्व करने वाला गुरु ही होता है। देव की पहिचान करने वाला गुरु है। सामान्य मानव देव को पहिचान नहीं सकता। देव के अत्यन्त सन्निकट अथवा हृदय से अत्यन्त सान्निध्य में गुरु है।

आध्यात्मिकता के जीते-जागते प्रतीक गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में कहना ही क्या? भारतीय धर्म ग्रन्थों के पृष्ठ पर पृष्ठ गुरु गुणगान के सम्बन्ध में भरे पड़े हैं। गुरु के सम्बन्ध में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात्—अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए मनुष्य के नेत्र ज्ञानरूपी अञ्जन शलाका से जो खोल देते हैं, उन श्रीगुरुदेव को नमस्कार है।

अन्धकार में भटकते हुए, ठोकरें खाते हुए मनुष्य के लिए दीपक का जितना महत्त्व है, उतना ही, बल्कि उससे भी बढ़कर महत्त्व है—अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए जिज्ञासु मानव के लिए गुरुदेव का। जिज्ञासु और विनयशील मानव को गुरु आदर्श या ध्येय की पहचान कराता है। वीतरागता क्या है? और इस स्थिति पर पहुँचने के लिए क्या विधेय या आचरणीय है, इसे वह भलीभाँति समझाता और बताता है।

ध्येय तक पहुँचने के लिए धर्म की सही राह गुरु बताते हैं, धर्म का स्वरूप समझाते हैं, धर्माचरण की प्रेरणा देते है, तथा धर्माचरण के दौरान जो विघ्न-बाधाएँ या कठिनाइयाँ आती हैं, उन्हें दूर करने के उपाय भी बताते हैं। कष्ट से घबराये हुए अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग से चिन्तित और शोकमग्न व्यक्ति को आश्वासन देते हैं, धैर्यपूर्वक उन्हें सहन करने की प्रेरणा भी देते हैं तथा निराश और निरुत्साह व्यक्ति का उत्साह बढाते है, उसमें साहस की बिजली भर देते हैं।

धर्म और अध्यात्म के विषय में तथा समाज, संस्कृति और नीति के विषय में जिज्ञासु व्यक्तियों की शंकाओं का युक्तियुक्त समाधान करके उन्हें धर्मानुप्राणित मार्गदर्शन भी देते है। इस प्रकार स्व-पर कल्याण का, परोपकार का गुरुतर कार्य गुरु करते हैं।

वे प्रत्येक विषय में प्रेरणा, निर्देश, उपदेश या मार्गदर्शन जो भी देते है, वह सब अहिंसा-सत्यादि शुद्ध धर्म का या नीतियुक्त धर्म का पुट लिये हुए होता है। इसलिए गुरु को धर्म का एक पुष्ट आलम्बन कहा गया है। वे स्वयं कष्ट सहकर तथा भूखे प्यासे रहकर भी धर्म, संघ, समाज और राष्ट्र की महान् एवं बहुमूल्य सेवा करते है।

गुरु धर्मदेव हैं

श्रमण शिरोमणि जगद्‌गुरु विश्ववन्द्य भगवान् महावीर ने उन्हें 'धर्मदेव' कहा है। भगवतीसूत्र में इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर के साथ गणधर इन्द्रभूति गौतम का महत्त्वपूर्ण संवाद मिलता है। श्री गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर से पूछते हैं—'भगवन् ! इन (धर्मोपदेशक धर्मगुरुओं) को धर्मदेव क्यों कहा जाता है ?'

उत्तर में श्री भगवान् कहते हैं—'गौतम ! ये जो अनगार (घरबार आदि छोड़कर साधुधर्म में प्रव्रजित) भगवन्त हैं, वे ईर्यासमिति, भाषासमिति आदि पाँच समितियों से सम्यक् युक्त (समित) है, मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से गुप्त (अपनी आत्मा को सुरक्षित) रखते हैं, यावत् साधुओं के समस्त गुणों से सम्पन्न, गुप्तब्रह्मचारी हैं, इस (धर्मधुरन्धरता के) कारण इन्हें 'धर्मदेव कहा जाता है।'[1]

---

१ (प्र०) 'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ धम्मदेवा धम्मदेवा ?'
(उ०) "गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया जाव गुत्तबंभयारी; से तेणट्ठेण एवं वुच्चइ धम्मदेवा।" —भगवतीसूत्र, शतक १२, उद्देशक ९

आशय यह है कि ये धर्मगुरु मुमुक्षु एवं धर्मपिपासु आत्माओं के लिए आराध्य, उपास्य और धर्मपथ प्रदर्शक हैं। इसलिए ये 'धर्मदेव' कहलाते हैं।

शास्त्र में बताया गया है कि दो प्रकार से आत्मा को धर्म की प्राप्ति या धर्म के स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है—(१) सुनकर और (२) विचार करके। [१]

जब तक व्यक्ति धर्मशास्त्रों का श्रवण ही नहीं करता, तब तक धर्म तत्त्व पर मनन—चिन्तन और ग्रहण एवं अनुसरण कैसे कर सकता है? कई लोग कहते हैं कि 'बहुत से मनुष्यों ने श्रवण किये बिना ही केवल भावनाओं द्वारा धर्माचरण करके अपना आत्मकल्याण किया है, इसलिए धर्मशास्त्र श्रवण की क्या आवश्यकता है?' इसका समाधान यह है कि भावना भी पहले श्रवण किये हुए धर्मादि तत्त्वों की ही हो सकती है। भावना के द्वारा आत्मकल्याण करने वालों ने या तो पहले कभी न कभी इस जन्म में या पूर्वजन्मों में धर्मादि तत्त्व विषयक श्रवण अवश्य किया होगा; अन्यथा, कल्याणकारी पथ में प्रवृत्त होने तथा पापकारी पथ से निवृत्त (विरत) होने की भावना हो नहीं सकती। क्योंकि जैसा एक कवि ने कहा है—

है सर्वश्रुत परिचित अनुभूत भोग-बन्धन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना॥

निष्कर्ष यह है कि पूर्वजन्मों में अथवा इस जन्म में जिन जीवों ने पहले इस प्रकार के धर्मप्रेरक वचन सुने हुए हैं, तभी वे अनुप्रेक्षापूर्वक भावनात्मक चिन्तन करके धर्म की प्राप्ति और मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करते हैं। और धर्म (प्रेरक वचनों का) श्रवण प्रायः धर्मदेवों के मुख से ही हो सकता है। इसलिए धर्मदेव धर्मादि तत्त्वों के सच्चे व्याख्याता, धर्मोपदेशक, धर्मनिर्देशक, धर्मसिद्धान्त-प्ररूपक एवं धर्म-प्रेरक होते हैं।

यदि जगत् में ऐसे धर्मोपदेशक धर्मदेव न हों तो धर्मप्रचार नहीं हो सकता, धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ या विमुख लोगों को धर्म-श्रवण का अवसर मिल नहीं सकता। इसलिए शुद्धधर्म के सन्देशवाहक इन धर्मगुरुओं का जगत् पर महान् उपकार है। ये जगत् से कम से कम लेकर, अधिक से अधिक बहुमूल्य धर्मदान देते हैं। इसीलिए षडावश्यक में तीर्थंकर देवों के स्तवन—उत्कीर्तन के पश्चात् तीसरा आवश्यक 'गुरु वन्दन' का रखा गया है। गुरुपद अत्यन्त महनीय, पूजनीय, वन्दनीय और स्तुत्य है।

---

१ 'सोच्चा अभिसमेच्चा'—स्थानांग, स्थान २

व्यवहार सम्यक्त्व-प्राप्ति अथवा सम्यक्त्व में दृढ़ता के लिए जीव को अरिहन्त देव की तरह सुसाधु 'गुरु' का अवलम्बन लेना, उनसे जीवन-विकासक ज्ञान-संस्कार प्राप्त करने हेतु उद्यत रहना, देव की तरह गुरु को सच्चे अर्थों में पहचानना, उस पर सच्ची श्रद्धा रखना, और उसकी उपासना भी अनिवार्य है।

जैनधर्मशास्त्रों में सम्यक्त्वी अथवा व्रती सद्गृहस्थ को 'अरिहन्तोपासक' न कहकर 'श्रमणोपासक' कहा गया है। यह गुरुपद की महत्ता को सूचित करता है। अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि जब तक व्यक्ति गुरु से परिचित नहीं होगा, तब तक वह शुद्ध धर्म के स्वरूप से भी अपरिचित रह कर अधर्म या धर्मभ्रम को ही धर्म मानता रहेगा।

गुरु शब्द का निर्वचन

वैसे तो प्राचीन आचार्यों ने 'गुरु' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'गु' शब्द अन्धकार का और 'रु' शब्द प्रकाश का वाचक है। अन्धकार में (अज्ञानान्धकार में) प्रकाश करने वाला होने से इसे 'गुरु' कहा जाता है।[1]

संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' कहते हैं—भारी (वजनदार) को। इस दृष्टि से जो अपने से अहिंसा-सत्यादि महाव्रतरूप गुणों या ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों में भारी (वजनदार) हो, आगे बढ़ा हुआ हो, वह सर्वविरति साधु, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, 'गुरु' कहलाता है। इस कोटि में गणधर से लेकर सामान्य साधु-साध्वी आदि सभी संयमीजनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हेमकीर्ति ने गुरु शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है—

गृणाति कथयति सद्धर्मतत्त्वं स गुरुः।

जो सत्य (सद्) धर्मतत्त्व का उपदेश देता है, वह 'गुरु' है।

वास्तव में तीर्थंकर देवों के बाद 'गुरु' ही सद्धर्म का उपदेष्टा है। वैसे गुरु का अर्थ बड़ा, शिक्षक, माता-पिता, स्वामी आदि भी होता है, किन्तु यहाँ ये अर्थ अभीष्ट नहीं हैं। यहाँ 'गुरु' शब्द का संयमी धर्मोपदेशक, धर्मदेव या धर्मगुरु अर्थ ही अभीष्ट है।

---

१ 'गु' शब्दस्त्वन्धकारः 'रु' शब्दः प्रकाशकः।
अन्धकार प्रकाशत्वाद् तस्माद् गुरुरुच्यते॥

जैन दृष्टि से गुरु का लक्षण

आज विश्व में गुरुओं की भरमार है। इनमें सच्चे गुरु कितने हैं और गुरुनामधारी कितने ? इसका पता लगाना सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन हो गया है।[1] अकेले भारत में ही लाखों गुरु हैं।

'गुरु कैसा होना चाहिए ?' इस सम्बन्ध में प्रत्येक धर्म ने कुछ न कुछ विचार अवश्य किया है। जैनधर्म ने 'गुरु' का एक मानदण्ड निश्चित किया है, उसके अनुसार उसने उन सब तथाकथित गुरुओं को गुरु मानने से इन्कार किया है—जो भांग, गाँजा, अफीम, मद्य आदि नशीली चीजों का सेवन करते हैं, जो पुत्र, कलत्र, धन धान्य स्वर्ण-चांदी, हीरा-मोती, रत्न, हाट, हवेली, पशुओं एवं क्षेत्र का ममत्वपूर्वक संग्रह—परिग्रह रखते है जो मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करते है, जो लोभी हैं—सब प्रकार की आकांक्षाएँ रखते है, मंत्र-तंत्र-ज्योतिष, निमित्त आदि से अपनी जीविका चलाते है, तथा मिथ्या एवं विषयासक्ति-प्रेरक धर्म के प्रचारक हैं। ऐसे व्यक्ति गुरु पद के योग्य नही, वे सद्गुरु नहीं, कुगुरु हैं।[2]

कुगुरु पत्थर की नौका से समान है, जो स्वयं भी डूबता है, पतन के गर्त में गिरता है और दूसरों को भी डुबोता है, आश्रय लेने वालों को भी पतन के गड्डे में धकेल देता है। अतः मुमुक्षु एवं धर्मपिपासु व्यक्ति को सद्गुरु की जाँच-परख करके तभी उसकी शरण या उसका अवलम्बन लेना चाहिए। सद्गुरु की खोज करके जो शरण लेता है या उनकी सेवा-भक्ति उपासना करता है, वही सद्धर्म को पाकर संसार सागर को पार करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत आरम्भ-परिग्रहमग्न कुगुरु दूसरों को कैसे तार सकता है ? जो स्वयं दरिद्र है, वह दूसरे को वैभव-सम्पन्न कैसे बना सकता है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने सुगुरु का लक्षण इस प्रकार किया है—

---

१ गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
कृपालवो विरलाः सन्ति शिष्यचित्तापहारकाः ॥

२ सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ —योगशास्त्र, प्र. २, श्लोक ९

३ परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥
—योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) प्र. २, श्लोक १०

'जो अहिंसा आदि पांच महाव्रतों के धारक हों, धैर्य गुण सम्पन्न होने के कारण क्षुधा-तृषादि नाना परीषहों को सहने में तत्पर हों, भिक्षाचर्या—माधुकरी वृत्ति से ही जीवनयापन करने वाले हों, सदैव सामायिक (समभाव) में स्थिर रहते हों, अर्थात्—निरवद्य (निर्दोष) चर्या वाले हों, और शुद्ध धर्म का यथार्थ उपदेश देने वाले हों, वे ही सद्गुरु पद के योग्य माने गए हैं।"[1]

सुगुरु के प्रति विनय : कल्याण परम्परा स्रोत

तीर्थंकरों की अविद्यमानता में सुगुरु ही एकमात्र ऐसे हैं; जो समस्त संघ का जीवन निर्माण करते हैं, तीर्थंकरों के ज्ञान और दर्शन का उनके सिद्धान्तों और उपदेशों को आम जनता में प्रचार-प्रसार करते हैं। शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान की भी प्राप्ति गुरुदेव से होती है, परन्तु कब? जबकि व्यक्ति विनम्र होकर उनके चरणों में अपने आपको समर्पित कर दे, उनके प्रति विनम्र-भक्ति हृदय से करे, उनकी सेवा-शुश्रूषा करे, आज्ञा पालन करे, उनके चरणों में वन्दन-नमन करे। गुरुदेव के प्रति विनय भक्ति से व्यक्ति को कितना महान् लाभ मिलता है? यह वाचकवर्य आचार्य उमास्वाति के शब्दो में सुनिये—

> विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
> ज्ञानस्य फलं विरतिः, विरतिफलं चाश्रवनिरोधः॥
> संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।
> तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्ते योगित्वम्॥
> योगनिरोधात् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।
> तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः॥

अर्थात्—गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति (अथवा धर्मश्रवणेच्छा) होती है; गुरुसेवा से शास्त्रों के गंभीर ज्ञान की प्राप्ति होती है; ज्ञान का फल पापाचरण से निवृत्ति है और पाप निवृत्ति का फल आश्रवनिरोध (संवर) है। संवर का फल तपोबल, तप का फल निर्जरा है, और निर्जरा द्वारा क्रिया निवृत्ति होती है; क्रिया निवृत्ति से अयोगी (मन, वचन, काया के योगो का निरोध) अवस्था प्राप्त होती है। योग निरोध से भवपरम्परा का अन्त हो जाता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः गुरु-विनय का फल समस्त कल्याणों का कारण है।

---

१ 'महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥' —योगशास्त्र प्र. २, श्लोक ८

गुरुतत्त्व में तीन पदों का समावेश

अरिहन्त और सिद्ध आत्मविकास की पूर्ण दशा—परमात्मदशा पर पहुँचे हुए हैं, अतः वे पूर्ण रूप से पूज्य होने से देवकोटि में गिने जाते हैं। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मविकास की पूर्ण अवस्था अभी प्राप्त नहीं कर सके हैं, परन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं। अतः वे अपने से निम्न श्रेणी के गृहस्थ साधकों के पूज्य और अपने से उच्च श्रेणी के अरिहन्त-सिद्ध-स्वरूप देवत्वभाव के पूजक होने से गुरुकोटि में सम्मिलित किये गये हैं।

आशय यह है कि आचार्य, उपाध्याय की तरह गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक, स्थविर आदि सभी प्रकार के साधुगण साधुपद में समाविष्ट हो जाते हैं, अतएव ये सब गुरुपद से ग्रहण किये जाते हैं। ये सभी धर्मदेव है।

अब हम गुरुपद में समाविष्ट मुख्य तीन पदों (आचार्य, उपाध्याय और साधु) के स्वरूप का विस्तृत रूप से क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

आचार्य का सर्वांगीण स्वरूप

पंचपरमेष्ठी में तीसरा पद आचार्य का है। आचार्य तीर्थंकर का प्रतिनिधि होता है। आचार्य को धर्मप्रधान श्रमणसंघ का पिता कहा है।[1] वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र (अहिंसा-सत्य आदि), तप और वीर्य रूप पाँचों आचारों का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है और संघ के साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकावर्ग से आचार-पालन करवाता है।[2] पंचाचारपालन करने की प्रेरणा करता है।

आचार्य अपने आचार-व्यवहार से साधुधर्म का उत्कृष्ट रूप प्रमाणित करता है। वह पर-परिणति से हटकर स्व-परिणति में रमण करता है, अतएव तीव्र कषाय का उदय न होने से वह प्रशान्त, विनम्र, सरल, क्षमाशील और आत्मसन्तुष्ट रहता है; सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

आचार्य संघ का आधार रूप होता है। गण या गच्छ में किसी प्रकार की शिथिलता आ गई हो, संघ का साधु-साध्वीवर्ग अथवा श्रावक-श्राविकावर्ग जब संयम यात्रा या धर्माचरण से भटक रहे हों, या अयुक्त आचरण

---

१. आचार्यः परमः पिता।   २. आचिनोति आचारयति चेति आचार्यः।

करने लगे हों तब आचार्य ही उन्हें मधुर वाक्यों से सुशिक्षित करके सही मार्ग पर लाता है, योग्य प्रायश्चित्त देता है। वह गच्छवासी साधु-श्रावकवर्ग की आत्मा का चिकित्सक है, सरक्षक है, योग्य प्रायश्चित्त देकर उनकी आत्मा की शुद्धि करता है। वह न तो स्वयं भटकता है और न धर्म संघीय सदस्यों को भटकने देता है।

आचार्य अरिहन्त की भूमिका की ओर बढ़ने वाला वह महाप्रकाश है, जो अपने पीछे चलने वाले चतुर्विध संघ का मार्गदर्शन एवं नेतृत्व करता है। इसीलिए आचार्य को दीपक कहा गया है, जो ज्योति से ज्योति जलाता हुआ दूसरे आत्मदीपो को भी प्रदीप्त कर देता है।

वह तीर्थंकर देवों द्वारा प्ररूपित—प्रतिपादित तत्त्वो का प्रचारक-प्रसारक एवं विवेचक होता है। वह सघ (गण) का नायक, जिनशासन का शृंगार, संघ का प्रकाशस्तम्भ, वादलब्धिसम्पन्न, नाना प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान का धारक, अलौकिक अध्यात्मलक्ष्मीसम्पन्न आदि अनेक गुणों से विभूषित होता है।

पंचाचार-प्रपालक ही धर्माचार्य

सत्पुरुषों द्वारा जो धर्मानुरूप व्यवहार या आचरण किया जाता है, वह आचार कहलाता है अथवा शिष्ट पुरुषों द्वारा मोक्ष या अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए आचरणीय या उपादेय मार्ग आचार कहलाता है।

जैन शास्त्रों में ऐसे पांच आचार बताए गए हैं—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार। ये पाँचों मिलकर पंचाचार कहलाते हैं। इस पंचाचार का स्वयं पालन करने वाले और दूसरों से पालन कराने वाले मुनिराज आचार्य कहलाते हैं।

धर्माचार्य के लिए पालनीय पंचविध आचारो का स्वरूप आगे बताया जाएगा।

आचार्य के मुख्य छत्तीस गुण

वास्तव में आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वांग सम्पन्न आचार्य वही हो सकता है, जिसमें निम्नलिखित छत्तीस[1] गुण हो—पाचों इन्द्रियों का संवर (निग्रह—

---

१ पंचिंदियसंवरणो, तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो।
चउविह कषाय मुक्को इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ॥१॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो, इइ छत्तीसगुणेहिं गुरु मज्झं ॥२॥ —आवश्यक सूत्र

संयम) करने वाले, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों (बाड़ों) के धारक, चार प्रकार के कषायों से मुक्त (विजेता), पांच महाव्रतों से युक्त, पंचविध आचार-पालन में समर्थ, पांच समितियों और तीन गुप्तियों से युक्त, इस प्रकार, इन छत्तीस आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न, जो गुरु होते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

पंचेन्द्रियनिग्रह

पाँचों इन्द्रियों पर, विशेषतः पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर संयम—नियंत्रण करना पंचेन्द्रियनिग्रह है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय।

श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह

जिससे शब्द सुना जाए, उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। **श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह** का यह मतलब नहीं कि कान से शब्द सुने ही नहीं, किन्तु यह है कि कानों में जो शब्द पड़ें, उनके विषय में राग (आसक्ति-मोह) या द्वेष (घृणा-मत्सर) न करे।

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, वह तीन प्रकार का है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि का शब्द जीवशब्द, दीवार आदि के गिरने से, पत्थर आदि परस्पर टकराने आदि से जो शब्द होता है, वह अजीवशब्द और वाद्य बजाने वाले और वाद्य का मिला हुआ स्वर मिश्रशब्द कहलाता है।

श्रोत्रेन्द्रिय के १२ विकार हैं। वे इस प्रकार हैं—जीवादि तीनों शब्दों के शुभ-अशुभ दो भेद होने से ६ भेद हुए। इन छहों पर राग और द्वेष करने से ६×२=१२ भेद श्रोत्रेन्द्रिय विकार के हुए।

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह

चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है इसका भी यह अर्थ है कि आँखों के समक्ष जो शुभ-अशुभ या इष्टानिष्टरूप दिखाई दे उस पर राग-द्वेष न करे। आँखें बन्द कर ले, यह अर्थ नहीं है।

चक्षुरिन्द्रिय के ५ विषय हैं—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद वर्ण (रंग या रूप) इनके प्रत्येक के सजीव, अजीव और मिश्र के भेद से ५×३=१५ भेद हुए। ये पन्द्रह कभी शुभ और कभी अशुभ होते हैं। इसलिए १५×२=३० भेद हुए। इन तीसों पर राग और द्वेष होता है, इसलिए ३०×२=६० भेद चक्षुरिन्द्रिय-विकार के होते हैं।

घ्राणेन्द्रियनिग्रह

जिसके द्वारा गन्ध का ग्रहण किया जाए, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है, वह दो प्रकार का है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। घ्राणेन्द्रियनिग्रह का यह अर्थ नहीं कि गन्ध आते ही नाक बन्द कर ले, किन्तु यह अर्थ है कि सुगन्ध या दुर्गन्ध पर राग-द्वेष न करे। दो प्रकार की गन्ध सचित्त, अचित्त व मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार की है। फिर इन पर राग और द्वेष होने से ६×२=१२ प्रकार के घ्राणेन्द्रिय विकार के हुए।

रसनेन्द्रियनिग्रह

जिसके द्वारा स्वाद चखा जाय, उसे रसनेन्द्रिय कहते है। रसनेन्द्रिय के ५ विषय है—तिक्त, कटु, कषाय (कसैला), खट्टा और मीठा। इन पाँचों रसों वाले पदार्थ सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इसलिए ५×३=१५ भेद हुए। ये १५ शुभ भी होते है और अशुभ भी। फिर इन पर राग और द्वेष होने से १५×२=३०×२=६० भेद रसनेन्द्रिय विकार के हुए।

स्पर्शेन्द्रियनिग्रह

जिससे स्पर्श की प्रतीति—अनुभूति हो, उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते है। स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्श है, जिसके ८ प्रकार हैं—गुरु-लघु (भारी-हलका), शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष और कोमल-कठोर। इन आठ स्पर्शों वाले पदार्थ सचित्त, अचित्त और मिश्र होते हैं। इसलिए ८×३=२४ भेद हुए। फिर शुभ और अशुभ के भेद से इन चौबीस के दो-दो भेद मिलकर ४८ भेद हुए। इन ४८ पर राग और द्वेष करने से स्पर्शेन्द्रिय के कुल विकार ४८×२=९६ हुए।

आचार्य देव इन पाँचो इन्द्रियो के सभी विषयों और विकारो के वश में न होकर इन पर विजय प्राप्त करते हैं, इन्हे अंकुश में रखते है। इनकी ओर राग-द्वेष भी नही करते।[1] वे भलीभाँति जानते हैं कि इन पाँचों इन्द्रियों के वश में होकर संसार के विविध प्राणी अकाल में हो अपने प्राण खो बैठते हैं, भयंकर दण्ड उन्हें प्रकृति से मिलता है, परलोक में भी दुर्गति होती है; धर्म-ध्यान और रत्नत्रय की साधना मिट्टी में मिल जाती है। पांचों इन्द्रियों के निग्रह से साधक मनोज्ञ और अमनोज्ञ में होने वाले राग-द्वेष में निग्रह कर लेता है। फिर वह रूपादि के निमित्त से कर्मबन्ध नही करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।[2]

---

१ जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भाव निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी॥
—उत्तरा० अ० ३२ गाथा २१

२ उत्तरा० अ० २९ सू० ६३ से ६७,

नवविध ब्रह्मचर्य गुप्तियों के धारक

जिस प्रकार किसान अपने बोये हुए खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाता है, वैसे ही आचार्य या ब्रह्मचारी पुरुष धर्म के बीज रूप ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ प्रकार की बाड़ (गुप्ति) लगाते हैं; अर्थात्—नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्तियों से अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखते हैं। वे नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) **स्त्री-पशु-पण्डक रहित विविक्त स्थान**—जिस स्थान में बिल्ली रहती हो, वहाँ चूहा रहे तो उसकी खैर नहीं, इसी प्रकार जिस मकान में ब्रह्मचारी पुरुष रहता है, उस मकान में अगर, मनुष्य या तिर्यञ्च की स्त्री, या नपुंसक का अहर्निश निवास हो या रात्रि में एकाकी स्त्री का आगमन हो, तो ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य को खतरा है।[1] अतः ब्रह्मचर्य के साधक को इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

(२) **मनोरम स्त्री-कथावर्जन**—जैसे नीबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों का नाम लेते ही मुँह में पानी छूटने लगता है, वैसे ही स्त्री के सौन्दर्य, शृंगार, लावण्य, हाव-भाव और अंगोपांगों के लटके और चातुर्य आदि का वर्णन करने से विकार उत्पन्न होता है। अतः उससे ब्रह्मचर्य साधक को बचना चाहिए।

(३) **स्त्रियों का अतिसंसर्ग वर्जन**—स्त्रियों का बार-बार, अतिसंसर्ग, परिचय, बातचीत एवं एक ही आसन पर स्त्रीपुरुष का बैठना ब्रह्मचर्यनाश का कारण है। अतः ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियों की अतिसंसक्ति से बचना चाहिए।

(४) **स्त्रियों के अंगोपांग निरीक्षण वर्जन**—जैसे सूर्य की ओर टकटकी लगाकर देखने से आँखों को हानि पहुँचती है वैसे ही ब्रह्मचारी पुरुष द्वारा स्त्रियों के अंगोपांगों को विषय वासना की दृष्टि से ताक-ताक कर देखना उसके लिए खतरनाक है। ऐसा करने से ब्रह्मचर्य का विनाश निश्चित है। ब्रह्मचारी को इससे बचना चाहिए।

(५) **स्त्रियों के कामवर्द्धक शब्द-गीतस्मरण वर्जन**—जैसे मेघगर्जन सुनकर मयूर हर्षित होता है, उसी प्रकार पर्दे, दीवार आदि के पीछे रतिक्रीड़ा, दाम्पत्यसहचार तथा अन्य विकारवर्द्धक गायन, शब्द,

---

१ जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो॥

—उत्तरा० अ० ३२ गाथा १३

हासविलास की बातें सुनने से काम विकार पैदा होता है, जो ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। ब्रह्मचारी इससे बचना चाहिए।[1]

(६) **पूर्वभुक्त कामभोगों के स्मरण का निषेध**—पूर्वभुक्त विषय-भोगों के स्मरण से ब्रह्मचारी को दूर रहना चाहिए, क्योकि पूर्वावस्था में स्त्री के साथ किये हुए विषयभोगों का स्मरण करने से मानसिक अब्रह्म का सेवन होता है और उससे ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है।

(७) **कामोत्तेजक भोजन-पान वर्जन**—जैसे सन्निपात के रोगी के लिए दूध और शक्कर मिलाकर देना रोगवृद्धि का कारण होता है वैसे ही ब्रह्मचारी के लिए सदैव सरस, स्वादिष्ट, तामसी, कामोत्तेजक भोजन और पेय भी ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक होते है। इनसे ब्रह्मचारी को बचना चाहिए।

(८) **अत्यधिक भोजन पान-वर्जन**—जैसे सेर भर की हंडिया में सवासेर खिचड़ी पकाने से वह फूट जाती है, वैसे ही मर्यादा से अधिक ठूस-ठूंसकर खाने से भी अजीर्ण, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते है और काम विकार में वृद्धि होने से स्वप्नदोष आदि हो जाते है, ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाने की आशका रहती है। इसलिए ब्रह्मचारी को अति भोजन से बचना चाहिए।

(९) **स्नान श्रृंगार वर्जन**—जैसे दरिद्र के पास चिन्तामणि रत्न टिक नहीं सकता, इसी प्रकार फैशन के लिए स्नान-श्रृंगार, अगमर्दन, उबटन, विभूषा आदि करके अपने शरीर को आकर्षक बनाने वाले व्यक्ति का ब्रह्मचर्य सुरक्षित नही रह सकता। इसलिए ब्रह्मचारी को श्रृंगार, विभूषा आदि से दूर रहना चाहिए; क्योकि जो ब्रह्मचारी भिक्षु शरीर की विभूषा

---

१ (क) आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
सथवो चेव नारीण, तासिं इंदियदरिसणं॥
कुइय रुइयं गीअं, हसियं भुत्तासणाणिय।

—उत्तरा० अ० १६, गाथा ११, १२

(ख) न रूवलावण्णविलासहासं न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हियं सया बंभवए रयाणं॥

—उत्तरा० अ० ३२ गाथा १४-१५

—टीपटाप करने में लगा रहता है, वह चिकने कर्म बाँधता है तथा घोर संसार सागर में ऐसा डूबता है कि फिर निकलना दुष्कर हो जाता है।[1]

आचार्य, ब्रह्मचर्य की प्रस्तुत ९ गुप्तियों (बाड़ों) से अपने ब्रह्मचर्य की तथा संघ के साधु-साध्वियों के ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करते हैं। संघ के आचार्य इस बात को भलीभाँति समझते हैं कि ब्रह्मचर्य की इन ९ गुप्तियो में से किसी एक भी गुप्ति (बाड़) को भंग करने वाले ब्रह्मचारी के मन में शंका पैदा हो जाती है कि 'अब मैं ब्रह्मचर्य पालन करूँ या न करूँ ?' फिर उसके हृदय में भोगों के सेवन की कांक्षा (ललक) जाग उठती है। इतना ही नहीं, इस ब्रह्मचर्यपालन का फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार की विचिकित्सा उसके मन में उत्पन्न हो जाती है। इन दोषों के फलस्वरूप वर्षों तक ब्रह्मचर्य साधना से संचित आध्यात्मिक शक्ति की पूंजो को वह एक दिन में नष्ट कर डालता है, यानी वह भेद को प्राप्त हो जाता है। उसके तन और मन में कामोन्माद पैदा हो जाता है, जिसके कारण चिरकालस्थायी कास, श्वास, सुजाक, प्रमेह, क्षय, शूल, आदि भयंकर रोग उसे घेर लेते हैं। अन्तिम परिणाम यह होता है कि ऐसा व्यक्ति केवलीप्ररूपित संयम धर्म से भ्रष्ट होकर अनन्त काल तक संसार सागर में परिभ्रमण करता है।[2]

अतः आचार्य दृढ़ता से निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते है। अब्रह्मचर्य को वह अधर्म का मूल, महादोषों का स्रोत समझकर मन से भी पास में फटकते नही देते।

चतुर्विधकषायविजयी

आचार्य चार प्रकार के कषायों से सर्वथा मुक्त—कषायविजयी होता

---

१ (क) पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं।
गायभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्त गवेसिस्स विसं तालउडं जहा॥
—उत्तरा० अ० १६ गाथा १२-१३

(ख) विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे॥
—दशवैकालिक अ० ६, गाथा ६५

२ तओणं तस्स······बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।····
—उत्तरा० अ० १६ सू० ३ से १२ तक

है। क्योंकि वह समझता है कि क्रोधादि चार कषायों को हृदय में बसाने वाला जलती हुई भयंकर आग को हृदय मे बसाता है। जब वह कषाय-अग्नि भड़कती है तो साधक की क्षमा, दया, शील, विनय, निश्छलता, निरभिमानता, नम्रता, सन्तोष, धैर्य, तप, संयम, ज्ञान आदि उत्तमोत्तम गुण रूपी पुष्पो को जला कर भस्म कर डालती है। मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना पर ये दुर्गुणो की कालिमा चढ़ा देते हैं।

कषाय मुख्यतया चार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, और (४) लोभ। ये चारों कषाय चोर की तरह चुपके से साधक के तन-मन में प्रविष्ट होकर उसकी आध्यात्मिक सम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं। कषायाविष्ट व्यक्ति पुनर्जन्म-मरण से मूल को सींचता है।[1] जिसके परिणाम से संसार (कष) की वृद्धि (आय) होती है, और जो कर्मबन्ध का प्रधान कारण है, आत्मा का वह विभाव परिणाम कषाय कहलाता है। कषाय आत्मा के प्रबल शत्रु हैं। जैसे पीतल के बर्तन में रखा हुआ दूध-दही कसैला और विषाक्त हो जाता है, वैसे कषायरूपी दुर्गुण से आत्मा में निहित संयम आदि गुण विषाक्त और मलिन हो जाते है।

कषायरूपी अग्नि को [आचार्य, श्रुत और शील की धारा से शान्त कर देते है।

(१) **क्रोधकषाय**—क्रोध प्रथम कषाय है, जो मनुष्य के स्वभाव को चण्ड, उग्र और क्रूर बना देता है। क्रोधावेश मे व्यक्ति अपने आत्मीयजनों की हत्या करने में भी नही चूकता। अत्यन्त कुपित व्यक्ति आत्महत्या भी कर बैठता है।

क्रोधी व्यक्ति स्वयं चाण्डाल है। क्रोध में उन्मत्त होकर व्यक्ति भान भूल जाता है और अपनी प्रिय वस्तु को भी तोड़फोड़ डालता है। क्रोधान्ध व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह आपे से बाहर होकर अटसंट बकने लगता है, उसे अपना हिताहित नहीं सूझता, क्रोधाविष्ट व्यक्ति कृतघ्न होकर उपकारी के उपकार को भूल जाता है। अतः वह स्वयं जलता है और दूसरो

---

१ (क) चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स।

— दशवैकालिक अ० ८ गाथा ४०

(ख) संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! जे डहंति सरीरत्था। 'कसाया अग्गिणो वुत्ता.....

—उत्तराध्ययन अ० २३, गाथा ५०-५३

को भी जला डालता है। क्रोध प्रीति का नाश कर डालता है।[1] क्रोधी व्यक्ति जमी और बनी हुई बात को क्षणभर में बिगाड़ देता है। क्रोध के फलस्वरूप जीव कुरूप, सत्त्वहीन, अपयश का भागी और अनन्त जन्म-मरण करने वाला बन जाता है। क्रोधविजय से साधक क्षमाभाव को प्राप्त कर लेता है। क्रोध-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर लेता है। ऐसा जानकर आत्महितैषी आचार्य महाराज कदापि क्रोध से संतप्त नहीं होते। किसी कारणवश उदय में आए हुए क्रोध को वे सदैव उपशम-जल से शान्त कर लेते हैं और दूसरों को भी शान्त-शीतल बनाते है।

(२) **मानकषाय**—मान द्वितीय कषाय है, जो प्रकृति को कठोर बनाता है। यह निश्चित है कि जहाँ मान होगा, वहाँ विनय गुण नौ दो ग्यारह हो जाएगा।[2] विनय के अभाव में ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती और ज्ञानप्राप्ति के बिना व्यक्ति जीव-अजीव आदि तत्त्वों को जान नहीं सकता, जीवाजीवादि जाने बिना दया, संवर, समता, क्षमा, निर्जरा आदि नहीं कर सकता। इनके बिना धर्म का आचरण नहीं हो सकता। धर्माचरण के बिना कर्मक्षय नहीं हो सकता। कर्मक्षय के बिना मुक्ति का अक्षय अव्याबाध सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार अभिमान मोक्ष प्राप्ति में बहुत बड़ा बाधक है।

बड़े-बड़े तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, क्रियाकाण्डी साधक अभिमानी बनकर ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, मत्सर, स्वार्थ आदि से ग्रस्त हो जाते है। इस प्रकार वे जिनाज्ञा के विराधक बनकर अपना मनुष्यभव और भविष्य बिगाड़ लेते हैं।

मानान्ध मनुष्य सदैव अवगुणग्राही होता है। वह दूसरों की प्रगति नहीं देख सकता। वह सदैव दूसरों के छिद्र देखता रहता है। मानान्ध मानव अपने अभिमान की पूर्ति के लिए लाखों का धन, धर्म, शरीर तथा परिवार तक को बर्बाद कर देते है। फिर भयंकर दुःखभागी बनकर पश्चात्ताप करते हैं। मानी सदैव दुर्ध्यान में मग्न रहता है। इसलिए मानाविष्ट व्यक्ति सतत घोर कर्मबन्ध करता रहता है।

मान की उत्पत्ति के स्रोत ८ मद हैं—(१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद, (४) रूपमद, (५) लाभमद, (६) तपोमद, (७) श्रुतमद और (८) ऐश्वर्यमद।[3]

---

१ कोहो पीइं पणासेइ —दशवैकालिक अ० ८ गाथा ३८

२ 'माणो विणयनासणो।' —दशवैकालिक अ० ८ गाथा ३८

३ समवायांग, ८ वाँ समवाय

जो व्यक्ति इन आठों में से जिसका भी मद करता है, वह आगामी भव में उसी की हीनता प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—जाति या कुल का अभिमान करने वाला व्यक्ति आगामी जन्म में नीच जाति या नीच कुल में उत्पन्न होता है। बलाभिमानी निर्बल, रूपाभिमानी कुरूप, तपोमद करने करने वाला तपोहीन, श्रुताभिमानी मूर्ख या निर्बुद्धि होता है। लाभाभिमानी दरिद्र या किंकर और ऐश्वर्याभिमानी भविष्य में अनाथ या निराधार होता है। खेद है मानव अपनी अज्ञानता के कारण इच्छानुकूल उत्तम वस्तु की प्राप्ति हो जाने से उसका मद करके भविष्य में उसी वस्तु की हीनता प्राप्त करता है।

तत्त्वज्ञ आचार्य इस बात को भलीभाँति जानते है और कोई भी निमित्त मिल जाने पर अहंकार न करके सदैव निरभिमान, नम्र और विनीत होते है। वे आचार्य जैसा उच्च पद पाकर भी अभिमान नहीं करते, संघ का शासन वे धर्मशासन के लिए तथा साधकों के जीवन निर्माण के लिए मानकर करते है।

(३) **माया कषाय** – माया, कपट, कुटिलता, वक्रता, छल, धोखेबाजी, वंचना आदि को कहते है। माया प्रकृति को वक्र बनाती है। शास्त्र में माया को तीन शल्यों में से[1] एक शल्य माना गया है। जैसे—शरीर में चुभा हुआ तीखा काँटा निरन्तर व्यथा पहुँचाता है, वैसे ही मायारूप भावशल्य आत्मा को जन्म-जन्म में घोर पीड़ा पहुँचाती है। सच्चा व्रतधारी वही है, जो शल्य से रहित हो।[2]

शास्त्र में 'मायी' के साथ 'मिथ्यादृष्टि'[3] शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, वह भी इस बात का द्योतक है कि 'मायी' अधिकांशतः 'मिथ्यादृष्टि' होता है।

जो पुरुष मायाचार करता है, वह आगामी भव में स्त्रीपर्याय पाता है और जो स्त्री माया-सेवन करती है, वह मरकर नपुंसक होती है और यदि नपुंसक माया का सेवन करता है, वह मरकर तिर्यञ्च गति विशेषतः एकेन्द्रियतिर्यञ्चयोनि प्राप्त करता है।[4]

---

१ पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं— मायासल्लेणं नियाणसल्लेणं मिच्छादंसणसल्लेणं।'

—आवश्यकसूत्र

२ निःशल्योव्रती —तत्त्वार्थ० अध्याय० ७, सू० १३

३ मायीमिच्छादिट्ठी —भगवती सूत्र

४ मायातैर्यग्योनस्य —तत्त्वार्थ० अध्याय ६, सू० १७

दशवैकालिक सूत्र में विभिन्न प्रकार की माया करने वाले साधक को उस-उस साधना का 'चोर' कहा गया है। 'जो साधक तपस्वी न होते हुए भी अपने आपको तपस्वी बताता है, वह तप का चोर होता है, वयस्क स्थविर न होते हुए भी किसी के पूछने पर अपने आपको वयःस्थविर बताने वाला वय का चोर है। रूपवान् तेजस्वी देखकर किसी के पूछने पर अपने आपको रूपवान् तेजस्वी व्यक्ति के पुत्र-सा बताने वाला रूप का चोर है। जो अन्दर में अनाचार सेवन करता है, ऊपर से मलिन वस्त्र आदि धारण करके जो स्वयं को शुद्धाचारी या आचारवान् बताता है, वह आचार का चोर है। चोर होकर भी ऊपर से साहूकारी बताने वाला, ठग होकर भी भक्तिभाव प्रकट करने वाला भावों का चोर है।'

ये पाँचों प्रकार के चौर्य वृत्ति के साधक मरकर यदि देवगति प्राप्त करें तो चाण्डाल के समान नीच जाति वाले मिथ्यादृष्टि, अस्वच्छ, घृणास्पद और निन्दापात्र किल्विषी जाति के देव होते हैं। वहाँ से मरकर मूक भेड़-बकरी की योनि प्राप्त करते है। अनन्तकाल तक नीच योनियों में जन्ममरण करता है। उसको बोधि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति दुर्लभ होती है।[1] मायाचार का इतना भयंकर परिणाम जानकर आचार्य महाराज किसी कारण के मिल जाने पर भी कदापि माया-छल का सेवन नही करते। वे भीतर-बाहर विशुद्ध, निश्छल, निर्मल एवं सरलस्वभावी होते हैं। किसी कारणवश छल करने के भाव उत्पन्न हो भी जाएँ तो उन्हें तुरन्त निष्फल कर देते हैं।

(४) **लोभ कषाय**—लालच, प्रलोभन, लालसा, तृष्णा आदि सब लोभ के पर्याय हैं। लोभ मनुष्य के समस्त सद्गुणों का नाशक है।[2] इसके पाश में फँसे हुए प्राणी क्षुधा, तृषा, शीत, ताप, अपमान, पीड़ा, मारपीट, आदि अनेक प्रकार के दुःख पाते है। लोभ के वश में होकर मनुष्य माया-कपट करता है, क्रोध और अभिमान भी करता है। सन्तोष, शान्ति, निःस्वार्थता,

---

१ **तवतेणे, वयतेणे रूवतेणे अ जे नरे।**
आयारभावतेणे य कुव्वइ देवकिब्बिसं॥
लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे। ...
तत्तो वि से चइत्ताणं लब्भइ एलमूअयं।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा॥

—दशवैकालिक अ० ५ गाथा ४६, ४८

२ **'लोहो सव्वविणासणो'** —दशवैकालिक अ०६, गाथा ३८

परोपकार, दया, क्षमा, आत्मीयता आदि की भावना लोभी मनुष्य के हृदय से विदा हो जाती है। इसीलिए लोभ को पाप का बाप[1] कहा गया है।

लोभी मनुष्य चापलूसी, गुलामी, मिष्टभाषिता आदि से धोखेबाजी करके दूसरों को अपने चंगुल में फँसाते हैं। वे अपनी संस्कृति, धर्म, कुलीनता और जातीयता के विरुद्ध कुकृत्य भी कर बैठते है। पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या करने से भी वे नहीं चूकते। पर्याप्त धन हो जाने पर भी लोभी मनुष्य को कभी तृप्ति और सन्तुष्टि नहीं होती। वह अनेक कुकृत्य करके पापों की गठरी सिर पर लादकर हाय-हाय करता और मरकर दुर्गति में जाता है। अतः साधक को किसी प्रकार का लोभ नही करना चाहिए। कदाचित् लोभ का उदय हो जाए तो उसे ज्ञान, वैराग्य और संतोष द्वारा शान्त कर देना चाहिए। इस प्रकार लोभ को सर्वगुणविनाशक दुर्गतिदायक जानकर आचार्य महाराज लोभ का त्याग कर सदैव संतोषमग्न रहते है।

उपर्युक्त चारों कषायों के तीव्र-मध्यम-मन्द-मन्दतर भेद के अनुसार प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं—(१) अनन्तानुबन्धी, (२) अप्रत्याख्यानावरण, (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) सज्वलन। फिर इनका भी बहुत लम्बा चौड़ा-परिवार है।

तत्त्वज्ञ आचार्यश्री इन सब भेदो को भलीभाँति जानते हैं और इनको आध्यात्मिक विकास के अवरोधक मानकर इनका सर्वथा परित्याग करने के लिए प्रयत्नशील रहते है।

पाँच महाव्रतों से युक्त

आचार्यप्रवर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतो को प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाओं सहित तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदित) तीन योग (मन, वचन और काया) से दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं। यद्यपि सामान्य साधु भी पाँच महाव्रतो का पालन करते है और आचार्य भी; किन्तु आचार्यश्री इन पाँचो महाव्रतो का विशेष उपयोगपूर्वक स्वयं भी पालन करते है, संघ के साधु-साध्वीगण को भी दृढ़तापूर्वक पालन करने की प्रेरणा करते है, इनके पालन मे कोई शिथिलता, दोष या मलिनता आ जाए, तो यथोचित प्रायश्चित्त देकर उनकी शुद्धि करते है। पांच महाव्रतो का विवेचन इस प्रकार है—

---

१ 'लोभ पाप का बाप बखाना' —लोकोक्ति

प्रथम—अहिंसा महाव्रत

इसका शास्त्रीय नाम '**सर्वप्राणातिपात-विरमण**'[1] है। अर्थात्—सभी प्रकार के प्राणातिपात जीव-अहिंसा से तीन करण तीन योग से विरत-निवृत्त होना।

इस महाव्रत का जैसे यह निषेधात्मकरूप है, वैसे इसका विधेयात्मक रूप भी है—तीन करण-तीन योग से अहिंसा का पालन करना। इसमें जीवदया, प्राणिरक्षा, अभयदान, सेवा, क्षमा, वात्सल्य, अनुकम्पा, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ्य, आत्मौपम्यभाव आदि अहिंसा के सभी रूप आ जाते हैं।

सर्वप्राणातिपातविरमण का अर्थ—प्राण दस प्रकार के हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण, (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रियबलप्राण, (४) रसेन्द्रियबलप्राण, (५) स्पर्शेन्द्रियबलप्राण, (६) मनोबलप्राण, (७) वचनबल-प्राण, (८) कायबलप्राण, (६) श्वासोच्छ्वासबलप्राण और (१०) आयुष्यबल-प्राण।[2]

प्राणधारक करने वाले को प्राणी (जीव) कहते हैं। दस प्रकार के प्राणों में से ४ प्राण (स्पर्शेन्द्रिय, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य) एकेन्द्रिय (स्थावर) जीवों में पाए जाते हैं। द्वीन्द्रिय जीवों में ६ प्राण (रसनेन्द्रिय और वचनबलप्राण अधिक), त्रीन्द्रिय जीवों में ७ प्राण (एक घ्राणेन्द्रियबलप्राण अधिक); चतुरिन्द्रिय जीवों में ८ प्राण (चक्षु रिन्द्रियबल-प्राण अधिक); असंज्ञी-पंचेन्द्रिय[3] जीवों में ६ प्राण (श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण अधिक) और संज्ञी (समनस्क) पंचेन्द्रिय जीवों में (मनोबल प्राण अधिक होने के कारण) दस प्राण होते है। इन समस्त प्राणधारियों के किसी भी प्राण का अतिपात वियोग (विनाश) करना प्राणातिपात अथवा हिंसा है।[4] इस प्रकार के प्राणातिपात (हिंसा) का तीन करण (कृत-कारित और अनुमोदितरूप) तथा तीन योग (मन-वचन-

---

१ सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

२ जिसके बल—आधार से किसी कार्य में प्रवृत्ति कर सके, उसे बलप्राण कहते हैं।

३ जो जीव माता-पिता के संयोग के बिना उत्पन्न होते हैं तथा मनन करने की विशिष्ट शक्ति से रहित होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं।

४ पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

(काया) से आजीवन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्वथा त्याग करना प्रथम सर्वप्राणातिपात विरमणव्रत है।

प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ

(१) **ईर्या समितिभावना**—स्वपर को क्लेश न हो, इस प्रकार यत्न पूर्वक त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करते हुए भूमि को देखभाल कर या पूंजकर चलना। अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए किसी भी जीव की निन्दा गर्हा या हीलना अथवा हानि नहीं करना।

(२) **मनोगुप्ति भावना**—धर्मनिष्ठ पुरुषों को अच्छा जाने और पापी पुरुषों पर दया लाए कि ये बेचारे अज्ञानतावश पाप कर रहे हैं। इन पापों का दुष्परिणाम उन्हें कितने दुःखपूर्वक भोगना पड़ेगा? इस प्रकार धर्मी-अधर्मी के प्रति मन में समत्व भाव रखना; अथवा मन को अशुभ ध्यान से हटाकर शुभध्यान में लगाना; मन से किसी भी जीव के प्रति वध, बन्ध, क्लेश, पतन, मरण और भय के उत्पादक तथा हानिकारक विचार नही करना।

(३) **एषणासमिति भावना**—वस्त्र, पात्र, आहार, स्थान आदि वस्तुओ की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा, इन तीनो एषणाओं में दोष न लगने देना, निर्दोष वस्तु के उपयोग का स्थान रखना।[1]

(४) **आदाननिक्षेपणसमिति भावना**—वस्त्र, पात्र, आहार, पानी, आदि किसी वस्तु को लेते (उठाते), रखने या छोडते समय प्रमाणोपेत दृष्टि से प्रतिलेखना-प्रमार्जन-पूर्वक ग्रहण करना, रखना एवं छोड़ना।

(५) **आलोकित पान-भोजन-भावना**—भोजन-पान की वस्तु को भली-भाँति देखभाल कर लेना तथा सदैव देखभाल कर, स्वाध्यायदि करके, गुरुआज्ञा प्राप्त कर सयमवृद्धि के लिए शान्त एव समत्वभाव से स्तोक मात्र आहारादि का सेवन करना।[2]

ये पाँच भावनाएँ अहिंसा महाव्रत की रक्षा एवं स्थिरता के लिए हैं।

दिन हो, रात्रि हो, अकेला हो या समूह में हो, सोया हो या जाग रहा हो, कैसी भी परिस्थिति में किसी भी प्रकार की हिंसा कहीं भी नहीं करनी-करानी चाहिए, यही अहिंसा महाव्रत का उद्देश्य है।

---

१ इसके बदले प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'वयपरिजाणइ' भावना (हिंसाकारी, दोषयुक्त, असत्य और अयोग्य वचन न बोलना वचन गुप्ति भावना) है।

२ तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७, सू० ४ के अनुसार ये अर्थ दिये गये हैं।

आचार्य प्रथम महाव्रत का पूर्णरूप से सर्वथा पालन करते-कराते हैं; अहिंसा का आचरण करने-कराने के लिए वे सदा कटिबद्ध रहते हैं।

द्वितीय—सत्य महाव्रत

इस का शास्त्रीय नाम[1] '**सर्वमृषावादविरमण**' है। इसका अर्थ है—**क्रोध, लोभ**, भय अथवा हास्य आदि के वश होकर तीन करण और तीन योग से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से किसी भी प्रकार का मृषावाद (असत्य-झूठ) न बोलना यह इसका निषेधात्मकरूप है। विधेयात्मक रूप है—सर्व प्रकार से सत्य-तथ्य पथ्य, यथार्थ, हितकर, परिमित, निर्दोष वचन बोलना, अथवा मन-वचन-काया से सत्याचरण करना-करना और अनुमोदन कराना सत्य महाव्रत है।

द्वितीय महाव्रत की पाँच भावना

सत्य महाव्रत में स्थिर रहने के लिए पाँच भावनाएँ हैं—

(१) **अनुवीचिभाषण**—निर्दोष, मधुर, सत्य, तथ्य, हितकर वचन विचारपूर्वक बोलना; शीघ्रता और चपलता से बिना विचार किये भाषण न करना; ऐसे शब्दों का प्रयोग न करना जिससे किसी के मन को आघात लगे, किसी का प्राणघात हो, जो कटु हो, जिससे किसी को दुःख हो। तभी सत्य की रक्षा हो सकती है।

(२) **क्रोधवश भाषणवर्जन**—क्रोधवश झूठ बोला जाता है। क्रोधावेश में मनुष्य असत्य, पैशुन्य, कलह, वैर, अविनय आदि अवगुणों को पैदा कर लेता है; तथा सत्य, शील, विनय आदि का नाश कर लेता है। अतः क्रोधावेश हो, तब भाषण न करना, मौन एवं क्षमाभाव रखना।

(३) **लोभवश भाषणवर्जन**—लोभवश झूठ बोला जाता है, उससे सत्य का नाश हो जाता है। अतः जब लोभ का उदय हो, तब सत्य-रक्षा हेतु न बोलना, लोभ का परिहार करके सन्तोष धारण करना।

(४) **भयवश भाषण-त्याग**—भय के वश असत्य बोला जाता है। अतः जब भयविह्वलता या भयोद्रेक हो, तब न बोलना, धैर्य रखना, जिससे सत्यव्रत की रक्षा हो।

(५) **हास्यवश भाषणत्याग**—हँसी मजाक या विनोद में झूठ बोला जाता है। अतः हास्य का उदय होने पर सत्यरक्षा हेतु नहीं बोलना, मौन रखना।[2]

---

१ 'सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।'

२ कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा असच्चं न वएज्जा।

इस प्रकार आचार्यश्री सत्य महाव्रत का पालन तीन करण, तीन योग से दृढ़तापूर्वक करते-कराते और अनुमोदन करते हैं।

तृतीय—अचौर्य महाव्रत

इसका शास्त्रोय नाम है—**सर्व अदत्तादान-विरमण**[1] अर्थात्—सब प्रकार से अदत्तादान—चौर्य से निवृत्त—विरत होना। यह इसका निषेधात्मक रूप है। इस महाव्रत का विधेयात्मक रूप है—आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध, स्थान आदि का निर्दोष रूप से ग्रहण तथा उपभोग (उपयोग या सेवन) करना।

तात्पर्य यह है कि वस्तु ग्राम, नगर या जंगल में हो, वस्तु अल्प मूल्य की हो, या बहुत मूल्य की हो, छोटी (अणु) हो या बडी (स्थूल) हो, सजीव (सचित्त—पशु, पक्षी, मनुष्य आदि) हो अथवा निर्जीव (वस्त्र-पात्र, आहार—स्थानादि अचित्त) हो; उसके स्वामी की आज्ञा इच्छा, या दिये बिना तीन करण (कृत-कारित-अनुमोदित रूप) से तथा तीन योग (मन-वचन-काया) से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ग्रहण न करना अदत्तादान विरमण (अचौर्य) महाव्रत कहलाता है।

अदत्त के पाँच प्रकार

(१) **देव-अदत्त**—तीर्थंकर देव की जिस वस्तु (साधुवेष आचार आदि) की आज्ञा है, उसका उल्लघन करके मनमाना वेष, आचार-विचार-प्ररूपण आदि करना देवअदत्त है, अथवा जो वस्तु व्यवहार में किसी के स्वामित्व या अधिकार की नही है, उस वस्तु का मालिक शक्र-देवेन्द्र या कोई देव होता है, जैसे—स्थण्डिल भूमि या मार्ग की रेत आदि। उक्त देव की आज्ञा के बिना लेना भी देव अदत्त है।

(२) **गुरु-अदत्त**—अपने से दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ (साधु अथवा गुरु या आचार्यादि बडे साधु 'गुरु' कहलाते है। उनकी वस्त्र, पात्र, आहार-पानी, स्थान आदि तथा स्वाध्याय—ध्यानादि प्रवृत्तियो के विषय में अनुज्ञा न लेना या उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना गुरु-अदत्त है।

(३) **राजा-अदत्त**—जिस देश, प्रान्त या जनपद का जो शासनकर्त्ता हो, उसकी उस क्षेत्र में विचरण करने या रहने की आज्ञा लेनी साधक के लिए अनिवार्य है। शासक की आज्ञा न लेना, राजा-अदत्त है।

---

१ सव्वाओ आदिण्णादाणाओ वेरमणं।

(४) **गृहपति-अदत्त**—जिस गृहस्थ के स्वामित्व का मकान, वस्त्र, या साधु के लिए ग्राह्य कोई भी वस्तु हो तो उसकी आज्ञा या स्वीकृति सम्मति; के बिना ग्रहण करना—गृहपति-अदत्त है, अथवा स्वामि-अदत्त है। सभी अपने-अपने शरीर या अंगोपांग के स्वामी हैं, इसलिए स्वामि-अदत्त का यह अर्थ भी है कि किसी जीव की बिना अनुमति-सम्मति के उसका शरीर, या अंगोपांग को काटना, प्राण हरण कर लेना या अपहरण करना।

(५) **सार्धर्मि-अदत्त**—साधु के उसी संघ या अन्य गच्छ गण या संघ में जितने भी साधु-साध्वी हैं, वे सब साधर्मी हैं। साधर्मी चार तरह से होते हैं—वेष से, क्रिया से, सम्प्रदाय से या धर्म से। इन चारों प्रकार के सार्धर्मिकों में परस्पर एक दूसरे के उपकरणों, वस्त्र-पात्रों या अन्य वस्तुओं को उनकी अनुमति या इच्छा के बिना ग्रहण करना सार्धर्मि-अदत्त है। इन सबका अदत्त (बिना अनुमति के) ग्रहण करना अदत्तादान है[1]।

तृतीय महाव्रत की पाँच भावनाएँ

(१) **अनुवीचि-अवग्रह याचन**—सदैव द्रव्य, क्षेत्र, काल की मर्यादा के अनुसार सम्यक् विचार करके उपयोग के लिए आवश्यक स्त्री-पशु-नपुंसक रहित शुद्ध, निर्दोष, सचित्त पृथ्वी-जलादि स्थावर-त्रसजीवरहित अवग्रह स्थान की याचना करना।

(२) **अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन**—सचित्त (शिष्य आदि), अचित्त (तृण स्थान आदि) तथा मिश्र (उपकरण सहित शिष्य आदि) के जो-जो स्वामी (राजा, गृहपति, शय्यातर आदि) हों, उनसे एक बार ग्रहण करने के बाद उसके स्वामी ने वापिस ले लिया हो या उसे सौंप दिया गया हो, किन्तु रोगादि कारणवश विशेष आवश्यक होने पर उसके स्वामी से बार-बार आज्ञा लेकर ऐसी मर्यादा से ग्रहण करना, ताकि उसे क्लेश न होने पाए।

(३) **अवग्रहावधारण**—निर्दोष स्थान उसके स्वामी या अधिकृत नौकर आदि की आज्ञा से ग्रहण करना, याचना करते समय ही अवग्रह का परिमाण निश्चित कर लेना अवग्रहावधारण है। आज्ञा ली जाने पर साधु के लेने योग्य जो पदार्थ पहले से पड़े हों, (कंकर आदि) उन्हें ही ग्रहण करना।

---

[1] जैन तत्त्व प्रकाश में अदत्त के ४ भेद बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) स्वामी-अदत्त, (२) जीव-अदत्त, (३) तीर्थंकर-अदत्त और (४) गुरु-अदत्त।

—जैन तत्त्व प्रकाश पृ० १३६

(४) **साधर्मिक-अवग्रह याचन**—एक साथ रहने वाले साधर्मी (सांभोगिक) साधुओं के वस्त्र-पात्र आदि उनकी आज्ञा लेकर ग्रहण करना अथवा अपने से पहले दूसरे किसी साधर्मी साधु ने कोई स्थान माँगकर ले रखा हो और उसी स्थान को उपयोग में लाने का प्रसंग आ जाए तो उस साधर्मिक से स्थान की याचना करना **साधर्मिक-अवग्रह-याचन** है।

(५) **अनुज्ञापित पान-भोजन**—विधिपूर्वक लाये हुए आहार, वस्त्र आदि का उपभोग गुरु आदि ज्येष्ठ मुनि की आज्ञा के बिना न करना, **अनुज्ञापित पान-भोजन** है।[१] इसके अतिरिक्त गुरु, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, ज्ञानी और नवदीक्षित मुनि की वैयावृत्य करना; क्योंकि वैयावृत्य से तप होता है, जो धर्म (कर्त्तव्य) का रूप है। कर्त्तव्य से जी चुराना भी अदत्तादान है। उससे विरत होना चाहिए।[२]

आचार्य श्री इन सब प्रकार के अदत्तादान का मन, वचन, काया तथा कृत-कारित-अनुमोदितरूप से त्याग करते है।

चतुर्थ—ब्रह्मचर्य महाव्रत

इसका शास्त्रीय नाम 'सर्व-मैथुनविरमण महाव्रत'[१] है। अर्थात्—देवी, मानुषी और तिर्यञ्ची के साथ तीन करण तीन योग से सर्व प्रकार से मैथुन सेवन का त्याग करना मैथुनविरमण महाव्रत है। यह इसका निषेधात्मकरूप है। इसका विधेयात्मकरूप है—मन, वचन, काया से कृत-कारित-अनुमोदित-रूप से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्यमहाव्रत है।

चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाएँ

(१) **स्त्रीपशुपण्डकसेवित (संसक्त) शयनासनवर्जनता**—स्त्री, पशु और

---

१ आवश्यकसूत्र में तृतीय महाव्रत की पाँच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है—
(१) उग्गह अणुण्णावणया, (२) उग्गहसीमजाणणया, (३) सयमेव उग्गहाणुगिण्हणया, (४) अणुण्णवियपरिभुंजणया, (५) साहारणभत्तपाणं अणुण्णावियपडिभुंजणया।

२ जैन तत्त्व प्रकाश में पाँच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है—(१) 'मिउग्गहजाती' भावना, (२) 'अणुण्णवियपाणभोयण' भावना (३) 'उग्गहंसि उग्गहिसंसि' भावना, (४) 'उग्गहं वा उग्गहंसि अभिक्खणं' भावना और (५) अणुण्णविय मिउग्गहंजाती भावना।
—जैन तत्त्व प्रकाश पृ० १२५

१ 'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।'

नपुंसकसेवित स्थान, शयन और आसन से कामोद्दीपन की संभावना रहती है, अतः उनका त्याग करना।

(२) **स्त्रीयुक्तस्त्रीकथावर्जनता**—स्त्री के हाव-भाव, विलास और शृंगार आदि की काम-रागवर्द्धक बातें या कथाएँ न करना; न ही स्त्रियों में बैठकर कथा करना अन्यथा स्त्रीकथा करने से किसी भी समय उसका मन विचलित होने की संभावना है।

(३) **मनोहरइन्द्रियालोकन वर्जनता**—स्त्रियों की मनोरम इन्द्रियों, हाथ-पैर, नेत्र आदि अंगों, रूप, वर्ण, यौवन, संस्थान एवं कामचेष्टाओं को विकार-दृष्टि से न देखना, अन्यथा कामोद्दीपन की सम्भावना है, जिससे ब्रह्मचर्य-समाधि का नाश हो सकता है।

(४) **पूर्वरतविलास (क्रीड़ा) अननुस्मरणता**—ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पूर्व के भुक्त या साहित्य में पठित भोग-विलासों, कामचेष्टाओं एवं रति-क्रीड़ा आदि का स्मरण न करना; क्योंकि ऐसा करने से कामविकार जागृत होगा, ब्रह्मचर्यरक्षा में बाधा उत्पन्न होगी।

(५) **प्रणीतरस भोजन (आहार) वर्जनता**—कामोत्तेजक, उन्मादवर्द्धक (मादक द्रव्यों) एवं विकृतिवर्द्धक (दधि-दुग्ध-घृतादि) सरस, स्निग्ध एवं स्वादिष्ट या मर्यादा से अधिक खान-पान का त्याग करना; अन्यथा कामविकार उत्पन्न होने से उसका परिणाम ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होगा।

अतः इन पाँच भावनाओं द्वारा ब्रह्मचर्यमहाव्रत की सुरक्षा करनी चाहिए।

ब्रह्मचर्यव्रत के भंग से प्रायः पांचों महाव्रतों का भंग हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचर्यमहाव्रत साधु-साध्वी के लिए सबसे महान् व्रत है।

आचार्यश्री मैथुन-सेवन से सर्वथा विरत होकर अहर्निश ब्रह्मचर्य में रत रहते हैं।

पंचम—अपरिग्रह महाव्रत

इसका शास्त्रीय नाम है—सर्व-परिग्रह-विरमण महाव्रत।[1] अर्थात्—अल्प हो या बहुत, छोटा हो या बड़ा, सचित्त हो या अचित्त, विद्यमान हो

---

१ सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

हो अविद्यमान, बाह्य (द्रव्य) हो या आभ्यन्तर (भाव) सब प्रकार के परिग्रहों का तीन करण तीन योग से त्याग करना। जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण संयम निर्वाह के लिए रखे है, उन पर भी ममता-मूर्च्छा का त्याग करना पाँचवाँ सर्व-परिग्रह-विरमण या अपरिग्रह महाव्रत है।

पंचम महाव्रत की पाँच भावनाएँ

रागोत्पादक मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पर राग न करना—न ही ललचाना तथा द्वेषोत्पादक अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पर द्वेष-रोष न करना, अप्रसन्न न होना; ये ही पाँच भावनाएँ हैं,[1] जिनका नाम क्रमशः मनोज्ञामनोज्ञ शब्द समभाव, मनोज्ञामनोज्ञ रूप समभाव, मनोज्ञामनोज्ञ रस समभाव, मनोज्ञामनोज्ञ गन्ध समभाव और मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श समभाव है।[2]

आचार्यश्री बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों[3] तथा उपकरण, शरीरादि, की ममता-मूर्च्छा से दूर रहकर पूर्णतः अपरिग्रह महाव्रत का पालन करते हैं।

पंचविध-आचार-पालन समर्थ

आचार्य पाँच प्रकार के आचार का प्रत्येक परिस्थिति में पालन करने में समर्थ होते हैं। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, वे आचार मर्यादाओं का प्राणप्रण से पालन करते हैं। आचार्य के लिए **आचारः प्रथमो धर्मः**[4] (आचार-पालन या धर्माचरण अथवा पंचविध आचार प्रथम धर्म) होता है।

वे आचरणीय पाँच आचार इस प्रकार हैं— (१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तप-आचार और (५) वीर्याचार।

पंचाचारप्रपालक आचार्य पाँचों आचारों का निष्ठापूर्वक पालन किस प्रकार से करते हैं, इसका क्रमशः विश्लेषण निम्नोक्त है—

---

१ आवश्यकसूत्र में पाँच भावनाओं के नाम इस प्रकार हैं—'सोइंदियरागोवरई, चक्खिदियरागोवरई, घाणिंदियरागोवरई, जिब्भिंदियरागोवरई, फासिंदियरागोवरई।'

२ तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० ३ पर विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ० १६६

३ 'शास्त्र में बाह्य परिग्रह १४ प्रकार के तथा आभ्यन्तर परिग्रह भी १४ प्रकार के बताये हैं तथा शरीर, कर्म और उपधि ये त्रिविध परिग्रह भी हैं।'

४ मनुस्मृति

ज्ञानाचार-पालन

ज्ञानाचार का अर्थ है—ज्ञान को आचरण में लाना, आचाररूप में उतारना। ज्ञान को केवल बघारने या दिमाग में ठूंस लेने का नाम ज्ञानाचार नहीं है, अपितु ज्ञान-प्राप्ति, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एवं शास्त्रीय ज्ञान की उपलब्धि के लिए यथासम्भव उपायों से प्रयत्न करना; ज्ञानाराधना के लिए जो भी तप, जप, विनय, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि करना पड़े करना; ज्ञानार्जन करने-कराने के लिए निष्ठापूर्वक पुरुषार्थ करना; ज्ञान और ज्ञान के साधनों तथा ज्ञानी पुरुषों की आशातना न करना, बल्कि विनय-बहुमान करना; ज्ञान एवं ज्ञानी के प्रति विनीत रहना; तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों तथा आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों एवं ग्रन्थों का पठन-पाठन करना; संघ में ज्ञान प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न करना आदि ज्ञानाचार है।

वस्तुतः किसी भी हेय-उपादेय वस्तु को त्यागने-ग्रहण करने से पूर्व उसका स्वरूप जानना आवश्यक होता है, तत्पश्चात् उपादेय वस्तु का ज्ञान होने पर उसे आचरण में लाने या उसे पाने का उपाय जानना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से भी ज्ञान आचरणीय—आराधनीय वस्तु है।

सम्यग्ज्ञान ही साधक के जन्म-जन्मों के कर्मबन्धनों को काट सकता है, मुक्ति प्राप्त करा सकता है। ज्ञानाग्नि ही समस्त कर्मों को भस्म कर सकती है। अज्ञान, मोह एवं राग-द्वेष को दूर करने के लिए ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।[1]

आचार्य महाराज ज्ञानसम्पन्न होकर ज्ञान की स्वयं आराधना करते हैं, दूसरों को भी ज्ञानसम्पन्न बनाने का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञान के आठ आचार

शास्त्र में ज्ञान-प्राप्ति के लिए अष्टविध आचार-मर्यादाओं का पालन बताया है—वे आठ ज्ञानाचार ये हैं—(१) काल, (२) विनय, (३) बहुमान, (४) उपधान, (५) अनिह्नव, (६) व्यञ्जन, (७) अर्थ और (८) तदुभय।

(१) काल—ज्ञानार्जन के लिए दिवस और रात्रि के प्रथम और

---

१ (क) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! —गीता, अ० ४ श्लोक ३७

(ख) 'नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।

—उत्तरा० अ० ३२ गा. २

अन्तिम चार प्रहर में कालिक एवं अन्य काल में उत्कालिक शास्त्रों का मूल-अर्थ सहित स्वाध्याय (अध्ययन-अध्यापन) अस्वाध्याय (अस्वाध्याय के निमित्त) दोषों को वर्जित करते हुए स्वाध्यायकाल में करना। दूसरे शब्दों में यथोक्तकाल में ज्ञानार्जन करना।

(२) **विनय**—विनयपूर्वक ज्ञानार्जन करना विनयाचार है। ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा रखकर ज्ञानदान में निमित्त शास्त्रों एवं ग्रन्थों को नीचे एवं अपवित्र स्थान में न रखना, ज्ञानी को अपने से नीचे आसन पर न बिठाना, न ही उनकी आशातना करना, ज्ञानी की आज्ञा एवं सेवा में रहकर उन्हें यथोचित आहार, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि के द्वारा साता पहुँचाना, वे जब शास्त्र का व्याख्यान करें तब श्रद्धा, आदर और एकाग्रता के साथ उनके वचनों को तथ्य कहकर स्वीकार करना।

(३) **बहुमान**—गुरु आदि ज्ञानदाता का बहुमान-सम्मान करना, शास्त्रोक्त ३३ प्रकार की आशातनाओं का त्याग करना बहुमान—ज्ञानाचार है।

(४) **उपधान**—शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व और पश्चात् उपधानतप (आयम्बिल आदि शास्त्रविहित तप) करना। उपधान तपोविधि-पूर्वक शास्त्राध्ययन करना।

(५) **अनिह्नव**—ज्ञानदाता छोटे हों या अप्रसिद्ध हों, उनका नाम या ज्ञानदायक शास्त्र या ग्रन्थ का नाम न छिपाना, उनका उपकार न भूलना; न ही उनके दूसरे किसी बड़े और प्रसिद्ध विद्वान या ज्ञानदायक ग्रन्थ का नाम बताना।

(६) **व्यंजन**—शास्त्र के व्यंजन, स्वर, गाथा, अक्षर, पद, अनुस्वार, विसर्ग, लिंग, काल, वचन आदि जानकर भलीभाँति समझकर न्यूनाधिक या विपरीत उच्चारण न करना। पाठ का व्याकरणसम्मत शुद्ध उच्चारण करना।

(७) **अर्थ**—शास्त्र का सिद्धान्तानुसार जो अर्थ होता हो, वही अर्थ करे, विपरीत या मनमाना अर्थ न करे। न ही सही अर्थ को छिपावे।

(८) **तदुभय**—मूल पाठ और अर्थ में व्यत्यय (विपरीतक्रम) न करे। पूर्ण शुद्ध और यथार्थ पाठ तथा उसका अर्थ पढ़े-पढ़ावे, सुने-सुनावे।[1]

---

१ 'कालेविणए बहुमाणे, उवहाणे तह यऽणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो ॥'

दर्शनाचार-पालन

दर्शन के आठ आचार

दर्शन के आठ आचार वस्तुतः सम्यग्दर्शन की विशुद्धि और दृढ़ता के आठ आचार हैं। दर्शन शब्द का अर्थ यहाँ देखना नहीं, किन्तु दृष्टि, रुचि, श्रद्धा या प्रतीति है। तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान करना अथवा पदार्थ का जैसा स्वरूप है, उस पर उसी रूप से श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। मिथ्यादर्शन इससे विपरीत होता है। सत्य को मिथ्यारूप में देखना, मिथ्या श्रद्धा, विपरीत प्रतीति या प्रतिकूल रुचि करना मिथ्यादर्शन है।

आचार्यश्री में मिथ्यादर्शन बिलकुल नहीं होता। उनका सम्यग्दर्शन भी आठ अंगों या गुणों से परिपुष्ट होता है। इसलिए वे स्वयं तो सम्यग्दर्शन-सम्पन्न होते ही हैं, दूसरों को भी सम्यग्दर्शन से युक्त बनाते हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ आचार अथवा आचरणीय गुण आठ होते है। वे इस प्रकार हैं—(१) निःशंकित, (२) निष्कांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।[१]

ये आठ अंग दर्शन को आचरण में लाने के लिए आठ प्रकार के प्रयत्न हैं, जो दर्शन को सम्यक्, प्रशस्त एवं सुदृढ़ बनाते हैं। इनका क्रमशः विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) **निःशंकित**—अपनी अल्प बुद्धि एवं अल्पज्ञता के कारण शास्त्र में उल्लिखित तत्त्वज्ञान की या अतीन्द्रिय पदार्थ की बात समझ में न आने पर भी सर्वज्ञ-वचनों अथवा वीतरागप्ररूपित तत्त्वों या सिद्धान्तों के प्रति अश्रद्धा या शंका न करना निःशंकितता है। शंकाग्रस्त व्यक्ति संशय (भ्रम), विपर्यय और अनध्यवसाय के चक्कर में पड़कर सम्यग्दर्शन से विचलित हो जाता है, किन्तु निःशंकित व्यक्ति संशयादि के चक्कर में न पड़कर शास्त्रज्ञ पुरुषों से समाधान प्राप्त करता है, हठाग्रही बुद्धि नहीं रखता, अतीन्द्रिय बातों के विषय में वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता है। जिस प्रकार रत्न के मूल्य से अनभिज्ञ व्यक्ति जौहरी के वचनों पर विश्वास और प्रतीति रखकर तदनुसार व्यवहार करते हैं, उसी

---

१ निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे वच्छल-पभावणे अट्ठ ॥

प्रकार जिनोक्त वचनों पर सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति विश्वास एवं श्रद्धा रखकर चलता है। वह जानता और मानता है कि वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुष हैं, वे कभी न्यूनाधिक नहीं कह सकते, न ही किसी को विपरीत व असत्य कह सकते हैं, क्योंकि उनमें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। उनके अनन्त केवलज्ञान में जिस प्रकार पदार्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं, उसी प्रकार उन्होंने प्रकाशित किये हैं।[1] इस प्रकार की दृढ़, निःशंक श्रद्धा एवं प्रतीति रखना निःशंकित आचार है।

आचार्य निःशंकित दर्शनाचार से सम्पन्न होते हैं।

(२) **निष्कांक्षित**—अन्यतीर्थिकों—दूसरे धर्म सम्प्रदायों या मिथ्यामतावलम्बियों के आडम्बर, चमत्कार, हस्तकौशल, प्रदर्शन, महिमा-पूजा, इन्द्रियाकर्षक गायन-वादन या भोगविलास के दौर देखकर उस मत, पंथ, धर्म-सम्प्रदाय या तीर्थ का स्वीकार करने की आकांक्षा न करना और ऐसा भी न कहना कि ऐसा अपने धर्म-सम्प्रदाय में होता तो अच्छा रहता; क्योंकि आडम्बर, चमत्कार-प्रदर्शन आदि से आत्मा का कल्याण नहीं होता। आत्मकल्याण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप-संयम से तथा इन्द्रिय-निग्रह से ही होता है।

इस प्रकार के निष्कांक्षित आचार से सम्पन्न आचार्य होते हैं।

(३) **निर्विचिकित्सा**—धर्मकरणी के फल में सन्देह को विचिकित्सा कहते हैं—धर्मक्रिया के फल में सन्देह नहीं करना निर्विचिकित्सा है। साधक ऐसा भाव मन में भी न लाए कि मुझे इतने-इतने वर्ष तपस्या करते-करते या अमुक धर्माचरण करते-करते हो गये, इसका कुछ भी फल दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अब आगे क्या होने वाला है? इतना कष्ट सहने का फल कौन जाने मिलेगा या नहीं?

निर्विचिकित्सा से सम्पन्न दर्शनाचार वाला साधक फलाकांक्षा भी नहीं करता और फल के विषय में सन्देह भी नहीं करता। जैसे उर्वरा भूमि में बोया हुआ बीज पानी का संयोग मिलने पर कालान्तर में फलदायी होता है, वैसे ही आत्मारूपी क्षेत्र में बोया हुआ धर्मक्रिया का बीज शुभपरिणामरूपी जल का संयोग पाकर कालान्तर में यथासमय अवश्य ही फलदायी होगा; इस प्रकार की फलाशंकारहित श्रद्धा आचार्यश्री की निर्विचिकित्सा-दर्शनाचार-सम्पन्नता को सूचित करती है।

---

१ 'तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।' —भगवतीसूत्र

(४) **अमूढदृष्टि**—सभी देवों, गुरुओं, धर्मों (मत-पंथों) को एक-सा समझना देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता आदि है। इन मूढ़ताओं से रहित होकर सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म को, अठारह दोषरहित अरिहन्त देवों को तथा पंचमहाव्रती निर्ग्रन्थ गुरु को ही क्रमशः धर्म, देव एवं गुरु समझना। अपना अहोभाग्य समझना कि मुझे उत्तम देव, गुरु और धर्म की प्राप्ति हुई है, इन तीनों तत्त्वों को युक्ति, अनुभूति और प्रतीतिपूर्वक जानना और मानना अमूढ़दृष्टि है।

आचार्य इस दर्शनाचार से सम्पन्न होते हैं।

(५) **उपबृंहण**[1]—सम्यग्दृष्टि और साधर्मी के सद्गुणों की शुद्ध मन से प्रशंसा करके उनके उत्साह और सद्गुणों में वृद्धि करना, उनकी सेवा शुश्रूषा एव धर्म-सहायता करके उनकी धर्मरुचि को प्रोत्साहन देना।

आचार्यश्री में उपबृंहण दर्शनाचार कूट-कूटकर भरा होता है।

(६) **स्थिरीकरण**—किसी धार्मिक पुरुष का चित्त उपसर्ग आने से या अन्यतीर्थिकों के संसर्ग के कारण धर्म से विचलित हो रहा हो तो उसे स्वयं उपदेश एवं प्रेरणा देकर या किसी प्रकार से धर्मपालन में सहयोग देकर, अथवा किसी सद्गृहस्थ से उसे सहायता दिलवाकर पुनः धर्म में उसका चित्त या परिणाम स्थिर करना, धर्म में दृढ़ करना स्थिरीकरण नामक दर्शनाचार है।

आचार्यश्री तो इस स्थिरीकरण दर्शनाचार से पद-पद पर अभ्यस्त होते हैं।

(७) **वात्सल्य**—जैसे गाय बछड़े पर प्रीति रखती है, उसी प्रकार स्वधर्मी जनों पर प्रीति रखना, रोगी, वृद्ध, तपस्वी, ज्ञानी एवं स्थविरों की आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, स्थान आदि से सेवा करना, स्वधर्मी संघ को सुख-शान्ति पहुँचाना, संघ पर आपत्ति एवं उपसर्ग आए तो स्वयं कष्ट सहकर भी उसका निवारण करना वात्सल्य आचार है।

आचार्यश्री वात्सल्य दर्शनाचार से सम्पन्न होते हैं।

(८) **प्रभावना**—आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से प्रभावशील बनाना आन्तरिक प्रभावना है, दुष्कर क्रिया, व्रताचरण, अभिग्रह, कवित्वशक्ति, पाण्डित्य, वादशक्ति, प्रवचनशक्ति आदि द्वारा धर्म को दिपाना, बाह्य प्रभावना है।

---

१ कहीं इसके बदले 'उपगूहन' शब्द भी है। जिसका अर्थ है—साधर्मिकों की गुह्य बातों को धैर्यपूर्वक गुप्त रखना, उसका प्रचार-प्रसार न करना। —सं०

आचार्य इस प्रभावनाचार से युक्त होते हैं।

दर्शन सम्बन्धी इन आठ आचारों का आचार्यश्री स्वयं पालन करते हैं और दूसरों से पालन कराते हैं। इनके पालन से आचार्यश्री का सम्यग्दर्शन पुष्ट और समृद्ध होता है।

चारित्र आचार

जो आत्मा को क्रोधादि चारों कषायों से अथवा नरकादि चारों गतियों से बचाकर मोक्षगति में पहुँचाता है, वह चारित्राचार कहलाता है। अथवा जो आठ कर्मों को चरे, भक्षण (क्षय) करे, ऐसा आचार—चारित्राचार है। चारित्र के दोषो से यत्नपूर्वक बचकर आत्मा को चारित्र के गुणों में स्थिर करना चारित्राचार का उद्देश्य है।

चारित्र के आठ आचार

"पाँच समितियो और तीन गुप्तियो में प्रणिधानयोग (मन-वचन-काया की एकाग्रता या उपयोग) से युक्त होना, यह अष्टविध चारित्राचार समझना चाहिए।"[1]

पाँच समितियाँ

(१) **ईर्यासमिति**—यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्यासमिति है। इसका पालन चार प्रकार से होता है। (१) **आलम्बन** (ईर्यासमिति युक्त साधक के लिए रत्नत्रय ही अवलम्बन है); (२) **काल** (दिन को देखे बिना और रात्रि को लघुशंका-बड़ीशंका आदि के लिए पूंजे बिना गमनागमन न करना; सूर्यास्त के बाद विहार न करना); (३) **मार्ग** (उन्मार्ग में अथवा दिन में बिना देखे हुए मार्ग में गमनागमन करने से जीवों की विराधना होती है, ऐसा समझकर ऐसे मार्ग में गमनामगमन न करना।) (४) **यतना** (चार प्रकार से—***द्रव्य से***—भूमि देखकर चलना, ***क्षेत्र से***—गाड़ी की धूसरी-प्रमाण ३।। हाथ भूमि देखकर चलना, **काल से**—दिन को देखकर और रात्रि को पूंजकर गमनागमन करना और **भाव से**—मार्ग में गमन करते समय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के विषयों में प्रवृत्त न हो तथा वाचना, पृच्छा, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, इस पाँच प्रकार के स्वाध्याय में भी प्रवृत्त न हो)।

---

१ पणिहाणजोगजुत्तो पंच समिईहिं तिहिं गुत्तीहिं।
एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो ।।

(२) **भाषासमिति**—यतनापूर्वक बोलना। भाषासमिति का पालन ४ प्रकार से किया जाता है। **द्रव्य से**—कर्कश, कठोर, हिंसाकारी, छेदक, भेदक, पीड़ाकारी, सावद्य, मिश्र, क्रोधकारक, मानकारक, मायाकारक, लोभकारक, राग-द्वेषकारक, मुखकथा (अप्रीतिकारी सुनी-सुनाई बात), चार प्रकार की विकथा यों १६ प्रकार की भाषा न बोलना। **क्षेत्र से**—मार्ग में चलते समय वार्तालाप न करना, **काल से**—एक पहर रात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात् जोर-जोर से उच्च स्वर से न बोलना। **भाव से**—राग-द्वेषरहित अनुकूल, सत्य, तथ्य, शुद्ध वचन बोलना।

(३) **एषणा समिति**—शय्या (स्थान), वस्त्र, पात्र, आहार आदि की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा करके दोष रहित सेवन करना एषणा-समिति है। इसके पालन के चार प्रकार हैं—**द्रव्य से**—४७ दोषों (४२ आहार के और पाँच मण्डल के), अथवा इनके सहित ९६ दोषों से रहित शय्या, आहारादि का उपभोग करना, **क्षेत्र से**—दो कोस से आगे आहार-पानी ले जाकर सेवन न करना, **काल से**—प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहारादि अन्तिम (चौथे) पहर में सेवन न करना और **भाव से**—संयोजना आदि मण्डल के पाँच दोषों से दूर रहकर आहारादि का उपभोग करना। विधिपूर्वक यथाप्राप्त आहारादि में संतोष करना, आहारादि पर राग-द्वेष न करना।

(४) **आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति**—उपकरणों को यतनापूर्वक उठाना और रखना। उपकरण दो प्रकार के होते हैं—अवग्रहिक (सदा उपयोग में आने वाले, जैसे—रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) और औपग्रहिक (प्रयोजनवश उपयोग में आने वाले जैसे—पट्टा, चौकी आदि)। जो भी उपकरण अपने निश्राय में हों, उनका प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना तथा ममत्व रहित होकर उपयोग करना या रखना इस समिति का उद्देश्य है। इस समिति के पालन के चार प्रकार हैं—**द्रव्य से**—भाण्ड, उपकरण यतनापूर्वक ग्रहण करे, रखे, व्यर्थ ही जोर-जोर से पटक कर तोड़े-फोड़े नहीं। **क्षेत्र से**—गृहस्थ के घर में रखकर ग्रामानुग्राम विहार न करे, क्योंकि ऐसा करने से प्रतिलेखनादि नहीं हो पाती। **काल से**—उभयकाल वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना विधिपूर्वक करे। **भाव से**—उपकरणों को बिखेरकर न रखे, जो उपकरण रखे, उस पर भी ममता-मूर्च्छा न करे।

(५) **परिष्ठापनिका समिति**—उच्चार (बड़ी शंका), प्रस्रवण (लघुशंका-पेशाब), प्रस्वेद, (पसीना), मैल, कान-नाक का मैल, वमन, कफ, बाल, भुक्तशेष जलादि, मृतकशरीर आदि अनुपयोगी वस्तुओं का यतनापूर्वक परिष्ठापन करना—डालना पंचम समिति है। चार प्रकार से इसका पालन

होता है—**द्रव्य से**—दस बोल वर्जित करके परिठावे, अर्थात्—विषम, दग्ध, बिल, गड्ढा अप्रकाशित आदि स्थानों में न परिठावे। **क्षेत्र से**—परिष्ठापन स्थान के स्वामी की या स्वामी न हो तो शक्रेन्द्रमहाराज की आज्ञा लेकर उक्त वस्तुओं को परठे। **काल से**—दिन में जगह को भलीभाँति देखकर तथा रात्रि को पूंज कर परठे। **भाव से**—शुद्ध उपयोग सहित परठे। परठने जाते समय 'आवस्सहि-आवस्सहि' कहे, परठने के बाद तीन बार 'वोसिरे-वोसिरे' कहे। स्थान पर आकर ईरियावाहिया का प्रतिक्रमण करे।

तीन गुप्तियाँ

(१) **मनोगुप्ति**—मन को आरम्भ, सरंभ और समारम्भ में, पंचेन्द्रिय-विषयो में, कषायो में प्रवृत्त होने से रोकना तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से हटाकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लगाना पापमय-सावद्य चिन्तन-मनन से मन को रोकना मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति से अशुभ कर्म आते हुए रुकते हैं (संवर होता है), मन पर संयम और नियंत्रण करने से कर्मबन्ध रुकता है, आत्मा की निर्मलता बढ़ती है।

(२) **वचनगुप्ति**—आरम्भ-समारम्भ आदि में प्रवृत्त करने वाले सावद्य वचनो का त्याग करके हित, मित, तथ्य, पथ्य, सत्य एवं निरवद्य (निर्दोष) वचन बोलना, प्रयोजन न होने पर मौन रखना वचनगुप्ति है। वचनगुप्ति का पालन करने से साधक अनायास ही अनेक दोषों से बच जाता है।

(३) **कायगुप्ति**—काया को आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ की प्रवत्ति से, सावद्य कार्यों से, पापकर्मों मे प्रवृत्त होने से रोकना और समता भाव, तप, सयम, ज्ञानार्जन आदि संवर-निर्जराजनक कार्यों में प्रवृत्त करना कायगुप्ति है।[1]

इस प्रकार पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ मिलकर आठ प्रकार से मन-वचन-काया को लगाना तथा अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति करना, आत्मस्वरूप में रमण करना अष्टविध चारित्राचार है।

आचार्य महाराज इन आठों (अष्टप्रवचनमाता) का निर्दोषरूप से स्वयं पालन करते हैं और संघस्थित साधु-साध्वियों से पालन कराते हैं।

तपाचार

आत्मा आठ कर्मों से मलिन बनती है, उसे शुद्ध करने के लिए तप

---

१ देखें—उत्तराध्यन सूत्र २४वाँ 'पवयणमाया' अध्ययन

उत्कृष्ट साधन है। विधिपूर्वक तपस्या से कर्मों की निर्जरा (एकदेश से क्षय) होती है। जिस प्रकार मिट्टी आदि मिला हुआ सोना अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्यारूपी अग्नि में तपकर कर्ममल से मलिन आत्मा शुद्ध हो जाता है, वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

तप के बारह आकार

उत्तराध्ययन सूत्र में तप के भेद-प्रभेदों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

मुख्य रूप से तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप छह प्रकार का है—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी (अवमौदर्य), (३) भिक्षाचरी (या वृत्तिपरिसंख्यान), (४) रस परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता (या विविक्तशयनासन)।[१]

आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग (अथवा कायोत्सर्ग)।

बाह्य-तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से कर्मों की अधिक निर्जरा होती है। बाह्य तप प्रायः प्रत्यक्ष होते हैं और आभ्यन्तर तप प्रायः गुप्त या परोक्ष होते हैं।

छह प्रकार के बाह्य तप की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) अनशन तप

अशन (अन्न), पान (जलादि पेय वस्तु), खाद्य (पक्वान्न, मेवा, मिष्टान्न आदि) और स्वाद्य (मुख को सुवासित करने वाले इलायची, सुपारी आदि) चारों प्रकार के पदार्थ 'अशन' शब्द से गृहीत होते हैं। ये चारों प्रकार के या 'पान' को छोड़कर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना 'अनशन' तप कहलाता है।

अनशन तप मुख्यतया दो प्रकार का है—इत्वरिक (काल की मर्यादा-युक्त अनशन) और यावत्कथिक (जीवनपर्यन्त किया जाना वाला अनशन।)

---

१ (क) अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः। —तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र १९

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३० गा० ७ से ३६ तक

इत्वरिक अनशन तप छह प्रकार का है—(१) श्रेणीतप, (२) प्रतर-तप, (३) घनतप, (४) वर्गतप, (५) वर्गावर्गतप और (६) प्रकीर्णकतप।

श्रेणीतप—चतुर्थभक्त (उपवास), षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला), चोला, पंचौला, यों क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पक्षोपवास, मासोपवास (मासखमण), दो मास, तीन मास यावत् षट्मासोपवास करना श्रेणी तप कहलाता है।

प्रतरतप—क्रमशः १, २, ३, ४, २, ३, ४, १, ३, ४, १, २, ४, १, २, ३; इत्यादि अंकों के क्रमानुसार तप करना प्रतरतप है।

घनतप—८×८=६४ कोष्ठक में आने वाले अंकों के अनुसार तप करना घनतप है।

वर्गतप—६४×६४=४०९६ कोष्ठकों में आने वाले अंकों के अनुसार तप करना वर्गतप है।

वर्गावर्गतप—४०९६×४०९६=१६७७७२१६ कोष्ठको में आने वाले अंकों के अनुसार तप करना वर्गावर्गतप है।

प्रकीर्णकतप—कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, एकावली, बृहत्सिंह-क्रीड़ित, लघुसिंह-क्रीड़ित, गुणरत्नसंवत्सर, वज्रमध्य प्रतिमा, यवमध्य प्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा, भद्रप्रतिमा, आयम्बिल वर्धमान इत्यादि तप प्रकीर्णक तप कहलाते हैं।

यावत्कथिक तप—मारणान्तिक उपसर्ग आने पर, असाध्य रोग हो जाने पर या बहुत अधिक जराजीर्ण अवस्था हो जाने पर जब आयु का अन्त निकट प्रतीत हो, तब जीवन-पर्यन्त के लिए अनशन करना यावत्कथिक तप है। इसके मुख्य दो भेद है—**भक्त प्रत्याख्यान** और **पादोपगमन**। इन दोनों तपों को जैन भाषा में '**संथारा करना**' भी कहते है।

(२) ऊनोदरी (अवमौदर्य) तप

आहार, उपधि और कषाय को न्यून (कम) करना ऊनोदरी तप है। ऊनोदरी दो प्रकार की है—**द्रव्य-ऊनोदरी** और **भाव-ऊनोदरी**।

वस्त्र, पात्र आदि कम रखना तथा आहार कम करना, द्रव्य-ऊनोदरी है और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, चपलता आदि दोषों को कम करना भाव-ऊनोदरी है।

द्रव्य-भाव ऊनोदरी से प्रमाद कम हो जाता है, तन और मन स्वस्थ होता है, बुद्धि, स्मृति, धृति, सहिष्णुता आदि बढ़ती है।

(३) भिक्षाचरी-तप

बहुत घरों से थोड़ी-थोड़ी सामुदानिक (सामूहिक) भिक्षा लाकर अपने शरीर का निर्वाह करना, संयमयात्रा चलाना भिक्षाचरी तप है। जैसे—गाय जंगल में जाकर जड़ से न उखाड़कर ऊपर-ऊपर का थोड़ा-थोड़ा घास चर कर अपना निर्वाह करती है, वैसे ही भिक्षु अपने नियमानुसार एक ही घर से सारा आहार न लेकर अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसीलिए साधु की भिक्षा को 'गोचरी' भी कहते हैं।

जैसे भौंरा बगीचे में लगे हुए अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है। इससे फूलों को तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचता, इसी प्रकार साधु भी, गृहस्थों के द्वारा उनके अपने निमित्त से बनाये हुए आहार में से थोड़ा-थोड़ा लेकर अपनी तृप्ति कर लेता है, इससे गृहस्थों को भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इसीलिए इसे माधुकरी[1] भी कहते हैं। भिक्षाचर्या के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार हैं। द्रव्य से भिक्षाचर्या के २६ अभिग्रह होते है, क्षेत्र से ८ अभिग्रह, काल से अनेक प्रकार के अभिग्रह और भाव से भी अनेक प्रकार के अभिग्रह (संकल्प) होते हैं।

गृहस्थों के लिए भिक्षाचरी तप के बदले '**वृत्तिपरिसंख्यान तप**' बताया गया है। वृत्तिपरिसंख्यान का अर्थ है—आवश्यक आहार्य द्रव्यों की परिसंख्या—गिनती रखना, इससे विविध खाद्य वस्तुओं या अन्य आवश्यक वस्तुओं की लालसा कम हो जाती है। श्रावक के दैनिक चिन्तनीय १४ नियम इसी के ही संकेत हैं। सातवें उपभोग परिभोग-परिमाणव्रत में भी २६ बोलों की मर्यादा की जाती है, लेकिन वह यावज्जीवन के लिए है।

(४) रस-परित्याग

जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली तथा इन्द्रियों को प्रबल एवं उत्तेजित करने वाली वस्तुओं का त्याग करना रस-परित्याग तप है। तात्पर्य यह है—स्वादवृत्ति को जीतना इस तप का उद्देश्य है।

इस तप के १४ प्रकार हैं—

(१) **निर्विकृतिक (निव्विगइ) तप**—दूध, दही, घी, तेल और मिठाई इन पांचों विकृतिवर्द्धक पदार्थों (विगइयों) का त्याग करना।

---

१ वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरी जहा॥ —दशवै. अ० १ गा० ४

(२) **प्रणीतरसपरित्याग**—धार से विगइ (घी, तेल, दूध आदि विकृति) न लेना, या ऊपर से विगइ न लेना।

(३) **आचामसिक्थभोग तप**—ओसामण में निकले अनाज के सीझे हुए दाने खाना।

(४) **अरस आहार**—सरस और मसालेदार आहार न करना।

(५) **विरस आहार**—पुराना पका (सीझा) हुआ धान लेना।

(६) **अन्त-आहार**—मटर, भीगे चने, गेहूँ की गूगरी या उड़द के बाकले लेना।

(७) **प्रान्त आहार**—ठंडा-बासी आहार (जो रसचलित न हुआ हो) लेना।

(८) **रूक्ष-आहार**—रूखा-सूखा आहार लेना।

(९) **तुच्छ आहार**—जली हुई खुरचन आदि लेना।

(१० से १४ तक) **अरस, विरस, अन्त, प्रान्त एवं रूक्ष आहार** का सेवन करना।

इस प्रकार रूखा-सूखा आदि आहार लेकर संयम का निर्वाह करना रस-परित्याग तप है।

(५) कायक्लेश

धर्म की आराधना के लिए स्वेच्छापूर्वक काया को कष्ट देना कायक्लेश तप कहलाता है।

इस तप के अनेक प्रकार है। *यथा*—**ठाणाठितिय**—कायोत्सर्ग करके खडा रहना; **ठाणाइय** कायोत्सर्ग किये बिना खडा रहना; **उक्कडासणिए**—दोनो घुटनों के बीच में सिर झुकाकर कायोत्सर्ग करना; **पडिमाठाइए**—साधु की बारह प्रतिमाओं (पडिमाओं[1]) को धारण करना।

इसके अतिरिक्त केशलोच करना, ग्रामानुग्राम विचरण करना, सर्दी-गर्मी सहन करना, खुजली आने पर खुजलाना नहीं, रुग्ण साधु की वैयावृत्य के लिए रात्रि जागरण करना, भूख-प्यास का कष्ट सहना आदि सब कायक्लेश तप के अन्तर्गत हैं।

---

१ बारह भिक्षुप्रतिमाओं का वर्णन देखिये 'श्रमणसूत्र' नव-संस्करण पृ० २६६
—दशाश्रुतस्कन्ध, आवश्यक हरिभद्रीय टीका

(६) प्रतिसंलीनता-तप

इन्द्रिय, शरीर, मन और वचन से विकारों को उत्पन्न न होने देकर उन्हें आत्मा—आत्मस्वरूप में संलीन करना अथवा कर्मास्रव के कारणों का निरोध करना प्रतिसंलीनता है।

इसके चार प्रकार हैं—

(१) **इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता**—राग-द्वेष पैदा करने वाले शब्दों के सुनने से कानों को रोकना, रूप देखने से आँखों को रोकना, गन्ध से नाक को, रस से जिह्वा को और स्पर्श से शरीर के अंगोपांगों को रोकना; और कदाचित् इन शब्दादि विषयों की प्राप्ति हो तो मन में विकार उत्पन्न न होने देना, समभाव-संतुलन रखना।

(२) **कषाय-प्रतिसंलीनता**—क्षमा से क्रोध का, विनय से मान का, सरलता से माया का और संतोष से लोभ का निग्रह करना।

(३) **योग-प्रतिसंलीनता**—असत्य और मिश्र मन-वचन का त्याग करके सत्य मन-वचन योगों तथा व्यवहार मन-वचन योगों का यथोचित प्रयोग करना तथा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिययोग, वैक्रियमिश्रयोग, आहारकयोग, आहारकमिश्रयोग और कार्मणयोग; इन सातों काययोगों को अशुभ से निवृत्त करके शुभ में प्रवृत्त करना, योगप्रतिसंलीनता है।

(४) **विविक्त शय्यासन-प्रतिसंलीनता**—वाटिका में, बगीचे में, उद्यान में, यक्ष आदि के देवस्थान में, पानी पिलाने की प्याऊ में, धर्मशाला में, लोहार आदि की हाट में, वणिक् की दूकान में, श्रेष्ठी की हवेली में, धान्य के खाली कोठार में, सभास्थान में, पर्वत की गुफा में, राजसभा में, छतरियों में, श्मशान में और वृक्ष के नीचे आदि इन अठारह प्रकार के स्थानों में जहाँ स्त्री-पशु-पण्डक के निवास से रहित स्थान हो, वहाँ कम से कम एक रात्रि और अधिक से अधिक यथोचित काल तक रहना।

छह प्रकार के आभ्यन्तर तप की व्याख्या इस प्रकार है—

(७) प्रायश्चित्त-तप[1]

पापों की विशुद्धि अथवा पापयुक्त पर्याय का छेदन करना प्रायश्चित्त है।

---

१ (क) प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।
(ख) प्रायः पापमयं छिनत्ति इति प्रायश्चित्तम्।

पाप दस प्रकार से लगते हैं— (१) कन्दर्प (काम) के वश होने से, (२) प्रमाद के वश, (३) अज्ञानवश, (४) क्षुधावश, (५) विपत्ति के कारण, (६) शंका के कारण (७) उन्माद (पागलपन या भूताविष्ट होने) से, (८) भय से, (९) द्वेष से तथा (१०) परीक्षा करने की भावना से।

प्रायश्चित्त के दस भेद

(१) **आलोचनार्ह**—आचार-व्यवहार में कोई अतिक्रम व्यतिक्रम हुआ हो, उस दोष का यथाक्रम से गुरु या ज्येष्ठ साधु के समक्ष निवेदन कर देने से अनजान में लगे दोषों की शुद्धि हो जाती है।

(२) **प्रतिक्रमणार्ह**—आहार, विहार, प्रतिलेखन आदि में अनजान से जो दोष लगा हो, उसकी शुद्धि प्रतिक्रमण से हो जाती है।

(३) **तदुभयार्ह**—द्वितीय प्रायश्चित्त में कहे हुए कार्य करते समय यदि जानबूझकर दोष लगा हो तो उसे गुरु आदि के सम्मुख निवेदन करके **'मिच्छामि दुक्कडं'** (मेरा दुष्कृत निष्फल हो) देने से शुद्धि हो जाती है।

(४) **विवेकार्ह**—अशुद्ध, अकल्पनीय तथा तीन पहर से अधिक रहा हुआ आहार परठ देने से दोषशुद्धि हो जाती है, वह विवेक प्रायश्चित्त है।

(५) **व्युत्सर्गार्ह**—दुःस्वप्न आदि से होने वाला पाप कायोत्सर्ग करने से दूर हो जाता है।

(६) **तपसार्ह**—पृथ्वीकाय आदि सचित्त के स्पर्श हो जाने के पाप से निवृत्त होने के लिए आयम्बिल, उपवास आदि करना तपसार्ह प्रायश्चित्त है।

(७) **छेदार्ह**—अपवादमार्ग का सेवन करने से तथा कारणवश जानबूझकर दोष लगाने पर पाले हुए संयम (दीक्षा पर्याय) में से कुछ दिनों या महीनों को कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) **मूलार्ह**—जानबूझकर हिंसा करने, असत्य भाषण करने, चोरी करने, मैथुन-सेवन करने तथा सोना-रत्न आदि परिग्रह रखने, अथवा रात्रि-भोजन करने पर नई दीक्षा लेना मूलार्ह प्रायश्चित्त है।

(९) **अनवस्थित**—क्रूरतापूर्वक अपने या दूसरे के शरीर पर लाठी, मुक्का आदि का प्रहार करने पर या गर्भपात करने पर, ऐसा करने वाले साधु को सम्प्रदाय से अलग रखकर ऐसा घोर तप कराया जाए कि वह उठ-बैठ भी न सके, फिर उसे नई दीक्षा देना अनवस्थित प्रायश्चित्त है।

(१०) **पाराञ्चित**—जो साधु शास्त्र के वचनों की उत्थापना करे, शास्त्र-विरुद्ध प्ररूपणा करे, साध्वी का शीलव्रत भंग करे, उसका वेष परिवर्तित करा

कर जघन्य ६ मास, उत्कृष्ट १२ वर्ष तक सम्प्रदाय से बाहर रखकर अनवस्थित प्रायश्चित्त में कहे अनुसार घोर तप करवाकर ग्राम-ग्राम घुमाकर फिर नई दीक्षा देना पाराञ्चित्त प्रायश्चित कहलाता है।[1]

(८) **विनय तप**

गुरु आदि पर्यायज्येष्ठ मुनियों का, वयोवृद्धों, गुणवृद्धों तथा ज्ञानियों का एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र का यथोचित श्रद्धापूर्वक सत्कार-सम्मान करना विनयतप कहलाता है। इसके ७ भेद है—(१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और (७) लोकव्यवहार विनय।

इनके भेद-प्रभेदों का विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानविनय के पाँच भेद**— (१) औत्पातिकी आदि निर्मल बुद्धिरूप मतिज्ञानधारक का विनय करना,(२) निर्मल उपयोग वाले शास्त्रज्ञ यानी, श्रुतज्ञानी का विनय करना, (३) मर्यादापूर्वक इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों के ज्ञाता—अवधिज्ञानी का विनय करना, (४) ढाई द्वीप में स्थित सज्ञी जीवो के मनोगत भावों के ज्ञाता मनःपर्यायज्ञानी का विनय करना और (५) सम्पूर्ण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञाता केवलज्ञानी का विनय करना। यह ५ प्रकार का ज्ञानविनय है।

(२) **दर्शनविनय के दो भेद**— (१) **शुश्रूषाविनय**—शुद्ध सम्यग्दृष्टि (श्रद्धावान्) के आने पर खड़े होकर सत्कार करना, आसन के लिए आमंत्रण करना, ऊँचे स्थान पर बिठाना, यथोचित वन्दना करके गुणकीर्तन करना, अपने पास जो उत्तम वस्तु हो, उसे समर्पित करना, यथाशक्ति यथोचित सेवाभक्ति करना **शुश्रूषाविनय** है। (२) **अनाशातनाविनय**—अरिहन्त, अरिहन्तप्रणीत धर्म, पंचाचारपालक आचार्य, शास्त्रज्ञ उपाध्याय, त्रिविध स्थविर, कुल (एक गुरु का शिष्य समूह), गण (सम्प्रदाय के साधु), साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ, शास्त्रोक्त शुद्ध क्रियापालक, संभोगी, मत्यादि पंचज्ञान से युक्त ज्ञानीपुरुष; इन सब (पन्द्रह) की आशातनाओं का त्याग करना; इनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति, गुणानुवाद करना।

(३) **चारित्रविनय के पाँच भेद**— सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात—यह पाँच प्रकार का चारित्र है। इन पाँच प्रकार के चारित्र वालों का विनय करना चारित्रविनय है।

---

१ अन्तिम दोनों प्रायश्चित्त इस काल में नहीं दिये जाते। —सं.

(४) **मनोविनय**—अशुभ (अप्रशस्त), कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, परितापकर विचारों से मन को हटाकर प्रशस्त, कोमल, दयायुक्त, वैराग्यमय विचार करना मनोविनय है।

(५) **वचनविनय**—कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, परितापकर और अप्रशस्त वचनों का उच्चारण करने से जिह्वा को रोककर प्रशस्त वचनों का उच्चारण करना वचनविनय है।

(६) **कायविनय**—गमनागमन करते, सोते, बैठते-उठते, उल्लंघन-प्रलंघन करते समय समस्त इन्द्रियों को अप्रशस्त प्रवृत्तियों से रोककर प्रशस्त प्रवृत्ति (कार्य) में प्रवृत्त करना कायविनय कहलाता है।

(७) **लोक-व्यवहारविनय**—इसके ७ भेद हैं—(१-२) गुरु और गुणाधिक साधर्मिकों की आज्ञा में चलना, (३) स्वधर्मी का कार्य करना, (४) उपकारी के प्रति कृतज्ञ होना, (५) दूसरों की चिन्ता दूर करने का उपाय करना, (६) देश-कालानुरूप प्रवृत्ति करना, (७) कुशलता एवं निष्कपटता के साथ सर्वजन-प्रिय व्यवहार करना।[1]

(९) वैयावृत्य-तप

इसके दस प्रकार हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष (नवदीक्षित), (४) ग्लान, (५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) स्वधर्मी, (८) कुल (गुरुभ्रातावृन्द), (९) गण (एक सम्प्रदाय का साधु समूह) और (१०) संघ का वैयावृत्य करना अर्थात्—इन सबको आहार, वस्त्र, पात्र, औषधोपचार आदि आवश्यक वस्तु देना-दिलाना, इनको ज्ञानादिवृद्धि में सहयोग देना, पैर दबाना आदि रूप में यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

(१०) स्वाध्याय तप

शास्त्रों, आध्यात्मिक ग्रन्थों तथा तत्त्वज्ञानविषयक पुस्तकों का अध्ययन-मनन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय-तप के ५ भेद हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छा, (३) परिवर्तना (पुनरावृत्ति करना), (४) अनुप्रेक्षा (अर्थचिन्तन, अर्थ-परमार्थ में उपयोग लगाना), और धर्मकथा (उपदेश देना)।

स्वाध्याय-तप से आत्मोन्नति, आत्मभाव-विशुद्धि, आत्मकल्याण के साथ जिनोक्त धर्मसंघ का अभ्युदय, सुन्दर मार्गदर्शन द्वारा संघ की उन्नति आदि महोपकार होता है।

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र में चार प्रकार का विनय बताया है—'ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः'
—तत्त्वार्थ० अ० ९, सूत्र २३

(११) ध्यानतप

एकाग्रतापूर्वक चिन्तन में मन का निरोध करना—चित्तवृत्ति को एकाग्र करना ध्यान है।[1]

ध्यान के मुख्य ४ भेद हैं—**आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।**

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो ध्यान अशुभ तथा हेय हैं, इन दोनों ध्यानों से आत्मा को बचाना, मन को इन दोनों ध्यानों में प्रवृत्त होने से रोकना, समभाव में स्थिर करना एक प्रकार का तप होने से इन दोनों को भी तप कहा जा सकता है; किन्तु वास्तव में इनको न करना ही तप माना जाना चाहिए। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, इन दोनों के प्रत्येक के चार-चार प्रकार और चार-चार लक्षण हैं।

धर्मध्यान और **शुक्लध्यान** ये दोनों शुभ ध्यान हैं।

धर्मध्यान के ४ पाद हैं—**आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय** और **संस्थानविचय।**

धर्मध्यान के ४ लक्षण हैं—आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, उपदेशरुचि और सूत्ररुचि।

धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।

धर्मध्यान की ४ अनुप्रेक्षाएँ हैं—अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा।

शुक्लध्यान के चार पाद हैं—(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क अविचार (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति।

शुक्लध्यान के ४ लक्षण हैं—(१) विवेकलक्षण, (२) व्युत्सर्गलक्षण, (३) अव्यथलक्षण और (४) असम्मोहलक्षण।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन—क्षान्ति, मुक्ति, (निर्लोभता), आर्जव, और मार्दव।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) अपायाऽनुप्रेक्षा, (२) अशुभानुप्रेक्षा (३) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के ३२ भेद उपादेय हैं, जबकि आर्तध्यान

---

१ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थ० अ० ९ सूत्र २७

और रौद्रध्यान के १६ भेद हेय हैं, किन्तु इन दोनो अशुभ ध्यानों के त्याग के रूप में कथंचित् उपादेय हैं।

(१२) व्युत्सर्ग-तप

त्याज्य वस्तु को छोड़ना व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग तप के दो भेद है—**द्रव्यव्युत्सर्ग** और **भावव्युत्सर्ग**।

द्रव्यव्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—(१) **शरीरव्युत्सर्ग** (शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करके शरीर की विभूषा और लाड़-प्यार न करना) (२) **गणव्युत्सर्ग** (ज्ञानवान्, क्षमावान्, जितेन्द्रिय अवसरज्ञ, धीर, वीर, दृढ़ शरीर वाला एवं शुद्ध श्रद्धावान्, इन अष्ट गुणों का धारक मुनि, अपने गुरु की अनुमति प्राप्त करके विशिष्ट आत्मसाधना के लिए गच्छ का त्याग करके एकलविहारी होता है।) (३) **उपधि-व्युत्सर्ग** (वस्त्र-पात्र का त्याग करना) और (४) **भक्त-पान व्युत्सर्ग**—(नवकारसी-पौरसी आदि प्रत्याख्यान करना तथा खाने-पीने के द्रव्यो का परिमाण करना)।

भावव्युत्सर्ग के तीन भेद है- (१) **कषायव्युत्सर्ग** (क्रोधादि चारो कषायो को न्यून करना), (२) **संसारव्युत्सर्ग**—(चार गतिरूप संसार के कारणो—चारो गतियो के शास्त्रोक्त कारणो का विचार करके, उनका त्याग करना); और (३) **कर्मव्युत्सर्ग**—(ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के बन्ध के कारणो पर विचार करके कर्मबन्ध के कारणो का त्याग करना)।

यह बारह प्रकार के तप का स्वरूप है। इन बारह प्रकार के तप का स्वरूप समझकर इहलोक-परलोकादि किसी भी लौकिक आकांक्षा से रहित होकर एकमात्र निर्जरा के उद्देश्य से तपश्चरण करना तप-आचार है।

आचार्य महाराज बारह प्रकार के तपश्चरण में स्वयं रत रहते है, और दूसरां को भी तपश्चरण की प्रेरणा देते हैं।

वीर्याचार

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप इन चारों मोक्ष-साधनो में अहर्निश पुरुषार्थ करना. ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, सदुपदेश आदि धर्मवृद्धि के प्रत्येक कार्य में उद्यत रहना, धर्माचरण मे अपना बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम करना वीर्याचार है।

आचार्य महाराज आगमव्यवहार, सूत्रव्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणा व्यवहार और जीतव्यवहार इन पांचो व्यवहारों[1] के ज्ञाता होते हैं और

---

1 आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए। —भगवती सूत्र

इनके अनुसार यथायोग्य प्रवृत्ति करते-कराते हैं। वे सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग में अहर्निश पुरुषार्थ करते हैं और चतुर्विध संघ को इसमें पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हैं। वे स्वयं तप, संयम, ज्ञान-ध्यान, सदुपदेश आदि प्रत्येक धर्मवृद्धि के कार्य में समुद्यत रहकर मोहग्रस्त मनुष्यों को सावधान और जागृत करते है। उन्हें बोध देकर धर्मपथ पर अग्रसर करते हैं। चतुर्विध संघ को सद्बोध देकर धर्म और संघ का अभ्युदय करते हैं। धर्मकार्य में स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरों को प्रवृत्त करते हैं।

इस प्रकार आचार्य महाराज पांच प्रकार के आचार के पालन में समर्थ होते हैं।

पंच समितियों और त्रिगुप्तियों से युक्त

इसके अतिरिक्त आचार्य महाराज पांच समिति और तीन गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन माता के पक्के भक्त एवं निष्ठावान होते है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों की व्याख्या पहले चारित्राचार में की जा चुकी है। उसी के अनुसार यहाँ समझ लेना चाहिए।

आचार्यश्री पूर्वोक्त छत्तीस गुणो (५ पंच इन्द्रियनिग्रह, ९ ब्रह्मचर्य की नव बाड़, ४ चार प्रकार की कषायो से मुक्त ५ पंच महाव्रतधारी, ५ पंचाचार के पालक और ८ अष्ट प्रवचन माताओं के आराधक) से युक्त होते हैं।

आचार्य की छत्तीस विशेषताएँ

जिनमें निम्नोक्त छत्तीस अर्हताएँ (गुण) विद्यमान हों, वे मुनिराज ही आचार्य पदवी के योग्य होते है, उन्ही के द्वारा संघ का अभ्युदय और धर्म का प्रचार-प्रसार होता है—

(१) **आर्यदेशोत्पन्न**—यद्यपि धर्माचरण में देश-कुलादिविशेष की कोई आवश्यकता नहीं होती, तथापि आर्यदेशोत्पन्न मानव प्रायः सुलभबोधि, धर्मसंस्कारी और गाम्भीर्यादि गुणों से विभूषित होता है; तथा परम्परागत आर्यत्व आत्मविकास में अत्यधिक सहायक होता है।

शास्त्रों में साढे पच्चीस आर्य देशों का निरूपण किया गया है। इनमें ही जिन, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि आर्य— श्रेष्ठ पुरुषों का जन्म होता है। इसीलिए इन्हें आर्यदेश कहते हैं। अतः आर्यदेशोत्पन्न या देशार्य होना आचार्य की प्रथम अर्हता है।

(२) **कुलसम्पन्न**—जिसका पितृपक्ष निर्मल हो, उसे कुलसम्पन्न कहते

हैं। अथवा इसे कुलार्य भी कह सकते हैं। कुलार्य का अर्थ है—जिसका कुल—वंश परम्परा से शुद्ध चला आ रहा हो।

जिस प्रकार आचार्य का देशार्य होना आवश्यक है, उसी प्रकार कुलार्य (आर्य कुलोत्पन्न) होना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि आर्य कुलों में धर्म संस्कार, विनय, धर्मश्रद्धा, एवं अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, आदि गुण स्वाभाविक ही होते हैं।

(३) **जातिसम्पन्न**—जिसका जाति (मातृ) पक्ष निर्मल हो उसे शुद्ध जातिसम्पन्न कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध भूमि के बिना बीज भी पुष्पित—फलित नहीं हो सकता; उसी प्रकार शुद्ध जाति के बिना भी प्रायः उच्चकोटि के सद्गुणों की प्राप्ति कठिन होती है; शुद्ध जाति में प्रायः लज्जा, विनम्रता, पापभीरुता आदि गुण स्वाभाविक होते हैं तथा शुद्धजाति-सम्पन्न व्यक्ति में अनेक दुर्गुण स्वतः नहीं होते; गुणों की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। अतः आचार्य का जातिसम्पन्न होना आवश्यक है।

(४) **रूपसम्पन्न**—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इस लोकोक्ति के अनुसार जिसकी शरीराकृति ठीक होती हैं, उसमें प्रायः कई सद्गुण भी होते हैं। सुसंस्थानयुक्त एवं आकृतिसम्पन्न पुरुष महाप्रभावक हो सकता है। शरीर-सम्पत्ति दूसरों के मन को प्रफुल्लित कर देती है जैसे—केशीकुमार श्रमण के रूप को देखकर प्रदेशी राजा और अनाथीमुनि के रूप को देखकर मगधसम्राट् श्रेणिक आश्चर्यमग्न हो गए और उनके मुख से धर्म से ओतप्रोत वचन सुन कर धर्मपथ पर आ गए थे।

इसीलिए आचार्य महाराज का शरीर सुडौल, सुन्दर और तेजस्वी होना चाहिए, जिससे वे विरोधी से विरोधी व्यक्ति पर भी प्रभाव डाल सकें और उसे धर्मपथ पर ला सकें।

(५) **बलसम्पन्न**—आचार्य महाराज का शरीर-सहनन भी काल के अनुसार उत्तम होना आवश्यक है। कहावत है—'**बलवति शरीरे बलवानात्मा निवसति**'—बलवान् शरीर में ही बलवान् आत्मा निवास करता है। जिसका शरीर-सामर्थ्य ठीक नहीं होगा, वह अध्ययन-अध्यापन, तप, संयम आदि की क्रियाएँ भलीभाँति नहीं कर सकेगा; न ही वह शीत-उष्णादि परीषह समभाव-पूर्वक सहन कर सकेगा। अतः आचार्य में इस अर्हता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(६) **धृतिसम्पन्न**—आचार्य में धैर्यगुण का होना नितान्त आवश्यक है।

धैर्यगुण से सम्पन्न आचार्य संघ या गच्छ का भार भलीभांति वहन कर सकेंगे, संघ में कठोर प्रकृति वाले साधुओं को भी वे निभा सकेंगे।

इसके अतिरिक्त गच्छाधिपति आचार्य को न्याय करते समय स्वपक्ष-परपक्ष अथवा प्रतिपक्षी लोगों के तीखे शब्द भी सुनने पड़ते हैं। उस समय आचार्य धैर्यगुण वाले होंगे तो वे उन शब्दों को समभावपूर्वक सहन करके न्याय-मार्ग से विचलित नहीं होंगे।

यदि आचार्य में धैर्यगुण नहीं होगा तो वे संघ-संचालन ठीक तरह से नहीं कर सकेंगे, वे शीघ्र ही उत्तेजित होकर प्रतिपक्षी को अपना शत्रु बना लेंगे। अधीर और तुनुकमिजाज व्यक्ति किसी भी कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। आध्यात्मिक विकास के लिए भी आचार्य में धृतिसम्पन्नता होनी चाहिए।

(७) **अनाशंसी**—जो सरस, स्वादिष्ट एवं मनोज्ञ आहार-पेय आदि की आशंसा (आकांक्षा या आशा) न करता हो, वह अनाशंसी होता है। जिस साधक में किसी धनिक या शासक से किसी मनोज्ञ वस्तु के पाने की आकांक्षा, अपेक्षा या आशा होती है, अथवा अधिक लोभसंज्ञा या लोलुपता होती है, उसमें तप-संयम की मात्रा कम हो जाती है, परिणामतः मोक्षमार्ग में विघ्न उपस्थित हो जाता है। और फिर जब आचार्य स्वयं लोभ-ग्रस्त हो जाएगा तो वह अपने संघ के साधु-साध्वियों को तप, संयम के विशुद्ध मार्ग पर कैसे ला सकेगा ?

जो आचार्य अनाशंसा गुण से अभ्यस्त होगा, वही दूसरे साधकों को इस गुण से अभ्यस्त एवं प्रशिक्षित कर सकेगा। अतएव आचार्य का अनाशंसी होना अत्यावश्यक है।

(८) **अविकत्थन**—स्वल्पतर अपराध का पुनः पुनः उच्चारण करना 'विकत्थन' है; उसकी पुनः पुनः रट न लगाना, अपितु अपराध की विशुद्धि का प्रयत्न करना 'अविकत्थन' कहलाता है। आचार्य में 'अविकत्थन' गुण अवश्य होना चाहिए।

दण्डनीति का एक नियम है—'**यथादोषं दण्डप्रणयनम्**' (जैसा दोष-अपराध हो, उसी के अनुसार दण्ड प्रदान करना)। आचार्य को दोषी साधक के दोष की पूरी तरह छानबीन करके तदनुसार शास्त्रोक्त दण्ड-प्रायश्चित्त देना चाहिए, यही न्यायशीलता है।

यदि पक्षपातवश न्यूनाधिक दण्ड-प्रायश्चित्त दिया जाएगा, अथवा एक बार जिस अपराध-दोष के लिए दण्ड दे दिया गया है; उस अपराध या

दोष का पुनः-पुनः उच्चारण करके बार-बार दण्ड-प्रायश्चित्त दिया जाएगा तो वह विकत्थन, अन्याय और पक्षपात होगा; वह न्यायशीलता नहीं होगी।

जैसे वैद्य, प्रकुपित वात-पित्त-कफ आदि दोषों-रोगों की विशुद्धि के लिए चिकित्सा करता है,[1] उसी प्रकार आचार्य को भी पिता का हृदय रख कर साधकों के अपराधों—दोषों की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्तरूप चिकित्सा करनी चाहिए। इसीलिए आचार्य में 'अविकत्थन' गुण का होना आवश्यक माना गया है।

(९) **अमायी अथवा जितमाय**—आचार्य का अमायी (माया-कपट से रहित) होना अथवा सरलता गुण से मायाविजयी होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि कपट करने वाले आचार्य का संघ में तथा अन्यत्र भी कोई विश्वास नहीं करता; मायी पुरुष धर्ममार्ग से विचलित हो जाता है।

कपट शुभकर्म का नाशक है, शुभक्रिया की सिद्धि मे कपट प्रथम विघ्न-कारक माना गया है। जहाँ कपट होता रहता है, वहा असत्य अपना अड्डा जमा लेता है। इसलिए आचार्य को प्रत्येक कार्य में आर्जवभाव अपनाना चाहिए, वक्रभाव नही।

ज्ञातासूत्र से यह बात स्पष्ट है कि तीर्थंकर भगवती मल्लिनाथ ने पूर्वजन्म में मायापूर्वक तपश्चरण किया था, उसके फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्र बँध जाने पर भी उन्हें स्त्रीपर्याय प्राप्त हुई। अतएव संघाधिपति को तो हर हालत में मायारूप पापकर्म से बचना चाहिए, तभी वह दोषी साधक को सरलता से शुद्ध आलोचना करा सकेगा, शुद्ध न्याययुक्त प्रायश्चित्त दे सकेगा।

(१०) **स्थिरपरिपाटी**—स्थिरपरिपाटी का शब्दशः अर्थ होता है—जिसके बुद्धिरूपी कोष्ठक (कोठार) में शास्त्रीयज्ञान स्थिर रह सके। दूसरे शब्दों में इसे **'कोष्ठकबुद्धिलब्धिसम्पन्न'** कहा जा सकता है। जिस प्रकार सुरक्षित कोष्ठक (कोठार) में धान्यादि पदार्थ भलीभांति रह सकते है, उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञान का बुद्धि रूपी कोष्ठक में स्थिर रहना, प्रमाद आदि द्वारा उस ज्ञान का विस्मृत न होना, ताकि जिस समय किसी पदार्थ के निर्णय करने की आवश्यकता हो, उसी समय तत्काल बुद्धिरूपी कोष्ठक से शास्त्रीय प्रमाण शीघ्र ही प्रकट किये जा सकें, इसे ही स्थिरपरिपाटी कहते हैं। जो

---

१ 'चिकित्सागम इव दोष विशुद्धिहेतुर्दण्डः।'

श्रुतज्ञान स्थिरपरिपाटी से ग्रहण किया जाता है, वह इह लोक-परलोक में कल्याणकारक होता है।

आचार्य को चरणकरणानुयोग के सिद्धान्त अविकलरूप से कण्ठस्थ होने चाहिए, ताकि इनके आधार से वह गच्छ में सारणा, वारणा, धारणा आदि प्रवृत्तियाँ सुचारु रूप से कर सके। इसी तरह क्रियाविशुद्धि या व्यवहार शुद्धि के लिए आचाय को बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन-मनन एवं स्मरण भी अस्खलित भाव से होना चाहिए। इसीलिए आचार्य में स्थिरपरिपाटी का गुण होना आवश्यक बताया है।

(११) **गृहीतवाक्य**—जिसके मुख से निकले हुए वचन उपादेय हो, वह गृहीतवाक्य होता है। आचार्य के मुख से राग, द्वेष, मोह एवं पक्षपात से रहित तथा भव्य जीवों के लिए पथ्य-तथ्य-सत्य वचन निकलने चाहिए, जो अक्षरशः मान्य हों, शिरोधार्य हो, और उपादेय हो। अतएव आचार्य को गृहीतवाक्य होना चाहिए।

(१२) **जितपरिषत्**—आचार्य सभा को जीतने वाला होना चाहिए। धर्मपरिषद् में सभी प्रकार के श्रोता आते हैं; कोई तार्किक, कोई विद्वान्, कोई वैज्ञानिक, कोई तत्त्वज्ञ, कोई शास्त्रमर्मज्ञ, कोई सरलबुद्धि, कोई कथारसिक, कोई संगीतरसिक तो कोई कोमलमति बालक। अगर आचार्य युक्तिसगत, शास्त्रसम्मत बात सरल-ललित बोधगम्य भाषा में नहीं कहकर अयुक्तिक, अशास्त्रीय बात कठिन भाषा में कहेंगे तो वे सभा पर अपना प्रभाव नही डाल सकेंगे। जो आचार्य बहुश्रुत, समयज्ञ, शान्तचित्त, न्यायपक्षी, कुशल-वक्ता होगा, वही 'जितपरिषद्' हो सकता है।

ऐसे महान् आचार्य अक्षुब्धचित्त होकर जब परिषद् में बैठेंगे, तब प्रत्येक विषय में नई-नई स्फुरणा, प्रेरणा और गवेषणा करके शान्तचित्त से ऊहापोहयुक्त भाषण, सम्भाषण एवं परिसंवाद कर सकेंगे और परिषद् को बरबस आकर्षित कर सकेंगे, सभा को प्रभावित कर सकेंगे।

(१३) **जितनिद्र**—आचार्य निद्राविजयी हो। निद्राविजयी का यह अर्थ नहीं कि आचार्य नींद ही न ले, किन्तु योगी की तरह उनका सोना-जागना युक्त—मर्यादित हो।[1] निद्राविजयी ही अधिक स्वाध्याय, ज्ञान-ध्यान,

---

१ 'युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।' —भगवद्गीता अ० ६ श्लो० १७

और आत्मचिन्तन कर सकता है। जो अतिनिद्राशील या अमर्यादित निद्रा वाला होता है, अथवा आलस्यमग्न रहता है, वह अपूर्व ज्ञान के ग्रहण करने से तो वंचित रहता ही है; पूर्व-अर्जित ज्ञान को भी विस्मृत हो जाता है। ऐसा प्रमादी साधक अपने शरीर की भी रक्षा नहीं कर सकता तो ज्ञान की रक्षा क्या करेगा ? जो अर्जित ज्ञान की सुरक्षा नहीं कर सकता, वह आचार्य गच्छ की रक्षा कैसे कर सकेगा ?

तात्पर्य यह है कि आचार्य को निद्राजयी होना चाहिए, ताकि संघ में ज्ञानवृद्धि कर सके, आत्मज्ञान का सर्वांगीण विकास कर सके।

(१४) **मध्यस्थ**—आचार्य को राग-द्वेष, अथवा मोह-पक्षपात आदि से दूर रहकर मध्यस्थ रहना चाहिए। अगर आचार्य ही राग-द्वेष या पक्षपात या मोह में ग्रस्त हो गया तो संघ में साधु-साध्वियों के प्रति अन्याय कर बैठेगा।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति पापी, द्रोही अन्यायी-अत्याचारी हो, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि में ग्रस्त हो, नास्तिक हो, कहने-समझाने पर भी न मानता हो, बल्कि प्रतिकूल आचरण करता हो, ऐसे व्यक्ति के प्रति भी आचार्य को माध्यस्थ्य भाव रखना आवश्यक है।[1]

इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति, स्थान, संयोग-वियोग में भी माध्यस्थ्य—समत्वभाव रखना आवश्यक है।

आचार्य में माध्यस्थ्य गुण उसके आध्यात्मिक विकास एवं आत्मसमाधि का परिचायक है। माध्यस्थ्यभाव धारण करने से और भी अनेकों लाभ हैं।

(१५) **देशज्ञ**—आचार्य को विविध देशों (राष्ट्रों, राज्यों एवं प्रान्तों—जनपदों) के गुण, कर्म, स्वभाव, संस्कृति, भाषा, जलवायु, जनमानस आदि का ज्ञाता होना चाहिए। युग की भाषा में कहूँ तो, आचार्य को विविध देशों के भूगोल, इतिहास एवं संस्कृति एवं उन देशों में प्रचलित धर्म आदि का ज्ञान होना चाहिए। देश-देश का ज्ञान होने पर ही आचार्य उस-उस देश में स्वयं अथवा उसके संघ के साधु-साध्वीगण विहार, धर्मप्रचार, उपदेश, व्यसन-त्याग की प्रेरणा आदि भलीभाँति कर सकते हैं; उस देश में रहकर अपने संयम और साधुधर्म का पालन सम्यक् प्रकार से कर सकते हैं। देशज्ञ आचार्य अपने कर्त्तव्य एवं धर्म से कदापि स्खलित नहीं होता।

(१६) **कालज्ञ**—आचार्य को काल का परिज्ञाता होना भी अतीव

---

१ 'माध्यस्थ्य भावं विपरीत वृत्तौ····' —सामायिक पाठ, श्लो० १

आवश्यक है। प्रत्येक साधक को उचित समय[1] पर ही प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, भिक्षाचरी, शयन, जागरण, आदि समस्त क्रियाएँ करनी आवश्यक हैं, फिर आचार्य को तो विशेषरूप से काल का ज्ञान होना अनिवार्य है, ताकि वह संघ के साधु-साध्वीगण को उचित काल में विविध क्रियाएँ करने का निर्देश कर सके।

बहुत से क्षेत्रों में गृहस्थों के भोजन का समय पृथक्-पृथक् होता है, अतः उस-उस क्षेत्र में साधु-साध्वीगण को भिक्षा का समय भी तदनुसार रखना होता है, अन्यथा अकाल में भिक्षाचरी करने पर आहार न मिलने पर उसके मन में संक्लेश होगा,[2] श्रद्धालु गृहस्थों को भी साधु-साध्वी के बिना भिक्षा लिये लौट जाने से दुःख होगा। काल का ठीक ज्ञान होने पर साधु को आत्मसमाधि में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी।

कालज्ञ आचार्य समय की गतिविधि, साधकों के संहनन-संस्थान, सहन-शक्ति, तथा मनोबल को जान कर साधु-समाचारी में समयानुसार यथोचित संशोधन-परिवर्द्धन करके धर्मसंघ को तेजस्वी बना सकते हैं। अतएव आचार्य का समयज्ञ होना अतीव आवश्यक है।

(१७) **भावज्ञ**—आचार्य को दूसरों के भावों का ज्ञाता होना चाहिए। दूसरों के मनोभावों का ज्ञाता आचार्य ही सम्पर्क में आने वाले उस-उस व्यक्ति या साधक के मनोभावों को जानकर उसे उसकी रुचि, भावना, श्रद्धा और उत्साह के अनुसार सुबोध दे सकता है और उसका दिया हुआ बोध शीघ्र सफल होता है। थोड़े से परिश्रम से ही महान् लाभ प्राप्त हो सकता है।

अगर आचार्य भावज्ञ नहीं होगा तो वह योग्य व्यक्ति को उसके लिए अयोग्य और अयोग्य व्यक्ति को योग्य उपदेश दे बैठेगा, जिससे अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना है। साथ ही उस व्यक्ति को दिये गये बोध का परिश्रम भी सार्थक नहीं होगा। इसलिए आचार्य को भावज्ञ होना चाहिए।

वर्तमान युग की भाषा में कहूँ तो आचार्य को मनोविज्ञान का अध्येता होना चाहिए। सामान्य मनोविज्ञान के लिए नीतिकार कहते हैं—"आकृति, इंगित (इशारों), गति (चाल-ढाल); चेष्टा और भाषण (बोलने) से, तथा आँख

---

१ 'काले कालं समायरे' —दशवैकालिक, अ. ५, उ. २, गा. ४

२ अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि॥ —दशवै. अ. ५, उ. २, गा. ५

और मुँह के विकार पर से दूसरे के मनोगत भावों को जाना जा सकता है।[१] इसलिए आचार्य में भावज्ञता का गुण होना अत्यावश्यक है।

(१८) **आसन्नलब्ध-प्रतिभ**—आचार्य इतना प्रतिभासम्पन्न होना चाहिए कि वादी द्वारा किये गए प्रश्न का शीघ्र ही अत्यन्त योग्यता के साथ युक्तिसंगत समाधान कर सके। इस प्रकार की प्रतिभा से सम्पन्न आचार्य के द्वारा दिये गए समाधान से सैद्धान्तिक ज्ञान प्रश्नकर्त्ता के हृदय में स्पष्टरूप से अंकित हो जाता है तथा अनेक भव्यात्माओं को अपना कल्याण करने का सुअवसर मिलता है। जैसे—श्री केशीकुमार श्रमण के द्वारा प्रदेशीराजा के आत्मा के विषय में किये गए प्रश्नों के तत्काल युक्तिसंगत समाधान दिये जाने से उसका हृदय-परिवर्तन—नास्तिकता से आस्तिकता में परिवर्तन एवं जीवनपरिवर्तन हो गया,[२] बन्ध और मोक्ष का सम्यक् ज्ञान हो गया, जो प्रदेशीराजा के आत्मकल्याण का कारण बना।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में निर्ग्रन्थीपुत्र[३] आदि श्रमणों के प्रश्नोत्तरों को पढ़ने से उनकी 'आसन्नलब्धप्रतिभा' का पता लगता है। अतएव आचार्य में यह गुण अवश्य होना चाहिए, जिससे वह संघरक्षा और तीर्थंकरोक्त सत्य सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर सके, साथ ही उसके द्वारा दिये गये समाधान से भव्यजीव अपना कल्याण कर सकें।

(१९) **नानाविधदेशभाषाविज्ञ**—आचार्य को अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञाता होना चाहिए। अनेक देशों की भाषा का जानकार आचार्य उस-उस देश (प्रान्त, जनपद या राष्ट्र) में जाकर वहीं की भाषा में जिनेन्द्रोक्त धर्म एवं सिद्धान्तों का प्रचार भलीभांति कर सकता है, प्रवचन प्रभावना भी कर सकता है।

(२०) **ज्ञानाचारसम्पन्न**—आचार्य को ज्ञान के आचरण से युक्त अर्थात् मतिश्रुत आदि निर्मल ज्ञानों का धारक होना चाहिए अथवा विभिन्न धर्मों के शास्त्रों और सिद्धान्तों के ज्ञान से सम्पन्न होना चाहिए तभी वह सम्यग्ज्ञान की आराधना कर या करा सकता है, भव्य साधकों को शास्त्रीय अध्ययन करा सकता है। अतः आचार्य में ज्ञानसम्पन्नता अतीव आवश्यक है।

---

१ आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥

२ राजप्रश्नीय सूत्र में देखें—प्रदेशी राजा का अधिकार।

३ देखें भगवती सूत्र में निर्ग्रन्थीपुत्र श्रमण का अधिकार।

(२१) **दर्शनाचारसम्पन्न**—आचार्य में दर्शनाचारसम्पन्नता होनी अत्यावश्यक है। दर्शनाचारसम्पन्न का अर्थ है वह सम्यक्त्व में पूर्णतया दृढ़ एवं अविचलित हो, देव-गुरु-धर्म के प्रति गाढ़ प्रीति-श्रद्धा-प्रतीति हो तथा जीवादि नौ तत्त्वों का यथार्थज्ञानपूर्वक श्रद्धान हो।

जिस साधक को जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता है, उसके जीवन में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसा या मिथ्यादृष्टि का संस्तव—अतिसंसर्ग आदि दोष, या संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय दोष, अथवा चल, मल और अगाढ़ दोष नहीं फटकते। यही विशुद्ध सम्यग्दर्शन से सम्पन्न का लक्षण है।

जिस अचार्य की सम्यग्दर्शन में दृढ़ता होगी, उसे जिनप्रणीत तत्त्वों में किसी प्रकार की शंका नहीं होगी। यह दर्शनाचारविशुद्धि है। सम्यग्दर्शन होगा, तभी साधक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होगा।

वैसे तो प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय वाले अपने-अपने मत पर दृढ़ हैं, परन्तु इससे उन्हें सम्यग्दर्शनी या सम्यक्त्वी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका ज्ञान अयथार्थ है। अयथार्थ ज्ञान वाले व्यक्ति का निश्चय भी अतद्रूप अयथार्थ होगा।

किन्तु तद्रूप-यथार्थज्ञान द्वारा ही यथार्थ निश्चय (सम्यग्दर्शन) में परिणति होती है। अतएव आचार्य में सम्यग्दर्शन-सम्पन्नता का गुण अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना वह शासन की प्रभावना नहीं कर सकता।

(२२ **चारित्राचारसम्पन्न**—आचार्य सामायिक आदि चारित्र का दृढ़तापूर्वक निरतिचाररूप से आचरण करने वाला होना चाहिए। आचार्य शिथिलाचारी या आचारभ्रष्ट नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह संघ के साधु-साध्वियों को चारित्र पालन में सुदृढ एवं सुस्थिर नहीं कर सकेगा। अतः आचार्य को चारित्राचार के अनुसार बनी हुई समाचारी (आचारसंहिता) का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए।

(२३) **तपाचारसम्पन्न**—आचार्य को पूर्व पृष्ठों में उक्त बारह प्रकार के तपश्चरण में रत रहना चाहिए। तभी वह आत्म-प्रदेशों पर लगे हुए कर्म-परमाणुओं को पृथक् करके आत्मशुद्धि कर सकेगा और संघस्थ साधु-साध्वियों की आत्मशुद्धि तपश्चरण द्वारा करा सकेगा।[1]

---

१ पिछले पृष्ठों में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों का वर्णन विस्तृतरूप से किया गया है। —सं.

(२४) **वीर्याचारसम्पन्न**—आचार्य को मनोवीर्य, वचनवीर्य और कायवीर्य से सम्पन्न होना चाहिए। मन सदैव शुभ ध्यान, शुभ संकल्प एवं शुभ चिन्तन तथा कुशल विचार से युक्त होना चाहिए। यदि मन रत्नत्रय में संलग्न रहेगा, तो उक्त शुभचिन्तन के फलस्वरूप वचन भी हित, मित, तथ्य और सत्य तथा मधुर ही निकलेगा। जब मन और वचन शुद्ध हो जाते हैं तब कायिक अशुभ व्यापार प्रायः निरुद्ध हो जाता है और काया सम्यक्-चारित्र में, शुभ व्यापार में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होगी। इस प्रकार आचार्य के तीनों योग बलपूर्वक शुद्ध आचरण में प्रवृत्त होने चाहिए।

वीर्य तीन प्रकार का है—पण्डितवीर्य, बालपण्डितवीर्य और बालवीर्य[1]। जिनाज्ञा के अनुसार जो भी चारित्र-पालन, धर्मक्रियाकलाप किया जाता है, वह पण्डितवीर्य है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त देशविरति श्रावक (चारित्रा-चारित्र) श्रावकधर्म का पालन करता हुआ जितनी संवरमार्ग की क्रियाएँ करता है, उतना पण्डितवीर्य और जितनी क्रियाएँ संसारी दशा की करता है, उतना बालवीर्य होता है। दोनों मिलकर बालपण्डितवीर्य कहलाता है। जितनी भी क्रियाएँ मिथ्यात्व दशा में व्यक्ति करता है, वे सब बालवीर्य की कोटि में हैं।

अतएव आचार्य को पण्डितवीर्याचार से युक्त होना चाहिए ताकि संघ की रक्षा और कर्मों की निर्जरा कर सके। पण्डितबलवीर्यसम्पन्न आचार्य ही अनेक भव्य जीवों को संसार-सागर से पार करने में समर्थ हो सकता है।

(२५) **आहरणनिपुण**—आहरण का अर्थ दृष्टान्त है। न्यायशास्त्र के अनुसार किसी विवादास्पद विषय की व्याख्या करने का प्रसंग आए, उस समय[2] अन्वय-व्यतिरेक दृष्टान्तों द्वारा उस विषय को स्पष्ट करना आवश्यक होता है।

आचार्य युक्तिसंगत दृष्टान्तों से उक्त विवादास्पद विषय को स्पष्ट करने में निपुण होना चाहिए। प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने और श्रोताओं के गले उतारने के लिए तदनुरूप दृष्टान्त होना चाहिए। जैसे—किसी ने पाप को दुःखकारक सिद्ध करने के लिए दृष्टान्तपूर्वक वाक्य कहा—"**पापं दुःखाय भवति ब्रह्मदत्तवत्**" (पाप दुःख देने वाला होता है, जैसे कि '**ब्रह्मदत्त**' के लिए हुआ था।)

---

१ देखें, सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, दवां वीर्याध्ययन।

२ तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः। —तर्कसंग्रह टीका

इस दृष्टान्त द्वारा यह बात सिद्ध कर दी गई है कि सब प्रकार के पापकर्म दुःखजनक हैं। जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पापकर्म का नरकोत्पत्तिरूप दुःखजनक फल भोगना पड़ा, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को पापकर्म के दुःखरूप अशुभ फल को भोगना पड़ता है।

अतः आचार्य में आहरणनिपुणता—दृष्टान्त प्रतिपादन कुशलता होनी आवश्यक है। तभी वह पापी—अपराधी या दोषी व्यक्ति को पापकर्म से विरत कर सकेगा।

(२६) **सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ**—आचार्य सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम का जानकार होना चाहिए। इनका जानकार आचार्य ही भली-भाँति व्याख्यान कर सकता है और शिष्यों से शास्त्रानुकूल क्रिया पलवा सकता है।

(२७) **हेतुनिपुण**—साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान हो जाना हेतु है। अथवा जो साध्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक रूप से रह सके, वह हेतु कहलाता है।

आचार्य हेतुवाद में निपुण होना चाहिए। जिस साधक को हेतु और हेत्वाभास का पूर्ण बोध होता है, उसके द्वारा किसी सिद्धान्त या तत्त्व के प्रतिपादन में किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं रहता। उसका ज्ञान भी संशयादि से रहित होता है। निर्ग्रन्थ साधक के लिए वितण्डावाद, विवाद और धर्मवाद इन तीनों में से धर्मवाद करने का शास्त्र में विधान है। अतः आचार्य को धर्मवाद करते समय हेतु प्रतिपादन में निपुण होना अत्यावश्यक है ताकि वह जैन सिद्धान्तों को युक्ति और हेतु से सिद्ध कर सके।[1]

(२८) **उपनय निपुण**—उपनय कहते हैं—दार्ष्टान्तिक को। दृष्टान्त को प्रतिपादित विषय में घटाना दार्ष्टान्तिक है—इसे ही न्यायशास्त्र की भाषा में उपनय कहते हैं।

जब किसी पदार्थ की व्याख्या में सप्रमाण उपनय की संयोजना की जाती है, तो वह व्याख्या सर्वसाधारण के लिए उपयोगी हो जाती है। उससे अनेक भव्यजीव सन्मार्ग पर आरूढ़ हो जाते हैं। जैसे जम्बूकुमारजी ने अपनी आठ धर्मपत्नियों को बोध देने के लिये जो दृष्टान्त से साथ दार्ष्टान्तिक—उपनय दिए, उनका उनकी धर्मपत्नियों पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और वे सब संसार से विरक्त हो गईं। अतः आचार्य को उपनय-निपुण होना चाहिए।

---

[1] हेतु का उदाहरण—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्—यह पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि इसमें से धुंआ निकलता है। —तर्कसंग्रह

(२९) **नयनिपुण**—अनन्तधर्मात्मक वस्तु मे से किसी एक विशिष्ट धर्म को लेकर (अन्य धर्मों को गौण करते हुए) वस्तु का कथन करना नय है।

नय मुख्य रूप से सात प्रकार के है—(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरूढ और (७) एवंभूत[1]।

आचार्य में किसी भी वस्तु का सात प्रकार के नयो से कथन करने की निपुणता होनी चाहिए। ऐसा नय-निपुण आचार्य ही दार्शनिकों एवं तार्किकों को भलीभाँति विश्लेषण करके तत्त्व समझा सकता है।

(३०) **ग्राहणाकुशल**—आचार्य अन्य आत्माओं को धर्मशिक्षाएँ ग्रहण कराने में कुशल होना चाहिए। विभिन्न शास्त्रीय धर्मशिक्षाओं द्वारा स्वयं बोध प्राप्त कर लेना एक बात है और अपने से भिन्न आत्माओं को धर्मशिक्षा ग्रहण कराना—धर्मशिक्षा उनके गले उतार देना और बात है।

ग्राहणाकुशलता अनुपमशक्तिसम्पन्न आत्मा का गुण है। यह गुण तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति स्वयं उस धर्मशिक्षा के विषय पर आरूढ़ हो जाता है। साथ ही आचार्य की वक्तृत्व शक्ति इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह श्रोताओं को धर्म-क्रियाओ में आरूढ़ कर सके। अतएव धर्मनायक होने के नाते आचार्य में यह गुण अवश्यमेव होना चाहिए।

(३१) **स्वसमयवित्**—स्व का अर्थ है—अपना धर्म, अपना मत-सम्प्रदाय और समय का अर्थ है—सिद्धान्त[2]। आचार्य को स्व (जैन) सिद्धान्तों का विशेषज्ञ होना चाहिए।

जिसे अपने धर्म के सिद्धान्तों का पता नहीं है, स्व-धर्म-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से अनभिज्ञ है, वह दूसरों को अपने सिद्धान्त कैसे समझा सकता है ? कैसे वह स्वसिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार कर सकता है ? तथा वह अपनी मान्यता, मत या सिद्धान्त की प्रभावना भी कैसे कर सकता है ? आचार्य को जैन धर्म के आत्मवाद, परमात्मवाद, कर्मवाद, सापेक्षवाद—अनेकान्तवाद, परिणामिनित्यवाद आदि स्वसमय का ठोस एवं गम्भीर अध्ययन होना चाहिए ताकि वह अपना आत्मकल्याण करने के साथ-साथ अन्य आत्माओं

---

१ सात नयों के विशेष लक्षण एवं स्वरूप के लिए आगे सम्यक्ज्ञान के प्रकरण में देखिए। —संपादक

२ समयाः शपथाचारकाल—सिद्धान्त-संविदः। —अमरकोश

का भी कल्याण कर सके। स्वसमयवेत्ता आचार्य ही शासन-प्रभावक हो सकता है।

(३२) **परसमयवित्**—आचार्य को स्वधर्मसिद्धान्त का विशेषज्ञ होने के अतिरिक्त परसमयवेत्ता अर्थात् अन्य धर्म-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का ज्ञाता भी होना चाहिए। जब तक आचार्य को अन्य मतों—धर्म-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का बोध नहीं होता, तब तक वह स्व-मत—धर्म-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर पूर्णतः दृढ़—अविचल नहीं रह सकता। स्व-मत में दृढ़ता तभी हो सकती है, जब पर-मतों का यथेष्ट ज्ञान हो। इसका एक अर्थ यह भी है कि आचार्य को स्व (जैन) दर्शन के गम्भीर ज्ञान के साथ-साथ अन्यदर्शनों का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।[1]

(३३) **गाम्भीर्ययुक्त**—आचार्य में गम्भीरता का गुण होना चाहिए। जिसमें गम्भीरता का गुण होता है, उसमें धैर्य, सहिष्णुता, शान्ति, सौम्यता, नम्रता आदि अन्य गुण भी आ जाते है। गाम्भीर्य गुण से युक्त आचार्य ही अन्य साधकों की आलोचनादि को सुनने योग्य होता है तथा वही दूसरें साधकों की उचित प्रायश्चित्त देकर आत्मशुद्धि करा सकता है, साथ-ही-साथ प्रायश्चित्त के योग्य दोषी साधक का दोष सुनकर दूसरों के आगे प्रकाशित नही करता। गम्भीर आचार्य ही कष्ट-सहिष्णु होकर अन्य साधकों को धर्म-मार्ग पर दृढ एव स्थिर कर सकता है। ऐसा आचार्य दूसरे साधकों के दोष, मर्म आदि जान-सुनकर कदापि द्वेष-बुद्धि से किसी के मर्म या द्वेष प्रकट नहीं करता।

(३४) **दीप्तिमान-तेजस्वी**—आचार्य दीप्तिमान अर्थात् तेजस्वी होना चाहिए, बुद्धि से भी – शरीर से भी और विचारों से भी। जिस साधक में सत्य और ब्रह्मचर्य का पूर्णतया निवास होता है, उसका आत्मा, शरीर, बुद्धि मन आदि सभी तेजस्वी हो जाते हैं। सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्यनिष्ठा से आत्मा में परम बल आ जाता है कि उसके तेज के आगे बड़े-बड़े भौतिक शक्ति के धनी, शूरवीर, धनिक आदि नतमस्तक हो जाते हैं। कोई भी वादी सहसा उस पर आक्षेप नहीं कर सकता।

(३५) **शिव**—शिव का अर्थ है – निरुपद्रव। आचार्य में यह गुण इस-लिए आवश्यक है कि वह समय आने पर संघ पर आये हुए संकट एवं उपद्रव को शान्त करने एवं निवारण करने में समर्थ हो। आचार्य उपदेशादि द्वारा

---

१ देखें—सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, स्वसमय-परसमयाधिकार।

अथवा अपनी आत्मशक्ति द्वारा संघ में शान्ति स्थापित करता है। आचार्य शिव (महादेव) बनकर उपद्रवो को नष्ट करे और संघ में शान्ति का वातावरण बनाये रखे। संघ में शान्ति होने से ही उसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हो सकती है; अनेक लोग धर्म-पथ पर लग सकते है, स्व-परकल्याण भी कर सकते हैं।

(३६) **सौम्यगुणयुक्त**—आचार्य सौम्यगुणसम्पन्न होना चाहिए, ताकि वह सौम्यतापूर्वक साधको को शास्त्रज्ञान एवं आचार में सम्यक् प्रशिक्षित कर सके।

इस प्रकार आचार्य में ये ३६ अर्हतायें[1] (गुण) या विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिए। इनके अभाव में वह आचार्य पद के योग्य नही माना जाता।

आचार्य में चार विशिष्ट क्रियायें

पूर्वोक्त छत्तीस अर्हताओं के अतिरिक्त आचार्य में चार विशिष्ट क्रियाएँ और होनी चाहिए। इन्हें आचार्य की चतुर्विध शक्तियाँ समझना चाहिए। ये निम्नोक्त है—

(१) **सारणा**—आचार्य संघ के साधु-साध्वियो को तथा संघ को दैनिक क्रियाओं तथा नैतिक कर्त्तव्यो का स्मरण दिलाता रहे।

(२) **वारणा**—कोई साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका अपने व्रत, नियम, सिद्धान्त या धर्म से भ्रष्ट हो रहे हो, अतिचार या अनाचार के पथ पर चल रहे हो, तो उन्हें सम्यक् शिक्षा देकर उस दोष-अपराध से हटाए।

---

१ जैनतत्त्व प्रकाश में आचार्य के ३६ गुण इस प्रकार बताए गए हैं—
(१) जातिसम्पन्न, (२) कुलसम्पन्न, (३) बलसम्पन्न, (४) रूपसम्पन्न, (५) विनयसम्पन्न, (६) ज्ञानसम्पन्न, (७) शुद्धश्रद्धासम्पन्न, (८) लज्जाशील, (९) निर्मल चारित्रवान्, (१०) लाघवसम्पन्न, (११) ओजस्वी (परीषहादि आने पर धैर्य गुण धारक), (१२) तेजस्वी, (१३) वचस्वी (कुशल वक्ता), (१४) यशस्वी, (१५) जितक्रोध, (१६) जितमान, (१७) जितमाय, (१८) जितलोभ, (१९) जितेन्द्रिय, (२०) जितनिन्द्रा, (२१) जितपरीषह, (२२-२३) जीविताशा-मरणभयविप्रमुक्त, (२४) गुणप्रधान, (२५) करणप्रधान, (२६) चरणप्रधान, (२७) निग्रहप्रधान, (२८) निश्चयप्रधान, (२९) विद्याप्रधान, (३०) मंत्र-प्रधान, (३१) वेदप्रधान, (३२) ब्रह्मप्रधान, (३३) नयप्रधान, (३४) नियम-प्रधान, (३५) सत्यप्रधान, (३६) शौचप्रधान। —जैनतत्त्व प्रकाश पृ० १८२

(३) **चोयणा (चोदना-प्रेरणा)**—साधुओं को प्रमाद से हटने की प्रेरणा देता रहे।

(४) **पडिचोयणा (प्रतिचोदना)**—यदि कोई साधक मृदु वाक्यों से दी गई शिक्षा को न मानता हो, तो उसे कठोर वाक्यों से शिक्षा दे।

वस्तुतः आचार्य की इच्छा उसकी आत्मशुद्धि करने की होती है। आचार्य उक्त चारों क्रियाएँ राग-द्वेष-वश होकर कदापि नहीं करता।

आचार्य की आठ सम्पदाएँ

गृहस्थ के पास धन, धान्यादि द्रव्यसम्पत् होती है उससे वह शोभा पाता है, किन्तु वह सम्पत् चिरस्थाई नही होती। द्रव्यसम्पत् तो प्रायः विनश्वर होती है परन्तु भावसम्पत् सदा आत्मा के साथ ही रहती है; वह आत्मा की तरह अविनाशी है। आचार्यश्री उसी भावसम्पत् से शोभायमान होते हैं।

आचार्यश्री की सम्पत् को अष्टविध गणिसम्पदा कहते हैं। गणि-सम्पदा के ८ प्रकार ये हैं—(१) आचारसम्पदा, (२) श्रुतसम्पदा, (३) शरीरसम्पदा (४) वचनसम्पदा, (५) वाचनासम्पदा, (६) मतिसम्पदा, (७) प्रयोगसम्पदा, और (८) संग्रहपरिज्ञा (संग्राह परिणाम)।[1]

(१) **आचारसम्पदा**—पूर्वोक्त ज्ञानादि पाँच आचरणीय आचारों का आचरण (पालन) करना आचार्य सम्पदा है। आचार सम्पदा चार[2] प्रकार की होती है—

(क) **संयम (चरण गुण) ध्रुवयोग युक्तता**—अपने ग्रहण किये हुए संयम के भावों (पंचमहाव्रत-पंचसमिति-त्रिगुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र गुणों) में योगों को सदैव ध्रुव-निश्चल-स्थिर रखना।

---

१ ····इमा खलु अट्ठविहा गणिसम्पया पण्णत्ता, तं जहा—
आयारसंपया १, सुयसंपया २, सरीरसंपया ३, वयणसंपया ४, वायणासंपया, मइसंपया ६, पयोगसंपया ७, संगाहपरिणामा ८, अट्ठमा।

२ से किं तं आयार संपया?
आयारसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवइ १, असंप्पगाहिऽप्पा २, अणिययवत्ती ३, वुड्ढसीले यावि भवइ ४। से तं आयारसंपया।

—दशाश्रुतस्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

(ख) असंप्रगाहितात्मा (मार्दवगुणसम्पन्नता)—प्रतिष्ठा या प्रशंसा आदि होने पर भी आचार्य की आत्मा का जातिमद आदि आठ मदों को त्याग कर सदा निरभिमान—निरहंकार—विनम्र होकर रहना।

(ग) अनियत वृत्ति—शीत और उष्णकाल में ग्राम में एक रात्रि और नगर में पंच रात्रि से अधिक, एक ही स्थान में नही रहना, अपितु देश-प्रदेश में परोपकार की दृष्टि से अप्रतिबद्ध होकर नवकल्पी विचरण करना।

(घ) वृद्धशीलता (अचंचलता)—कामिनियों के मन को हरण करने वाले लोकोत्तर रूप यौवन सम्पत्ति के धनी होने पर भी सर्वथा निर्विकार, सौम्य और गम्भीर मुद्रा वाले वृद्धो का सा चंचलता-चपलता रहित स्वभाव धारण करना।

(२) **श्रुतसम्पदा**—शास्त्रो के अर्थ—परमार्थ का ज्ञाता—परम विद्वान होना, आचार्य की श्रुत (सूत्र) सम्पदा है। इसके भी चार प्रकार है—(१) **बहुश्रुत होना**—जिस काल में जितने भी शास्त्र उपलब्ध हो, उन बहुत-से शास्त्रो का—प्रमुख सिद्धान्तों का—ज्ञाता—उत्कृष्ट विद्वान् हो, (२) **परिचित श्रुत होना**—शास्त्रीय ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करके अस्खलित रूप से शास्त्रों का परिचित हो, शास्त्र सदैव स्मृतिपट पर रहें, इस प्रकार का निश्चल ज्ञानी बनना, (३) **विचित्र श्रुत होना**—आचार्य जैन-जैनेतर विचित्र (विभिन्न) शास्त्रों का समर्थ विद्वान होना चाहिए। विचित्र श्रुत का एक अर्थ यह भी है—शास्त्र में विहित उत्सर्ग-अपवाद, निश्चय-व्यवहार, अर्थ-परमार्थ-भावार्थ, आदि विचित्र मार्गों या सिद्धान्तो का यथातथ्य ज्ञाता होना। (४) **घोषविशुद्धिकारक**—आचार्य शास्त्रों का उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित इन तीन घोषों से युक्त शुद्ध उच्चारणकर्त्ता होना चाहिए।[1]

(३) **शरीरसम्पदा**—सुन्दर आकृति, सुदृढ़ संस्थान और तेजस्वी शरीर का धारक होना शरीरसम्पदा है। यह चार प्रकार की होती है—(१) **आरोह-परिज्ञातसम्पन्नता**—शरीर दीर्घ (अपने नाप से एक धनुष लम्बा) और विस्तार युक्त (प्रमाणोपेत) हो, (२) निर्मल और अनुत्तर (सुन्दर) शरीर हो। तात्पर्य यह है कि आचार्य का शरीर इतना सुडौल और कान्तिमान हो कि प्रवचन सभा में बैठा हुआ वह नक्षत्रों में चन्द्र के समान शोभायमान हो।

---

१ सुयसपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
बहुसुययावि भवइ १, परिचियसुत्ते यावि भवइ २, विचित्त सुत्ते यावि भवइ ३, घोसविसुद्धिकारए यावि भवइ ४। से तं सुयसंपया।

(३) **शरीर स्थिर (दृढ़) संहनन युक्त हो**—आचार्य का शरीर-संहनन इतना सबल, सुदृढ़ एवं स्थिर हो कि वह तप, संयम, विहार एवं उपकार के कार्य में थके नहीं, और (४) **परिपूर्ण पंचेन्द्रियता**—आचार्य के शरीर में पांचों इन्द्रियां प्रतिपूर्ण हों। अर्थात् उनको इन्द्रियों में किसी प्रकार की रोगग्रस्तता, निर्बलता आदि विकृति या क्षति न हो, उनमें लूला-लंगड़ापन, कानापन, बधिरता, अन्धता, मूकता आदि किसी प्रकार की अपंगता न हो।[1]

(४) **वचनसम्पदा**—भाषण-संभाषण (वाक्) चातुर्य होना, आचार्य की वचनसम्पदा है। वचनसम्पदा भी चार प्रकार की होती है—(१) **आदेय वचनता** (प्रशस्त वचनता)—जिस वचन का कोई खण्डन न कर सके, अर्थात् वादी, प्रतिवादी सभी ग्रहण करें, ऐसे निर्दोष, प्रशस्त, उत्तम और प्रभावशाली वचन बोलना; (२) **मधुरवचनता**—जिस वचन में किसी प्रकार की कटुता, 'रे तू' आदि व्यंग्योक्ति, तुच्छता आदि न हो, अपितु मधुरता, मृदुता और गम्भीरता से युक्त वचन हो, जिसे सुनकर श्रोताओं को प्रसन्नता एवं सुखानुभूति हो। (३) **अनिश्रितवचनता**—आचार्य के वचन राग-द्वेष, पक्षपात और कालुष्य तथा परस्पर, कलहोत्तेजक न हों, अपितु समभाव-माध्यस्थ्य भाव से युक्त वचन हों। और (४) **असंदिग्धवचनता**—आचार्य के वचन सन्देहरहित हों। वह द्वयर्थक, संशयास्पद, निरर्थक, अस्पष्ट एवं अनुचित तथा मिश्रित शब्दों का प्रयोग न करे। साथ ही जो प्रकरण सन्देहास्पद न हो उसी की व्याख्या करे। सुस्पष्ट, सुसंगत, सार्थक वचन बोले।[2]

(५) **वाचना सम्पदा**—आचार्य में शास्त्रों एवं ग्रन्थों की वाचना देने की कुशलता होना वाचनासम्पदा है। वाचनासम्पदा भी चार प्रकार की है—(१) शिष्य की योग्यता देखकर शास्त्र के अध्ययन के विषय में आज्ञा देनी चाहिए। आचार्य यह देखे कि यह शिष्य अमुक शास्त्र को ग्रहण और धारण करने योग्य है, तदनुसार उसे वाचना का उद्देश-निर्देश करे; (२) योग्यता

---

१ ····सरीरसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—
आरोह परिण्णाय संपण्णे यावि भवइ १, अणोत्तए सरीरो २, थिर संघयणे ३, बहुपडिपुण्णिंदिये यावि भवइ ४। से तं सरीरसंपया।
—दशाश्रुतस्कन्ध, चतुर्थ अध्ययन

२ वयणसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
आदेयवयणे यावि भवइ १, महुरवयणे यावि भवइ २, अणिस्सियवयणे यावि भवइ ३, असंदिद्धवयणे यावि भवइ ४। से तं वयणसंपया।
—दशाश्रुतस्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

देखकर ही वाचना देनी चाहिए, क्योंकि बिना समझा और बिना रुचा हुआ ज्ञान सम्यक् प्रकार से परिणत नहीं होता, न ही अधिक समय तक टिकता है। ऐसा समझकर पहले दी हुई वाचना को जिस शिष्य ने सुखपूर्वक समझा है, पचाया है, संभाला है, इस प्रकार परिणत गुण की जांच करके ही आचार्य उसे आगे वाचना दे। (३) जो शिष्य अधिक बुद्धिमान हो, धर्म को दिपाने वाला हो, सम्प्रदाय का निर्वाह करने वाला हो, उसे अन्य कार्यों में अधिक न लगाकर, उसे प्रोत्साहित करके यथाशीघ्र सूत्र पाठ, अस्खलित सूत्र-अर्थ और संहिता, पद, पदार्थ, पद-विग्रह और शंका-समाधानादि के सहित अध्ययन कराना चाहिए। यह निरपायिता गुण है। (४) जैसे पानी में तेल की बूंद बहुत फैल जाती है, उसी प्रकार शब्द थोडे होने पर भी अर्थ गम्भीर एवं व्यापक हो तदनुसार शिष्य को अर्थवाचना देनी चाहिए, यह निर्यापना (निर्वाहणा) गुण है।[1]

तात्पर्य यह है कि शिष्यो को उनकी योग्यता देखकर वाचना देने की शक्ति आचार्य में होनी चाहिए। यदि योग्यता देखे बिना ही वाचना दी जायेगी तो शास्त्र की आशातना होगी, उतनी वाचना संभाल न सकने के कारण पठन करने वाले शिष्य को मन में संक्लेश होगा, विपरीत रूप में भी परिणत होना संभव है।

(६) **मतिसम्पदा**—आचार्य की बुद्धि तीक्ष्ण, प्रखर और तत्काल ग्रहण-शील होना मतिसम्पदा है। मतिसम्पदा के भी चार प्रकार हैं—(१) **अवग्रहमतिसम्पदा**—शतावधानी के समान देखी, सुनी, सूंघी, चखी और स्पर्श की हुई वस्तु के गुणों को सामान्य रूप से ग्रहण (बोध) कर लेना। (२) **ईहा-मतिसम्पदा**—सामान्य रूप से ग्रहण की हुई वस्तु में पुनः ऊहापोह—तर्क-वितर्क उत्पन्न होना। (३) **अवाय (अपाय) मतिसम्पदा**—ईहा से ग्रहण (बोध) किये हुए पदार्थों के विषय में तत्काल एक निर्णय पर आ जाना और (४) **धारणामतिसम्पदा**—निश्चित किये हुए वस्तुबोध के पश्चात् उसे ऐसी

---

१ ····वायणासंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

विजय उद्दिसइ १, विजय वायइ २, परिनिव्वावियएइ वा ३, अत्थ निज्जावए यावि भवइ ४। से तं वायणासंपया।

—दशाश्रुतस्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

दृढ़ता के साथ धारण करना कि दीर्घकाल तक उसका विस्मरण न हो, समय पर उसका तत्काल स्मरण हो जाए।[1]

ये मतिज्ञान के चार भेद हैं। इनमें पूर्व से उत्तरोत्तर विशिष्ट बोध होता चला जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को स्वप्न आया। जब वह उठकर बैठा तो कहने लगा—'मुझे कोई स्वप्न आया है', इस प्रकार की अव्यक्त ज्ञान-दशा का नाम अवग्रह है। फिर वह ईहा करता है कि 'मुझे स्वप्न अवश्य आया है। जब स्वप्न का अवश्य आना सिद्ध हो गया, तब वह उस स्वप्न को ऊहापोह करके स्मृति-पथ पर लाता है। जब वह यथार्थ रूप से स्वप्न का निश्चय कर लेता है कि 'मुझे इसी प्रकार का स्वप्न आया है,' इसका नाम अवाय है। अवायमति द्वारा जिस स्वप्न का निश्चय किया गया था उसे बुद्धि (स्मृति) में दृढ़ता के स्थिर कर लेना, ताकि वह स्वप्न फिर याद आ जाये कि 'मुझे अमुक दिन अमुक स्वप्न आया था, इसका नाम धारणामति है।

शास्त्र में अवग्रह आदि चारों मतिज्ञान के भेदों के उत्तरभेद भी बताये गये है। वे इस प्रकार है—

अवग्रहमति के छह भेद—अवग्रह मतिसम्पदा के छह भेद इस प्रकार हैं— (१) **क्षिप्र**—दूसरे के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसके भावों को शीघ्र ही ग्रहण करना; (२) **बहु**—बहुत से प्रश्नो के भावों को एक हो बार में अवगत कर लेना; (३) **बहुविध**—प्रश्नो के भावो को पृथक्-पृथक् प्रकार से समझ लेना; (४) **ध्रुव**—निश्चल भाव से प्रश्नो के भावों को जान लेना, (५) **अनिश्रित**—किसी की सहायता के बिना प्रश्नों के भावों को जान लेना, अर्थात्—विस्मृत न होना। (६) **असंदिग्ध**—बिना संदेह के प्रश्नों के भावों को अवगत कर लेना; अर्थात्—प्रश्नों के भावो को स्पष्टतया जान लेना।

इसी प्रकार ईहामतिसम्पदा और अवायमतिसम्पदा के छह-छह भेद होते हैं। धारणामतिसम्पदा के भी छह भेद बताए गए हैं—(१) **बहु धारणा**—एक बार ही सुनकर बहुत सी बातों को धारण कर लेना (२) **बहुविध धारणा**—बहुत प्रकार से प्रश्नो के भावों को धारण कर लेना; (३) **पुरातन धारणा**—जिन बातों को चिरकाल हो गया है, उन बातों (ज्ञान) को धारण कर लेना (४) **दुर्धरधारणा**—प्रश्न के आधार से शीघ्र ही सप्तभंगी,

---

१ 'मइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—
उग्गहमइसंपया १, ईहामइसंपया २, अवायमइसंपया ३, धारणामइसंपया ४।
—दशाश्रुतस्कन्ध, अध्याय ४

नय, निक्षेप तथा अन्य दुर्धर भंगों को धारण कर लेना, (५) **अनिश्रित धारणा**—किसी सूत्र या विद्वान शिष्यादि का आश्रय लिए बिना धारण कर लेना; और (६) **असंदिग्ध धारणा**—बिना सन्देह के किसी वस्तु विषयक ज्ञान को धारण कर लेना।[1]

(७) **प्रयोगमतिसम्पदा**—आचार्य में परवादियों को वाद-विवाद में पराजित करने की कुशलता को प्रयोगमतिसम्पदा कहते हैं। प्रयोगमतिसम्पदा भी चार प्रकार की है—(१) **आत्मशक्तिज्ञानपूर्वक वादप्रयोग**—मैं वाक् चातुर्य या वाद-विवाद में जीत सकूँगा या नहीं ? इस प्रकार आत्मशक्ति तौल (देख) कर वाद-विवाद करना; (२) **पुरुषज्ञानपूर्वक वाद प्रयोग**—प्रतिवादी पुरुष या परिषत् के मत, मान्यता या स्वभाव को जानकर उसे उसी शास्त्र, मत, युक्ति आदि से समझाना (३) **क्षेत्रज्ञानपूर्वक वाद प्रयोग**—यह क्षेत्र कैसा है ? इस क्षेत्र के लोग मर्यादाहीन या उद्धत तो नहीं है ? कपटी और मिथ्यात्वी का आडम्बर देखकर विचलित हो जाने वाले अस्थिर तो नहीं हैं, इस प्रकार क्षेत्र का विचार करके ही वाद में प्रवृत्त होना; और (४) **वस्तुज्ञानपूर्वक वाद-प्रयोग**—षट् द्रव्यों में से किस द्रव्य के विषय में वाद करना है ? अथवा वाद का विषय क्या है ? इस विषय में मेरी गति है या नहीं ? इस प्रकार का विचार करके ही वाद-विवाद करना।

तात्पर्य यह है कि धर्मचर्चा या वाद-विवाद करने के मुख्य दो उद्देश्य होते है—(१) पदार्थों का निर्णय और (२) धर्मप्रभावना। ये दोनों उद्देश्य पूर्ण होते हों, तभी वाद-विवाद के लिए उद्यत होना उचित है। इसके साथ ही वाद-विवाद करने से पूर्व द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव का विचार करके ही वाद-विवाद में उतरना आचार्य की प्रयोगमति कुशलता का सूचक है। वाद-विवादकुशल आचार्य का यह भी कर्तव्य है कि वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार करके ही वाद-विवाद में प्रवृत्त हो। द्रव्य आदि का विचार इस प्रकार

---

१ '''ओग्गह मइसंपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) खिप्पं उगिण्हइ, (२) बहु उगिण्हइ, (३) बहुविहं उगिण्हइ, (४) धुवं उगिण्हइ, (५) अणिस्सिय उगिण्हइ, (६) असंदिद्धं उगिण्हइ। से तं उगिण्ह मइ संपया। एव ईहामई वि, एवं अवायमइ वि।
''''धारणा मइसंपया छव्विहा पण्णत्ता; तं जहा—
बहुधरेति १, बहुविहं धरेति २, पोराणं धरेइ ३ दुधरं धरेइ ४, अणिस्सियं धरेइ ५, असंदिद्धं धरेइ ६, से तं धारणामइसंपया। —दशाश्रुतस्कन्ध, अ० ४

किया जाता है—**द्रव्य से**—अपनी शक्ति-क्षमता, परिषद की पात्रता (ज्ञात है या अज्ञात, दुर्विदग्ध है या उपहासक ?) देखकर वाद में प्रवृत्त होना। **क्षेत्र से**—विवादस्थल, विवाद क्षेत्र की जनता, या क्षेत्राधिपति, सभापति, सम्मान्य व्यक्ति आदि का विचार करके ही प्रवृत्त होना। **काल से** इस समय कौन-सा काल है ? समय है ? अवसर है ? सुबह शाम दोपहर है ? वर्षा, ग्रीष्म या शीत आदि ऋतु है ? **भाव से**—औदयिक आदि ५ भावों में से कौन-सा भाव है ?

सात नय, चार प्रमाण, नामादि चार निक्षेप, निश्चय-व्यवहार, सामान्य-विशेष तथा कार्य-कारण भाव आदि भावों को जानकर तथा अपने बलाबल का विचार करके वादविवाद में प्रवृत्त होने से किसी प्रकार की क्षति होने की सम्भावना नहीं है, अपितु धर्म-प्रभावना एवं स्वप्रतिष्ठा तो बढ़ेगी। यही आचार्य की प्रयोगमतिसम्पदा है।[1]

(८) **संग्रहपरिज्ञा सम्पदा**—साधु-साध्वियों के लिए जीवनोपयोगी, आवश्यक, कल्पनीय उपकरण, क्षेत्र, क्रियायोग्य साधन आदि का विचार करके पहले से ही जुटा (संग्रह) करके रखना आचार्य की संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा है। इसके चार प्रकार है—(१) **वर्षावास योग्य क्षेत्र-प्रतिलेखन**—बालक, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी, रोगी, गीतार्थ एवं नवदीक्षित साधु-साध्वियों के लिए वर्षा काल में ठहरने के योग्य क्षेत्रों का ध्यान रखना (प्रतिलेखन करना) आचार्य की गणयोग सम्पदा है। (२) **बहुजनार्थ प्रातिहारिक पीठादि ग्रहण**—स्थानीय तथा बाहर से समागत बहुत-से साधुवर्ग के लिए प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या (उपाश्रय), संस्तारक (घास आदि) गृहस्थों से याचना करके ग्रहण करना आचार्य की संसक्त सम्पदा है। (३) **कालोचित क्रियासामग्री समानयन**—जिस-जिस काल में जो-जो क्रिया करनी हो, उस-उस काल में उस क्रिया के योग्य सामग्री जुटा (ला) कर रखना, आचार्य की **क्रियाविधि सम्पदा है**। (४) **यथागुरु पूजा-सत्कारकरण**—आचार्य द्वारा अपने दीक्षागुरु, श्रुतगुरु, तथा रत्नाधिक (दीक्षा-ज्येष्ठ) की यथायोग्य पूजा-सत्कार करना, यथा-गुरु पूजा-सत्कारकरण सम्पदा है। इसका दूसरा नाम शिष्योपसंग्रह संपदा भी है, इसका अर्थ यह है कि संघ में व्याख्या नदाता—वक्ता, तपस्वी, स्थविर,

---

१ ···पओग मइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—
आयं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ १, परिसं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ २,
खेत्तं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ ३, वत्थु विदाय वायं पउजित्ता भवइ ४।
से तं पओग मइसंपया। —दशाश्रुतस्कन्ध, अ० ४

वादविजयी, भिक्षाकुशल, लेखक, वैयावृत्यपरायण, शास्त्रज्ञ, गीतार्थ आदि विविध योग्यता वाले साधुओं को बड़े-छोटे के अनुसार यथायोग्य पदवी, वस्त्र, पात्र, औषध, आहार, उपकरणादि देकर उन्हें सम्मानित-सत्कारित करके उनका संग्रह करना।

अगर संग्रह परिज्ञा सम्पदा के ये चारों प्रकार आचार्य में नहीं होंगे तो यथायोग्य क्षेत्र प्राप्ति के बिना संघ के साधु-साध्वीगण उस संघ (गच्छ गण या पंथ) को छोड़कर अन्यत्र जाने को उद्यत हो जाएँगे, चातुर्मासकाल में आचार्य साधुओ के लिए पट्टे-चौकी आदि प्रातिहारिक सामग्री नहीं जुटा पायेगा तो साधु-साध्वीगण सम्यक्तया जीव-रक्षा नही कर सकेंगे; क्योंकि वर्षाकाल में सम्मूर्च्छिम, सूक्ष्म त्रस या सूक्ष्म निगोद जीवों की विशेष उत्पत्ति हो जाती है, नीचे जमीन पर सोने व बैठने आदि से उन जीवो की विराधना होनी सम्भव है। फिर जिस काल में जो क्रिया करनी है, उस काल के योग्य क्रिया के लिए उचित सामग्री आचार्य नही जुटाएगा तो न तो वे क्रियाएँ यथोचित समय पर हो सकेंगी, और न विधिपूर्वक ही हो सकेंगी। आचार्य अपने से बड़े दीक्षागुरु, श्रुतगुरु, दीक्षाज्येष्ठ, स्थविर आदि का यथायोग्य सत्कार सम्मान नही करेगा, तो विनयधर्म लुप्त हो जाएगा अथवा संघ में विद्वान लेखक, वक्ता, तपस्वी, स्थविर आदि को यथायोग्य पद, वस्त्र या उपकरणादि प्रदान करके अभिनन्दित सम्मानित नहीं करेगा, तथा उनकी सेवाशुश्रूषा की व्यवस्था नही करेगा, तो योग्य शासन-प्रभावक साधु वर्ग को आगे बढ़ने तथा विकास करने का अवसर नही मिलेगा। इससे संघ में तेजस्वी धर्मप्रचारक एवं शासन-प्रभावक साधुवर्ग कम हो जायेंगे। संघ ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उन्नति नहीं कर सकेगा।[1]

इसलिए संग्रह परिज्ञा सम्पदा के चारों अंग आचार्य के लिए अवश्यक है। ये आठ सम्पदाएँ आचार्य की आध्यात्मिक सम्पत्तिवर्द्धक हैं। अतः इन आठो सम्पदाओ का होना आचार्य में आवश्यक है।

---

१ ''''संगहपरिण्णा नाम संपया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—
वासासु खेत्तं पडिलेहत्ता भवइ बहुजण-पाउगत्ताए १, बहुजणपाहुगत्ताएपाडिहारिय-पीठ-फलग-सेज्जा-संथारय उगिण्हित्ता भवइ २, कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ ३, अहा-गुरु संपूएत्ता भवइ ४। से तं संग्गहपरिण्णा नामं संपया।
—दशाश्रुतस्कन्ध अ० ४

आचार्य द्वारा चतुर्विध विनय प्रतिपत्ति शिक्षा

आचार्य अपने शिष्यवर्ग अथवा संघस्थ साधुवर्ग को चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति सिखाकर उऋण हो जाता है। यह एक माना हुआ मनोविज्ञान-सम्मत सिद्धान्त है कि आचार्य जो-जो विनय दूसरो (शिष्यादि) को सिखाना चाहता है, उस-उस विनय का आचरण उसके अपने जीवन में तो होना ही चाहिए। इस दृष्टि से आचार्य अपने से दीक्षाज्येष्ठ जितने भी साधु होंगे, भले ही वे आचार्यादि पद पर नहीं होंगे, या शास्त्रज्ञ भी उतने न होंगे, फिर भी उनकी विनय-भक्ति, आदर-सत्कारादि करेगा। साथ ही जो छोटे साधु होंगे, उन्हें छोटे या तुच्छ समझकर उनकी भी उपेक्षा, तिरस्कार या अवहेलना वह नही करेगा, क्योकि ऐसा करने से साधुवर्ग की आशातना होगी, जो कि प्रत्येक साधु के लिए वर्जित है।

उस विनय प्रतिपत्ति की शिक्षा आचार्य चार प्रकार से देता है—(१) आचार विनय से, (२) श्रुत विनय से, (३) विक्षेपण विनय से, (४) दोष निर्घातना विनय से [1]।

इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य अपने शिष्यादि वर्ग को चार प्रकार की विनय—प्रतिपत्ति (विनय का आचरण) सिखाकर अपने कर्तव्य (गुरुपद) के ऋण से मुक्त हो सकता है। जिस प्रकार पुत्र को धार्मिक, सुसंस्कारी, विद्वान और सदाचारी बनाना माता-पिता का कर्तव्य है, उसी प्रकार आचार्य का भी यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्यादि को चार प्रकार के विनय का आचरण (सिद्धान्त और व्यवहार दोनो दृष्टियों से) सिखाकर उऋण हो।

इस कथन से यह ध्वनित होता है कि यदि आचार्य अपने शिष्यवर्ग को चार प्रकार के विनय की शिक्षा (ग्रहण शिक्षा और आसेवना शिक्षा) नहीं देगा तो वह शिष्यवर्ग का ऋणी रहेगा।

आचार विनय : स्वरूप और प्रकार

साधु के द्वारा आचरणीय शुद्ध आचार-गुणों का आचरण करना-

---

१ ····आयरिओ अंतेवासियेमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीए विणइत्ता भवइ निरणत्तं गच्छइ, तं जहा—
आयारविणएणं १, सुयविणएणं २, विक्खेवणा-विणएणं ३, दोस निग्घायणाविणएणं ४।

कराना आचार विनय है। आचार विनय के चार भेद[1] है—

(१) **संयम समाचारिता-विनय**—आचार्य स्वयं संयम-समाचारी का पालन करे तथा शिष्य-साधकों को संयम समाचारी का यथार्थ आचरण कराए। संयम १७ प्रकार के हैं। यथा—पचास्रवविरति, पंचेन्द्रियनिग्रह, चतुर्विध कषायविजय, त्रिविध दण्ड से विरति, यह १७ प्रकार का संयम है। सत्रह प्रकार के सयम का स्वयं आचरण करता हुआ आचार्य अपने शिष्यवर्ग को इस सयम का सम्यक् बोध देकर आचरण कराना सिखलाए।

(२) **तपःसमाचारिता विनय**—आचार्य स्वयं यथाशक्ति बारह प्रकार के तपश्चरण का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ, अपने शिष्यवर्ग को भी तप का माहात्म्य समझाकर तपश्चरण के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करे, तप करने से हिचकने वाले साधुओं को भी तप की विधि, महिमा, शक्ति, क्षमता, उपलब्धि आदि बताकर तपश्चर्या की ओर मोड़े।

(३) **गण समाचारिता विनय**—शिष्यवर्ग को गणसमाचारी का बोध कराना—गणसमाचारिता विनय है। जैसे—गण की क्या आचार-संहिता (समाचारी) है? गण के उपाधिधारियों के क्या क्या कर्तव्य है? अन्य गण के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? कैसी स्थिति में अन्य गण के साथ वन्दनादि व्यवहार जोड़ना और कैसी स्थिति में तोड़ना चाहिए? स्वगण में आचारशिथिलता आगई हो तो उसे कैसे दूर करनी चाहिए? स्वगण में जो साधु प्रत्युपेक्षण (प्रतिलेखन) आदि क्रियाओं में शिथिल हो जाएँ उन्हें कैसे शुद्ध समाचारी-पथ पर लाया जाए? गण के अन्तर्गत मुनियों के कई कुल होते हैं, उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार रखना चाहिए? तथा स्वगण में जो वयोवृद्ध, अशक्त, ग्लान, दुर्बल, बालक, नवदीक्षित, तपस्वी एवं बहुश्रुत विद्वान साधु हैं, उनकी किस प्रकार सेवा (वैयावृत्य) करनी चाहिए?

गणसमाचारी विनय का अर्थ यह भी है कि तपस्वी, बहुश्रुत, नव-दीक्षित आदि मुनियों का प्रतिलेखन आदि वैयावृत्य स्वयं करना या अन्य मुनियों से कराना।

इस प्रकार गणसमाचारी को धारण करता हुआ आचार्य शिष्य वर्ग को भी उसमें यथाविधि प्रशिक्षित करे।

---

१ आयारविणए चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
संजम सामायरियावि भवइ १, तवसामायरिया वि भवइ २, गणसामायरियावि भवइ ३, एकल्लविहार-सामायरियावि भवइ ४। से त आयारविणए।

(४) **एकाकी विहारसमाचारी विनय**—उचित अवसर आने पर स्वयं शास्त्रोक्ति विधि से एकल विहार प्रतिमा धारण करके एकाकी विचरण करे और सुयोग्य देखकर किसी शिष्य को भी एकल विहार प्रतिमा धारण कराना एकाकी विहार समाचारी विनय है। इसके लिए सर्वप्रथम परम-निर्जरा की कारणभूत एकल विहार प्रतिमा का माहात्म्य शिष्यों को समझाए, तत्पश्चात् द्वादश भिक्षु प्रतिमाओं के विधि-विधान का पूर्ण बोध कराए फिर योग्य समझकर एकल विहारप्रतिमा उन्हें धारण कराए।

इस प्रकार आचार्य चतुर्विध आचार विनय की प्रतिपत्ति से युक्त होते हैं।

श्रुत-विनय : स्वरूप और प्रकार

शास्त्रों एवं ग्रन्थों का विधिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन करना श्रुतविनय है। इसके भी चार[1] प्रकार है—

(१) **सूत्र वाचना**—अंग शास्त्रों, उपांग शास्त्रों, चार मूल सूत्रों, चार छेद सूत्रो एवं अन्यान्य आध्यात्मिक ग्रन्थो का स्वयं वाचन करना, तथा संहिता, पदच्छेद, संधिच्छेद आदि करते हुए शिष्यो को यथायोग्य शास्त्रों की वाचना देना।

(२) **अर्थ वाचना**—शास्त्रों के सम्यक् अर्थों को धारण करना और दूसरों को अर्थ की वाचना देना।

(३) **हित वाचना**—जिस प्रकार अपनी आत्मा और शिष्य की आत्मा का हित हो, उसी प्रकार वाचना देनी चाहिए। अर्थात् शिष्य की योग्यता और हित देखकर ही शास्त्रीय ज्ञान देना चाहिए। जैसे—कच्चे घड़े में जल डालने से घड़े और पानी दोनों का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को शास्त्र-ज्ञान देने से उस व्यक्ति और ज्ञान दोनों के अहित और संयम नाश की सम्भावना है। शास्त्र-ज्ञान-प्रदान करने का उद्देश्य शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति और उसके चित्त में समाधि उत्पन्न कराना है।

(४) **निःशेष वाचना**—शास्त्र वाचना देते हुए उक्त प्रकरण से सम्बद्ध जितने भी प्रश्न उठें, उन सबका समाधान करते हुए वाचना देना निःशेष

---

१ ····सुयविणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—
सुत्तं वाएइ १, अत्थं वाएइ २, हियं वाएइ ३, निस्सेसं वाएइ ४। से तं सुय-विणए।

वाचना है। अथवा जो सूत्र, ग्रन्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया हो, उसे पूर्ण करने के बाद ही दूसरा सूत्र या ग्रन्थ पढ़ाना भी निःशेष वाचना है। अथवा प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी आदि के माध्यम से प्रत्येक सूत्र के भावों को खोलते हुए वाचना देना भी निःशेष-वाचना है।

ये चारों श्रुतविनय के अंग हैं, जो आचार्य में होने आवश्यक हैं।

विक्षेपणा विनय : स्वरूप और प्रकार

श्रद्धालुजनों के अन्तःकरण में धर्म की स्थापना करना **और** अधर्म से हटाना विक्षेपणा विनय है। इसके भी चार प्रकार है—

(१) **अदृष्ट धर्मा जनों को दृष्ट धर्म में लगाना**—इसका तात्पर्य यह है कि जिन आत्माओ ने अभी तक सम्यग्दर्शनरूप धर्म का अनुभव नही किया है, मिथ्यात्व में ही पड़े है, उन्हें मिथ्यात्व से हटाकर सम्यग्दर्शन रूप धर्म में स्थापित (स्थिर करना)।

(२) **धर्म-प्राप्त को साधार्मिकता में स्थापना**—जिन जीवोंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्राप्त कर लिया है, उन्हें साधर्मिक बनाकर संघ में जोड़ना।

(३) **धर्मच्युत जीवो को धर्म में स्थापित करना**—जो जीव धर्म या सम्यक्त्व से भ्रष्ट या पतित हो रहे हो, उन्हें श्रुत-चारित्र धर्म में स्थिर करना।

(४) **सदैव श्रुत-चारित्र धर्म महत्त्व-प्रतिपादन**—प्रतिदिन श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की महिमा बतानी चाहिए। जैसे कि श्रुत-चारित्र-धर्म हितकर है, सुखकर है, समर्थ है, निःश्रेयस्कर (मोक्ष साधन) है, परलोक में अनुगामी (साथ चलने वाला) है। अतएव इस धर्म में अभ्युत्थित (धर्माचरण के लिए उद्यत) होना चाहिए।[1]

इस चतुरंगी विक्षेपणा विनय का निष्कर्ष यही है कि इस क्रम से धर्म-प्रचार करते हुए आचार्य को समस्त मानवमात्र को मोक्ष मार्ग में प्रविष्ट करते हुए स्वयं भी सकल कर्म क्षय करके मोक्ष प्राप्ति के हेतु पुरुषार्थ करना चाहिए।

---

१ ····विक्खेवणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा—
अदिट्ठ धम्म दिट्ठपुव्व गत्ताए विणएत्ता भवइ १, दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणएत्ता भवइ २, चुयधम्माउ धम्मे ठावइत्ता भवइ ३, तस्सेव धम्मस्स हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवइ ४। से तं विक्खेवणा विणए भवइ।

धर्म-प्रचार का क्रम इस प्रकार है—जिन आत्माओं ने धर्म का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा, इतना ही नहीं, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष मार्ग को ठीक नहीं पहचाना; उन्हें वीतरागप्ररूपित सत्य धर्म-पथ में लगाना चाहिए। जिन्होंने धर्मपथ सम्यग् रूप से धारण कर लिया हो, उन जीवों को सर्वविरतिरूप धर्म में स्थापित करना चाहिए, अर्थात उन्हें साधर्मिक बनाना चाहिए। जब कोई व्यक्ति धर्म से पतित हो रहा हो या धर्म छोड़ रहा हो, उस समय उसे सम्यक्तया समझा-बुझाकर धर्म-पथ में स्थिर करना चाहिए, क्योंकि शिक्षित किया हुआ शीघ्र ही धर्म में निश्चलता धारण कर लेता है। परन्तु इस धर्म को हित, सुख, सामर्थ्य एवं मोक्ष के लिए या जन्म-जन्मान्तर में साथ ले चलने के लिए धारण करना चाहिए।

(४) दोषनिर्घातना-विनय : स्वरूप और प्रकार

आत्मा से दोषों को बाहर निकालना, **दोषनिर्घातना-विनय** है। इसके मुख्यतः चार प्रकार है[1]—

(१) **क्रुद्ध-कोप-निवारण**—जिस व्यक्ति को क्रोध करने का विशेष स्वभाव पड गया हो, उसे क्रोध के कटुफल बताकर, मृदु एवं प्रिय भाषण से या जिस किसी भी सात्त्विक उपाय से उसका क्रोध दूर हो सके, दूर करना चाहिए।

(२) **दुष्ट-दोषनिग्रह**—जो व्यक्ति क्रोधादि कषायों द्वारा दुष्टता को धारण किये हुए हो, या जिसका दुष्टता धारण करने का स्वभाव पड गया हो, उसे या उसके स्वभाव को भी शास्त्रीय शिक्षाओं, युक्तियों तथा शान्त भावों से समझा-बुझाकर ठीक करना—उसकी दुष्टता पर नियन्त्रण करना चाहिए।

(३) **कांक्षित-कांक्षाछेदन**—इसी प्रकार संयम निर्वाह के लिए जिस को जिस वस्तु की आकांक्षा हो, अर्थात्—अन्न-जल, वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि या विहारादि की संयम विषयक आकांक्षा या अपेक्षा हो, उसकी आकांक्षा

---

१ ...दोसनिग्घायणा विणए चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
कुद्धस्स कोहविणएत्ता भवइ १, दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवइ २, कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ ३, आया सुप्पणिहिते यावि भवइ ४, से तं दोसनिग्घायणा विणए।
—दशाश्रुतस्कन्ध अ० ४

पूरी कर देनी चाहिए, या पूर्ति में सहयोग देना चाहिए; प्रवचन विषयक शंका हो तो वह भी दूर करनी चाहिए।

(४) क्रोधादि अंतरंग दोषों से विमुक्त होकर **आत्मा** को **पवित्र और सुप्रणिहितात्मा** बनाना चाहिए।

ये चारों दोषनिर्घातिना विनय के चार अंग[1] हैं। आचार्य को अपने शिष्य वर्ग को तथा सम्पर्क में आने वाले श्रद्धाशील गृहस्थ वर्ग को इन चारों प्रकार के विनयों से प्रशिक्षित करना चाहिए।

आचार्य के प्रति शिष्यादि की विनय प्रतिपत्ति

जिस प्रकार पूर्वोक्त विनय आदि के द्वारा शिष्यादि को प्रशिक्षित किये जाने पर गुरु ऋण-मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार शिष्य भी विधिपूर्वक गुरु की विनय-भक्ति, सेवा-शुश्रूषा आदि करके गुरु-ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। अतः प्रसंगवश यहाँ हम उक्त गुणवान् शिष्य (अन्तेवासी) द्वारा आचार्य की निम्नोक्त शास्त्र प्रतिपादित, चतुर्विध विनय प्रतिपत्ति का वर्णन करना आवश्यक समझते हैं।[2]

(१) **उपकरण उत्पादनता-विनय**—विधिपूर्वक (आचार्य या संघ के साधुओं के लिए) संयम निर्वाह के लिए आवश्यक उपकरणों को उत्पन्न करना उपकरण उत्पादनता विनय है। इसके भी चार प्रकार हैं—(१) **अनुत्पन्न-उपकरणोत्पादन**—(आचार्य परिश्रान्त हो गया हो या उसकी स्वाध्या-

---

१ कहीं कहीं 'दोषनिर्घातना विनय' के बदले 'दोष परिघात-विनय' नाम है। इसके ४ प्रकार यों हैं—(१) क्रोधी को क्रोध से होने वाली हानियाँ और क्षमा से होने वाले लाभ बताकर शान्त-स्वभावी बनाना क्रोध परिघात विनय है। (२) विषयासक्ति से उन्मत्त बने हुए को विषयों के दुर्गुण और शील के गुण बताकर निर्विकार बनाना विषयपरिघात विनय है। (३) रसलोलुप हो, उसे रसलोलुपता से हानियाँ और तप के लाभ बतलाकर तपस्वी बनाना अन्न-परिघात विनय है। (४) दुर्गुणों से दुःख और सद्गुणों से सुख की प्राप्ति बताकर दोषी को निर्दोष बनाना आत्मदोष परिघात विनय है।

—जैन तत्त्व प्रकाश पृ० १८६

२ तस्सेव गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा विणयपडिवत्ती भवइ, तं जहा—उवगरणउप्पायणता १, साहिल्लया २, वण्णसंजलणया ३, भारपच्चोरुहणया ४।

—दशाश्रु० अ० ४

यादि क्रियाओं में विघ्न पड़ता हो, तो गुणवान् शिष्य स्वयं गच्छवासी साधुओं के लिए अनुत्पन्न उपकरण का उत्पादन करे। (२) **पुरातन-उपकरण-संरक्षण**—(पुरातन या जीर्ण उपकरण-संरक्षित गुप्त रखें)। (३) **संगोपित-उपकरण प्रत्युद्धरण**—(यदि पुराना—जीर्ण उपकरण मरम्मत करने से काम में आ सकता हो, उसे मरम्मत करके उपयोग में ले।) (४) **यथायोग्य-उपकरण संविभाग**—(जिस साधु के पास वस्त्रादि-उपकरण कम हो, उसे अपनी निश्राय का उपकरण दे दे तथा वस्त्रादि उपकरणों का साधुओं में यथायोग्य संविभाग करे।)[1]

(२) **सहायता विनय**—अन्य प्राणियों को सुख पहुँचाना तथा उनके दुःख का निवारण करना सहायता विनय है। सहायता-विनय के भी ४ प्रकार है—(१) **अनुकूलवचन-प्रयोगता**—(प्रत्येक प्राणी के साथ अनुकूल-मधुर वचन बोलना या बुलाना, जिस (मृदुभाषण) से उसकी आत्मा को शान्ति मिले।) (२) **अनुलोमकाय क्रियता**—(गुरु आदि को शारीरिक सेवा करने का पुण्यलाभ मिले तो अनुकूल रीति से करे, ताकि उनके किसी भी अंगोपांग को क्षति न पहुँचे और उनकी आत्मा को शान्ति तथा शरीर को सुख-प्राप्त हो) (३) **प्रतिरूपकाय-स्पर्शनता**—(अन्य साधर्मिक साधुओ की यथा-विधि शारीरिक सेवा करे, जिससे उनको शारीरिक सुख प्राप्त हो।) (४) **सर्वकार्यों में अप्रतिलोमता**—(जिन-जिन कार्यों में गुरु ने नियुक्त किया हो, उन सेवादि कार्यों को उत्साह-पूर्वक सरलता से, श्रद्धा से करे, किसी प्रकार का हठ, मिथ्याभिनिवेश, विरोध या मिथ्याभिमान करके प्रतिकूलता नही धारण करना चाहिए, किन्तु ऋजुता धारण करनी चाहिए।) यह चार प्रकार का सहायता-विनय दूसरो को सुख-शांति पहुँचाने का तथा अलभ्य पुण्यलाभ एवं निर्जरा-लाभ का कार्य है।[2]

(३) **वर्ण संज्वलनता-विनय**—आचार्य तथा अन्य गुणवान् साधुओं का

---

१ ''''उवगरण-उप्पायणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
अणुप्पणाइं उवगरणाइं उप्पाइत्ता भवइ १, पोराणाइं उवगरणाइं सारक्खित्ता भवइ, संगोवित्ता भवइ २, परित्त जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवइ ३, आहाविधं संविभइत्ता भवइ ४, से तं उवगरण-उप्पायणया।

२ ''' **साहिल्लया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—**
अणुलोमवइ सीहले यावि भवइ १, अणुलोमकाय किरियत्ता २, पडिरूवकाय संफासणया ३, सव्वत्थेसु अपडिलोमया ४। से तं साहिल्लया।

गुणोत्कीर्तन करना—यथार्थ गुणों का प्रकाशन करना—प्रशंसा करना **वर्ण-संज्वलनता-विनय** है। वर्ण संज्वलनता विनय भी चार प्रकार का है— (१) **यथार्थ गुणानुवाद करना**—आचार्यादि के यथार्थ गुणो की प्रशंसा करना। (२) **अवर्णवादी का प्रतिघात करना**—जो व्यक्ति आचार्यादि की, या संघादि की निन्दा करते हैं, उन्हें बदनाम करते है, उनका प्रतीकार करना; या तिरस्कार, उपालम्भ आदि के द्वारा उनका प्रतिवाद करके समझाना। (३) **वर्णवादी के गुणो का प्रकाशन करना**—जो व्यक्ति आचार्यादि या संघ का यथार्थ गुणगान करते है, उन्हे धन्यवाद देना, उन्हें प्रोत्साहित करना। (४) **वृद्धों की सेवा करना**—जो अपने से गुणों मे आगे बढ़े हुए है (वृद्ध) है, आत्मिक गुणों से समृद्ध है, उनकी सेवा करना।[1]

(४) **भार-प्रत्यारोहणता-विनय**—जिस प्रकार राजा अपने सुयोग्य अमात्य एवं राजकुमार आदि को राज्य का भार सौपकर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य या साधक को संघ (गच्छ या गण) का भार सौपकर स्वयं निश्चिन्त होकर समाधि में लीन हो जाता है, इसे भारप्रत्यवतारणता-विनय कहते है। इसके भी चार प्रकार है—(१) **असंगृहीत परिजन को संगृहीत करना**—जो शिष्य असगृहीत है, अर्थात्—जिनके गुरु आदि कालधर्म को प्राप्त हो चुके है, अथवा क्रोधी या प्रपंची होने अथवा अन्य किसी कारण से उन्हे कोई संगृहीत (अपने साथ सम्मिलित) न करता हो, ऐसे शिष्य समूह को आचार्य का विनीत शिष्य अपने पास या आचार्य के पास अपनी देख-रेख में रखे। (२) **नवदीक्षित को आचार-विचार सिखाना**—नवदीक्षित शिष्य को ज्ञानाचार आदि पंचाचार एव आचार विधि सिखाने के लिए अपने पास रखे, और विधिपूर्वक साध्वाचार विधि से उसे प्रशिक्षित करे। (३) **ग्लानसाधर्मिक-वैयावृत्य में तत्परता**—यदि कोई साधर्मिक साधु ग्लानावस्था या रुग्णावस्था को प्राप्त हो गया हो तो उसकी वात्सल्यपूर्वक यथाशक्ति वैयावृत्य (सेवा शुश्रूषा) करे। क्योंकि रुग्ण साधु की सेवा करने से कर्मों की निर्जरा और उत्कृष्ट भावो से अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है। (४) **साधर्मिकों में उत्पन्न अधिकरण शमनार्थ उद्यत रहे**—साधर्मिक साधुओं में या साधर्मिकों

---

१ ····वण्णसंजलणया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—
अहातच्चाणं वाया भवइ १, अवण्णवायं पडिहणित्ता भवइ २, वण्णवायं अणुवुहित्ता भवइ ३, आयवुड्ढसेविया वि भवइ ४। से त वण्णसंजलया।

—दशाश्रुत स्कन्ध अ० ४

में परस्पर क्लेश उत्पन्न हो जाए तो आचार्य के गुणवान् शिष्य का कर्तव्य है कि ऐसे समय में निष्पक्ष अनिश्रित (बिना किसी लाग-लपेट का) होकर *माध्यस्थ्य-भाव धारण करके सम्यक् प्रकार से (श्रुत) व्यवहार धारण करता* हुआ उस कलह का उपशमन कराने तथा परस्पर क्षमायाचना कराने के लिए सदा सम्यक् प्रकार से उद्यत रहे।[1]

गुणवान् शिष्य को ऐसा क्यों करना चाहिए ? इसका समाधान यह है कि जब क्लेश शान्त हो जाएगा तब उन साधर्मिकों में परस्पर कठोर शब्दों का प्रहार कम हो जाएगा, क्रोधवश बौद्धिक अन्धता (झंझा) या धांधली कम हो जायगी, कलह भी ठंडा पड़ जाएगा, वाग्युद्ध का जोश कम हो जाएगा, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) भी अत्यन्त अल्प हो जाएगा, परस्पर तू-तू मैं-मैं भी नहीं होगी; उनके तन, मन, वचन पर संयम बढ़ जाएगा, वे प्रायः अपने आवेगों का अथवा विनष्ट चित्तवृत्ति से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्मों का निरोध (संवर) कर लेंगे, उनमें ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप समाधि बढ़ेगी, इतना ही नहीं, फिर वे अप्रमत्त होकर संयम एवं तप द्वारा अपनी आत्मा को भावित (अन्तःकरण को वासित) करते हुए विचरण करेंगे।

तात्पर्य यह है कि आचार्य पर चार प्रकार का कर्तव्य भार है—(१) बिछुडे, भूले-भटके साधकों को किसी प्रकार से समझा-बुझाकर गच्छ में सम्मि-लित करना, (२) नवदीक्षित साधकों को आचार-विचार का प्रशिक्षण देकर तैयार करना, (३) संघ में रुग्ण, अशक्त एवं वृद्ध साधकों की सेवा-सुश्रूषा की व्यवस्था करना तथा (४) साधर्मिक साधु-साध्वियों अथवा श्रावक-श्राविका वर्ग में कभी कोई कलह या विवाद उत्पन्न हो जाए तो कुशलतापूर्वक उसे शान्त करना-कराना। आचार्य के इन चारों कर्तव्यों का भार कोई सुयोग्य सुविनीत शिष्य सम्भाल लेता है तो उनकी आत्मा को शान्ति और समाधि प्राप्त होती है। यही चतुर्विध भारप्रत्यवरोहणता विनय है।

---

१ ····*भारपच्चोरुहणया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—*

असंगहीयं परिजणं संगहित्ता भवइ १, सेहं आयारगोयरगाहित्ता भवइ २, साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवइ ३, साहम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितो वसिएवसितो अप्पक्खग्गाही मज्झत्थ भावभूए सम्मं ववहारमाणे तस्स अहिगरणस्स खामणविउ समणयाए सया समियं अब्भुट्ठेत्ता भवइ।

—दशाश्रु० अ० ४

यह है—अष्टविधगणि सम्पदा, जिसका निरूपण स्थविर भगवन्तों ने किया है।[1]

प्रकारान्तर से आचार्य के छत्तीस गुण

पूर्वोक्त आठ प्रकार की गणिसम्पदा और उनमें से प्रत्येक सम्पदा के चार-चार भेद होने से कुल बत्तीस भेद हुए और ऋणमुक्त होने के लिए आचार्य द्वारा सिखाई जाने वाली चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति; यों कुल मिलाकर ३२+४=३६ भेद हुए। प्रकारान्तर से ये छत्तीस गुण भी आचार्य के होते हैं।

आचार्य को गुरुपद में प्रथम स्थान क्यों?

निष्कर्ष यह है कि आचार्य इन पूर्वोक्त समग्र गुणो से सम्पन्न होने चाहिए। इन गुणों में से कई गुण आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अनिवार्य है, कुछ व्यवहारिक विकास की दृष्टि से आवश्यक है और कई गुण सांघिक (सामाजिक) दृष्टि से उपयुक्त है। इन गुणो की वृद्धि से आचार्य स्व-कल्याण तो करता ही है, अपने सम्पर्क में रहने और आने वाले अनेक भव्य आत्माओ का भी कल्याण करता है। इन गुणो से चतुर्विध संघ की भी सब प्रकार से सुरक्षा और हितवृद्धि कर सकता है। गुणों की स्वाभाविक शक्ति से वह विरोधी, नास्तिक, दुर्जन, प्रतिकूल एवं निन्दक जनो को भी प्रभावित करके धर्म-पथ पर आरूढ़ कर सकता है। यही कारण है कि आचार्य को गुरुपद में प्रथम स्थान दिया गया है।

□

---

१ ····कहं तु ? साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पकलहा, अप्पकसाया, अप्प-तुमंतुमा, संजमबहुला, संवरबहुला, समाहिबहुला, अप्पमत्ता, संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणा णं एवं च णं विहरेज्जा। से तं भार पच्चोरूहणता।
एस खलु सा थेरेहिं भगवतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, त्ति बेमि।····

—दशाश्रुतस्कन्ध अ० ४

उपाध्याय का सर्वांगीण स्वरूप

पंच परमेष्ठी में चतुर्थ पद तथा आराध्य गुरुतत्त्व में द्वितीय स्थान 'उपाध्याय' का है। यह पद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार संघ में मुख्यतया चारित्र की साधना के लिए आचार्य का प्रथम स्थान माना जाता है, उसी प्रकार संघ में मुख्यतया ज्ञान की साधना के लिए 'उपाध्याय' का द्वितीय स्थान माना जाता है।

जो साधक गुरु आदि गीतार्थ महामुनियों के पास सदैव रहते हैं, जो शुभयोग तथा उपधान तप के अनुष्ठान द्वारा सम्पूर्ण अंग-उपांग-आगमों तथा अन्य शास्त्रो का स्वयं अध्ययन करते है और जिनके पास आ (रह) कर अनेक साधु-साध्वी या योग्य सुपात्र श्रावक-श्राविका अपनी-अपनी योग्यतानुसार शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, अथवा मोक्षपथिक योग्य जिज्ञासु साधु-साध्वियों को विधिपूर्वक शास्त्राध्यन कराकर जो सुयोग्य शास्त्रज्ञ बनाते हैं, इस प्रकार पापाचार से विरक्ति और सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाले 'उपाध्याय' कहलाते हैं।[1]

उपाध्याय पद की महिमा

चारित्र की साधना के समान ज्ञान की साधना भी मोक्ष का अंग है। यदि साधक के जीवन में ज्ञान का प्रकाश नही होगा तो वह चारित्र का पालन सम्यक् रूप से नही कर सकेगा। अज्ञानान्धकार से घिरे हुए साधक को न तो श्रेय-प्रेय का विवेक होता है, न ही संसार और मोक्ष के मार्ग का वह पृथक्करण कर सकता है और न वह धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप, पुण्य और धर्म, उत्थान और पतन, उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, मार्ग और मंजिल, साधन और साध्य का ठीक विवेचन-विश्लेषण कर सकता है।[2] अतएव मोक्ष-

---

१ (क) 'उप समीपे अधीते यस्मादसौ उपाध्यायः।

(ख) स्वयं शास्त्राण्यधीतेऽन्यान् अध्यापयति इति उपाध्यायः।

२ अन्नाणी किं काही, किंवा नाही इ सेयपावगं। —दशवैकालिक अ० ४ गा० १०

मार्ग के पथिक प्रत्येक साधक को ज्ञान का प्रकाश पाना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञानप्रकाश होने पर ही साधक स्व-परकल्याण कर सकता है।

उपाध्याय धर्म संघ के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका वर्ग में ज्ञान की ज्योति जगाता है। वह अज्ञानान्ध व्यक्तियों को ज्ञान का नेत्र देता है। स्वयं शास्त्र पढ़ना और संघ के ज्ञानपिपासु साधुवर्ग को शास्त्र पढ़ना 'उपाध्याय' का कर्तव्य होता है। यह पद भी अधिकार का नहीं, साधकों को ज्ञानाराधना-साधना कराकर सुयोग्य ज्ञानी बनाने का है। जीवन की अटपटी गुत्थियों को शास्त्र के माध्यम से, नय और प्रमाण, निश्चय और व्यवहार, उत्सर्ग और अपवाद की शान पर चढ़ाकर सुलझाने वाला, शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को खोलने वाला उपाध्याय होता है। उपाध्याय संघ में आध्यात्मिक, दार्शनिक, तात्त्विक एवं धार्मिक शिक्षा का सबसे बड़ा प्रतिनिधि होता है। वह मोक्ष-साधना के पथिकों का महत्त्वपूर्ण साथी, श्रुत-गुरु और जीवन-निर्माता है। आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय संघ का नेतृत्व कर सकता है।

उपाध्याय का कर्तव्य

वस्तुतः देखा जाए तो संघस्थ साधु-साध्वी वर्ग को विधिपूर्वक शास्त्रों का पठन-पाठन कराना उपाध्याय का मुख्य कर्तव्य है। इसी हेतु से सुयोग्य ज्ञानी साधक को उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जाता है; ताकि संघ में ज्ञान की ज्योति अखण्ड जलती रहे और साधकों की धर्म में दृढ़ता बनी रहे।

उपाध्याय पद की उपलब्धि

विचारणीय यह है कि आचार्य एवं उपाध्याय को सम्यक्तया संघ की सेवा करने से इहलौकिक-पारलौकिक किस सुफल की प्राप्ति होती है? उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—आचार्य और उपाध्याय बिना थके, बिना खिन्नता के, बिना झुंझलाए अपने गण (संघ या गच्छ) में शास्त्रों के सूत्र और अर्थ का ज्ञान दान करते हुए, उसका सम्यक्तया धारण पोषण (ग्रहण) एवं संरक्षण (पालन) करते हुए कई-कई तो उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, कई दूसरे भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं किन्तु तीसरा भव (जन्म) तो अतिक्रमण नहीं करते, अर्थात् तीसरे भव में तो अवश्य ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं।

इस शास्त्र-कथन से स्वतःसिद्ध हो जाता है कि आचार्य और उपाध्याय दोनों संघ की विशिष्ट महत्त्वपूर्ण सेवा करके तथा संघ की चारित्र और ज्ञान

से सम्यक् सुरक्षा करके अवश्य ही मोक्ष अथवा निर्वाणपद प्राप्त कर लेते हैं।[1]

उपर्युक्त शास्त्र-वचन का रहस्य यह है कि स्थानांग सूत्र के अनुसार इस अनादि संसार चक्र से पार होने के लिए भगवान् ने दो मार्ग बतलाए हैं; अर्थात् इन्हीं दो कारणों से जीव अनादि संसार चक्र से पार हो जाते हैं— विद्या (ज्ञान) से और चारित्र से[2]। तात्पर्य यह है कि जब तक अध्यात्मविद्या समुपलब्ध नहीं होती, तब तक धर्माधर्म आदि का सम्यक्बोध नहीं हो सकता। सम्यक्बोध के अभाव में आत्मा और कर्मों का जो परस्पर क्षीर-नीरवत् सम्बन्ध हो रहा है, उसका ज्ञान कैसे होगा? यदि कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के विषय में अनभिज्ञता है तो फिर उन्हें पृथक्-पृथक् करने के लिए अर्थात्—इन दोनों के संयोग-सम्बन्ध को तोड़ने के लिए पुरुषार्थ कैसे हो सकेगा?

अतः सर्वप्रथम श्रुतविद्या—शास्त्रज्ञान के अध्ययन करने की और तत्पश्चात् चारित्र के माध्यम से आत्मा से कर्मों को पृथक् करने हेतु महाव्रत, गुप्ति, समिति, श्रमणधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, त्याग-तप, प्रत्याख्यान आदि की क्रियाएँ अपनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। और शास्त्राध्यापन के द्वारा अध्यात्म-विद्या प्राप्त कराने की महती सेवा उपाध्याय करते है। इसी सेवा के फलस्वरूप उन्हे मोक्ष प्राप्त होता है।

उपाध्याय के पच्चीस गुण

उपाध्याय के मुख्यतया पच्चीस गुण शास्त्र मे बताए गए हैं। वे इस प्रकार है —(१-१२) बारह अंग के पाठक—वेत्ता (अध्येता और ज्ञाता), (१३-१४) चरण सप्तति (सत्तरी) और करण सप्तति (सत्तरी), (१५ से २२) आठ प्रकार की प्रभावना से धर्म का प्रभाव बढ़ाने वाले और (२३-२४-२५)

---

१ (प्र०) 'आयरिय-उवज्झाएण भंते! सविसयंसि गणंसि अगिलाए सगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति?'

(उ०) गोयमा! अत्थेगतिए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति, अत्थेगतिए दोच्चेणं भवग्गहणेण सिज्झति, तच्चं पुण भवग्गहणं णातिक्कमति।

—भगवती सूत्र श० ५, उ० ६, सू० २११

२ दोहिं ठाणेहिं जीवे……विज्जाए चेव चरित्तेण चेव। —स्थानांग स्था० २

तीनों योगों (मन-वचन-काया) को वश में करने वाले, ये २५ गुण उपाध्याय-श्री के हैं।[1]

उपाध्यायजी के २५ गुण इस प्रकार भी हैं—श्रुत पुरुष के एकादश अंग (शास्त्र), और चतुर्दश पूर्व (अवयवांग)। इन ११+१४=२५ मुख्य शास्त्रों को स्वयं पढ़े और भव्य प्राणियों के कल्याण एवं परोपकार के लिए अन्य योग्य व्यक्तियों (साधु-साध्वियों या योग्य श्रावकवर्ग) को पढ़ावे। यही मुख्य पच्चीस गुण उपाध्याय के हैं।

द्वादश अंगशास्त्रों का परिचय

द्वादश अंगशास्त्रों[2] के नाम इस प्रकार हैं।

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायंग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग, (६) ज्ञातृधर्मथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अन्तकृद्दशांग, (९) अनुत्तरौपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकसूत्र और (१२) दृष्टिवाद।

विश्व में धर्म ज्ञान के आधार पर टिका हुआ है और ज्ञान शास्त्रो के आधार पर टिका हुआ है, जिन्हें जैन शब्दावली में 'आगम' कहते है। साधारणतया केवली भगवान् की वाणी के अनुकूल जितने भी ग्रन्थ है, वे सभी शास्त्र कहलाते है। किन्तु इन सब मे मौलिक बारह अंगशास्त्र ही है, जो साक्षात् अरिहन्त भगवान की वाणी है और जिसे गणिपिटक कहते हैं, इनकी रचना साक्षात् गणधरों के द्वारा हुई है।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **आचारांग**—इसके दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कंध के ९ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन है। इस सूत्र के ८५ उद्देशनकाल हैं। इस अंगशास्त्र में पंचाचार का बहुत ही सुन्दर ढंग से छोटे-छोटे सूत्रों में निरूपण किया गया है जैसे कि—ज्ञानाचार (ज्ञानविषयक), दर्शनाचार (दर्शनविषयक),

---

१ बारसंगविऊ बुद्धा करण-चरणजुओ।
पभावणा-जोगनिग्गहो उवज्झाय गुणं वंदे ॥

२ जं इमं अरिहंतेहिं भगवतेहिं उप्पण्णनाणदंसण धरेहिं, तेलुक्कनिरिक्खमहिय पूइएहि तीय पडुप्पणमणागय जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसगं गणिपिडगं, तं जहा (१) आयारो, (२) सुयगडो, (३) ठाणं, (४) समवाओ, (५) वियाहपण्णत्ती, (६) नायाधम्मकहाओ, (७) उवासगदसाओ, (८) अंतगडदसाओ, (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ, (१०) पण्हावागरणाइं, (११) विवागसुयं (१२) दिट्ठिवाओ। —नन्दीसूत्र, सू० ४०

चारित्रचार (चारित्र-विषयक) तप-आचार (तप विषयक), वीर्याचार, (बलवीर्य विषयक), गोचर्याचार (भिक्षा-विधि), विनय विचार (विनय विषयक शिक्षा), कर्मक्षय शिक्षा, भाषा विषयक शिक्षा का वर्णन है। साथ ही श्रमण भगवान् महावीर की कठोर साधना और चर्या का सुन्दर वर्णन है।

(२) **सूत्रकृतांग**— इसके दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में समय, वैतालीय, उपसर्ग परिज्ञा, स्त्री परीषह परिज्ञा, नरक विभक्ति, वीर स्तुति, कुशील परिभाषा, वीर्याध्ययन, धर्म, समाधि, मोक्ष मार्ग, समवसरण, याथातथ्य, ग्रन्थ, आदानीय और गाथा, ये १६ अध्ययन है।

इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहार परिज्ञा, प्रत्याख्यान, अनाचार, आर्द्रककुमार और उदक पेढालपुत्र ये ७ अध्ययन हैं।

(३) **स्थानांग सूत्र**— इसमें एक ही श्रुतस्कन्ध है और दस स्थान हैं। एक से लेकर दस संख्या वाले बोल हैं।

(४) **समवायांग सूत्र**—इसमें भी एक ही श्रुतस्कन्ध है। अलग-अलग अध्ययन नही है। इसमें एक से लेकर सौ, हजार, लाख और करोड़ों की संख्या वाले बोलो का निर्देश है। द्वादशांगी की विषय सूची भी इसमें है।

(५) **व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र**— इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, ४१ शतक, और एक हजार उद्देशनकाल है। इसमें इहलौकिक, पारलौकिक, अध्यात्म, नीति, नियम, समत्व, लेश्या, योग आदि विविध विषयों से सम्बन्धित ३६००० हजार प्रश्नोत्तर हैं। यह शास्त्र अंगशास्त्रों में सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण है।

(६) **ज्ञाताधर्मकथांग**—इस सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में २०६ अध्ययन है। भगवान् पार्श्व नाथ की २०६ आर्याएँ संयम में शिथिल होकर देवियाँ हुईं, उनका १० वर्गों में वर्णन हैं। इसमें ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म-कथाएँ हैं।

(७) **उपासकदशांग**—इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। इन दस अध्ययनों में भगवान् महावीर के दस श्रेष्ठ श्रमणोपासकों का वर्णन है। इन दस श्रावकों की दिनचर्या तथा उनके द्वारा गृहीत व्रतों का सुन्दर वर्णन हैं।

(८) **अन्तकृद्दशांग**—इस अंगशास्त्र में एक श्रुतस्कन्ध है, ८ वर्ग हैं और ९० अध्ययन हैं। इसमें अन्त समय में केवलज्ञान प्राप्त कर जिन ९०

महापुरुषों ने निर्वाण पद प्राप्त किया है, उनके पूर्व-जीवन का और दीक्षाग्रहण के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति तक के जीवन का वर्णन है।

(९) **अनुत्तरौपपातिकदशांग**—इस सूत्र में उन व्यक्तियों का वर्णन है जो तप-संयम के बल पर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध विमानों में उत्पन्न हुए हैं। इसमें ३ वर्ग तथा ३३ अध्ययन है।

(१०) **प्रश्नव्याकरणसूत्र**—इस सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ५ आस्रवद्वारों के ५ अध्ययन हैं, तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध में पाँच संवरद्वारों के ५ अध्ययन है।

(११) **विपाक सूत्र**—इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहला दुःखविपाक और दूसरा सुखविपाक। दुःखविपाक में पापी जीवों का तथा सुखविपाक में पुण्यशाली जीवों का वर्णन है।

(१२) **दृष्टिवाद**—इस अंगशास्त्र का वर्तमान समय में विच्छेद हो गया है। इसमें पांच वस्तु (वत्थु) थी। वे इस प्रकार—(१) परिक्रम, (२) सूत्र, (३) पूर्व, (४) अनुयोग और (५) चूलिका।

इसका तृतीय वस्तु (वत्थु) मे चौदह पूर्वों का समावेश था। चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं—(१) उत्पादपूर्व, (२) आग्रायणीयपूर्व, (३) वीर्य-प्रवाद पूर्व, (४) अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व, (५) ज्ञानप्रवाद पूर्व, (६) सत्य-प्रवाद पूर्व, (७) आत्मप्रवाद पूर्व, (८) कर्मप्रवाद पूर्व, (७) प्रत्याख्यान पूर्व, (१०) विद्याप्रवाद पूर्व, (११) कल्याणप्रवाद पूर्व, (१२) प्राणप्रवाद पूर्व, (१३) क्रियाविशाल पूर्व, और (१४) लोकबिन्दुसार पूर्व।

जिस समय ये बारह अग पूर्ण रूप से विद्यमान थे, उस समय उपाध्यायजी इन सब में पारंगत होते थे। वर्तमान में विद्यमान ग्यारह अंगों का जितना-जितना भाग अवशेष रहा है। उसके ज्ञाता और पाठक को उपाध्याय कहते हैं।

द्वादश उपांगों का वर्णन

जिस प्रकार शरीर के मुख्य अंगों के अतिरिक्त हाथ, पैर आदि उपांग होते हैं, उसी प्रकार आगम पुरुष के आचारांग आदि बारह अंगों के बारह उपांग हैं। जिस अंग में जिस विषय का कथन किया गया है। उस विषय का आवश्यकतानुसार विशेष कथन उसके उपांग में है।[1]

---

१ कुछ आचार्यों के मतानुसार ११ अंग, १२ उपांग, चरणसप्तति और करणसप्तति यों कुल मिलाकर २५ गुण उपाध्यायजी के हैं। इसलिए यहाँ उपांगों का परिचय दे रहे हैं। —संपादक

(१) **औपपातिक सूत्र**—यह आचारांग सूत्र का उपांग माना जाता है। इसमें चम्पानगरी, कोणिक राजा, भगवान् महावीर, साधु के गुण, तप के के १२ भेद, तीर्थंकरों के समवसरण की रचना, चार गतियों में उत्पन्न होने के कारण, मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया, समुद्घात, मोक्षसुख आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

(२) **राजप्रश्नीय सूत्र**—यह सूत्रकृतांग का उपांग माना जाता है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण श्री केशीस्वामी के साथ श्वेताम्बिका नगरी के भूतपूर्व नास्तिक राजा प्रदेशी का आत्मा के विषय में सुन्दर संवाद उल्लिखित है।

(३) **जीवाभिगम**—इसे स्थानांग सूत्र का उपांग माना जाता है। इसमें ढाई द्वीप, चौबीस दण्डक, विजयपोलिया आदि का वर्णन है।

(४) **प्रज्ञापना सूत्र**—इसे समवायांग सूत्र का उपांग माना जाता है। इसके छत्तीस पद है, इसमें जीव और अजीव के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से प्रज्ञापना—प्ररूपणा की गई है।

(५) **जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र**—इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसे भगवती सूत्र का उपांग माना जाता है। इसमें जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त छह आरों का, ऋषभदेव भगवान्, भरत चक्रवर्ती द्वारा षट खण्ड साधन तथा यौगलिक मनुष्यों का भी वर्णन है।

(६) **चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र**—इसे ज्ञाताधर्मकथांग का उपांग माना जाता है। इसमें चन्द्रमा के विमान, मण्डल, गति, नक्षत्र, योग, ग्रहण, राहु तथा चन्द्र के पाँच संवत्सर आदि विषयों का वर्णन है।

(७) **सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र**—इसे भी ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र का दूसरा उपांग माना गया है। इसमें सूर्य के विमान, मण्डलों का उत्तरायण-दक्षिणायन, पर्वराहु, गणिताग, दिनमान, सूर्यसंवत्सर आदि का सविस्तार वर्णन है।

(८) **निरयावलिकासूत्र**—यह उपासकदशांग का उपांग माना जाता है। इसके दस अध्ययन हैं। इनमें श्रेणिक राजा के काल, सुकाल आदि नरकगामी राजकुमारों का वर्णन है।

कोणिक के द्वारा अपने पिता श्रेणिक को मारकर स्वयं राजा बनने एवं अपने छोटे भाई हल्ल-विहल्ल कुमार से नवसरा हार और सिचानक हाथी बलात् लेने के लिए चेटक राजा के साथ घोर संग्राम करने का विस्तृत वर्णन

है। इस रथ-मूसल और महाशिलाकंटक संग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का संहार हुआ, जिनमें से एक देवगति में, एक मनुष्य गति में और शेष सब नरक गति और तिर्यञ्च गति में उत्पन्न हुए। हार देव ले गए; हाथी आग की खाई में गिरकर मर गया, इत्यादि परिग्रहासक्ति के कटु परिणामों का प्रेरक वर्णन इस सूत्र में है।

(९) **कल्पावतंसिका सूत्र**—इसे अन्तकृद्दशांगसूत्र का उपांग माना जाता है। इसमें दस अध्ययन हे, जिनमें श्रेणिक राजा के पौत्र कालिक आदि दस कुमारों के पुत्र पद्म, महापद्म आदि दीक्षा लेकर, संयम पालन करके कल्पावतंसक देवलोक में उत्पन्न हुए; इत्यादि वर्णन है।

(१०) **पुष्पिका सूत्र**—यह अनुत्तरौपपातिक सूत्र का उपांग माना जाता है। इसमें दस अध्ययन है। इसमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र, मानभद्र आदि की पूर्व-जन्म की धर्मकरणी का तथा सोमल ब्राह्मण एवं श्रीपार्श्वनाथ स्वामी का संवाद और बहुपुत्रिका देवी का वर्णन है।

(११) **पुष्पचूलिका सूत्र**—इसे प्रश्नव्याकरण सूत्र का उपांग माना गया है। इसमें १२ अध्ययन है। भगवान् पार्श्वनाथ की दस विराधक साध्वियाँ —श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रसा और गन्धा—जो यहाँ से काल करके देवियाँ बनी, उनका वर्णन इस सूत्र में है।

(१२) **वृष्णिदशा सूत्र**—यह विपाकसूत्र का उपाग माना जाता है। इसमें बलभद्रजी के निषढ़कुमार आदि पुत्रों का वर्णन है, जो संयम धारण करके अनुत्तर विमानवासी देव हुए।

निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा इन पांचो उपाग शास्त्रो का एक यूथ है, जो निरयावलिका नाम से प्रसिद्ध है।

इन बारह उपांगों के तथा चार मूल सूत्रों (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार) के एवं चार छेद सूत्रो (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र और निशीथसूत्र[1]) के भी उपाध्यायश्री ज्ञाता और पाठक होते हैं।

करणसप्तति से युक्त

उपाध्याय जी के गुणों में एक गुण है—करणसप्तति से युक्त। करण का अर्थ है—जिस अवसर पर जो क्रिया करणीय हो, उसे करना।

---

१ इन सबका विस्तृत वर्णन आगे 'सूत्र धर्म' के प्रकरण में किया जाएगा। —स०

करण एक जैन पारिभाषिक शब्द है। करण सत्तर[1] प्रकार का है—अशन आदि चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पांच प्रकार की समिति, बारह प्रकार की भावना, बारह प्रकार की भिक्षुप्रतिमा, पांच प्रकार का इन्द्रिय-निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार प्रकार का अभिग्रह, यह सत्तर प्रकार का करण है।[2]

चरणसप्तति से युक्त

उपाध्यायजी के गुणों में एक गुण है—चरणसप्तति से युक्त होना। चरण का अर्थ है—चारित्र। 'चरण' और 'करण' में अन्तर यह है कि जिसका नित्य आचरण किया जाए उसे चरण कहते है और जो प्रयोजन होने पर किया जाए और प्रयोजन न होने पर न किया जाए, उसे 'करण' कहते हैं।

करण के समान चरण के भी सत्तर प्रकार है—पाँच महाव्रत, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दस वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप और चार कषायो का निग्रह; यह सत्तर प्रकार का चरण है।[3]

आठ प्रकार की प्रभावनाओ से सम्पन्न

उपाध्यायजी महाराज आठ प्रकार की प्रभावनाओं से सम्पन्न होते है। प्रभावना का अभिप्राय यहा धर्म की प्रभावना करना है। उपाध्यायजी इन गुणो से धर्म-प्रभावना करते हैं। प्रभावना को सम्यग्दर्शन का अंग भी कहा जाता है।

प्रभावना मुख्यतया ८ प्रकार से होती है। वे आठ प्रकार ये हैं—

(१) **प्रवचन प्रभावना**—सभी जैन शास्त्रो, प्रसिद्ध जैन ग्रन्थों तथा षड्दर्शनों एवं न्यायशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थो का अध्ययन, मनन, चिन्तन,

---

१ करण सप्तति के ७० बोलो मे से निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र और स्थान का सेवन यह चतुर्विध पिण्डविशुद्धि है, जिसका वर्णन एषणा समिति में हो चुका है। साधु की बारह प्रतिमाएं कायक्लेश तप के अन्तर्गत हैं। इन्द्रियनिग्रह प्रतिसंलीनता तप में वर्णित है। प्रतिलेखन चतुर्थ समिति मे तथा तीन गुप्तियों का कथन चारित्राचार में आ चुका है। —सम्पादक

२ पिंडविसोही, समिई, भावणा, पडिमा, इंदियणिग्गहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहं चेव करणं तु ॥ —ओघनिर्युक्तिभाष्य

३ वय समणधम्मं, संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतिय तव कोहनिग्गहाई चरणमेयं ॥ —ओघनिर्युक्तिभाष्य

निदिध्यासन करके, उसके अर्थ, भावार्थ, परमार्थ को ग्रहण करके, अनुप्रेक्षा के साथ आवृत्तिपूर्वक स्मरण करना और समय पर उसे इस ढंग से अभिव्यक्त करना, जिससे किसी भी मत का श्रोता प्रभावित होकर सद्धर्म की ओर उन्मुख हो जाय।

(२) **धर्मकथा-प्रभावना**—चार प्रकार की धर्मकथाओं में से यथावसर किसी एक प्रकार की धर्मकथा (धर्मोपदेश) द्वारा धर्म संघ की प्रभावना करना, धर्मकथा प्रभावना है।

धर्मकथा चार प्रकार की हैं। वे इस प्रकार—(१) **आक्षेपिणी**—किसी विषय का ऐसा सुन्दर और युक्तिसंगत वर्णन करना, जिससे श्रोता चित्रलिखित से होकर उसे श्रवण करने में तल्लीन हो जाए। (२) **विक्षेपिणी**—जो व्यक्ति सन्मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग की ओर बढ़ रहा है, या चला गया, उसे पुनः सन्मार्ग में स्थापित करने के लिए उपदेश देना (३) **संवेगिनी**—जिस कथा से हृदय में वैराग्य भाव उमड़े, और (४) **निर्वेदिनी**—जिस कथा को सुनकर श्रोता की चित्तवृत्ति संसार से या पापकर्मों से निवृत्ति धारण करे।

(३) **वाद प्रभावना**—किसी स्थान पर जैन-धर्म में स्थित धर्मात्मा पुरुष को गुमराह करके धर्मभ्रष्ट करने का प्रयत्न चल रहा हो, अथवा साधुओं की अवहेलना करके देव-गुरु-धर्म की महिमा कम की जा रही हो, वहाँ पहुँच कर अपने शुद्ध आचार-विचार द्वारा उन्हे सत्यासत्य का भेद समझाकर, उन व्यक्तियों को धर्म में स्थिर होने में सहायता देना, अथवा वाद-विवाद का प्रसंग हो तो सत्यपक्ष का मण्डन करते हुए मिथ्यापक्ष का खण्डन करना।

(४) **त्रिकालज्ञ प्रभावना**—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों में कथित भूगोल का ज्ञाता बनना, खगोल, ज्योतिष, निमित्त आदि विद्याओं में पारंगत होना, जिससे त्रिकाल सम्बन्धी शुभाशुभ बातों का ज्ञान हो सके और वह हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि जानकर जन सामान्य के उपकार और कल्याण के हेतु प्रकाशित कर सके, साथ ही विपत्ति के समय सावधान रहकर जिनशासन का प्रभाव बढ़ा सके।

(५) **तपः प्रभावना**—यथाशक्ति दुष्कर तपस्या करना, जिससे जनता के चित्त में उसका अत्यन्त प्रभाव पड़े, वे अहोभाव से तपस्या के प्रभाव को देखकर स्वयं तपश्चरण के लिए प्रेरित हों।

(६) **तपप्रभावना**—घी, दूध, दही आदि विगइयों (विकृतिकारी पदार्थों) का त्याग, अल्प उपधि, मौन, कठोर अभिग्रह, कायोत्सर्ग, यौवन में इन्द्रिय-निग्रह, दुष्कर क्रिया आदि का आचरण करके धर्म का प्रभाव बढ़ाना।

(७) **विद्याप्रभावना**—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, परकाय-प्रवेश, गगनगामिनी आदि विद्याओं तथा मन्त्र शक्ति, अंजनसिद्धि, गुटिका, रससिद्धि आदि अनेक विद्याओं (देवी-मंत्रों) में उपाध्याय महाराज प्रवीण हों; फिर भी इनका प्रयोग न करें। यदि जैन धर्म की प्रभावना का कोई विशेष अवसर आ जाए तो उसका प्रयोग कर सकते हैं किन्तु इसके लिए यह विधान है कि बाद में उसका प्रायश्चित्त अवश्य ग्रहण करके शुद्ध हों।

(८) **कवित्व प्रभावना**—नाना प्रकार के छंद, कविता, ढाल, स्तवन, आदि काव्यों की रचना द्वारा गूढ़ और दुरूह विषय को रसप्रद बनाकर आत्मज्ञान की शक्ति प्राप्त करना और उन कविताओं के माध्यम से जैन धर्म की प्रभावना बढ़ाना।

इन आठ प्रकार की प्रभावनाओं में से किसी भी प्रभावना द्वारा जैन-धर्म की महिमा एवं गरिमा को बढ़ाना, जनता को प्रभावित करके जैनधर्म-रसिक बनाना। प्रभावना से किसी प्रकार का चमत्कार पैदा हो, या उससे लोगों में अपनी प्रतिष्ठा या प्रशंसा होती हो तो उसका गर्व न करे। अनेक गुणसम्पन्न एवं समर्थ होकर भी सदैव निरभिमान एवं नम्र रहे।

इस प्रकार द्वादशांगी के पाठक, करण सप्तति एवं चरण सप्तति के गुणों से युक्त, आठ प्रभावनाओं के धारक और तीन योगों का निग्रह करने वाले, ये उपाध्यायजी के २५ गुण हैं।[1]

उपाध्यायजी की सोलह उपमाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र में उपाध्याय (बहुश्रुत) को सोलह उपमाएँ,[2] उनकी विशेषताओं को प्रकाशित करने के लिए दी गई हैं, वे इस प्रकार हैं।

(१) **शंखोपम**—शंख में भरा हुआ दूध खराब नहीं होता, बल्कि विशेष शोभा पाता है, वैसे ही उपाध्यायजी द्वारा प्राप्त ज्ञान नष्ट नहीं होता,

---

१ कोई-कोई आचार्य ग्यारह अंग और बारह उपांग के पाठक तथा चरण-सत्तरी और करणसत्तरी के गुणों से युक्त; यों २५ गुण उपाध्यायजी के बताते हैं।—सं.

२ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ११ गा० १५ से ३० तक

बल्कि अधिक शोभा पाता है। वासुदेव के पांचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर जैसे शत्रु सेना भाग जाती है, वैसे ही उपाध्याय की उपदेश ध्वनि सुनकर मिथ्यात्व एवं मिथ्याज्ञान पलायन कर जाते है।

(२) **काम्बोज अश्वोपम**—सर्वाभूषण-सुसज्जित काम्बोजदेशीय कन्थक अश्व जैसे जातिमान् और वेगवान होने से दोनों प्रकार से शोभा पाता है, वैसे ही सर्वशास्त्रज्ञान से सुसज्जित उपाध्याय स्वाध्याय और प्रवचन की मधुर ध्वनि-वाद्यों से शोभायमान होते है।

(३) **चारणादि-विरुदावलीतुल्य**—जैसे भाट, चारण आदि द्वारा की गई विरुदावली से प्रोत्साहित होकर शूरवीर सुभट शत्रु को पराजित कर देते हैं, वैसे ही उपाध्यायजी चतुर्विध संघ की गुणोत्कीर्त्तनरूप विरुदावली से उत्साहित होकर मिथ्यात्व को पराजित करते हुए सुशोभित होते है।

(४) **वृद्धहस्तीसम**—जैसे वृद्ध हस्ती हथिनियो के वृन्द से सुशोभित होता है, वैसे ही श्रुत-सिद्धान्त ज्ञान की प्रौढ़ता से युक्त उपाध्याय अनेक ज्ञानी-ध्यानियों के वृन्द से परिवृत होकर शोभा पाते है।

(५) **तीक्ष्ण शृंगयुक्त धौरेय वृषभसम**—जिस प्रकार अनेक गायों के झुण्ड से युक्त तथा दोनों तीखे सींगो वाला धौरेय बल शोभा पाता है, वैसे ही उपाध्याय मुनियों के वृन्द से युक्त एवं निश्चयनय व्यवहारनय रूप दोनों सींगों से युक्त होकर शोभा पाते है।

(६) **तीक्ष्ण दाढ़ायुक्त केसरीसिंहसम**—जैसे तीक्ष्ण दाढ़ो से युक्त केशरीसिंह वनचरों को क्षुब्ध करता हुआ शोभा पाता है, वैसे ही उपाध्याय श्री सप्तनयरूप तीक्ष्ण दाढ़ों से प्रतिवादियों का मानमर्दन करते हुए सुशोभित होते हैं।

(७) **सप्तरत्नयुक्त वासुदेवसम**—जैसे त्रिखण्डाधिपति वासुदेव सात-रत्नों से सुशोभित होते है, वैसे ही ज्ञानादि रत्नत्रयरूप त्रिखण्ड पर अधिकार प्राप्त सप्तनयरूपी सप्तरत्नो के धारक उपाध्यायजी कर्मशत्रुओं को पराजित करते हुए शोभा पाते हैं।

(८) **षट्खण्डाधिपति चक्रवर्तीसम**—जैसे षट्खण्डाधिपति एवं १४ रत्नों के धारक चक्रवर्ती शोभा पाते हैं, उसी प्रकार षट्द्रव्यज्ञान के अधिकृत ज्ञाता तथा चतुर्दश पूर्व रूप चतुर्दश रत्न-धारक उपाध्यायजी शोभा पाते हैं।

(९) **सहस्रनेत्र-देवाधिपति शक्रेन्द्रसम**—जैसे सहस्रनेत्रधारक एवं असंख्य देवों का अधिपति शक्रेन्द्र वज्रायुध से शोभा पाता है, उसी प्रकार

सहस्रों तर्क-वितर्क वाले तथा अनेकान्त—स्याद्वादरूप वज्र के धारक असंख्य भव्य प्राणियों के अधिपति उपाध्यायजी सुशोभित होते हैं।

(१०) **सहस्रांशु सूर्यसम**—जैसे सहस्र किरणों से जाज्वल्यमान अप्रतिम प्रभा से अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य गगनमण्डल में शोभा पाता है, उसी प्रकार निर्मलज्ञान रूपी किरणों से मिथ्यात्व और अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने वाले उपाध्यायजी जैन संघरूप गगन में सुशोभित होते हैं।

(११) **शारद चन्द्रोपम**—जैसे ग्रहों, नक्षत्रों और तारागण से घिरा हुआ शरद् पूर्णिमा की रात्रि को निर्मल और मनोहर बनाने वाला चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से सुशोभित होता है, उसी प्रकार साधुगण रूप ग्रहों, साध्वीगण रूप नक्षत्रों एवं श्रावक-श्राविका रूप तारा मण्डल से घिरे हुए भूमण्डल को मनोहर बनाते हुए ज्ञानरूप कलाओं से उपाध्यायजी शोभा पाते हैं।

(१२) **धान्य कोष्ठागारसम**—जैसे—चूहे आदि के उपद्रवों से रहित और सुदृढ़ द्वारों से अवरुद्ध तथा विविध धान्यों से परिपूर्ण कोठार शोभा देता है। वैसे ही निश्चय-व्यवहार रूप सुदृढ कपाटों से युक्त तथा ११ अंग, १२ उपांग ज्ञानरूप धान्यों से परिपूर्ण उपाध्याय शोभा पाते हैं।

(१३) **जम्बूसुदर्शनवृक्षसम**—जैसे उत्तर कुरुक्षेत्र में जम्बूद्वीप क्षेत्र के अधिष्ठाता अणाढिय (अनादृत) देव का निवास स्थान जम्बूसुदर्शन वृक्ष पत्ते, फूल, फल आदि से सुशोभित होता है। उसी प्रकार उपाध्यायजी आर्यक्षेत्र में ज्ञान रूपी वृक्ष बनकर अनेक गुणरूपी पत्र-पुष्प-फलों से शोभा पाते हैं।

(१४) **सीतानदीतुल्य**—जैसे महाविदेह क्षेत्र की सीतामहानदी ५३२००० नदियों के परिवार से शोभित होती है उसी प्रकार उपाध्यायजी हजारों श्रोताओं के परिवार से शोभायमान होते हैं।

(१५) **सुमेरुपर्वतसम**—जैसे पर्वतराज सुमेरु उत्तम औषधियों और चार वनों से सुशोभित होता है, वैसे ही उपाध्यायजी अनेक लब्धियों से शोभा पाते हैं।

(१६) **स्वयम्भूरमण समुद्रसम**—विशालतम स्वयम्भूरमण समुद्र अक्षय सुस्वादु जल से सुशोभित होता है उसी प्रकार अक्षय ज्ञान से पूर्ण उपाध्यायजी उस ज्ञान को भव्यजीवों के लिए रुचिकर शैली में प्रकट करते हुए शोभा पाते हैं।

इस प्रकार उपाध्यायजी अनेक गुणों से युक्त होकर विराजमान होते हैं।

उपाध्याय की विशेषता

उपाध्यायजी वीतराग प्रभु और उनके वीतराग विज्ञान के प्रति भक्तिमान्, अचपल (शान्त), कौतुकरहित (गम्भीर), निश्छल, निष्प्रपंच, मैत्रीभावना रखने वाले होते हैं। वे ज्ञान के भण्डार होते हुए भी निरभिमान, परदोष-दर्शन-रहित, शत्रु निन्दा से दूर, क्लेशहीन, इन्द्रियविजयी, लज्जाशील आदि अनेक विशेषताओं से युक्त होते है। उपाध्यायजी[1] 'जिन' नहीं परन्तु जिन के सदृश साक्षात् ज्ञान का प्रकाश करते हैं।

समुद्र के समान गम्भीर दूसरों से अपराभूत (कष्टों से अबाधित) अविचलित, अपराजेय तथा श्रुतज्ञान से परिपूर्ण, षट्काय के रक्षक श्री उपाध्याय (बहुश्रुत) महाराज कर्मों का क्षय करके उत्तमगति मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।[2]

साधक जीवन में विवेक और विज्ञान की बहुत बडी आवश्यकता है। भेद विज्ञान के द्वारा जड और चेतन (शरीर और आत्मा) के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना जीवन ऊँचा और आदर्श बना सकता है; और उक्त आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का भार उपाध्याय पर है। उपाध्याय मानव-जीवन की अन्तःग्रंथियो को बहुत ही सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते है और अनादिकाल से अज्ञानान्धकार में भटकते हुए भव्य प्राणियों को विवेक का—सम्यग्ज्ञान का प्रकाश देकर अज्ञान, मोह की ग्रन्थियों से विमुक्त कराते है। यही उपाध्याय की विशेषता है। इसी कारण उपाध्याय को गुरु पद में द्वितीय स्थान दिया गया है।

□

---

१ 'अजिणा जिणसंकासा'

२ समुद्दगंभीरसमा दुरासया अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया॥

—उत्तराध्ययन अ० ११ गा० ३१

साधु का सर्वांगीण स्वरूप

पंच परमेष्ठी में पाँचवाँ और गुरुपद में तृतीय स्थान 'साधु' का है। साध का पद बड़े ही महत्त्व का है। साधु सर्वविरति साधना पथ का प्रथम यात्री है। साधुपद मूल है। आचार्य, उपाध्याय और अरिहन्त तीनों पद इसी साधुपद के विकसित रूप है। अर्थात्—साधु ही उपाध्याय, आचार्य और अरिहन्त तक पहुँचता है; विकास करता है और अन्त में सिद्ध बन जाता है। साधुत्व के अभाव में उक्त तीनों पदों की भूमिका पर कथमपि नहीं पहुँचा जा सकता। अतः साधुपद ही श्रमणसंघ और श्रमणधर्म का आधार एवं नींव का पत्थर है।

साधु का अर्थ और लक्षण

साधु शब्द का मूलतः अर्थ है—साधक। साधना करने वाला साधक होता है।

प्रश्न होता है—किस बात की साधना? इसके कई प्रकार के उत्तर हैं—

(१) जो आत्मार्थ की साधना करता है, वह साधु है।

(२) जो स्वपरहित की साधना करता है, वह साधु है।

(३) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की साधना करता है अथवा मोक्ष की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, वह साधु है।

(४) जो व्यक्ति आत्मा की विशुद्धि के लिए उसी की ओर ध्यान एकाग्र करके, एकमात्र मोक्ष के लिए ही आत्म-साधना करता है, उसे साधु कहते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त एक अर्थ और है—जिसका चरित्र 'साधु' यानी सुन्दर हो, वह साधु है।

---

१ (क) आत्मार्थं साधयतीति साधुः (ख) स्वपरहितं साधयतीति साधुः।
(ग) साध्नोति मोक्षमार्गमिति साधुः। (घ) साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः।

वस्तुतः साधु वही कहलाता है—जो परभाव का निवारक और स्वभाव (आत्मस्वभाव) का साधक है, परद्रव्य में इष्टानिष्ट भाव को रोक कर जो आत्मतत्त्व में रमण करता है। जिसे न जीवन का मोह है और न मरण का भय, न इस लोक में आसक्ति है, न परलोक में। वह मुख्यतया शुद्धोपयोग में रहता है और गौणरूप से शुभोपयोग में परन्तु अशुभोपयोग में वह कदापि उतरकर नहीं आता। उसकी जीवन-सरिता सतत आत्मस्वरूप में बहती है। विकार मुक्ति अथवा कर्ममुक्ति ही उसकी जीवन यात्रा का एकमात्र और अन्तिम लक्ष्य है। आत्मदर्शन एवं आत्मानुभव ही उसके जीवन का नित्य रटन होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना ही उसकी सच्ची साधना है।

साधु की साधना सामायिक-समत्वयोग से प्रारम्भ होती है, अतः उसकी समत्वसाधना का अन्तिम ध्येय-सिद्धत्व है। आत्मशान्ति और आत्मसिद्धि की शोध में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय का उज्ज्वल प्रकाश लेकर आत्मा से परमात्मा बनने के पथ पर अग्रसर होता है, वही आदर्श साधु है।

आदर्श साधु दुनिया की ऋद्धि को त्यागकर आत्मसिद्धि का अमर साधक बनता है। वह परमतत्त्व की खोज में ज्ञान और क्रिया का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मा की पूर्णशक्ति से सतत गतिमान रहता है। वह संसार के क्षेत्र में धर्म के पवित्र संस्कारों का वातावरण बनाकर रत्नत्रय की साधना के शिखर पर तीव्रगति से बढ़ता जाता है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा की सुगन्ध महकती है और सत्य का आलोक चमकता है। उसकी अहिंसात्मक अमृतदृष्टि जंगल में भी मंगल कर देती है, विष को भी अमृत में बदल देती है, शत्रु को भी मित्र बना देती है। वह जगत् के विष को शान्तिपूर्वक पीकर बदले में परम प्रसन्न मुद्रा से अमृत की वृष्टि करता है।

जो इतना क्षमाधारी है कि पत्थर फेंकने वाले पर भी सुवचनपुष्प-वर्षा करता है; गाली देने वाले के प्रति भी आशीर्वचन-मंगल उद्‌गार निकालता है। अपकारी के प्रति भी उपकार करके अपनी दिव्यता की उपलब्धि के दर्शन कराता है। उसके स्नेह की शीतल धारा द्वेष के धधकते दावानल को भी बुझा देता है। उसके प्रेम का जादू पापी के कठोरतम हृदय को भी पसीजने का अवसर देता है। वह पापी को नहीं, उसकी पापमय मनोदशा को अनुचित मानता है और आत्मीयता के अमृत वचन जल से उसके पाप का प्रक्षालन कर देता है।

आदर्श साधु क्षमामूर्ति होता है। उसके शान्त हृदय में क्रोध की सूक्ष्म रेखा भी कभी नहीं उभरती। क्षमा के शान्ति-मन्त्र से वह जगत् के कलह, क्लेश और क्षोभ के रोग को शान्त कर देता है। सुन्दर अप्सरा हो अथवा कुरूप कुब्जा, दोनों ही जिसकी दृष्टि में केवल काष्ठ की पुतली-सम है; कंचन और कामिनी का ऐसा सच्चा त्यागी साधु लोभ और मोह के विषाक्त बाणों से विद्ध नहीं होता। वह अपने अन्तर्जीवन की विपुल अध्यात्म समृद्धि के अक्षय कोष का एकमात्र स्वतन्त्र अधिकारी व स्वामी होता है। इसलिए वह चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती और सम्राटों का भी सम्राट होता है।

वह पाप के फल से नहीं, पापवृत्ति से ही दूर रहता है तथा सदैव शुद्ध और शुभ भावों में रमण करता है। वह दुनिया के प्रशंसात्मक या निन्दात्मक, अथवा मोहक या उत्तेजक शब्दों की अपेक्षा अन्तरात्मा की आवाज को बहुमान देकर चलता है। वह अपने सरल, निश्छल, निष्पाप एवं श्रद्धा-प्रज्ञा से समन्वित जीवन से मानव समाज को श्रमण संस्कृति का मर्म समझाता है।

सांसारिक वासनाओं को त्यागकर जो पाँच इन्द्रियों को अपने वश में रखते है; ब्रह्मचर्य की नौ बाडों की रक्षा करते है, क्रोध, मान, माया, लोभ पर यथाशक्य विजय प्राप्त करते है; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पांच महाव्रतों का पालन करते है, पांच समिति और तीन गुप्तियों की सम्यक् रूप से आराधना करते है; ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार, इन पाँच आचारों के पालन में अहर्निश संलग्न रहते है, जैन परिभाषानुसार वे साधु कहलाते है।[1]

साधु के पर्यायवाची शब्द और लक्षण

जैनशास्त्रों में साधु के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त है। जैसे—साधु, संयत, विरत, अनगार, ऋषि, मुनि, यति, निर्ग्रन्थ, भिक्षु, श्रमण आदि। ये सभी पर्यायवाची शब्द है।

श्री सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में साधु के चार गुणसम्पन्न नामों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

---

१ पंचिंदिय संवरणो तह नवविह बंभचेरगुत्तिधरो ।
चउविहकसायमुक्को, इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, इइ छत्तीस गुणेहिं गुरुमज्झ ॥

"श्री तीर्थंकर भगवान् ने इन्द्रियों का दमन करने वाले मोक्षगमन के योग्य (द्रव्य), तथा काया का व्युत्सर्ग करने वाले साधु के चार नाम इस प्रकार कहे हैं—(१) माहन, (२) श्रमण, (३) भिक्षु और (४) निर्ग्रन्थ ।"

शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! दान्त, मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य), कायोत्सर्ग करने वाले को माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यो कहा जाता है ? हे महामुने ! कृपया यह हमें बतलाइए ।[1]

भगवान ने शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए जो फरमाया, उसका संक्षिप्त विवरण निम्न पंक्तियो में दिया जा रहा है ।

माहन—जो समस्त पापकर्मों से विरत हो चुका है, किसी से राग-द्वेष नहीं करता, कलह नही करता, किसी पर मिथ्या दोषारोपण नही करता, किसी की चुगली नहीं करता, दूसरे की निन्दा नहीं करता, संयम में अप्रीति और असंयम में प्रीति नही करता, कपट नही करता, कपटयुक्त असत्य नहीं बोलता, मिथ्यादर्शनशल्य से विरत रहता है, पांच समितियों से युक्त है सदा जितेन्द्रिय है, क्रोध नही करता और न ही मान (अभिमान) करता है, वह 'माहन' कहलाता है ।[2]

श्रमण—जो साधु पूर्वोक्त गुणो से युक्त है, उसे श्रमण भी कहना चाहिए। साथ ही श्रमण कहलाने के लिए ये गुण भी होने चाहिए—शरीर मकान, वस्त्र-पात्रादि किसी भी पदार्थ में आसक्ति न हो, अनिदान (इहलौकिक-पारलौकिक सासारिक विषयभोगरूप फल की आकांक्षा से रहित) हो, हिंसा, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष न करे ।

इस प्रकार जिन-जिन कारणों से आत्मा दूषित होती है, उन सब कर्म-

---

१ अहाह भागव—एवं से दते दविये वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—
(१) माहणेत्ति वा, (२) समणेत्ति वा, (३) भिक्खुत्ति वा, (४) निग्गथेत्ति वा । पडिआह-भंते ! कह नु दन्ते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—माहणेत्ति वा, समणेत्ति वा, भिक्खूत्ति वा, निग्गंथेत्ति वा ? त नो बूहि महामुणी ।"

—सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध १, अ० १६, सूत्र १

२ विरए सव्वपावकम्मेहिं पेज्ज—दोस—कलह—अब्भक्खाण-पेसुन्न—परपरिवाय—रति—अरति—मायामोस—मिच्छादंसणसल्ल विरए, सहिए, सया जए, णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति वुच्चे ।—सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध १, अ० १६, सूत्र २

बन्धन के कारणों से जो पहले से ही निवृत्त है; तथा जो दान्त, मोक्षगमन-योग्य, काया की आसक्ति से रहित है, उसे 'श्रमण' कहना चाहिए।[1]

भिक्षु—जो गुण श्रमण के कहे है, वे सब भिक्षु में होने चाहिए। साथ ही भिक्षु कहलाने योग्य वही है—जो अभिमानी नहीं है, विनीत है, नम्र है, इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण रखता है, मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है, काया के प्रति ममत्व का उत्सर्ग किये हुए है, नाना प्रकार के उपसर्गों और परीषहों को जीतता (सहता) है, अध्यात्मयोग से शुद्ध चारित्र वाला है, संयम मार्ग में उद्यत (उपस्थित) है, स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ) है, ज्ञान से सम्पन्न है, दूसरों (गृहस्थों) के द्वारा दिये गये आहारादि का सेवन करता है, उसे 'भिक्षु' कहना चाहिए।[2]

निर्ग्रन्थ—निर्ग्रन्थ में भिक्षु के गुण तो होने ही चाहिए। साथ ही निर्ग्रन्थ के अन्य गुण भी होना आवश्यक है। जैसे कि—जो राग-द्वेष रहित होकर रहता है, आत्मा के एकत्व को जानता है, वस्तु के यथार्थस्वरूप का परिज्ञाता है, अथवा प्रबुद्ध – जागृत है, जिसने आस्रवद्वारों के स्रोत बन्द कर दिये हैं, जो सुसंयत है, (बिना प्रयोजन अपनी शरीर सम्बन्धी क्रिया नहीं करता), पाँच समितियो से युक्त है, शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप (आत्मवाद) का वेत्ता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता है, जिसने संसार के स्रोत (शुभाशुभकर्मों के आस्रवो को छिन्न कर डाला है, जो पूजा-सत्कार और लाभ की आकांक्षा नहीं करता, जो धर्मार्थी है, धर्मज्ञ है, नियाग (मोक्षमार्ग) को स्वीकार किए हुए (प्रतिपन्न) है, समता से युक्त अथवा सम्यक्तया समितियों से युक्त होकर मोक्ष पथ में विचरण करने वाला (संयम यात्री) है, दान्त है, मोक्ष-योग्य है, कायोत्सर्ग

---

१ एत्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च माय च लोह च पिज्जं च दोसं च, इच्चेव जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आयाणाओ पुव्वं पडिविरए पाणाइवाया सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे।

—सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अ० १६, सूत्र ३

२ एत्थ वि भिक्खु अणुन्नए, विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्त भोई भिक्खुत्ति वच्चे। —सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध १, अ-१६, सूत्र ४

किया हुआ (शरीर ममत्व का उत्सर्ग किया) है; उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।[1]

पाँच कोटि के निर्ग्रन्थ

शास्त्र में पाँच[2] कोटि के निर्ग्रन्थ बताये हैं—

(१) **पुलाकनिर्ग्रन्थ**—जिन्होंने रागद्वेष की या ममता की गाँठ (ग्रन्थी) का छेदन कर दिया हो, वे निर्ग्रन्थ कहलाते है। सभी मुनियों में सामान्य रूप से यह लक्षण घटित होता है। सर्वप्रथम पुलाक निर्ग्रन्थ हैं।

खेत में गेहूँ आदि के पौधों को काटकर उनके पूले बाँधकर ढेर किया जाता है। उनमें धान्य कम, भुस्सा-कचरा ही अधिक होता है। इसी प्रकार जिस साधु में गुण थोडे और अवगुण अधिक हो, वह पुलाक निर्ग्रन्थ कहलाता है। यह दो प्रकार का है—लब्धि पुलाक और आसेवना पुलाक।

(२) **बकुशनिर्ग्रन्थ**—जैसे पूर्वोक्त पूलों में से घास दूर करके ऊँबियो (बालो) का ढेर किया जाय तो यद्यपि पहले की अपेक्षा कचरा कम हो जाता है, फिर भी धान्य की अपेक्षा कचरा अधिक होता है, इसी प्रकार जो साधु गुण-अवगुण दोनो के धारक हों, वे बकुश निर्ग्रन्थ कहलाते है। ये भी दो प्रकार के है—शरीर बकुश और उपकरण बकुश। इनका चारित्र सातिचार-निरतिचार दोनों प्रकार का होता है।

(३) **कुशील निर्ग्रन्थ**—पूर्वोक्त गेहूँ आदि की ऊँबियां (बालो) के उक्त ढेर में से घास—मिट्टी आदि अलग कर दिए जाएँ, खलिहान मे बैलों के पैरों से कुचलवाकर (दाँय कराकर) दाने अलग कर दिए जाएँ तो उसमें दाने और कचरा दोनो लगभग समान होते है, उसी प्रकार जिस साधु में गुण और अवगुण दोनो समान मात्रा में हों, वे कुशील निर्ग्रन्थ होते है। ये भी दो प्रकार के होते है—कषायकुशील और प्रतिसेवना कुशील। इनमें संज्वलन कषाय रहता है।

(४) **निर्ग्रन्थ**—जैसे धान्य की राशि को हवा में उपनने से उसमें से कचरा, मिट्टी आदि अलग हो जाते हैं, केवल थोड़े से कंकर रह जाते है,

---

१ एत्थ वि निग्गथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए, सुसंजते, सुसमिते, सुसामाइए, आयवायपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिच्छिन्ने णो पूया-सक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्म-विऊ णियागपडिवन्ने समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथेत्ति वच्चे।

—सूत्र० श्रु०, १ अ० १६, सूत्र ५

२ पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकाः निर्ग्रन्थाः। —तत्त्वार्थसूत्र अ० ६

वैसे ही जिनकी पूर्ण आत्मशुद्धि में किञ्चिन्मात्र त्रुटि रह जाती है, वे साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थ भी दो प्रकार के होते हैं—उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय। ऐसे मुनि मोहनीय कर्म से पूर्णतः निवृत्त और सर्वथा ग्रन्थ रहित होते हैं।

(५) **स्नातकनिर्ग्रन्थ**—जैसे धान्य के समस्त कंकर चुन-चुनकर निकाल दिये जाएँ और उस धान्य को जल से धोकर स्वच्छ कर लिया जाए, उसी प्रकार जो मुनि पूर्ण विशुद्ध तथा सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होते है—वे स्नातक निर्ग्रन्थ कहलाते है। इनके भी दो प्रकार है—सयोगीकेवली और अयोगी-केवली।

इस प्रकार पाँचो कोटि के निर्ग्रन्थो में यद्यपि संयम के गुणों में न्यूनाधिकता होती है, तथापि उनमें न्यूनाधिक रूप से संयम के गुण रहते है। इसलिए पाँचों को निर्ग्रन्थ मानकर समान रूप से आदर-सत्कार, वन्दन, नमस्कार, उपासना-आराधना करनी चाहिए।

साधु धर्म के योग्य-अयोग्य कौन ?

समदर्शी आचार्य हरिभद्र सूरि ने साधु धर्म के योग्य—अधिकारी के विषय मे विशद चर्चा करते हुए बताया है कि जो आर्य देश में उत्पन्न हो, विशिष्ट अनिन्द्य जाति-कुलसम्पन्न हो, हत्या, चोरी आदि महापाप करने वाला न हो, संसार की असारता समझ चुका हो, वैराग्यवान् हो, शान्त प्रकृति वाला हो, झगड़ालु न हो, प्रामाणिक हो, नम्र हो, राज्यविरोधी न हो, राष्ट्र और समाज के विशाल हित मे बाधक न हो, शरीर से अपंग न हो, त्याग धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धावान् हो, प्रतिज्ञा पालन में अटल हो और आत्म-कल्याण की इच्छा से दीक्षा लेकर गुरुचरणों में समर्पित होने के लिए तैयार हो चुका हो, वह साधु है।[1]

साधु धर्म की उत्कृष्ट योग्यता का यह मानदण्ड है। यदि उससे चौथाई भाग के गुण कम हो तो मध्यम योग्यता और आधे भाग के गुण कम हों तो जघन्य योग्यता समझनी चाहिए। इसमें अन्तिम दो गुण तो अवश्य होने चाहिए। इससे कम गुण वाला दीक्षा का अधिकारी नहीं होता।

प्रवचनसारोद्धार में निम्नलिखित अठारह प्रकार के व्यक्तियो को साधुधर्म की दीक्षा के लिए अयोग्य माना गया है—जो आठ वर्ष से कम आयु वाला हो, अत्यन्त वृद्ध हो, नपुंसक हो, क्लीव हो, व्याधिग्रस्त हो, चोर हो,

---

१ धर्मबिन्दु अ० ४

राज्य या शासक का अपराधी (अपकारी) हो, उन्मत्त या पागल हो, अन्धा हो, गुलाम या दास के रूप में खरीदा हुआ हो, अत्यधिक कषायग्रस्त हो, बार-बार विषयभोगलिप्सु हो, मूढ हो, ऋणी (कर्जदार) हो, जाति, कर्म तथा शरीर से दूषित—अंगविकल हो, धन लोभ से दीक्षा लेने आया हो।

स्त्री सगर्भा हो अथवा उसका बालक स्तनपान करता हो तो ऐसी स्थिति में उसे साध्वी दीक्षा नही दी जा सकती।[1]

दीक्षार्थी के परिवार में यदि उसके माता-पिता बुजुर्ग (बड़े) या संरक्षक हों तो उनकी अनुमति लेनी आवश्यक है। सावधानी के रूप में तथा भविष्य में किसी प्रकार का विवाद न खड़ा हो जाए, इसलिए स्त्री तथा युवा पुत्रों से भी दीक्षा की अनुमति ले लेनी चाहिए। स्त्री को तो अपने पति, श्वसुर आदि तथा माता-पिता की अनुमति आवश्यक है ही, साथ ही युवा-पुत्र की अनुमति भी लेनी चाहिए।

इतना होने पर भी दीक्षादाता गुरु को दीक्षार्थी के कुल, वय, योग्यता, ज्ञानाभ्यास, स्वभाव, आचार-विचार, गुण-दोष, देव-गुरु-धर्म विषयक श्रद्धा, साधु धर्म पालन की शक्यता-अशक्यकता आदि की परीक्षा (जाँच) करके पूर्व तैयारी कराकर ही दीक्षा देनी चाहिए।[2]

साधुधर्म-दीक्षा-ग्रहण के समय की प्रतिज्ञा

दीक्षार्थी को सर्वप्रथम सर्वविरति सामायिक चारित्र ग्रहण करना आव-

---

१ (क) बाले वुड्ढे नपुंसे अ कीवे जड्डे अ वाहिए।
तेणे, रायावगारी अ, उम्मत्ते य अदंसणे ॥७९०॥
दासे दुट्ठे य मूढे अ अणत्ते जुंगिए इ अ।
ओबद्धए अ भयए, सेहनिप्फेडि आ इ अ ॥७९१॥
इअ अट्ठारस भेआ पुरिस्स, तहेत्थिआए ते चेव।
गुव्विणी सबालवच्छा दुन्नि इमे हुंति अन्ने वि ॥७९२॥

—प्रवचनसारोद्धार

(ख) तथा गुरुजनाद्यनुज्ञेति—धर्मबिन्दु अ. ४

२ (क) अब्भुवगयंपि संतं पुणो परिक्खेज्ज पवयणविहीए।
छम्मासं जाऽऽसज्ज व, पत्तं अद्धाए अप्पबहुं ॥

| प्रवचनसारोद्धार

(ख) उपस्थितस्य प्रश्नाचार कथनपरीक्षादिविधिरिति। तथानिमित्त परीक्षेति।

—धर्मबिन्दु अ० ४

श्यक होता है। दीक्षार्थी प्रायः चतुर्विध संघ की उपस्थिति में तीर्थंकर भगवान् की साक्षी से, गुरु के समक्ष इस प्रकार की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है।

'करेमि भंते ! सामाइयं, सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेण, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि, करंतं पि अन्नं ण समणुजाणामि; तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।'

'भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ, अर्थात्—समस्त सावद्य (पापयुक्त) योग (मन-वचन-काया के व्यापार) का प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ। यावज्जीवन तीन करण तीन योग से, अर्थात्—मन से, वचन से और काया से (पाप व्यापार) न करूँगा, न करवाऊँगा और न करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा समझूँगा (अनुमोदन नहीं करूँगा)। भूतकाल में जो भी पाप व्यवहार मुझसे हुआ हो, उसका प्रतिक्रमण करता (उससे पीछे हटता) हूँ, उसकी निन्दा (पश्चात्ताप) करता हूँ, उसकी गर्हा (गुरु-साक्षी से) करता हूँ; तथा उस मेरी (दूषित) आत्मा का त्याग करता हूँ; अर्थात्—उन मलिन वृत्तियों से आत्मा को मुक्त करता हूँ।"[1]

यह प्रतिज्ञा जितनी भव्य है, उतनी कठिन भी है। समस्त पापव्यापारों का त्याग करना सरल नहीं है। किन्तु संवेग और वैराग्य के रंग में रंगा हुआ आत्मा काया और वाणी से तो दूर रहा, मन से भी पापकर्म करने का विचार तक नहीं करता। वह बलवान् आत्मा इतनी कठोर प्रतिज्ञा ग्रहण भी करता है और उसका निर्वाह भी।

इसके पश्चात् साधुधर्मक्रियाओं के पालन में अभ्यस्त एवं प्रशिक्षित होने पर उपस्थापना (बड़ी) दीक्षा के समय पाँच महाव्रतों एवं छठे रात्रि-भोजन विरमणव्रत का आरोपण किया (ग्रहण कराया) जाता है।[2]

साधु के सत्ताईस गुण

साधुधर्म की पूर्वोक्त योग्यताओं और विशेषताओं को देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वेष, जाति, वय और शरीर आदि मात्र से कोई भी व्यक्ति साधु नहीं कहला सकता, साधु की पहचान गुणों से ही हो

---

१ आवश्यकसूत्र—प्रतिज्ञासूत्र।

२ दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ४

सकती है।[1] साधुत्व की प्रतीति गुणों से ही होती है। गुणों के धारण करने से ही साधुजन षट्काय (विश्व के प्राणिमात्र) के प्रतिपालक, रक्षक, शरणरूप तथा उद्धारक हो सकते है। गुण ही जगत् में पूजनीय होते है, लिंग (वेष) या वय आदि नही। इसीलिए तीर्थंकर भगवन्तो ने साधु के[2] सत्ताईस गुण बतलाए हैं, जो उसमें होने आवश्यक है—

(१–५) **पच्चीस भावनाओं सहित पंचमहाव्रत पालन**—(१) सर्वप्राणातिपातविरमण, (२) सर्वमृषावादविरमण, (३) सर्व-अदत्तादानविरमण, (४) सर्वमैथुनविरमण और (५) सर्वपरिग्रहविरमण, इन पांचों महाव्रतों का, प्रत्येक महाव्रत की पाच-पाच भावनाओ सहित तीन करण तीन योग से पालन करना।[3]

---

१ (क) नाणदसणसपन्न, संजमे य तवे रय।
एव गुण समाउत्तं संजय साहुमालवे॥ —दशवै० अ० ७ गा० ४९

(ख) एव तु गुणप्पेही, अगुणाण च विवज्जओ।
तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवर॥ —दशवै० ५।२।४४

(ग) गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू ···। दशवै० अ० ९, उ० ३, गा०११

२ (क) सत्तावीस अणगारगुणा पण्णत्ता, तं जहा -
पाणाइवायाओ वेरमण, मुसावायाओ वेरमण, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमण, परिग्गहाओ वेरमणं, सोइंदियनिग्गहे, चक्खिदियनिग्गहे, घाणिंदियनिग्गहे, जिब्भिंदिय निग्गहे, फासिंदियनिग्गहे, कोहविवेगे, माणविवेगे, मायाविवेगे, लोभविवेगे; भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे खमा विरागया मणसमाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया, णाणसंपण्णया, दसणसंपण्णया, चरित्तसंपण्णया वेयण अहियासणया मारणंतिय अहियासणया।—समवायांग, समवाय २७वाँ

(ख) पंचमहव्वयजुत्तो पंचेंदियसंवरणो, चउव्विहकसाय मुक्को तओ समाधारणीया॥१॥
तिसच्चसंपन्न तिअं खति रावेगरओ, वेयणमच्चुभयगय साहुगुण सत्तवीसं॥२॥

३ (क) आचार्य वर्णन के प्रकरण मे पच्चीस भावनाओ सहित पांच महाव्रतो का विवेचन किया जा चुका है।

(ख) पुरिम-पच्छिमगाणं तित्थगराणं पंचजामस्स पणवीस भावणाओ पण्णत्ताओ त जहा—ईरियासमिई मणगुत्ती वयगुत्ती आलोयभायणभोयणं आदाणभंडमंतनिक्खेवणासमिई॥५॥ अणुवीतिभासणया कोहविवेगे लोभविवेगे भयविवेगे हासविवेगे॥५॥ उग्गहअणुण्णावणया उग्गहसीमजाणणया सयमेव उग्गहं

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का ग्रहण साधु के लिए यावज्जीवन के लिए होना है; और वह होता है—मन, वचन और काया के योग से। अर्थात्—हिंसा आदि का भाव न मन में रखना होता है, न वचन में और न शरीर में। इतना ही नहीं, यह हिंसा आदि पापकर्म वह न स्वयं करता है, न दूसरों से करवाता है और न उनका अनुमोदन ही करता है।

(६-१०) **पंचेन्द्रियनिग्रह**—(१) श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह (२) चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह (३) घ्राणेन्द्रियनिग्रह, (४) रसनेन्द्रियनिग्रह और (५) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह।[1] इन पांचों इन्द्रियों को संसाराभिमुख न होने देना, विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना।

(११-१४) **चतुर्विध कषाय विवेक**—(१) क्रोधविवेक, (२) मानविवेक, (३) मायाविवेक और (४) लोभ विवेक।[2]

(१५) **भावसत्य**—अन्तःकरण से आस्रवों को हटाकर भावों को निर्मल करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान के माध्यम से आत्मा का शुद्ध भावों से अनुप्रेक्षण करना, ताकि आत्मा परमात्मा बन सके। अतः भावों में सत्य की स्फुरणा उत्पन्न होना ही भावसत्य है।

(१६) **करणसत्य**—भावसत्य की सिद्धि के लिए करणसत्य की अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि जब क्रियाएँ (दैनिक धार्मिक क्रियाएँ) सत्य होंगी, तभी भावसत्य शुद्धरूप से टिक सकता है।

'करण' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। 'करणसप्तति'[3] में 'करण' के ७० प्रकारों का समावेश किया गया है। उन 'करण' के ७० प्रकारों का सम्यक्

अणुणिण्हणया, अणुण्णविय परिभुंजणया, साहारण भत्तपाणं अणुण्णविय पडिभुंजणया ॥५॥ इत्थीपसुपंडगसंसत्तग सयणासणवज्जणया इत्थीकहा विवज्जणया, इत्थीणं इंदियाणमालोयणवज्जणया, पुव्वरयपुव्वकीलियाणं अणणु-सरणया पणीताहारविवज्जणया ॥५॥ सोइंदियरागोवरई चक्खिदियरागो-वरई घाणिंदियरागोवरई जिब्भिदियरागोवरई फासिंदियरागोवरई ॥५॥

—आवश्यक सूत्र

१ पंचेन्द्रियनिग्रह का वर्णन आचार्य स्वरूप वर्णन' में विस्तार से किया गया है—सं

२ चार कषायों पर विजय का वर्णन भी 'आचार्य स्वरूप वर्णन' के प्रसंग में विस्तार से किया गया है। —संपादक

३ 'कारण सप्तति का निरूपण 'उपाध्याय स्वरूप वर्णन' में किया गया है।

रूप से विधिपूर्वक करना, अर्थात्—साधु-साध्वी के लिए जिस समय जिस-जिस क्रिया को करने का शास्त्र में विधान है उस करणीय क्रिया को उसी समय शुद्ध रूप से शुद्ध अन्तःकरण से मनोयोगपूर्वक करना; करण सत्य है।

जैसे—पिछली रात्रि का एक प्रहर शेष रहते जागृत होकर आकाश की ओर दृष्टिपात करके देख ले कि कोई अस्वाध्याय का कारण[1] तो नहीं

---

१ (क) स्थानांग सूत्र मे बत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन है। (१-१०) आकाश सम्बन्धी दस (१) उल्कापात, (एक प्रहर) (२) दिग्दाह, (एक प्रहर) (३) गर्जित (दो प्रहर) (४) विद्युत (एक प्रहर, आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक गर्जित और विद्युत् को छोडकर), (५) निर्घात (बिना बादल के व्यन्तरादिकृत गर्जन ध्वनि की स्थिति में एक अहोरात्रि तक), (६) यूपक (शुक्लपक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया की सन्ध्या की प्रभा और चद्रप्रभा का मिलन यूपक है। इन तीन दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय न करना), (७) यक्षादीप्त (दिशा विशेष में बिजली-सरीखी चमक को यक्षादीप्ति कहते हैं, इसमें एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहता है) (८) धूमिका (प्राय: कार्तिक से लेकर माघ मास तक सूक्ष्म जल रूप धूंवर जब तक गिरती रहे तब तक अस्वाध्याय), (९) महिका:—शीतकाल में श्वेतवर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंवर जब तक गिरती रहे, तब तक), (१०) रज-उद्घात (आकाश चारों ओर धूलि से आच्छादित हो, तब तक अस्वाध्याय)। (११-२०) औदारिक सम्बन्धी दस (११-१३) अस्थि, मांस, रक्त (मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रिय से सम्बन्धित हड्डी, मांस या रक्त क्रमश: १०० और ६० हाथ के अन्दर हो तो एक अहोरात्रि तक, मासिक धर्म का तीन दिन तक एव शिशुजन्म का ७-८ दिन तक अस्वाध्याय रहता है।) (१४) अशुचि (स्वाध्याय स्थान के निकट टट्टी-पेशाब दृष्टिगोचर हो, या दुर्गन्ध आती हो तो अस्वाध्याय है।) (१५) श्मशान (मरघट के चारो ओर १००-१०० हाथ तक स्वाध्याय न करना) (१६) चन्द्रग्रहण (जघन्य ८ प्रहर, उत्कृष्ट १२ प्रहर तक अस्वाध्याय), (१७) सूर्यग्रहण (जघन्य १२, उत्कृष्ट १६ प्रहर तक अस्वाध्याय) (१८) पतन—राजा की मृत्यु होने पर दूसरा राजा सिंहासनारूढ़ न हो, तब तक; राजमन्त्री, संघपति, मुखिया, शय्यातर या उपाश्रय के आस-पास ७ घरों के अन्दर किसी की मृत्यु होने पर एक दिन-रात तक अस्वाध्याय) (१९) राजव्युद्ग्रह (शासकों में परस्पर संग्राम होने पर शान्ति न हो तब तक, शान्ति होने पर भी एक अहोरात्र तक) (२०) औदारिक शरीर (उपाश्रय में मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रिय का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो १०० हाथ के अन्दर स्वाध्याय न करना); (२१-२८) चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा—ये चार

है ? अगर दिशाएँ निर्मल हों तो स्वाध्याय करे। तत्पश्चात् अस्वाध्याय की दिशा (लाल दिशा) हो, तब विधिपूर्वक शुद्धरूप से षडावश्यक युक्त[1] रात्रिक

महोत्सव है, तथा इन चारों के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा महाप्रतिपदाएँ हैं, इन ८ में स्वाध्याय न करना।) (२९-३२) प्रात, मध्याह्न, सायं, अर्द्धरात्रि—ये चार सन्ध्याकाल हैं इन में दो घड़ी तक स्वाध्याय न करना।

(ख) कोई आचार्य तारा टूटने पर तथा रात्रि को लाल दिशा रहे तब इन दो में भी एक प्रहर तक अस्वाध्याय मानते हैं।

१ छह आवश्यक अन्य नामों के साथ इस प्रकार हैं—(१) सामायिक—(सावद्ययोग विरति), (२) चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन), (३) वन्दना (गुरुवन्दना या गुण-वत्प्रतिपत्ति), (४) प्रतिक्रमण (स्खलित निन्दना), (५) कायोत्सर्ग (व्रणचिकित्सा) और (६) प्रत्याख्यान (गुणधारण)। — आवश्यकसूत्र तथा अनुयोग द्वार।

छह आवश्यक का क्रम—(१) अन्तर्दृष्टि वाले साधक का प्रधान उद्देश्य सामायिक करना है, जिसमें सावद्य-योगों से निवृत्ति-रूप समस्त व्यवहार के दर्शन हो; (२) समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए महापुरुषों के आदर्श को लक्ष्य में रखने हेतु उनका सभक्तिभाव गुणोत्कीर्त्तन करना, (३) समभाव स्थित ज्येष्ठ साधुओं को या गुरु को विनयपूर्वक वन्दना करना; (४) कदाचित् साधक समभाव से गिर जाए तो यथाविधि प्रतिक्रमण (आलोचना, निन्दना-पश्चात्ताप, गर्हणा, भावना एवं क्षमापना आदि) द्वारा अपनी पूर्वस्थिति में लौट आना; (५) प्रमादवश ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप सामायिक में जो कोई अतिचाररूप व्रण संयम-शरीर पर हुए हो, उन पापों—अतिचारों को द्रव्यभाव कायोत्सर्ग—ध्यानरूप प्रायश्चित्त जल से शुद्ध करना, तथा अन्तर्मुख होकर शरीर के प्रति मोह-ममत्व का त्याग करके भेदविज्ञान द्वारा आत्म-शुद्धि के पथ पर पहुँचना; (६) तत्पश्चात् भविष्यकाल में अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग में प्रवृत्ति के लिए द्रव्य से—अन्न-वस्त्रादि पदार्थों का, भाव से—अज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय, असंयम आदि का त्याग—प्रत्याख्यान करना, ताकि उक्त तप-त्याग के रूप में प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा की (आत्मा पर लगे हुए अतिचारों, दोषों की) शुद्धि हो।

ये छह क्रियाएँ साधु-साध्वियों के लिये अवश्य करणीय होने से इन्हें षट् आवश्यक कहा जाता है। वर्तमान युग के प्रत्येक साधु-साध्वी को दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि के रूप में इस षडावश्यक को यथासमय अवश्य करना चाहिये।

प्रतिक्रमण करे। फिर सूर्योदय होने पर विधिपूर्वक अप्रमाद भाव से प्रतिलेखना करे, अर्थात्–वस्त्र-पात्रादि समस्त धर्मोपकरणों का [1]प्रतिलेखन-प्रत्यवेक्षण करे।

---

१ (क) प्रतिलेखना की विधि—(१) उड्ढं—उकडू आसन से बैठकर वस्त्र को भूमि से ऊँचा रखकर प्रतिलेखन करना, (२) थिर—वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर रखना, (३) अतुरियं—उपयोगयुक्त होकर जल्दी न करते हुए प्रतिलेखन करना, (४) पडिलेहे—वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनों ओर से अच्छी तरह देखना, (५) पप्फोडे—देखने के बाद यतना से धीरे-धीरे झड़काना; (६) पमज्जिज्जा—झड़काने के बाद वस्त्रादि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना और एकान्त मे परिष्ठापन करना।

—उत्तराध्ययन अ० २६

(ख) अप्रमादयुक्तप्रतिलेखना के छह प्रकार—(१) अनर्तित - (शरीर एवं वस्त्रादि को प्रतिलेखन करते हुए नचाना नही), (२) अवलित—(प्रतिलेखन कर्त्ता को शरीर और वस्त्र को बिना मोड़े, सीधा, चंचलता रहित बैठना), (३) अननुबन्धी —(वस्त्र को अयतना से न झड़कना), (४) अमोसली (धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे या तिरछे मूसल लगता है, उसी तरह प्रतिलेखन करते समय दीवार आदि से वस्त्र नही लगाना), (५) षट्पुरिमनवस्फोटका (प्रतिलेखना में ६ पुरिमा—वस्त्र के दोनो हिस्सों को तीन-तीन बार खंखेरना तथा नौ खोड— वस्त्र को तीन-तीन बार पूंजकर उसका ३ बार शोधन करना चाहिए), (६) पाणिप्राणविशोधन—वस्त्रादि पर जीव दृष्टिगोचर हो तो यतनापूर्वक हाथ से उसका शोधन करना। —स्थानांग सूत्र

(ग) प्रमादयुक्त प्रतिलेखना के ६ प्रकार—(१) आरभटा (एक वस्त्र का प्रतिलेखन पूर्ण किये बिना ही दूसरे वस्त्र का अथवा जल्दी-जल्दी प्रतिलेखन प्रारम्भ करना), (२) सम्मर्दा (जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें, सलवट न निकाली जाये), (३) मोसली (प्रतिलेखन करते समय ऊपर नीचे या तिरछे दीवार आदि से वस्त्र को लगाना) (४) प्रस्फोटना (प्रतिलेखना के समय वस्त्र को जोर से झड़काना), (५) विक्षिप्ता (प्रतिलेखन किये हुये वस्त्रों को प्रतिलेखन न किये हुए वस्त्रो में मिला देना या इधर-उधर वस्त्रों को फेंककर प्रतिलेखन करना); (६) वेदिका (प्रतिलेखन करते समय घुटनों के ऊपर नीचे या पास मे हाथ रखना)।

(घ) करणसप्तति में २५ प्रकार की प्रतिलेखना बताई गई है, उसे भी यहाँ समझ लेना चाहिये।

तत्पश्चात् कायोत्सर्ग[1] करके गुरु-आदि दीक्षाज्येष्ठ साधु को विधिपूर्वक विनय-भक्ति सहित दोषवर्जित [2]वन्दना करके उनसे पूछे कि 'मैं स्वाध्याय करूँ,

---

१ कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष—(१) घोटक, (२) लता, (३) स्तम्भकुड्य, (४) माल, (५) शबरी, (६) वधू, (७) निगड, (८) लम्बोत्तर, (९) स्तनदोष, (१०) उद्धिकादोष, (११) संयतीदोष, (१२) खलीन दोष, (१३) वायसदोष, (१४) कपित्थदोष, (१५) शीर्षोत्कम्पित दोष, (१६) मूकदोष, (१७) अंगुलिकाभ्रू दोष, (१८) वारुणी दोष, और (१९) प्रेक्षा दोष।

प्रवचनसारोद्धार में कायोत्सर्ग के ये उन्नीस दोष बताये हैं, इनसे बचकर विधिपूर्वक दोष रहित कायोत्सर्ग करना चाहिये।

२ वन्दना के बत्तीस दोष—(१) अनादृत, (२) स्तब्ध (अभिमानपूर्वक), (३) प्रविद्ध (अस्थिर होकर या अपूर्ण छोड़कर वन्दना करना), (४) परिपिण्डित (एक स्थान पर रहे हुए आचार्यादि सबको पृथक्-पृथक् वन्दना न करके एक साथ एक ही वन्दना करना), (५) टोलगति (टिड्डी की तरह कूद-फाँदकर) (६) अंकुशदोष—(रजोहरण के अंकुश की तरह पकड़कर या सोये हुए आचार्यादि के अंकुश की तरह लगाकर वन्दना करना); (७) कच्छपरिंगत (कछुए की तरह रेंग कर वन्दन करना), (८) मत्स्योद्वृत्त (मछली की तरह शीघ्र पार्श्व फेरकर बैठे-बैठे ही या पास में बैठे हुए रत्नाधिक की वन्दना करना), (९) मनसा-प्रविष्ट (असूयापूर्वक वन्दना करना), (१०) वेदिकाबद्ध (घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व मे या गोदी में हाथ रखकर वन्दना करना), (११) भय (भयवश वन्दना करना), (१२) भजमान (आचार्यादि अनुकूल रहे, इस दृष्टि से वन्दना करना), (१३) मैत्री (आचार्यादि से मैत्री की आशा से वन्दन करना), (१४) गौरव (गौरव बढ़ाने की इच्छा से वन्दना करना) (१५) कारण (ज्ञान-दर्शन-चारित्र के सिवा अन्य वस्त्रादि ऐहिक वस्तुओं के लिए वन्दना करना), (१६) स्तैन्य (चोर की तरह छिपकर वन्दना करना); (१७) प्रत्यनीक (गुरुदेव आहारादि करते हों, उस समय वन्दना करना) (१८) रुष्ट (रोषपूर्वक वन्दना करना), (१९) तर्जित (डाँटते-फटकारते वन्दना करना), (२०) शठ (दिखावे के लिए वन्दना करना या बीमारी आदि का बहाना बनाकर ठीक से वन्दना न करना), (२१) हीलित (हँसी करते हुए), (२२) विपरिकुंचित वन्दना अधूरी छोड़कर अन्य बातों में लगाना), (२३) दृष्टादृष्ट (गुरु आदि के न देखते वन्दना न

क्रमशः

वैयावृत्य करूँ, तप करूँ या औषध आदि गवेषणा करके लाऊँ ?' इस सम्बन्ध में गुरु (दीक्षाज्येष्ठ मुनि) की जैसी आज्ञा हो, तदनुसार करे। तत्पश्चात् एक प्रहर तक स्वाध्याय करे अथवा योग्य श्रोताओं का समूह श्रवणार्थ एकत्रित हो तो धर्मकथा (व्याख्यान) करे। उसके पश्चात् समय हो तो ध्यान या शास्त्र के अर्थ का चिन्तन करे।

इसके बाद आहार करने का कारण[1] उपस्थित होने पर भिक्षाचरी

करना, देखने पर करना), (२४) शृंग (ललाट के दांये या बाँए हाथ लगाकर) (२५) कर (अरिहंत प्रभु का 'कर' समझकर), (२६) मोचन (वन्दना के बिना मुक्ति न होगी, इस दृष्टि से विवशता से वन्दना करना।) (२७) आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट (अपने मस्तक और गुरुचरण दोनों में से किसी एक को छूना, दूसरे को न छूना) (२८) ऊन (आवश्यक वचन-नमनादि क्रियाओं में से कोई क्रिया छोड़ देना।) (२९) उत्तरचूड़ा (वन्दना के पश्चात् जोर से 'मत्थएण वंदामि' बोलना) (३०) मूक (पाठ का उच्चारण न करना, (३१) ढड्ढर (उच्च स्वर से अभद्र रूप से वन्दन सूत्र का उच्चारण करना, (३२) चूडली (अर्धदग्ध काष्ठवत् रजोहरण को सिरे से पकड़ कर वन्दना करना)।

वन्दना के इन बत्तीस दोषों को वर्जित कर सम्यक् रूप से वन्दना क्रिया करनी चाहिये।

—प्रवचनसारोद्धार (वन्दना द्वार) में उक्त

१ (क) आहार करने के ६ कारण—(१) वेदना (क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए) (२) वैयावृत्य (सेवा करने के लिए), (३) ईर्यापथ (गमनागमन आदि की शुद्ध प्रवृत्ति के लिए), (४) संयम (संयम-रक्षा या संयम-पालन के लिए) (५) प्राण-प्रत्यार्थ (प्राणों की रक्षा के लिए) और (६) धर्मचिन्ता (शास्त्र पठन-पाठन आदि धर्मचिन्तन के लिए।

(ख) आहार त्यागने के ६ कारण—(१) आतंक (भयंकर रोग से ग्रस्त होने पर) (२) उपसर्ग (आकस्मिक उपसर्ग आने पर), (३) ब्रह्मचर्यगुप्ति (ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए), (४) प्राणिदया (जीवों की दया के लिए) (५) तप (तपस्या करने के लिए) और (६) संलेखना (अन्तिम समय में अनशनपूर्वक संथारा करने हेतु)।

—उत्तराध्ययन २६।३२-३५

का समय होते ही गुरु से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए जाए और निर्दोष विधि[1] से यथाप्राप्त आहार लाकर शास्त्रोक्त विधि से आहार करे।

इसके अनन्तर फिर ध्यान और शास्त्रचिन्तन करे।

दिन के चौथे प्रहर में फिर विधिपूर्वक प्रतिलेखना करे, स्वाध्याय करे और फिर अस्वाध्याय के समय (सन्ध्याकाल) में षडावश्यकयुक्त प्रतिक्रमण करे।

अस्वाध्याय काल पूर्ण हो चुकने फिर रात्रि के पहले प्रहर में

---

१ भिक्षाचरी के ४७ दोष—गवेषणा सम्बन्धी १६ उद्‌गम दोष—(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापन, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्करण, (८) क्रीत, (९) प्रामित्य, (१०) परिवर्तित, (११) अभिहृत, (१२) उद्‌भिन्न, (१३) मालापहृत, (१४) आच्छेद्य (१५) अनिसृष्ट और (१६) अध्यवपूरक।

इन १६ उद्‌गम दोषों का निमित्त गृहस्थ होता है।

गवेषणा सम्बन्धी १६ उत्पादन दोष—(१) धात्री, (२) दूती, (३) निमित्त (शुभाशुभ निमित्त बताकर), (४) आजीव, (५) वनीपक, (६) चिकित्सा (७) क्रोध (८) मान, (९) माया, (१०) लोभ, (११) पूर्व-पश्चात्संस्तव, (१२) विद्या, (१३) मंत्र, (१४) चूर्ण, (१५) योग तथा (१६) मूलकर्म।

उत्पादन के दोष साधु की ओर से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है।

ग्रहणैषणा के १० दोष—(१) शंकित (२) म्रक्षित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) संहृत (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) अपरिणत (९) लिप्त और (१०) छर्दित (छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना)।

गृहस्थ और साधु दोनों के निमित्त से ग्रहणैषणा के दोष लगते हैं।

ग्रासैषणा (परिभोगैषणा) के पांच दोष—(१) संयोजना (२) अप्रमाण, (३) अंगार (सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना) (४) धूम (नीरस आहार की निन्दा करते हुए खाना) और (५) अकारण (आहार करने के ६ कारणों के सिवा केवल बलवृद्धि के लिए खाना।

इन ४७ दोषों से वर्जित आहार का ग्रहण और सेवन करना एषणा समिति का अंग है। अशनादि चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि (जो कि करण का अंग है) का भी इसी में समावेश हो जाता है।

स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान और शास्त्र चिंतन करे। तीसरे प्रहर के अन्त में निद्रा का त्याग करे।

इस प्रकार साधु की दिन-रात्रि की चर्या सम्बन्धी क्रियाओं का निर्देश उत्तराध्ययन सूत्र में किया गया है।[1]

पाँच समिति तीन गुप्ति सम्बन्धी शुद्ध क्रियाएँ

पांच समिति और तीन गुप्ति, ये अष्ट प्रवचन माताएँ है[2] साधक को गमन, भाषण, भोजन, शयनादि समस्त प्रवृत्तियाँ हार्दिक श्रद्धा एवं सम्यक् उपयोगपूर्वक समिति गुप्ति के माध्यम से करनी चाहिए।

जिसके द्वारा सम्यक्तया प्रवृत्ति हो, चारित्र पालन हो, उसे समिति कहते है, तथा मन-वचन-काया के सम्यक् निरोध-नियन्त्रण या संयम से चारित्र की रक्षा हो उसे गुप्ति कहते हैं।

पाँच समितियाँ इस प्रकार है—

(१) **ईर्या समिति**—ईर्या कहते है कायचेष्टा को, उसकी समिति अर्थात् सम्यक्—शुभ उपयोग को। अर्थात्—गत्यर्थक जितनी भी क्रियाएँ है, उन्हें सम्यक् उपयोगपूर्वक यतनापूर्वक करना ईर्या समिति है। जैसे—चलना है तो निज शरीर प्रमाण भूमि को आगे देखकर चलना, इसी प्रकार आसन पर बैठना, शय्या पर सोना, वस्त्रादि पहनना आदि क्रियाएँ करते समय भी उन क्रियाओ में विशेष उपयोग और यतना होनी चाहिए।

(२) **भाषा समिति**—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य आदि के वश अथवा किसी प्राणी के लिए पीड़ाकारक, हानिकारक, व्यर्थ, विकथारूप या कामोत्तेजक, हिंसाप्रेरक भाषण कदापि न करना, अपितु मधुर, हितकर, परिमित एवं सत्य वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

(३) **एषणा समिति**—भिक्षाचरी के ४२ दोषों[3] (१६ उद्गम के, १६ उत्पाद के और १० एषणा के, यों ४२ दोष) से रहित शुद्ध और निर्दोष आहार की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा (ग्रासैषणा से करना एषणा

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. २६, गा. १७ से ५३ तक

२ पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों के स्वरूप का विस्तृत वर्णन चारित्राचार के प्रकरण मे किया गया है।

३ आहार सम्बन्धी ४२ दोषों का वर्णन पिछले पृष्ठों में हो चुका है।

समिति है।[1] इस दृष्टि से जो आहार-पानी सदोष है—पूर्वोक्त ४७ दोषों से किसी भी दोष से युक्त है, उसे साधु को कदापि ग्रहण न करना चाहिए।

(४) **आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति**—साधुओं के पास संयम-पालन के लिए धर्म-साधन के रूप में जो उपकरण होते है, उन्हें यतनापूर्वक उठाना और रखना आदाननिक्षेपणसमिति है। जब कोई भी कार्य यतना से रहित होकर किया जाएगा तब उसमें जीव-हिंसा होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त असावधानी से किसी चीज को उठाने-रखने की आदत से प्रमाद बढेगा, जो कि संयमी जीवन के लिए अनर्थकर होगा।

(५) **उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति**—उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र-पेशाब), थूक, कफ, शरीर का मैल, पसीना, लींट (नाक का मैल) आदि पदार्थों को डालना (परिष्ठापन—विसर्जन करना) हो तब बड़ी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि असावधानीपूर्वक जैसे-तैसे और जहाँ-तहाँ इन चीजो को फेंकने से अयतना होगी, जीवों को पीड़ा पहुँ-

---

१ आहार के ४७ दोष इस प्रकार है—

(१) सोलह उद्गम दोष—

आहाकम्मुद्देसियं पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

(२) सोलह उत्पाद दोष—

धाई दूई निमित्ते आजीववणीमग तिगिच्छाय।
कोहे माणे माया लोभे य, हवंति दस एए ॥३॥
पुव्विपच्छासथव विज्जामंते, चुण्णजोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसम्मे मूलकम्मे य ॥४॥

(३) एषणा के दस दोष—

संकिय-मक्खिय-निक्खित्तपिहिय साहरियदायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्त-छड्डिय एसणादोसा दस हवंति ॥५॥

(४) ग्रासैषणा के पाँच दोष—

(१) संयोजना, (२) अप्रमाण, (३) अंगार, (४) धूम और (५) अकारण दोष।

इन सबका अर्थ एवं विवेचन पिछले पृष्ठों में हो चुका है।

चेगी, हिंसा भी होगी और गन्दगी से रोग फैलेगा, जनता को घृणा पैदा होगी। यही इस पंचम समिति का आशय है।

दशविध समाचारीरूप क्रियाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र में साधु के चारित्र-पालन में सहायक दस प्रकार की समाचारी का विधान है। यह दस प्रकार की समाचारी में साधुजीवन की उस सम्यक् व्यवस्था का निरूपण है, जिसमें साधक के पारस्परिक व्यवहारों और कर्तव्यों का संकेत है। इस समाचारी के पालन से साधुजीवन में है समता (सामायिक) दृढ़ और पुष्ट होती है।

दस प्रकार की समाचारी इस प्रकार है—

(१) **आवश्यकी** (साधु को स्थान से बाहर कार्यवश जाना पड़े तो गुरुजनों को सूचना देकर जाना), (२) **नैषेधिकी** (कार्यपूर्ति के बाद वापिस लौटने पर आगमन की सूचना देना), (३) **आपृच्छना** (अपने कार्य के लिए गुरुजनो से अनुमति लेना), (४) **प्रतिपृच्छना** (दूसरों के कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना), (५) **छन्दना** (पूर्वगृहीत द्रव्यो के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित (मनुहार) करना), (६) **इच्छाकार** (दूसरो का कार्य अपनी सहज अभिरुचि से करना और अपना कार्य करने के लिए दूसरो को उनकी इच्छानुकूल विनम्र निवेदन करना), (७) **मिथ्याकार**, (दोष की निवृत्ति के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर आत्म-निन्दा करना), (८) **तथाकार** (गुरुजनो के उपदेश को 'सत्यवचन है', कहकर स्वीकार करना), (९) **अभ्युत्थान** (गुरुजनों की पूजा-सत्कार के लिए अपने आसन से उठकर खडा होना, स्वागत के लिए सामने जाना) और (१०) **उपसम्पदा** (किसी विशिष्ट प्रयोजन में दूसरे आचार्य के सान्निध्य में रहना)।[1]

इन समाचारी रूप क्रियाओ को सम्यक् प्रकार से करना भी 'करण' का अंग है।

बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा

करणसप्तति में १२ भावनाएँ भी हैं, जो रत्नत्रय के आचरण को स्थिर एवं पुष्ट करती हैं। इन बारह भावनाओं का प्रत्येक साधु-साध्वी को प्रतिदिन अनुप्रेक्षण—(अपने ध्येय के अनुकूल अन्तर्निरीक्षण) गहन चिन्तन करना चाहिए। ऐसे चिन्तन से राग-द्वेष की वृत्तियाँ रुक जाती हैं, रुवर (आस्रव-

---

१ उत्तराध्ययन अ० २६ समाचारी-अध्ययन

निरोध) हो जाता है। यह कार्य बहुत ही रुचि, उत्साह, श्रद्धा और वैराग्य भाव के साथ होना चाहिए।

बारह भावनाएँ इस प्रकार हैं[1] —

(१) **अनित्यानुप्रेक्षा**—किसी प्राप्त वस्तु के वियोग का दुःख न हो, इसलिए उन सभी वस्तुओं के प्रति आसक्ति कम करने के लिए अनित्यता का चिन्तन करना कि शरीर, घर-बार आदि पदार्थ और उनके सम्बन्ध नित्य और स्थिर नहीं है।

(२) **अशरणानुप्रेक्षा**—एकमात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए अन्य सभी सांसारिक वस्तुओं के प्रति ममत्व हटाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरण का कोई शरण नहीं है, वैसे ही आधि-व्याधि-उपाधि से ग्रस्त शरीर और शरीर से सम्बन्धित परिवार, धन, मकान आदि कोई भी पदार्थ शरणभूत नही है।

(३) **संसारानुप्रेक्षा**—संसार-तृष्णा को छोडने के लिए सांसारिक वस्तु अथवा जन्म-मरणरूप संसार से निर्वेद (औदासीन्य या वैराग्य) की भावना-साधना आवश्यक है। अतः ऐसा चिन्तन करना कि इस जन्म-मरणरूप ससार में न तो कोई स्वजन है, न परजन, क्योकि प्रत्येक के साथ जन्म-जन्मान्तर में अनेक प्रकार के सम्बन्ध हुए हैं। सांसारिक प्राणी राग-द्वेष-मोह से संतप्त होकर एक-दूसरे को हड़पने में लगे हुए है, ऐसे असह्य दुःखरूप अथवा हर्ष-विषाद, सुखदुःखादि द्वन्द्वों के स्थान—संसार से जितनी जल्दी छुटकारा हो, अच्छा है।

(४) **एकत्वानुप्रेक्षा**—मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से राग-द्वेष के अवसरों पर निर्लेपता एवं समत्व रखना अत्यावश्यक है। अतः स्वजन-विषयक राग और परजन विषयक द्वेष को दूर करने हेतु ऐसा चिन्तन करना कि मैं अकेला ही आया हूँ, अकेला ही जाऊँगा, मैं अकेला ही जन्मता-मरता हूँ, अकेला ही अपने बोये हुए कर्मबीजों के सुख-दुःखादि फलों को भोगता हूँ। वास्तव में मेरे सुखदुःख का कर्ता-हर्ता मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं। यह एकत्वानुप्रेक्षा है।

---

१ अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वाऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। —तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ७

(५) **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—मनुष्य अज्ञान एवं मोह के वश शरीर और शरीर से सम्बन्धित पर-पदार्थों की ह्रास-वृद्धि को अपनी ह्रास-वृद्धि मानने की भूल करके मूल कार्य को भूल जाता है। इस स्थिति का निराकरण करने हेतु शरीर और शरीर-सम्बद्ध पर-पदार्थों से अपने आपको भिन्न मानना और शरीरादि जड़ पदार्थों के गुणधर्मों से अपने गुणधर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर जड, स्थूल तथा विनाशी (आदि-अन्तयुक्त) है, जबकि में चेतन, सूक्ष्म, अविनाशी आदि हूँ; यह अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

(६) **अशुचित्वानुप्रेक्षा**—संसार में सबसे अधिक घृणास्पद यह शरीर है, किन्तु अज्ञानी मनुष्य अपने गोरे, हृष्ट-पुष्ट शरीर अथवा स्त्रियों के बाहर से सुन्दर दिखने वाले शरीर तथा उसके रूप रंग, अंग-सौष्ठव आदि को देखकर उसमें आसक्त-मूर्च्छित हो जाता है। अतः उस पर आसक्ति-मूर्च्छा हटाने के लिए सोचना कि बाहर से सुन्दर बलिष्ठ दिखाई देने वाला यह शरीर मल-मूत्र आदि अशुचि का भण्डार है, अशुचि से ही यह पैदा हुआ है और अशुचि वस्तुओं से ही इसका पोषण हुआ है। यह स्वयं अशुचि है और अशुचि-परम्परा का कारण है। इसके प्रति मेरा मोह या ममत्व व्यर्थ है, कर्मबन्ध का कारण है। ऐसा चिन्तन अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

(७) **आस्रवानुप्रेक्षा**—यह जीव आस्रवों (कर्मों के आगमन) के कारण ही अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। परन्तु कर्मों का आगमन (आस्रव) किन-किन कारणो से होता है, उनके कटु फल कैसे-कैसे मिलते हैं, तथा आस्रव के द्वारो (स्रोतों) को बन्द किये बिना धर्म का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार का गहन चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

आस्रव के २० भेदों में अव्रत (अविरति) प्रधान है। अर्थात्—विषय भोगों की तथा सांसारिक पदार्थों के उपभोग-परिभोग की आशा-तृष्णा का निरोध न करना ही अव्रत है; इत्यादि विचार करना भी आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) **संवर-अनुप्रेक्षा**—आस्रवों का निरोध करना संवर है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आस्रव के हेतु है। आस्रव के कारणों के परित्याग का विचार करके तप, समिति, गुप्ति, चारित्र, परीषहजय, धर्म-पालन आदि का आचरण करने से संवर होता है।[1] अतः संसार परिभ्रमण

---

१ आस्रवनिरोधः संवरः। स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः।

—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६ सू० १, २

के कारणभूत आस्रव को रोकने के एकमात्र उपाय संवर है, उसकी अनुप्रेक्षा करना, बार-बार चिन्तन-मनन करना संवरानुप्रेक्षा है।

(९) **निर्जरानुप्रेक्षा**— कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना निर्जरा है। निर्जरा का प्रधान कारण तप (द्वादशविध तपश्चरण) है।[1] समिति-गुप्ति, श्रमणधर्म, परीषह और उपसर्गों को समभाव से सहना, कषाय-विजय, इन्द्रिय-निग्रह आदि से भी निर्जरा होती है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप, कारण आदि का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

वस्तुतः दुःखों, कष्टों, विपत्तियों, परीषहों या उपसर्गों को समभावपूर्वक, धैर्य से, ज्ञानपूर्वक सहन करने से निर्जरा होती है। अज्ञानपूर्वक, निरुद्देश्य, निरर्थक, अधैर्य से रो-रोकर कष्ट सहने से भी उदय में आये हुए पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होती है, किन्तु वह अकाम निर्जरा है, उससे कर्मक्षय के अनुपात में नये कर्मों का बन्धन और अधिक एवं दृढ़ हो जाता है। किन्तु ज्ञानपूर्वक, सोद्देश्य, समभावपूर्वक कष्ट-सहन, परीषहों और उपसर्गों पर विजय से सकाम निर्जरा होती है, वही यहाँ उपादेय है।

पूर्वोक्त (सकाम) निर्जरानुप्रेक्षा के लिए विविध कर्म विपाकों का (अशुभ कर्मोदय के समय) चिन्तन करना और अकस्मात्—पूर्वबद्ध कर्मोदयवशात् प्राप्त कटुविपाकों (दुःखो) के समय समाधानवृत्ति साधना, समभावपूर्वक सहना, तथा जहाँ सम्भव हो, वहाँ स्वैच्छिक तप-त्याग द्वारा संचित कर्मों को भोगना आवश्यक है।

(१०) **लोकानुप्रेक्षा**—तत्त्वज्ञान की विशुद्धि तथा समभाव में स्थिरता के लिए लोक (षट्द्रव्यात्मक लोक) के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना, अथवा लोक के संस्थान, जड़ और चेतन दोनों के स्वरूप और परस्पर सम्बन्धों-असम्बन्धों का विचार करना भी लोक-अनुप्रेक्षा या लोक संस्थान भावना है।

(११) **बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा**—प्राप्त हुए मोक्षमार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए ऐसा विचार करना कि अनादिकाल से जन्म-मरण के विविध दुःखों के प्रवाह में, मोहनीय आदि कर्मों के तीव्र आघातो को सहते हुए जीव को शुद्ध बोधि (दृष्टि) और शुद्ध चारित्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यही मोक्ष प्राप्त करने—समस्त दुःखों से मुक्त होने का प्रधान साधन है।

---

१ तपसा निर्जरा च। —तत्त्वार्थ० अ० ९, सू० ३

इसके बिना समस्त व्रत-नियम, तपश्चर्या आदि का आचरण मोक्ष का—कर्मक्षय का कारण नहीं, अपितु भवभ्रमण का ही कारण है। अतः सम्यक्त्वरूपी रत्न को प्राप्त करके, उसे चल-मल-अगाढ़ आदि दोषों एवं शंका, कांक्षा आदि अतिचारों से बचाकर सुरक्षित रखना अत्यावश्यक है। साथ ही सम्यक्त्व के स्वरूप, कारण, महिमा, दूषण, भूषण, आदि पर पुनः पुनः विचार करना भी बोधिबीज भावना है। सम्यग्दृष्टि आत्माओं का सत्संग करना भी इसके लिए आवश्यक है।

(१२) **धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा**—धर्म-मार्ग से च्युत न होने और उसके आचरण में स्थिरता एवं सुदृढ़ता लाने के लिए धर्म—शुद्ध धर्मतत्त्व का चिन्तन करना आवश्यक है। ऐसा चिन्तन करना कि यह मेरा सौभाग्य है कि समस्त प्राणियो के लिए कल्याणकर एवं सर्वगुणसम्पन्न धर्म मुझे मिला है, जिसका वीतरागी महापुरुषो ने उपदेश दिया है। मनुष्य भव तभी सार्थक हो सकता है, जबकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का सम्यक् आचरण किया जाए। यही धर्मानुप्रेक्षा है।

इन बारह अनुप्रेक्षाओ के अनुप्रेक्षको के दृष्टान्त क्रमशः (१) 'अनित्य' के भरत चक्री, (२) 'अशरण' के अनाथी मुनि, (३) 'संसार' के भगवती मल्लि, (४) 'एकत्व' के मृगापुत्र, (५) 'अन्यत्व' के नमि राजर्षि, (६) 'अशुचित्व' के सनत्कुमार चक्रवर्ती, (७) 'आस्रव' के समुद्रपाल, (८) 'संवर' के हरकेशीमुनि, (९) 'निर्जरा' के अर्जुन-अनगार (१०) 'लोकानुप्रेक्षा' के शिवराज-ऋषि, (११) 'बोधिदुर्लभ' के भगवान ऋषभदेव के ९८ पुत्र और (१२) 'धर्मानुप्रेक्षा' के अनुप्रेक्षक धर्मरुचि-अनगार हुए हैं।

इन बारह भावनाओ में से किसी भी एक भावना या सभी का अनुचिन्तन सम्यक् प्रकार से करना भी 'करण' सत्य है।[1]

बारह भिक्षु प्रतिमाओं की साधना

बारह भिक्षु प्रतिमाओं[2] का सम्यक् श्रद्धा—प्ररूपणापूर्वक यथाशक्ति आचरण करना 'करणसत्य' के अन्तर्गत है। बारह भिक्षुप्रतिमाएँ साधु-जीवन में निराहार, अल्पाहार, स्वावलम्बन, एवं स्वाश्रयत्व सिद्ध करने तथा आत्मशक्ति बढ़ाकर कर्मक्षय हेतु पुरुषार्थ करने की प्रतिज्ञाएँ है।

---

१ 'भावणा पडिमा य……।' —ओघनिर्युक्तिभाष्य

२ देखिये, बारहभिक्षुप्रतिमा के लिए दशाश्रुतस्कन्ध

वे बारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम प्रतिमा**—एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना। इसकी अवधि एक मास है।

(२) **द्वितीय प्रतिमा से सप्तम प्रतिमा तक**—द्वितीय प्रतिमा में दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की, इसी प्रकार तीसरी चौथी, पाँचवीं, छठी, और सातवीं प्रतिमा में क्रमशः तीन, चार, पांच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण करना।

इनमें से प्रत्येक प्रतिमा का समय एक मास का है।

(८) **आठवीं प्रतिमा** सात अहोरात्रि की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना तथा गांव के बाहर उत्तानासन (आकाश की ओर मुंह करके लेटना), पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) या निषद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना एवं उपसर्ग आए तो शान्तचित्त से सहना आदि प्रक्रियाएँ है।

(९) **नौवीं प्रतिमा** भी सात रात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा करना, ग्राम से बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान करना आदि प्रक्रियाएँ है।

(१०) **दसवीं प्रतिमा**—यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा करना, ग्राम के बाहर गोदुहासन, वीरासन या आम्र-कुब्जासन से ध्यान करना आदि प्रक्रियाएँ हैं।

(११) **ग्यारहवीं प्रतिमा**—यह प्रतिमा एक अहोरात्रि यानी आठ पहर की होती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी साधना होती है। इसमें नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

(१२) **बारहवीं प्रतिमा**—यह प्रतिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना केवल एक रात की है। इसमें चौविहार तेला करके गाँव के बाहर निर्जन स्थान में खड़े होकर मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निर्निमेष दृष्टि से निश्चलता पूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गों के आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

इस प्रकार करणसत्य नामक सोलहवाँ अनगार गुण है।

(१७) **योगसत्य**—मन-वचन-काया ये तीनों योगों का सत्यरूप में परिणत होना, तीनों योगों को सरलता और सत्यता से सम्पन्न करना योग-सत्य है। अथवा तीनों योगो को शम, दम, उपशम, आत्मसाधना आदि में लगाना भी योगसत्य है। क्योंकि इनके सत्यरूप में प्रवृत्त होने से आत्मा भी सत्यस्वरूप में लीन होती है।

(१८) **क्षमा**- क्रोध उत्पन्न होने पर भी आत्मस्वरूप में स्थिति रहना क्षमा है। साधु का प्रधान धर्म क्षमा है।

(१६) **विरागता**—संसार दु:खों (शारीरिक-मानसिक) से पीड़ित है। इन दु:खो को देखकर तथा संसार के समस्त संयोगों को इन्द्रजाल के समान कल्पित और स्वप्न के समान क्षणिक समझकर संसार चक्र के परि-भ्रमण से निवृत्त होने का प्रयत्न करना। साधु इस प्रकार के वैराग्य से सम्पन्न होता है।

(२०) **मनःसमाहरणता**—अकुशल मन को रोककर कुशलता (शुभ भावों) में स्थापन करना भी साधु का एक गुण है। यद्यपि यह गुण योग-सत्य के अन्तर्गत आ जाता है, तथापि व्यवहारनय की दृष्टि से इसका पृथक् प्रतिपादन किया गया है। यह एक प्रकार का प्रत्याहार है।

(२१) **वाक्समाहरणता**—वाणी पर संयम साधु-जीवन का अनिवार्य अंग है। इसलिए साधु में इस गुण का होना आवश्यक है। स्वाध्याय, धर्मोप-देश आदि आत्मसमाधि-कारक वचन-प्रयोग के अतिरिक्त वाक्योग का निरोध करना वाग्समाहरणता है, क्योंकि स्वाध्यायादि के सिवाय कलह-क्लेशादि के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला वचन योग निरर्थक है; आत्म-समाधि से दूर रखने वाला है।

(२२) **काय-समाहरणता**—अशुभ व्यापार (प्रवृत्ति) से सदैव शरीर को दूर रखना काय-समाहरणता है। व्यवहारनय की दृष्टि से यह गुण भी पृथक् बताया गया है।

(२३) **ज्ञानसम्पन्नता**—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल-ज्ञान, इन पांच ज्ञानों में से यथाज्ञान-सम्पन्न होना ज्ञानसम्पन्नता है। अर्थात्—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अग-उपांग, पूर्व आदि जिस काल में जितना श्रुत विद्यमान हो, उसका उत्साहपूर्वक अध्ययन करना तथा वाचना, पृच्छना आदि करके ज्ञान को दृढ़ करना और दूसरों को यथायोग्य ज्ञान देकर ज्ञान-वृद्धि करना भी ज्ञान सम्पन्नता का अंग है।

चार ज्ञान, तो क्षयोपशम भाव के कारण विशदी भाव से प्रकट होते हैं, किन्तु केवलज्ञान केवल क्षायिकभाव के प्रयोग प्रकट होता है। अतः जिससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम हो, उस प्रकार की प्रवृत्ति या पुरुषार्थ करना चाहिए, ताकि साधु में ज्ञानसम्पन्नता का गुण वृद्धिगत हो।

(२४) **दर्शनसम्पन्नता**—मिथ्यादर्शन से पराङ्मुख होकर आत्मा का सम्यग्दर्शन में आरूढ हो जाना तथा प्राप्त सम्यग्दर्शन को पुष्ट और स्थिर करना और अतिचारों से सम्यग्दर्शन की सुरक्षा करना, दर्शनसम्पन्नता है। साथ ही देव आदि का उपसर्ग आने पर भी सम्यक्त्व से चलित न हो और शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित निर्मल सम्यक्त्व का पालन करे।

यद्यपि सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और मिश्रदर्शन, यों दर्शन तीन प्रकार का बताया गया है, तथापि यहाँ केवल सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होना और मिथ्यादर्शन एवं मिश्रदर्शन को सम्यक् प्रकार से जानने को ही दर्शनसम्पन्नता कहा गया है।

(२५) **चारित्रसम्पन्नता**—जिससे कर्मों का चय (संचय) रिक्त (खाली) हो, उसका नाम चारित्र है। वह पाँच प्रकार है—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसाम्परायिक चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र।

इन पांच प्रकार के चारित्रों में से यथाशक्ति स्वभूमिकानुसार गृहीत चारित्र की सम्यक् आराधना-साधना करना, अतिचारों से चारित्र की सुरक्षा करना, विविध भावनाओं, अनुप्रेक्षाओं, तप, त्याग-प्रत्याख्यान, समिति गुप्तियों, महाव्रतों के पालन, परीषहजय, उपसर्ग-सहन, क्षमादि दस श्रमण धर्मों के आचरण आदि से चारित्र को सुदृढ़ बनाना चारित्रसम्पन्नता है। जब आत्मासम्यग्दर्शनसम्पन्न होता है तो स्वयमेव ही सम्यक्चारित्र में पूर्णतया दृढ़ हो जाता है। पाँच चारित्रों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) **सामायिक चारित्र**—जिससे सावद्ययोग से निवृत्ति हो और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप समत्व का लाभ हो उसे सामायिक चारित्र कहते हैं। वह दो प्रकार का है—स्तोक कालिक और यावज्जीव पर्यन्त।

मुनि का सामायिक चारित्र सर्वविरति और यावज्जीवन के लिए होता है, जबकि गृहस्थ श्रावक का सामायिक चारित्र स्तोककालिक और देश विरति (दो करण तीन योग से गृहीत) होता है।

(२) **छेदोपस्थापनीय चारित्र**—नवदीक्षित साधु-साध्वी को सामायिक चारित्र ग्रहण करने के जघन्य ७ दिन, मध्यम ३ मास और उत्कृष्ट ६ मास के पश्चात् प्रतिक्रमण भलीभांति सीख जाने पर पंचमहाव्रतरूप व्रतारोपण करने हेतु गुरुजनों द्वारा जो चारित्र दिया जाता है, उसे छेदोपस्थानीय चारित्र कहते है। वर्तमान युग की भाषा में इसे बड़ी दीक्षा कहा जाता है। इसमें पूर्व-पर्याय का व्यवच्छेद करके, उत्तरपर्याय का स्थापन—महाव्रतारोपण किया जाता है, इसलिए इसे छेदोपस्थानीय कहते है।[1]

(३) **परिहार-विशुद्धि चारित्र**—जिस चारित्र में दोषों का परिहार करके आत्म-विशुद्धि करने हेतु ६ मुनि सामूहिक रूप से गच्छ से पृथक् होकर १८ मास पर्यन्त विशिष्ट तपश्चर्यादि की साधना करते है, उसे परिहार-विशुद्धि चारित्र कहते है।

इसकी विधि इस प्रकार है—गच्छ से निर्गत ६ मुनियों में से प्रथम चार मुनि ६ मास पर्यन्त तप करते है, दूसरे चार मुनि उनकी सेवा (वैयावृत्य) करते है, तथा एक मुनि धर्मकथादि क्रियाओ में संलग्न रहता है। जब प्रथम चार मुनियों का तपःकर्म पूर्ण हो जाता है, तब दूसरे चार मुनि छह मास पर्यन्त तपःकर्म में संलग्न होते है और पहले के तपश्चर्या वाले चार मुनि उनकी सेवा मे नियुक्त हो जाते है, किन्तु धर्मकथादि क्रियाओ में प्रथम मुनि ही काम करता रहता है। जब वे छह मास में तपःकर्म समाप्त कर लेते है, तब धर्मकथा करने वाला मुनि ६ मास तक तपस्या करने में संलग्न होता है, उन ८ मुनियों में से एक मुनि धर्मकथा के लिए नियुक्त किया जाता है, शेष ७ मुनि तपश्चरण करने वाले मुनि की सेवा में संलग्न होते है। इस प्रकार ६ मुनि १८ मास में परिहार-विशुद्धि साधना को पूर्ण करते है।

(४) **सूक्ष्मसम्पराय चारित्र**—जिसमे लोभकषाय को सूक्ष्म किया जाता है, उसका नाम सूक्ष्मसम्पराय चारित्र है। यह चारित्र उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में पाया जाता है। उपशम श्रेणी दसवें गुणस्थान-पर्यन्त रहती है।

(५) **यथाख्यातचारित्र**—जिस चारित्र में मोहकर्म उपशम-युक्त या क्षय होकर आत्मगुण प्रकट हो जाते हैं, उसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं।

---

१ प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही छेदोपस्थानीय चारित्र होता है।

इन पाँचों प्रकार के चारित्रों में से यथासम्भव चारित्र की सम्यक् आराधना चारित्रसम्पन्नता है। यह गुण साधुजीवन का प्राण है।

(२६) **वेदना-समाध्यासना**—किसी भी प्रकार की वेदना, पीड़ा, रोग, आतंक, विपत्ति या संकट आने पर साधु द्वारा समभाव से उसे सहन करना वेदना-समाध्यासना है।

जैनशास्त्रों में साधक पर आने वाली वेदना के लिए दो पारिभाषिक शब्द हैं—उपसर्ग और परीषह।

उपसर्ग साधक की साधना की कसौटी है। वे तीन प्रकार के होते हैं—देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंचकृत। इन तीनों प्रकार के उपसर्गों में से किसी भी प्रकार का उपसर्ग आने पर उसे समभाव से सहन करने पर साधक कसौटी पर खरा उतरता है।

साधक को दूसरे प्रकार की वेदना परीषहों से होती है। अंगीकृत धर्म मार्ग में (च्युत न होने) स्थिर रहने और कर्मबन्धन के क्षय करने के लिए जो (कष्ट) समभावपूर्वक सहन किये जाते है, उन्हें परीषह कहते हैं।

समस्त परीषहों को शास्त्रकारों ने २२ संख्या में परिगणित कर दिया है। वे इस प्रकार हैं—

(१-२) **क्षुधा-पिपासा-परीषह**—भूख और प्यास की चाहे जितनी वेदना हो, अपनी साधुमर्यादा के अनुकूल आहार-पानी न मिलता हो, तो भी अंगीकृत मर्यादा के विपरीत सचित्त या दोषयुक्त आहार-पानी न लेते हुए इन वेदनाओं को समभावपूर्वक सहना।

(३-४) **शीत-उष्ण-परीषह**—शीत (ठण्ड) अधिक पड़ने पर उससे बचने के लिए सदोष एवं अकल्पनीय तथा मर्यादा से अधिक वस्त्रादि का या अग्नि आदि का सेवन न करना, इसी प्रकार गर्मी से बचने के लिए हवा करने या स्नानादि की इच्छा न करना, बल्कि सर्दी-गर्मी की वेदना को समभाव से सहन करना।

(५) **दंश-मशक-परीषह**—डांस, मच्छर, खटमल आदि जन्तुओं के उपद्रव से होने वाले कष्ट को खिन्न न होते हुए समभाव से सहन करना।

(६) **अचेल-परीषह**—वस्त्र फट गये हों, अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हों, या वस्त्रों को चोर, डाकू, लुटेरों ने चुरा या छीन लिया हो, तो दीनता प्रकट करके वस्त्रों की याचना न करना। नवीन वस्त्र मिलेंगे, इससे हर्ष और अब

मुझे कौन वस्त्र देगा, इस दृष्टि से शोक न करना, बल्कि वस्त्र रहित या अल्पतम वस्त्र होने की स्थिति को समभाव से सहना अचेल परीषह है।

(७) **अरति-परीषह**—अंगीकृत मार्ग में अनेक कठिनाइयों एवं असुविधाओं के कारण अरुचि, ग्लानि या चिन्ता न करना, बल्कि नरक-तिर्यञ्चगति के दुःखो को सहने का स्मरण करके धैर्यपूर्वक उक्त परीषह को सहन करना।

(८) **स्त्री-परीषह**—पुरुष या स्त्री साधक का अपनी साधना में विजातीय के प्रति कामवासना या आकर्षण पैदा होने पर उसकी ओर न ललचाना, मन को दृढ़ रखना या कोई स्त्री पुरुष-साधक को अथवा कोई पुरुष स्त्री-साधिका को विषयभोग के लिए ललचाए तो मन को वहाँ से मोड़कर संयमरूपी आराम में रमण कराना, मन को कामविकार की ओर जरा भी न जाने देना।

(९) **चर्या-परीषह**—एक जगह स्थायी रूप से निवास करने से मोह-ममत्व के बन्धन में पड़ जाने की आशका है, इसलिए रुग्णता, अशक्तता, अतिवृद्धता आदि कारणो को छोडकर नौकल्पी विहार करना; विहारचर्या में आने या होने वाले कष्टों को समभाव से सहना। अथवा पैदल चलने (पाद विहार करने) में होने वाले कष्टो को सहना भी चर्या परीषह है।

(१०) **निषद्या-परीषह**—अकारण भ्रमण न करना, अपितु अपने स्थान पर ही वृद्ध या रुग्ण आदि की सेवा में दीर्घकाल तक रहना पड़े तो मन में खिन्नता न लाना, अथवा विहार करते हुए रास्ते में बैठने का स्थान ऊबड़-खाबड, प्रतिकूल, कंकरीला, वृक्षमूल, गिरिकन्दरा, एकान्त श्मशान या सूना मकान मिले उस समय कायोत्सर्ग करके या साधना के लिए आसन लगाकर बैठे हुए साधक पर अकस्मात् सिंह, व्याघ्र, सर्प, व्यन्तरदेव आदि का उपद्रव आ जाये तो उस आतंक या भय को अकम्पित भाव से जीतना, आसन से विचलित न होना।

(११) **शय्या-परीषह**—शय्या का अर्थ आचारांगसूत्रानुसार 'वसति' है।[1] साधु को कही एक रात रहना पड़े अथवा कहीं अधिक दिनों तक, तो वहाँ प्रिय या अप्रिय स्थान या उपाश्रय मिलने पर हर्ष-शोक न करना, अथवा कोमल-कठोर, ऊँची-नीची, ठण्डी-गर्म जैसी भी जगह मिले तो भी समभाव में रहना; खेद न करना।

---

१ वसति, उपाश्रय या स्थानक को कहते हैं।

(१२) **आक्रोश-परीषह**—किसी ग्राम या नगर में पहुँचने पर साधु की क्रिया, वेषभूषा आदि देखकर द्वेषवश या ईर्ष्यावश कोई अनभिज्ञ व्यक्ति आवेश में आकर उसे कठोर या अप्रिय वचन कहे, अपशब्द कहे, गाली दे, निन्दा करे, मिथ्या दोषारोपण करे तो भी मुनि उसे शान्तिपूर्वक समभाव से सहे; उसके प्रति क्रोध न करे, न ही उसे भला बुरा कहे।

(१३) **वध-परीषह**—आवेश में आकर कोई व्यक्ति साधु को मारे-पीटे, लाठी, डंडे आदि से प्रहार करे, तो भी उस पर रोष न करे, अपितु उस समय वह विचार करे कि यह व्यक्ति अज्ञानवश मेरे शरीर को भले ही मारे-पीटे किन्तु मेरे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता। इस प्रकार समभाव से वध-परीषह को सहन करे।

(१४) **याचना-परीषह**—आहार, औषध आदि की आवश्यकता होने पर, अनेक घरों से भिक्षा माँग कर लाने में मन में किसी प्रकार की लज्जा, ग्लानि, दीनता, अभिमान आदि का भाव न लाए कि 'मैं उच्चकुल का होकर कैसे भिक्षा माँगू ?' अपितु यह विचार करे, भिक्षावृत्ति साधु का कर्तव्य है। संयमयात्रा के निर्वाहार्थ प्रत्येक वस्तु को याचना द्वारा प्राप्त करना साधु का आचार है।

(१५) **अलाभ-परीषह**—याचना करने पर भी यदि विधिपूर्वक अभीष्ट एवं कल्पनीय वस्तु की प्राप्ति न हो तो ऐसा विचार करे कि यदि आज नहीं मिली तो कोई बात नहीं। अनायास ही आज तप या त्याग का लाभ मिल गया। अन्तराय कर्म का क्षयोपशम हो जाने पर फिर वह पदार्थ उपलब्ध हो जायेगा। इस प्रकार अलाभ-परीषह सहन करे, किन्तु न मिलने पर उसके लिए शोक, चिन्ता, ग्लानि, खिन्नता या दीनता धारण न करे, न ही दीनता प्रगट करने वाले वचनों का प्रयोग करे।

(१६) **रोग-परीषह**—शरीर में किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न होने पर हाय-हाय न करे, न ही दीनतापूर्वक शब्द बोलकर दुःख प्रकट करे और न ही मन को मलिन करे। अपितु व्याकुल न होकर शान्ति से समभावपूर्वक रोग की वेदना सहन करे। उस समय ऐसा सोचे कि यह रोग मेरे ही किये हुए किसी अशुभ कर्मों का फल है। मैंने ही कर्म किये है तो उनका फल भी मुझे ही भोगना है। उस समय रोग की वेदना को समभावपूर्वक सहन कर लेने से कर्मों की निर्जरा हो जायेगी।

(१७) **तृणस्पर्श**—संस्तारक आदि न होने पर या संलेखना-संथारे के समय या वैसे ही तृण-घास आदि पर शयन करने से उनकी तीक्ष्णता या

कठोरता अनुभव हो, शरीर में वेदना उत्पन्न हो तो उसमें मृदुशय्या-सवन जैसी समझकर प्रसन्नता रखना; तथा चुभते तृणस्पर्श के दुःख से पीड़ित साधक प्रमाण से अधिक वस्त्रादि भी न रखे।

(१८) **जल्ल-परीषह**—ग्रीष्मकाल में शरीर पर पसीना, मैल आदि होने से उस वेदना को समभावपूर्वक सहन करे, न ही उद्विग्न हो और न स्नानादि संस्कारो की इच्छा करे।

(१९) **सत्कार-पुरस्कार-परीषह**—वस्त्रादि के दान से अथवा वन्दना-नमस्कार से किसी ने सत्कार किया अथवा देखा-देखी या अन्य कारणवश किसी ने सम्मान किया तो गर्व न करना चाहिए। अथवा जय-जयकार वन्दनादि के द्वारा सत्कार मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर खिन्न न होना, सम्मान-अपमान में सम रहना।

(२०) **प्रज्ञा-परीषह**[1]—प्रज्ञा अर्थात्—चमत्कारिणी बुद्धि होने पर गर्व न करना, वैसी बुद्धि न होने पर खिन्न न होना; किन्तु ज्ञानार्जन करने में सदैव पुरुषार्थ करना चाहिए। किसी प्रज्ञावान् साधु से बहुत-से साधु वाचना लेने या प्रश्न पूछने आएँ, उस समय झुँझलाकर वह ऐसा न सोचे कि इससे तो मैं मूर्ख रहता तो अच्छा था, ऐसी परेशानी तो नही उठानी पडती। ये सब प्रज्ञापरीषह के प्रकार है।

(२१) **अज्ञान-परीषह**—ज्ञानावरणीयादि कर्मोदयवश यदि किसी साधु को बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान प्राप्त न हो, स्मरण न रहे, समझ में न आये तो खिन्न न हो, अथवा कोई मूर्ख, बुद्धू आदि कटु शब्द कहे तो भी समभाव से सहन करे; ऐसा विचार न करे कि ज्ञान प्राप्ति के लिए इतना परिश्रम, तप-जप करने पर भी ज्ञान प्राप्त नही होता, मेरा जन्म व्यर्थ है, अपितु स्वस्थ चित्त से तपःकर्म, आचारशुद्धि, विनय आदि को धारण करके ज्ञानाराधना में तत्पर रहना चाहिए, ताकि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम हो सके।

(२२) **अदर्शन-परीषह**—मुनि को अपने सम्यग्दर्शन में दृढ़ रहना चाहिए। अन्य दर्शनो के अनुयायियों के वैभव-आडम्बर एवं प्रसिद्धि, उपलब्धि आदि को देखकर अपने सम्यग्दर्शन से या सुगृहीत तत्त्वो से विचलित नहीं होना चाहिए। यह भी विचार नही करना चाहिए कि मुझे इतने वर्ष संयम-

---

१ 'प्रज्ञा—स्वयंविमर्शपूर्वको वस्तुपरिच्छेदः मतिज्ञानविशेषभूतः।'

—समवायांग टीका

पालन करते हुए हो गये, या मैं तत्त्वज्ञान में पारंगत हूँ, फिर भी मुझे अभी तक कोई लब्धि, उपलब्धि या प्रसिद्धि प्राप्त नही हुई, किसी देव या तीर्थंकर-देव के दर्शन नहीं हुए, न किसी व्यक्ति ने स्वर्ग से आकर मुझे कुछ कहा, इसलिए मालूम होता है, मेरे तत्त्वज्ञान मे कोई अतिशय या चमत्कार नहीं है, न ही कोई देव या तीर्थंकर आदि है या हुए हैं और न स्वर्गादि परलोक है, यह सब भ्रमजाल है। इस प्रकार का मिथ्यादर्शनयुक्त विचार कदापि न करना चाहिए, किन्तु सम्यक्त्व मे दृढ और निश्चल होना चाहिए, क्योकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होने पर समस्त ज्ञान एव चारित्र दूषित, भ्रष्ट, शिथिल, एव भ्रान्त हो जाते है।

अत मुनि को इन २२ परीषहो मे[1] से किसी भी परीषह (कष्ट या वेदना) का प्रसग उपस्थित होने पर शान्ति से समभावपूर्वक सहकर इन पर विजय प्राप्त करना चाहिए, इसी से साधुता दीप्त होती है। यह साधु का वेदना-समाध्यासना नामक २६वाँ गुण है।

(२७) **मारणान्तिक-समाध्यासना**—मारणान्तिक कष्ट, आतक या उपसर्ग आने पर भी अपने स्वीकृत साधुधर्म से, साधुवृत्ति से, व्रत नियमो से एव सम्यग्दर्शनादि से कदापि विचलित एव भयभीत न हो, बल्कि ऐसा विचार करे कि यह शरीर (जड शरीर) भले ही मरे, मैं कभी नही मरता, मैं (आत्मा) तो चेतन और अविनाशी हूँ। इस शरीर को रक्षा तो धर्म-पालन के लिए करनी है, अगर क्षमादि धर्म पालन करते-करते यह शरीर छूटता है, अथवा अतीव जीर्ण-शीर्ण-रोगाक्रान्त एव धर्म पालन मे अशक्त होने से छूटता है तो मुझे समाधिमरणपूर्वक इस शरीर को छोड देना चाहिए। इस प्रकार मरणान्त कष्ट को समभाव से सहना साधु का २७वाँ गुण है।

---

१ (क) बावीस परीसहा पण्णत्ता त जहा—
दिगिंछापरीसहे १, पिवासापरीसहे २, सीतपरीसहे ३, उसिणपरीसहे ४, दसमसगपरीसहे ५, अचेलपरीसहे ६, अरइपरीसहे ७, इत्थीपरीसहे ८, चरियापरीसहे ९, निसीहियापरीसहे १०, सिज्जापरीसहे ११, अक्कोसपरीसहे १२, वहपरीसहे १३, जायणापरीसहे १४, अलाभपरीसहे १५, रोगपरीसहे १६, तणफासपरीसहे १७, जल्लपरीषहे १८, सक्कारपुरक्कारपरीसहे १९, पण्णा-परीसहे २०, अण्णाणपरीसहे २१, दसण (अदसण) परीसहे २२।
—समवायागसूत्र, स्थान २२

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २ परीषह प्रविभक्ति अध्ययन

प्रकारान्तर से साधु के २७ गुण

कुछ प्रकरण ग्रन्थो मे साधु के २७ गुणो का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—(१-५) अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत, (६-११) पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-सयम, (१२-१६) श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह, चक्षुरिन्द्रियनिग्रह, घ्राणेन्द्रियनिग्रह, जिह्वेन्द्रियनिग्रह और स्पर्शेन्द्रियनिग्रह, (१७) लोभनिग्रह, (१८) क्षमा, (१९) भावविशुद्धि, (२०) प्रतिलेखनाविशुद्धि, (२१-२२) सयम-योगयुक्ति, (२३) कुशल-मन-उदीरणा, अकुशलमनोनिरोध, (२४) कुशल वचन-उदीरणा, अकुशल वचननिरोध, (२५) कुशलकाय-उदीरणा, अकुशल-कायनिरोध, (२६) शीतादिपीडासहन और (२७) मारणान्तिक उपसर्ग सहन।

वास्तव मे ये २७ गुण पूर्वोक्त २७ गुणो मे समाविष्ट हो जाते है।

सत्रह प्रकार के सयम मे दत्तचित्त मुनि

साधु सत्रह प्रकार के सयम मे दत्तचित्त रहता है, वह अहर्निश विवेकपूर्वक प्रत्येक प्रकार के सयमपालन के लिए सचेष्ट रहता है। सयम का अर्थ है—अपनी इच्छाओ, आवश्यकताओ, अपेक्षाओ, महत्त्वाकाक्षाओ, लालसाओ, तृष्णाओ और वासनाओ पर विवेकपूर्वक नियत्रण रखना उनसे निवृत्त होने के लिए प्रयत्नशील रहना, उन्हे रोकना, उनसे उपरत-विरक्त रहना।[1] सत्रह प्रकार के सयम इस प्रकार है—

(१) **पृथ्वीकायसयम**—सचित्त पृथ्वी के उपयोग से सर्वथा विरत होना और आवश्यकतावश अचित्त पृथ्वी का उपयोग करना पडे तो भी कम से कम करना, नियंत्रण रखना।

(२) **अप्कायसंयम**—सचित्त जल का सर्वथा त्याग करना, अचित्त जल का उपयोग भी यतनापूर्वक एव कम से कम करना।

(३) **तेजस्कायसंयम**—अग्निकाय के किसी भी प्रकार के उपयोग से सर्वथा विरत होना।

---

१ "सत्तरसविहे सजमे पण्णत्ते त जहा—

पुढवीकायसजमे, अप्कायसजमे, तेउकायसजमे, वाउकायसजमे, वणस्सइकाय-सजमे बेइदियसजमे, तेइदियसजमे, चउरिदियसंजमे, पचिदियसजमे, अजीवकाय-सजमे पेहासजम, उवेहासजमे, पमज्जणासंजमे, परिठावणियासजमे, मणसजमे, वइसजम, कायसंजमे।"
—समवायाग सूत्र, स्थान १७

(४) **वायुकायसंयम**—चलाकर वायुकाय का उपयोग न करे, स्वयं स्वाभाविक बहती हुई हवा के उपयोग पर भी यथासंभव नियंत्रण रखे।

(५) **वनस्पतिकायसंयम**—सचित्त वनस्पति का उपयोग सर्वथा न करे, अचित्त हुई वनस्पति के उपयोग पर संयम रखे।

(६) द्वीन्द्रिय जीव संयम (७) त्रीन्द्रिय जीव संयम, (८) चतुरिन्द्रिय जीव सयम, (९) पचेन्द्रिय जीव सयम।

इन नौ प्रकार के जीवों की हिंसा समरम्भ (मारने के भाव), समारम्भ (किसी प्राणी को पीडा देना) और आरम्भ (प्राणों से वियुक्त कर देना) रूप से मन-वचन-काया से न स्वयं करे, न औरों से करावे और न ही हिंसा करने वालों की अनुमोदना करे।

यह नौ प्रकार का संयम हुआ। इन नौ प्रकार के जीवों की रक्षा के लिए साधु-साध्वीगण प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहें।

(१०) **अजीवकायसंयम**—जिस अजीव वस्तु के रखने से असंयम उत्पन्न होता है, संयम दूषित—कलंकित होता है, उन पदार्थों को न रखना अजीवकाय संयम है। जैसे—सोना, मोती, रत्न, मणि, चांदी आदि धातु इत्यादि पदार्थों को रखने से साध का संयम दूषित होता है, अतः इनका सर्वथा परित्याग करना। धर्मपालन के लिए वस्त्र, पात्र, पुस्तक, रजोहरण, प्रमार्जनी आदि उपकरण रखे जाते हैं, उनको भी प्रमाणोपेत रखना, उनमें यथासंभव कमी करना, तथा जो भी उपकरण रखे जाएँ, अथवा पाट, चौकी, आदि जिन कल्पनीय वस्तुओं का उपयोग किया जाए, उनको यतनापूर्वक ग्रहण करना, उठाना और रखना, तथा यतनापूर्वक काम में लेना अजीवकाय सयम है। चूँकि सभी पदार्थ, आरम्भजनित होते हैं अतः उन्हें मुद्दत पूरी हुए बिना परिष्ठापन करना (डालना या फेंकना) नहीं चाहिए; यही अजीवकायसंयम का तात्पर्य है।

(११) **प्रेक्षासंयम**—किसी भी वस्तु को पहले भलीभांति देखे-भाले बिना, निरीक्षण-परीक्षण किये बिना उसका उपयोग-उपभोग नहीं करना तथा भोजन, गमनागमन, शयनादि क्रियाएँ आँखो से देखकर यतनापूर्वक करना प्रेक्षासंयम है। इससे प्राणियों की भी रक्षा होती है और विषैले प्राणियों से अपनी भी रक्षा होती है।

(१२) **उपेक्षासंयम**—संयमबाह्य क्रियाओ अथवा साधुमर्यादा से बाह्य प्रवत्तियो या सांसारिक प्रवृत्तियो या सावद्यकृत्यों, आरम्भजन्य कार्यों

में भाग नहीं लेना, उनकी उपेक्षा करने का प्रयत्न करना उपेक्षा संयम है।

इसका एक अर्थ यह भी है—जो धर्मद्वेषी हैं, धर्मभ्रष्ट हैं, कदाग्रही, कुबुद्धि, हठाग्रही एवं मिथ्यादृष्टि हैं, जो समझाने पर भी अपनी दुर्वृत्ति, पापवृत्ति या पापमय कृत्यों को छोड़ने को तैयार नहीं हैं, उनके प्रति उपेक्षा भाव रखना तथा उनका संसर्ग न करना भी उपेक्षा सयम है।

(१३) **प्रमार्जनासंयम**—अप्रकाशित स्थान में तथा रात्रि के समय गमनागमन करना हो, या जिस स्थान पर बैठना, सोना या लेटना हो, उस स्थान को पहले यतनापूर्वक पूजणी या रजोहरण से प्रमार्जन करना प्रमार्जनासयम है, क्योंकि प्रमार्जन करने से ही जीव-रक्षा भलीभांति हो सकती है। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र या शरीर आदि पर किसी जीव के होने की आशंका हो, तो उसे पूंजणी से प्रमार्जन कर लेना भी प्रमार्जनासयम है।

(१४) **परिष्ठापनासंयम**—मल, मूत्र, श्लेष्म, कफ, लीट, वमन, जूठा पानी, अशुद्ध आहार, नख, केश आदि जो वस्तु परिष्ठापन करने (जमीन पर डालने) योग्य हो, उन्हें शुद्ध और निर्दोष (शास्त्रोक्त १० प्रकार के दोष से युक्त भूमि वर्जित करके) भूमि पर विवेक और यतनापूर्वक परिष्ठापन करना (गिराना), जिससे हरितकाय, धान्य, चींटी आदि जीवों की विराधना (हिंसा) या पुनः असंयम न हो, परिष्ठापनासंयम है।

(१५) **मनःसंयम**—मन को किसी जीव के या अपनी आत्मा के प्रतिकूल, हानिकारक, आरम्भ-समारम्भजनक अशुभ चिन्तन-मनन तथा आर्त-रौद्रध्यान से रोक (बचा) कर सदैव प्रतिक्षण शुभ, प्रशस्त एव समत्वयुक्त, सर्वजीव हितकारक, रागद्वेष रहित, आत्मकल्याणकारी प्रशस्त चिन्तन, मनन तथा धर्म-शुक्ल ध्यान में लगाना मनःसंयम है।

मन को निर्विचार, निर्विकल्प करने का प्रयत्न करना भी मनः संयम है।

(१६) **वाक्संयम**—वचन योग को वश में करना, मौन रखना, प्राणियों के लिए विघातक, पीड़ाकारी, अहितकर, हिंसोत्प्रेरक, कामोत्तेजक, अशुभ—अकुशल वचनों का निरोध करके प्रशस्त, मधुर, हित, मित, तथ्य-पथ्य एवं अहिंसादि प्रेरक वचन बोलना वाक्संयम है।

(१७) **कायसंयम**—अप्रशस्त, अहितकर, गमनागमन तथा अंगों का आकुंचन-प्रसारण तथा अन्य अकुशल— अशुभ कायचेष्टाओं से बचाकर काया

को यतनापूर्वक समस्त क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ करने में लगाना काय-संयम है।

कायोत्सर्ग या ध्यानावस्था में कायचेष्टानिरोध भी कायसंयम का अंग है। कायोत्सर्ग एवं ध्यान से मन, वचन और काया तीनो के संयम की साधना भली भाँति हो सकती है।

पूर्वोक्त १७ प्रकार के संयम की आराधना-साधना से मुनि अपने अन्तिम ध्येय-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

प्रकारान्तर से १७ प्रकार का संयम

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों आस्रवों से विरति, पंचेन्द्रियनिग्रह, चार कषायविजय, तीन दण्डो से विरति, यों भी प्रकारान्तर से १७ प्रकार का संयम है।[1]

श्रमणों के दस उत्तम धर्म

जिस क्षण से साधक गृहस्थाश्रम, घरबार, कुटुम्ब-परिवार, धन-धान्य, जमीन-जायदाद आदि सब छोड़कर श्रमण जीवन में प्रविष्ट होता है, तभी से उसके निजस्वभाव में दस प्रकार के उत्तम श्रमणधर्म का प्रवेश होना अनिवार्य है, अन्यथा उत्तम श्रमणधर्म-विहीन कोरे साधु-वेष या क्रियाकाण्ड से श्रमण का जीवन निःसार और निकृष्ट हो जाता है। अतएव आध्यात्मिक साधना में अहर्निश श्रम करने वाले सर्वसावद्यविरत—साधक श्रमण को क्षमा आदि दस धर्मों का उत्तम रूप से, शुद्धभाव से, प्रवंचनाभाव रहित होकर उचित श्रद्धा, प्ररूपणा के साथ आसेवन-पालन करना आवश्यक है।

श्रमण को इन दस उत्तम धर्मों को अपने जीवन का अनिवार्य अंग बना लेना चाहिए, क्योंकि दशविध श्रमणधर्म में मूल और उत्तर दोनों ही श्रमणगुणों का समावेश हो जाता है।

आचार्य जिनदास ने आवश्यकचूर्णि[2] में क्षमा आदि दसो धर्मों के पूर्व

---

१ पंचाश्रवाद् विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः।
दण्डत्रय विरतिश्च संयमः सप्तदशविधः स्मृतः॥

२ (क) उत्तमा खमा मद्दवं अज्जवं मुत्ती सोयं सच्चो संजमो तवो अकिंचणत्तणं बंभचेरमिति। —आवश्यकचूर्णि, आचार्य जिनदास महत्तर

(ख) 'उत्तमः क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-स्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।' —तत्त्वार्थ सूत्र अ० ९ सू० ६

'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे भी है। वे दश प्रकार के श्रमणधर्म इस प्रकार है—

(१) **क्षमाधर्म**—यह साधु का प्रथम धर्म है। क्षमा का दूसरा नाम क्षान्ति है अत क्षमा के दो अर्थ है—क्रोधरूपी शत्रु का निग्रह करना और (२) प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी दूसरे के द्वारा किये गये अपकार (निन्दा, गाली, प्रहार, अपशब्द, दोषारोपण, क्रोध, ताडन तार्जन आदि) को समभाव से विवेक-विचारपूर्वक सहन करना।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा कहे हुए दुर्वचनो, किये गये दुर्व्यवहारो को सहन करना, इतना सहनशील बनना कि मन से भी उसके प्रति क्रोध उत्पन्न न होने देना, उत्पन्न क्रोध या आवेश को ज्ञान, विवेक, भावना, और नम्र भाव से निष्फल कर डालना। क्षमा की साधना के पाँच उपाय है।

(अ) ***स्वय में क्रोधनिमित्त होने न होने का चिन्तन***—कोई क्रोध करे, या क्रोधावेश मे अपशब्द कहे तब उसके कारण को अपने मे ढूँढना। यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने मे दिखाई दे तो यह सोचना कि भूल तो मेरी ही है, इसका कहना तो सत्य ही है। कदाचित् स्वय मे दूसरे के क्रोध का कारण वर्तमान मे न दिखाई दे तो साधक यह सोचे कि यह बेचारा अज्ञानवश मेरी भूल निकाल रहा है।

क्षमावान् पुरुष यह सोचे कि अगर ये दुर्गुण मेरे अन्दर विद्यमान है तो मुझे इस व्यक्ति का एहसान मानना चाहिए कि यह मुझे सावधान कर रहा है। इसलिए इस पर क्रोध करना मूर्खता होगी, अगर निन्दक द्वारा कहे गये दुर्गुण अपने अन्दर नही है तो सोचना चाहिए वास्तव मे मेरे मे ये दुर्गुण नही है तो इसके कहने से थोडे ही मैं बुरा हो जाऊँगा? अथवा यह सोचना चाहिए कि जिसके पास जैसी वस्तु है, वह वैसी ही देगा, दूसरी कहाँ से लाएगा? मेरे अन्दर यह दुर्गुण नही है तो मुझे उसके कहे हुए अपशब्दो को स्वीकार नही करना चाहिए।

दूसरे के द्वारा कहे हुए अपशब्दो को सीधे रूप मे ग्रहण करे तो वही सुख रूप बन जाएगा, जैसे—किसी ने कहा तू 'कर्महीन' या निकम्मा (निष्कर्म) है, तेरा खोज मिट जाए, तो क्षमावीर सोचे कि यह मुझे मोक्ष प्राप्त करने का आशीर्वचन कहता है जो मोक्ष पाता है, वहा कर्महीन या निष्कर्म होता है, उसी का खोज मिटता है। कोई 'साला' कहे तो सोचे कि मेरे लिए तो

समस्त स्त्रियाँ 'भगिनी' हैं, अतः इसकी पत्नी भी मेरी बहन है। अतः यह 'साला' कहता है तो क्या अनुचित कहता है ?

(आ) क्रोधवृत्ति के दोषों का चिन्तन—जिसे क्रोध आता है, वह आवेश में आकर गाली-गलौज या मार-पीट करके दूसरे के साथ वैर की परम्परा बढ़ाता है। यदि क्रोधावेश में दूसरे को मारता-पीटता या हानि पहुँचाता है तो वह अहिंसा महाव्रत को नष्ट करता है। इस प्रकार क्रोधवृत्ति के दोषों का चिन्तन करके क्षमाभाव धारण करे।

(इ) अपकारी के बालस्वभाव का चिन्तन—क्षमाशील पुरुष निन्दा अपशब्द, गाली, अपमान, प्रहार करने या मारने वाले के प्रति यह विचार करे कि बेचारा बालस्वभाववश ऐसा करके अपने सुकृत (पुण्य) को नष्ट कर रहा है मुझे इससे क्या नुकसान है ? मेरी आत्मा को या मेरे धर्म को तो यह जरा भी हानि नहीं पहुँचा सकता, उलटे यह मेरे साथ दुर्व्यवहार करके मुझे क्षमाभाव धारण करने, या समभावपूर्वक सहन करने से निर्जरा (कर्मक्षय) का सुअवसर देता है। अतः अनायास ही प्राप्त क्षमा के सुअवसर को खोना उचित नहीं है। अपकारी के बालस्वभाव के समान मैं भी बालस्वभाव वाला बन गया तो मुझमें और इसमें अन्तर क्या रहेगा।

इस प्रकार जैसे-जैसे कष्ट आएँ वैसे-वैसे अपने में सहिष्णुता, उदारता और विवेकशीलता का विकास करके आसानी से क्षमा साधना को सिद्ध करना चाहिए।

(ई) स्वकृतकर्मों का चिन्तन—कोई क्रोधादि द्वारा अपकार करे उस समय क्षमाशील साधक विचार कर कि इसमें इस बेचारे का क्या दोष है ? यह तो निमित्त मात्र है। वास्तव में यह मेरे ही पूर्वकृत कर्मों का फल है। मैंने पूर्वभवों में इसके साथ कोई दुर्व्यवहार किया होगा, उसी का यह बदला चुक रहा है। अगर इस समय बदला हँसते-हँसते शान्ति से क्षमा माँग कर या क्षमा करके चुका दूँगा, तो क्षमा मिल सकती है या थोड़े ही में उस कर्ज से छुटकारा मिल सकता है। अतः कर्मों के ऋण को चुका देना ही श्रेयस्कर है।

अथवा कोई व्यक्ति सच्चे साधु को चोर, नीच, कुत्ता, चाण्डाल आदि अपशब्द कहता है, उस समय क्षमाशील साधु यह सोचे कि इस भव में नहीं तो पहले के भवों में मैंने यह कृत्य किये होंगे, अथवा कुत्ता या चाण्डाल आदि की अवस्थाएँ भी धारण की है। यह मुझे पूर्वभवों के कुकृत्य की याद

दिलाता है, यह सत्य ही तो कहता है अतः इस पर क्रोध न करके क्षमाशीलता धारण करनी चाहिए।

(उ) **क्षमा की शक्ति का चिन्तन**—क्रोध करने वाले के प्रति क्रोध न करके क्षमा धारण करने से चित्त मे स्वस्थता, शान्ति और प्रसन्नता बढती है। बदला लेने या प्रतीकार करने मे व्यय होने वाली शक्ति को क्षमाशीलता से बचाकर उसका व्यय सन्मार्ग मे किया जा सकता है। फिर क्षमा की शक्ति आत्मबल एव आत्मवीर्य को बढाती है, जिससे मोक्ष मार्ग मे प्रबल पुरुषार्थ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त क्षमा की शक्ति का अपकारी पर अचूक प्रभाव पडता है। साथ ही जिस प्रकार शुभाशुभ शब्दो का कर्णेन्द्रिय मे प्रविष्ट होने का स्वभाव है, उसी प्रकार साधु मे इन शब्दो के प्रहार को सहन करने की क्षमता—क्षमा करने की शक्ति होनी चाहिए।

इसी प्रकार अर्जुनमुनि, गजसुकुमाल मुनि, भगवान् महावीर आदि की उत्तम क्षमा का चिन्तन करके अपने मे क्षमाशक्ति बढानी चाहिए।

(२) **मुक्तिधर्म**—मुक्ति का अर्थ यहाँ निर्लोभता है।[1] साधक मे लोभवृत्ति होने से उसका अपरिग्रह महाव्रत दूषित होता है, वस्तु के प्रति ममता मूर्च्छा एव आसक्ति जागती है, जो साधु को सयम से भ्रष्ट कर देती है। दूसरो के पास अधिक उपकरण या साधन देखकर साधु अपने मन मे भी वैसे और उतने उपकरणो या साधनो को पाने का लोभ न करे। वह यह सोचे कि जितनी-जितनी उपधि बढेगी या वस्तुओ को पाने का लोभ बढेगा, उतनी उतनी उपाधि, चिन्ता, व्याकुलता एव अशान्ति बढेगी, साधु जीवन की शान्ति समाप्त हो जायगी। जितना-जितना लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होगा, उतना-उतना लाभ तो मुझे मिल ही जाएगा, फिर वस्तुओ को पाने की लालसा, तृष्णा या लोभवृत्ति करके नाहक ही कर्मबन्ध क्यो किया जाए? लोभ से हानि के सिवाय और कोई लाभ तो है नही। अत मुक्ति धर्म के धारक साधु को लोभवृत्ति से दूर रहना चाहिए।

जो साधु लोभवश अधिकाधिक उपकरणो का सग्रह करते है, उन्हे विहार के समय बडी अडचन होती है, अधिक उपकरण होने से प्रतिलेखनादि मे भी अधिक समय लगाना पडता है, जिससे ज्ञान-ध्यान मे व्याघात होता है। लोभी साधु का आदर-सत्कार कम हो जाता है। इसके विपरीत जो सन्तोषवृत्ति के साधु है, वे अपने शरीर की रक्षा की भी परवाह नही

---

१ मुक्तिर्निर्लोभता।

करते, उनके मन में इच्छित वस्तु न मिलने पर भी कोई आकुलता-व्याकुलता नहीं होती, वे सन्तुष्ट, सुखी और शान्तिमय रहते है, वे अपने पास के किसी भी अभीष्ट उपकरण-वस्त्र-पात्र आदि का भी समय आने पर त्याग कर देते हैं। उपकरणों पर उनका तनिक भी ममत्व नहीं होता। कोई सुविहित साधु के मिलने पर वे उनसे कहते हैं—'कृपासिन्धो! मुझ पर अनुग्रह करके इस वस्तु को ग्रहण कीजिए, मुझे तारिये।' वे ग्रहण कर लें तो यह समझे कि मैं कृतार्थ हुआ।

तत्त्वार्थ सूत्र मे 'मुक्ति' बदले शौच धर्म है। उसका अर्थ भी आचार्य जिनदास ने धर्मोपकरणों के प्रति अलुब्धता किया है।[1]

(३) आर्जव धर्म—मन-वचन-काया की कुटिलता का परित्याग करके ऋजुता-सरलता—मन-वचन-काया में एकरूपता, विचार-भाषण-व्यवहार में एकता धारण करना ही आर्जव धर्म है। भावों की शुद्धता और पवित्रता इसी में है कि जो बात मन में हो, वही वचन से कहे और तदनुसार ही कार्य करे। यदि किसी गुण की या क्रिया की अपने में कमी हो तो उसे छिपाये नहीं, मायाचारी न करे, न ही दम्भ और दिखावा करे। अपनी असमर्थता या दुर्बलता को प्रकट करने मे कोई दोष नही, किन्तु मायाचारी, कपटवृत्ति और छलप्रपंच करने से तो बहुत भयंकर परिणाम भोगना पड़ता है, ऐसा सोचने से ही मुनि आर्जवधर्म का पालन कर सकता है।

(४) मार्दवधर्म—चित्त में मृदुता, व्यवहार में नम्रता और वचनों में कोमलता का होना मार्दव है। मृदुता नष्ट होती है—अभिमान से; प्रसिद्धि के गर्व से; प्रशंसा, सम्मान, ऋद्धि, रस और साता (सुख-सुविधा) के घमण्ड, (गौरव) से; जाति, कुल, बल आदि ८ प्रकार के मद से। अतः इन्हें पाकर अपने आपको बड़ा या उत्कृष्ट मानकर गर्वित न होने से, इन वस्तुओं की नश्वरता का विचार करने से मार्दवधर्म आता है।

(५) लाघवधर्म—लाघव का अर्थ आचार्य अभयदेव ने किया है—द्रव्य से अल्प उपधि रखना और भाव से गौरव (प्रसिद्धि, यश-कीर्ति, सम्मान तथा सुख सुविधा आदि की प्राप्ति) का त्याग करना। अथवा भाव से कर्मों के भार को हटाना भी लाघव है।

---

१ सोयं अलुद्धता धम्मोवगरणेसु वि। —आवश्यकचूर्णि : आचार्य जिनदास

आचार्य हरिभद्र लाघव का अर्थ 'अप्रतिबद्धता'[1] करते हैं, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सम्बन्धित प्रतिबद्धता का त्याग करना।

वास्तव मे साधु जब किसी आदत का शिकार हो जाता है, अथवा किसी एक क्षेत्र के प्रति ममत्वबद्ध होकर कही जम जाता है, या अमुक समय तक कही रहने के लिए वचनबद्ध हो जाता है अथवा अमुक अशुभभावों का चिन्तन करने का आदी हो जाता है, तब वह दूसरो के लिए भी भारी हो जाता है और अपने लिए भी भारभूत हो जाता है, लाघवधर्म से वह च्युत हो जाता है। अत प्रतिबद्धता अथवा उपकरणवृद्धि से उसे बचना ही श्रेयस्कर है।

इसके बदले तत्त्वार्थसूत्र आदि मे आकिञ्चन्य धर्म बताया गया है। अकिञ्चनता का अर्थ है[2]—किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु के प्रति किञ्चित् भी ममत्व-बुद्धि, आसक्ति, लालसा या तृष्णा न रखना, यहाँ तक कि अपने शरीर, सघ, शिष्य-शिष्या, शास्त्र, पात्र आदि को भी अपना नहीं समझना चाहिए, इतनी निर्लेपता धारण करने से आकिचन्य या लाघवधर्म पुष्ट होता है।

(६) **सत्यधर्म**—सत्य का अर्थ है—जैसा देखा, सुना, सोचा या अनुमान किया है, दूसरो के समक्ष वैसा ही कहा जाये, साधु के विचार, उच्चार (वाणी) और आचार (व्यवहार-आचरण), तीनो में सत्यता होनी चाहिए। कभी किसी अपवाद मार्ग का आश्रय लेना पडे तो उस समय भी अन्तःकरण की सत्यता होनी चाहिए। प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी सत्य-धर्म से विचलित नही होना चाहिए।

सत्य का अर्थ यह भी है कि जो प्राणिमात्र के लिए हितकर हो।[3] काने को काना कहना, या कोढी को कोढी कहना वाणी से सत्य होते हुए भी उक्त व्यक्तियो के चित्त को दु:खित करने वाला होने से वह अहितकर है, अतएव, वस्तुत वह सत्य नही है।

सत्य भी दो प्रकार का है—द्रव्यसत्य और भावसत्य। प्राणियो के लिए हितकर यथार्थ वचन द्रव्यसत्य है और विचार, भाव, दृष्टि और श्रद्धा

---

१ (क) लाघव-अप्रतिबद्धता —आवश्यक शिष्यहिता टीका

(ख) लाघव द्रव्यतोऽल्पोपधिता भावतो गौरव त्याग.।

—समवायांग टीका

२ आवश्यक चूर्णि

३ सद्भ्यो हितम्—सत्यम्।

में सत्यता—यथार्थता तथा सम्यक् तत्त्वो पर अन्त करण मे दृढ श्रद्धान करना भावसत्य है।

किसी को दिये हुए वचन का पालन करना भी सत्यधर्म का पालन है। क्योकि जगत् मे सत्य से बढकर कोई धर्म नही है, (नास्ति सत्यात्परो धर्म.)।

सत्य धर्म पर आरूढ़ रहने से साधु के प्रति लोकविश्वास बढता है, वचनसिद्धि प्राप्त होती है और वह जगत्पूज्य बनता है।

(७) **संयमधर्म**—पूर्वोक्त १७ प्रकार के सयम का पालन करना तथा विशेषतया स्वच्छन्दाचार को रोककर, अपनी इन्द्रियाँ तथा मन, वचन और काया पर नियमन करना अर्थात्—विचार, वाणी और गति-स्थिति में यतना का अभ्यास करना संयमधर्म है।

(८) **तपोधर्म**—मलिन वृत्तियो को निर्मूल करने के लिए अपेक्षित शक्ति को स्वेच्छा से साधना मे लगाना अथवा स्वेच्छा से आत्म-दमन करना—इच्छाओ का निरोध करना तप है। तप धर्म तभी बनता है, जब साधु श्रद्धा, ज्ञान, अन्त करण और विवेकपूर्वक स्वेच्छा से अपनी इन्द्रियों, मन, वाणी और काया को तपाता है, धर्मपालनार्थ आने वाले कष्टो की कसौटी पर अपने मन-वचन-काय को कसकर आत्मशक्ति बढ़ाने का अभ्यास करता है। काम-क्रोधादि षट्रिपुओ के दमन का उपाय तप ही है। इससे आत्मा शुद्ध दोषरहित बनता है।

(६) **त्यागधर्म**—त्याग का अर्थ यहाँ शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति आसक्ति, ममता मूर्च्छा का परित्याग करना है। सर्वसग-परित्याग मे ससार के सभी पदार्थों तथा भूत-काल एव वर्तमानकाल मे व्यक्तियो के साथ होने वाले आसक्तिपूर्ण सम्बन्धो का त्याग आ जाता है।

त्याग का अर्थ भी किया गया है—सविग्न मनोज्ञ साधुओ को अपने निष्काय की वस्तु मे से दान करना अर्थात् वस्त्र, पात्र, आहारादि मे से अपने साधर्मिक साधुओं को देना त्यागधर्म है।

(१०) **ब्रह्मचर्यवासरूप धर्म**—ब्रह्मचर्य-वास के यहाँ दो अर्थ हैं—(१) कामशत्रु का निर्दलन करने वाले ब्रह्मचर्य-शील में निवास करना यानी ब्रह्मचर्यव्रत मे निष्ठापूर्वक रम जाना, और (२) साधना में होने वाली त्रुटियो अपवादों-अनुपयों को दूर करने के लिए ब्रह्म (गुरु) के चर्य (सान्निध्य) में

बसना। अर्थात् गुरु की अधीनता में रहकर ग्रहण-शिक्षा और आसेवना-शिक्षा द्वारा सद्गुणो का अभ्यास करना। विशेषतया गुरुकुल (गुरु की सेवा) में रहकर स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द तथा शरीरादि की आसक्ति से दूर रहने और निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य पालन का अभ्यास करना ब्रह्मचर्यवास रूप धर्म का उद्देश्य है।

इस प्रकार दशविध श्रमण धर्म[1] साधु जीवन का अनिवार्य अंग है।

श्रमण को प्राप्त होने वाली लब्धियाँ

पूर्वोक्त गुणो, धर्मों और सयम आदि से युक्त साधु को विविध तपश्चरण के फलस्वरूप अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से अनेक लब्धियाँ, सिद्धियाँ या आत्मशक्तियाँ उपलब्ध हो जाती है। वे इस प्रकार हैं—

(१) **मनोबललब्धि**—मन का परम दृढ़ और अलौकिक साहस युक्त हो जाना।

(२) **वाक्‌बललब्धि**—प्रतिज्ञा-निर्वाह करने की शक्ति उत्पन्न हो जाना।

(३) **कायबललब्धि**—क्षुधादि लगने पर भी शरीर में शक्ति और स्फूर्ति का बने रहना; शरीर म्लान (कान्तिरहित) न होना।

(४) **मनसाशापानुग्रहसमर्थ**—मन से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ हो जाना।

(५) **वचसा शापानुग्रहसमर्थ**—वचन से शाप और अनुग्रह में समर्थता।

(६) **कायेन शापानुग्रहसमर्थ**—काया से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ हो जाना।

(७) **खेलौषधिप्राप्त**—मुख का मल (थूक, खंखार या कफ) रोगोपशमन में समर्थ हो।

(८) **जल्लौषधिप्राप्त**—शरीर के मैल एवं पसीने से सभी रोगों का उपशमन हो जाय।

---

१ (क) दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तं जहा—खंती १, मुत्ती २, अज्जवे ३, मद्दवे ४, लाघवे ५, सच्चे ६, सजमे ७, तवे ८, चियाए ९, बंभचेरवासे १०।

—समवायांग, १०वाँ समवाय

(ख) खंती य मद्दवज्जवमुत्ती, तवसंजमे य बोद्धव्वे।
सच्च सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मे॥

—आ० हरिभद्र द्वारा उद्धृत प्राचीन संग्रहणी गाथा

(९) **विप्रौषधिप्राप्त**—मूत्रादि के बिन्दु तथा मल-मूत्र औषधरूप होकर रोगोपशमन करने में समर्थ बन जायें।

(१०) **आमर्षौषधिप्राप्त**—हस्तादि का स्पर्श भी औषधि का काम करे।

(११) **सर्वौषधिप्राप्त**—शरीर के समस्त अवयव औषधि रूप में परिणत हो जावें।

(१२) **कोष्ठकबुद्धि**—जिस प्रकार कोठे में रखा हुआ धान्य सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार गुरु आदि से सीखा हुआ समस्त ज्ञान बुद्धिरूपी कोष्ठक (कोठे) में सुरक्षित रहता है, नष्ट नहीं होता।

(१३) **बीजबुद्धि**—जिस प्रकार वट वृक्ष का बीज विस्तृत होता जाता है, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि प्रत्येक शब्द का अर्थ बिस्तार करने में सक्षम हो जाती है।

(१४) **पदबुद्धि**—जिस प्रकार माली अपने बगीचे से, जितने भी वृक्षादि या पुष्पफलादि गिरते हैं, उन सबको ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि गुरुमुख से निःसृत समस्त सूत्र-अर्थ आदि सुवाक्यों को ग्रहण कर लेती है।

(१५) **संभिन्नश्रोतृशक्ति**—जिसकी सभी इन्द्रियाँ या शरीर के समस्त रोम कान की तरह शब्द सुनने की शक्ति वाले बन जायें।

(१६) **पदानुसारिणीलब्धि**—एक पद उपलब्ध होने पर उससे सम्बन्धित तदनुसारी अनेक पदों को उच्चारण करने की शक्ति।

(१७) **क्षीराश्रवालब्धि**—जिस लब्धि के माहात्म्य से श्रोताओं को क्षीर के समान मधुर और कानों तथा मन को सुखप्रद लगने वाले वचन मुनि के मुख से निकलते हैं।

(१८) **मध्वाश्रवा लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से मुनि का वचन मधु (शहद) की तरह श्रोता के सर्व दोषों (आन्तरिक दोषों) का उपशमन करने वाला, आल्हाद उत्पन्न करने वाला एवं समभावोत्पादक होता है।

(१९) **सर्पिराश्रवा लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से मुनि का वचन घृत के समान श्रोताओं में धर्मस्नेह—धर्मानुराग उत्पन्न करने वाला होता है।

(२०) **अक्षीण-महानस लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से थोड़ा-सा भिक्षा-प्राप्त मूल भोजन हजारों पुरुषों को दिये जाने पर भी क्षीण (समाप्त)

नही होता, अर्थात् अक्षीण महानस शक्ति के प्राप्त हो जाने से मूलभोजन से सहस्रो पुरुषो को तृप्त किया जा सकता है।

(२१) **वैक्रियलब्धि** जिस लब्धि के प्राप्त हो जाने पर मनचाहा रूप बनाने, एक या अनेक, छोटा या बडा, सुरूप या कुरूप, हलका या भारी यथेच्छ शरीर बना लेने आदि की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

(२२) **जंघाचारणलब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से जघा मे आकाश में उडने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

(२३) **विद्याचारणलब्धि**—जिस तपःकर्म के प्रभाव से मुनि मे विद्या (मत्रशक्ति) द्वारा आकाश मे उडने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

ये और इसी प्रकार की अन्य अनेक लब्धियाँ, सिद्धियाँ अथवा आत्म-शक्तियाँ विविध तपश्चर्याओ के प्रभाव से मुनि को प्राप्त हो जाती है। यद्यपि लब्धि-प्राप्त विवेकसम्पन्न मुनि जनता को चमत्कार आडम्बर दिखाने या अपनी शक्तियो का व्यर्थ प्रदर्शन करने मे इन लब्धियो का दुरुपयोग नही करते, और न ही इन लब्धियो के प्रभाव से स्वय सुख-सुविधापूर्ण या भोग-विलास-युक्त जीवन बिताने या अमुक भोगो का प्राप्ति की इच्छा करते है। वे मुनि उक्त लब्धियाँ प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या नही करते, किन्तु उत्कृष्ट तप कर्म के प्रभाव से उन्हे अनायास ही अयाचित रूप से ये लब्धियाँ या शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

यद्यपि मुनिधर्म की क्रियाओ और आचार-विचार के सम्बन्ध मे शास्त्रो और ग्रन्थो मे हजारो पृष्ठ भरे पडे है, परन्तु उन सबका मूल दशविध श्रमणधर्म और साधु के २७ गुण है।

भगवान् महावीर के मुनिगण की विशेषताएँ

औपपातिक सूत्र मे श्रमण भगवान महावीर के मुनिमण्डल की विशेषताओ और उपलब्धियो का विस्तृत वर्णन मिलता है।

उस काल और उस समय (अवसर्पिणीकाल के चतुर्थ दुःषम-सुषम आरे) मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) बहुत-से स्थविर भगवान् जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, क्रोधविजयी, मानविजयी, मायाविजयी, लोभविजयी, जितेन्द्रिय, निद्राविजयी, परीषहविजेता, जीविताशा एव मरण भय से विमुक्त, व्रतप्रधान, गुणप्रधान, करणप्रधान, चरणप्रधान, निग्रहप्रधान, निश्चयप्रधान, आर्जवप्रधान, मार्दवप्रधान, लाघवप्रधान, क्षान्तिप्रधान, मुक्ति (निर्लोभता)

प्रधान, विद्याप्रधान, मंत्रप्रधान, वेदप्रधान (वेदों के सांगोपांग ज्ञाता), ब्रह्मचर्य (कुशलानुष्ठान में) प्रधान, नयप्रधान, नियम (अभिग्रहादि में) प्रधान, सत्य-प्रधान, सम्यक्वादियों में प्रधान, द्रव्य से शारीरिक शौच और भाव से शुद्ध निर्दोष संयमियों में प्रधान, सुन्दर वर्ण या यशकीर्ति वाले, लज्जालु, तपस्वी, जितेन्द्रिय, तीनों योगों को शुद्ध रखने वाले या आहारादि की शोध (गवेषणा) करने वाले, निदानरहित, औत्सुक्य भाव से रहित, बाह्य—अशुभ लेश्याओं—मनोवृत्तियों से रहित अप्रतिम लेश्याओ (अतुल मनोवृत्तियों) से युक्त, सुश्रामण्य में रत (अनुरक्त), दान्त (गुरुओं द्वारा दमित-अनुशासित) हैं, जो इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन को प्रमाणभूत (आगे) करके विचरण करते है।[1]

स्थविर मनियों की अप्रतिम गरिमा

औपपातिक सूत्र में आगे स्थविर मुनियों की अलौकिक प्रतिभाओं तथा अप्रतिम गरिमाओं का वर्णन किया गया है—

उन स्थविर भगवन्तों को आत्मवाद पूर्णरूप से विदित (ज्ञात) हो गये थे, परवाद भी उन्हें विदित (विशेष रूप से परिचित) हो गये थे, अर्थात् वे स्वमत-परमत के पूर्ण वेत्ता थे। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने नाम को किसी भी दशा में नहीं भूलता, तथा जैसे मत्तहाथी आनन्दपूर्वक सुन्दर उद्यान में क्रीडा करता है, उसी प्रकार बार-बार आवृत्ति करके पूर्णरूप से आत्मवाद को अविस्मृतरूप से अधिगत (अवगत) करके वे अपनी मस्ती से आनन्दपूर्वक आत्मवादरूपी आराम में रमण करते थे। उनके द्वारा किये गये प्रश्नो के विवेचन (व्याकरण-व्याख्यान) में किसी को भी तर्क करने का अव-

---

१ "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा, कुलसंपण्णा, बलसंपण्णा ओअंसी, तेअंसी, वच्चंसी, जसंसी, जियकोहा, जियमाणा, जियमाया, जियलोहा, जियइंदिया, जियणिद्दा, जियपरीसहा, जीवियास-मरणभयविप्पमुक्का, वयप्पहाणा, गुणप्पहाणा, करणप्पहाणा, चरणप्पहाणा, णिग्गहप्पहाणा, णिच्छयप्पहाणा, अज्जवप्पहाणा, मद्दवप्पहाणा, लाघवप्पहाणा, खंतिप्पहाणा, मुत्तिप्पहाणा, विज्जाप्पहाणा, मंतप्पहाणा, वेयप्पहाणा, बंभप्पहाणा, नयप्पहाणा, नियमप्पहाणा, सच्चप्पहाणा, सोयप्पहाणा, चारुवण्णा, लज्जा-तवस्सी, जिइंदिया, सोही, अणियाणा, अप्पुस्सुआ, अबहिल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरया दंता, इणमेव णिग्गंथं पावयण पुरओ काउं विहरंति।"

—औपपातिक सूत्र, सू० १६

काश (छिद्र) नहीं रहता था। जिस प्रकार एक धनाढ्य रत्नों के पिटारे (करण्डक) की सहायता से व्यापारादि कार्य कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी रत्नों के पिटारे के कारण वे कुत्रिकापण (त्रिलोकी की वस्तुओं की देवाधिष्ठित हाट) के समान थे। अर्थात्—उन स्थविरों से सब प्रकार के ज्ञानादि पदार्थ प्राप्त होते थे, सभी प्रकार के प्रश्नों के उत्तर जिज्ञासुओं को प्राप्त होते थे; इस कारण वे परवादी-मानमर्दक (अकाट्य युक्तियों से स्व-सिद्धान्त-मण्डनकर्त्ता) थे; द्वादशांग वाणी तथा समस्त गणि-पिटकों के धारक थे; सर्वाक्षर-सन्निपाती थे, सर्वभाषानुगामी (स्वभाषा के बल से सब भाषाओं में भाषण-सम्भाषणकुशल) थे, इसलिए वे जिन तो नहीं, परन्तु जिन सदृश थे और जिन भगवान् की तरह यथातथ्य रूप से पदार्थों का वर्णन करते थे। इतनी प्रतिभाओं और गरिमाओं से सम्पन्न वे स्थविर मुनि संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित (वासित) करते हुए (भगवान् के साथ) विचरण करते थे।[1]

साधु की इकत्तीस उपमाएँ

औपपातिक सूत्र में साधु को निम्न ३१ उपमाओं से उपमित किया गया है—

(१) **कांस्यपात्र**—उत्तम एवं स्वच्छ कांस्यपात्र जैसे जलमुक्त रहता है, उसी प्रकार साधु भी सांसारिक स्नेह से मुक्त रहता है।

(२) **शंख**—जैसे शंख पर रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार मुनि पर भी रागभाव का रंग नहीं चढ़ता।

(३) **कच्छप**—जैसे कछुआ चार पैर और एक गर्दन इन पांचों अवयवों को सिकोड़कर, खोपड़ी में छिपाकर सुरक्षित रखता है, वैसे ही मुनि भी संयम क्षेत्र में पांचों इन्द्रियों को गोपन करता है, उन्हें विषयोन्मुख नहीं होने देता।

---

१ "तेसिं णं भगवंताणं आयावाया वि विदिता भवंति, परवाया विदिता भवंति, आयावाय जमइत्ता नलवणामिव मत्तमातंगा, अच्छिद्द पसिणवागरणा, रयणकरंडसमाणा, कुत्तियावणभूया, परवादियपमद्दणा, दुवालसंगिणो समत्तगणिपिडगधरा सव्वक्खर सण्णिवाइणो सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा इव अवितहं वागरमाणा, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।"

—औपपातिकसूत्र, सू० १६

(४) **स्वर्ण**—जैसे निर्मल स्वर्ण प्रशस्त रूपवान् होता है, उसी प्रकार साधु भी रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूपवान् होता है।

(५) **कमलपत्र**—जैसे कमल पत्र जल से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार मुनि भी अनुकूल विषयों से निर्लिप्त-अनासक्त रहता है।

(६) **चन्द्र**—चन्द्रमा जैसे सौम्य होता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है।

(७) **सूर्य**—जैसे सूर्य तेज से दीप्त होता है, वैसे ही साधु तप के तेज से दीप्त रहता है।

(८) **सुमेरु**—जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलय काल में भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता हुआ अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों से विचलित नहीं होता।

(९) **समुद्र**—जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है, उसी प्रकार साधु भी गम्भीर होता है, हर्ष-शोक के कारणों से चित्त को चंचल नहीं होने देता।

(१०) **पृथ्वी**—जिस प्रकार पृथ्वी सभी बाधा-पीड़ाएँ सहती है, उसी प्रकार साधु भी सभी प्रकार के परीषह और उपसर्ग सहन करता है।

(११) **भस्माच्छन्न अग्नि**—जैसे राख से ढकी हुई अग्नि बाहर से मलिन दिखाई देती हुई भी अन्दर से प्रदीप्त रहती है, उसी प्रकार साधु तप से कृश होने से बाहर से म्लान दिखाई देता है, किन्तु अन्दर से शुभ भावना के द्वारा प्रकाशमान रहता है।

(१२) **घृतसिक्त अग्नि**—जैसे घी से सींची हुई अग्नि तेज सहित देदीप्यमान होती है, वैसे ही साधु ज्ञान एवं तप के तेज से देदीप्यमान रहता है।

(१३) **गोशीर्ष चन्दन**—जैसे गोशीर्ष चन्दन शीतल और सुगन्धित होता है, उसी प्रकार साधु भी कषायों से उपशान्त होने से शीतल एवं शील की सुगन्ध से वासित होता है।

(१४) **जलाशय**—हवा चलने पर भी जैसे जलाशय की सतह सम रहती है, ऊँची-नीची नहीं होती; वैसे ही साधु भी सम्मान-अपमान, सुख दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता में सम रहता है।

(१५) **दर्पण**—स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार स्पष्ट प्रतिबिम्बग्राही होता

है, उसी प्रकार साधु भी मायारहित स्वच्छ हृदय होने से शास्त्रों के भावों को पूर्ण तया ग्रहण कर लेता है।

(१६) **गन्धहस्ती**—जिस प्रकार हाथी रणागण में अपना प्रबल शौर्य दिखाता है, वैसे ही साधु भी परीषह सेना के साथ जूझने मे अपना आत्म-वीर्य (शौर्य) प्रकट करता है और विजयी होता है।

(१७) **वृषभ**—जैसे धोरी बैल उठाए हुए बोझ को यथास्थान पहुँचाता है, बीच मे नही छोडता, वैसे ही साधु भी ग्रहण किये हुए महाव्रत-भार को उत्साहपूर्वक वहन करता है।

(१८) **सिंह**—जैसे सिंह महा-पराक्रमी होता है, वन के मृगादि अन्य पशु उसे हरा नही सकते, वैसे ही साधु भी आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न होता है, परीषह उसे पराजित नही कर सकते।

(१९) **शारद जल**—जैसे शरद् ऋतु का जल निर्मल होता है, उसी प्रकार साधु का हृदय भी राग-द्वेषादि मल से रहित होता है।

(२०) **भारण्ड पक्षी**—जैसे भारण्ड पक्षी अहर्निश सावधान रहता है, तनिक भी प्रमाद नही करता, उसी प्रकार साधु भी सदैव सयम मे अप्रमत्त एव सावधान रहता है।

(२१) **गैंडा**—जैसे गेंडे के मस्तक पर एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु भी राग-द्वेष रहित होने से भाव से एकाकी रहता है और किसी भी व्यक्ति एव वस्तु में आसक्त नही होता।

(२२) **स्थाणु**—जैसे—ठूठ (स्थाणु) निश्चल खडा रहता है, वैसे ही साधु भी कायोत्सर्ग आदि के समय निश्चल-निष्प्रकम्प खडा रहता है।

(२३) **शून्यगृह**—जैसे सूने घर में सफाई, सजावट आदि के संस्कार नही होते, उसी प्रकार साधु भी शरीर का सस्कार नही करता, वह बाह्य शोभा-श्रृंगार का त्यागी होता है।

(२४) **दीपक**—निर्वात स्थान मे जैसे दीपक स्थिर अकम्पित रहता है, उसी प्रकार साधु भी एकान्त स्थान मे रहता हुआ, राग-द्वेषरहित, निर्मल एवं शुद्ध चित्त मे वास करता हुआ उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलित नहीं होता।

(२५) **क्षुरधारा**—जैसे उस्तरे के एक ही धार होती है, वैसे ही साधु भी त्यागरूप एक धारा वाला होता है।

(२६) अहि(सर्प)—जैसे सर्प स्थिर दृष्टि रखता है, अर्थात् अपने लक्ष्य पर एकटक दृष्टि जमाए रहता है वैसे ही साधु भी अपने मोक्षरूप ध्येय पर दृष्टि टिकाए रहता है, अन्यत्र नहीं।

(२७) आकाश—आकाश जैसे निरालम्ब (आधार रहित) होता है, वैसे ही साधु भी ग्रामादि के आलम्बन से रहित अनासक्त होता है।

(२८) पक्षी—जैसे पक्षी स्वतन्त्र होकर उन्मुक्त विहार करता है, वैसे साधु भी स्वजनादि या नियत वासादि के प्रतिबन्ध से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचरता है।

(२९) पन्नग (सर्प)—जैसे सर्प स्वय घर नही बनाता, चूहे आदि के बनाये हुए बिलो मे निवास करता है, वैसे ही साधु स्वय मकान नही बनाता, गृहस्थो के द्वारा बनाये हुए मकानो मे उनकी आज्ञा प्राप्त करके रहता है।

(३०) वायु—जैसे वायु की गति प्रतिबन्धरहित अव्याहत है, इसी प्रकार साधु भी प्रतिबन्ध रहित होकर स्वतन्त्र विचरण करता है।

(३१) जीवगति—मृत्यु के बाद परलोकगमन मे जीव की गति मे कोई रुकावट नही होती, उसी प्रकार स्व पर-सिद्धान्तज्ञ साधु भी नि शक होकर देश-विदेश मे धर्म प्रचार करता हुआ विचरण करता है।[1]

इस प्रकार गुरुपद मे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनो आराध्य धर्मदेव सम्मिलित है।

वस्तुत धर्मदेव (आचार्य, उपाध्याय और साधु) का पद बड़े महत्व का है। ये शुद्ध धर्म का आचरण करने वाले, सुविहित और सुव्रत होते हैं। तीर्थंकर देव तो सभी कालो मे नही होते, पचम काल (वर्तमान काल) मे तो होते ही नही, चतुर्थ काल मे भी कभी होते है और कभी नही होते, उस समय धर्म की ज्योति को धर्मदेव ही प्रज्वलित रखते है, वे ही जनता को धर्म का उपदेश देकर, तत्त्वो का ज्ञान कराकर धर्म की ओर उन्मुख करते हैं, उन्हे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ओर उन्मुख करते हैं, जो धर्म को एक बार ग्रहण करके उससे च्युत होने लगते है, उन्हे पुन स्थिर करते हैं, दृढ़ बनाते है।

इस प्रकार धर्मदेव श्रावको के लिए परम हितकारी होते हैं और इसीलिए श्रावको को आगमो तथा ग्रन्थो में श्रमणोपासक कहा गया है।

---

१ औपपातिक सूत्र

वस्तुतः धर्मदेव के तीनों पदों में साधु पद आधारभूत है। साधु से ही साधक, उपाध्याय और आचार्य पद तक पहुँचता है, यहाँ तक कि अरिहंत सिद्ध बनता है। इसीलिए शास्त्रो में साधु को 'धर्मदेव' के नाम से अभिहित किया गया है। क्योंकि वे संसार-समुद्र में डूबते हुए प्राणियो के लिए द्वीप के समान आश्रय-स्थल हैं और जो उस समुद्र से पार होना चाहते हैं; उनके लिए प्रकाश स्तम्भ हैं।

इनके महत्व के कारण ही पंचपरमेष्ठी में इनकी गणना की गई है और इन्हें श्रद्धास्पद एवं पूज्य स्थान दिया गया है।

□

जैन तत्व कलिका

तृतीय कलिका

धर्म स्वरूप :—

धर्म के विविध रूप (दशविध धर्म)
धर्म की व्याख्या
धर्म का फल
धर्म की उत्पत्ति
लौकिक और लोकोत्तर धर्म
ग्रामधर्म
नगरधर्म
राष्ट्रधर्म
पाषण्डधर्म
कुलधर्म
गणधर्म
संघधर्म
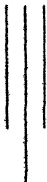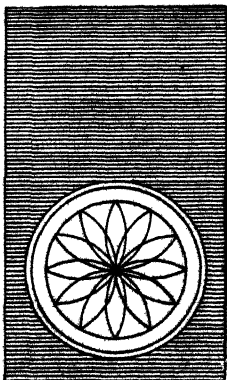
धर्म के विविध स्वरूप

(दसविध धर्म)

तीसरा आराध्य तत्त्व धर्म है। देव और गुरु को, देव एवं गुरु की योग्यता प्राप्त कराने वाला तत्त्व धर्म ही है। धर्म की ही पूर्ण आराधना से वीतराग, केवली, अरिहन्त, तीर्थंकर एवं सिद्ध बनते हैं तथा धर्म की ही साधना मे आचार्य, उपाध्याय और साधु बनते हैं। इसलिए धर्म केवल साधुओं के लिए ही नहीं, समस्त प्राणियों, विशेषतः सब मनुष्यों के लिए अनिवार्य रूप से आराध्य है, साध्य है, सर्वतोभावेन उपादेय है।

धर्म का अर्थ

आचार्य हरिभद्रसूरि ने धर्म का अर्थ इस प्रकार किया है—जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्मा को धारण करके रखता है, नीचे नहीं गिरने देता, ऊपर ही उठाए रखता है, वह धर्म है।' उपाध्याय यशोविजयजी ने इसी से मिलता-जुलता धर्म का अर्थ किया है—'धर्म उसे कहते हैं, जो भवसागर (संसारसमुद्र) में डूबते हुए जीव को धारण करके रखता है, पकड़ लेता है, बचा लेता है।

इसके दो फलितार्थ ये होते है—(१) जिस वृत्ति-प्रवृत्ति से जीव ऊपर उठे, नीचे दुर्गति में न गिरे; और (२) जिस वृत्ति-प्रवृत्ति से प्राणी संसार-सागर में डूबने से बचे तथा उसकी मोक्ष-प्राप्ति सम्बन्धी योग्यता बढ़े, वह धर्म है।

अर्थ-सम्बन्धी भ्रम

धम के इस आशय से या फलितार्थ से अनभिज्ञ कई व्यक्ति 'धृञ् धारणे' धातु के धारण अर्थ को लेकर यह मानते हैं कि जिसने जिस वस्तु को धारण किया है वही उसका 'धर्म' है; किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। ऐसे भ्रान्त लोगों के मतानुसार तो 'अधर्म' नाम की कोई चीज है ही नहीं। क्योंकि उनकी इस भ्रान्त मान्यता के अनुसार तो धर्म के पेट में सभी पापी, अधर्मी लोगों के कार्यों का भी समावेश हो जाता है।

(क) दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। —दशवै० हारि. वृत्ति अ. १

(ख) 'सो धम्मो जो जीवं धारेइ भवण्णवे निवडमाणं।' —धर्मपरीक्षा

एक चोर ने चौर्यकर्म धारण कर रखा है, वह भी उनके विचारानुसार धर्म हो जाएगा। इसी प्रकार एक शिकारी ने पशुवध धारण कर रखा है; एक व्यभिचारी पुरुष या वेश्या ने व्यभिचार-दुराचार धारण कर रखा है; एक कसाई ने पशुहत्याकर्म धारण कर रखा है, पूर्वोक्त भ्रान्त अर्थ के अनुसार तो इन सबके पापकृत्यों का धारण भी धर्म कहलाएगा। किन्तु यह अर्थ भ्रान्त एवं विपरीत है। अतः लक्षण के अनुसार धर्म का पूर्वोक्त अर्थ ही समीचीन है।

केवलीप्रज्ञप्त धर्म ही ग्राह्य

धर्म का अर्थ समझने के बाद यह जानना आवश्यक है कि धर्म शब्द से कौन-सा धर्म ग्राह्य है और क्यो ?

धर्म के सम्बन्ध में बड़ी भारी गड़बड़ी चल रही है। पंथो और सम्प्रदायो के चक्कर में पडकर यह महान् कल्याणकारी एव आराध्य तत्त्व अपना महत्त्व ही खो बैठा है। विश्व में धर्म के नाम से अनेक मत, पंथ, सम्प्रदाय चल रहे हैं। जो धर्म शान्ति और सुख का प्रदाता था, उसको लेकर बहुत-से सम्प्रदायो और मतों में आए दिन संघर्ष, कलह, क्लेश, वाद-विवाद एव सिरफुटौव्वल होतो है। इन दुष्प्रवृत्तियो को देखकर कैसे कहा जा सकता है कि धर्म सुख-शान्ति का दाता या समाज का धारण-पोषण करने वाला है। विभिन्न धर्म संप्रदायों के पारस्परिक द्वन्द्वों को देखकर धर्म उपहास की वस्तु बन गया है। इसी कारण ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, समाज या संघ में उन्नति और सुखशान्ति वृद्धि के बदले अवनति, अधोगति और दुःख तथा अशान्ति में वृद्धि हो रही है।

इसे देखकर कई अनभिज्ञ या नास्तिक लोग कह बैठते हैं कि इससे तो अच्छा था, ये धर्म ही न रहते, इन्हें ही देशनिकाला दे दिया जाता तो इतनी अशान्ति और संघर्ष तो न होता। परन्तु ऐसा कहने वाले लोग यह भूल जाते है कि कि वैष्णव, शैव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, ईसाई आदि विशेषण वाले धर्म एक तरह से सम्प्रदाय हैं। इनमें धर्म हो सकता है, परन्तु वास्तविक धर्म ये नहीं है। सम्प्रदाय आदि पात्र (बर्तन) के समान है, और धर्म अमृत तुल्य है। अमृत रखने के लिये बर्तन आवश्यक तो है, परन्तु बर्तन को ही अमृत मानना भूल होगी। इसी प्रकार सम्प्रदाय को ही धर्म मानना भूल होगी।

कलह, द्वन्द्व या संघर्ष, इन सम्प्रदायों के कारण ही होते हैं, शुद्ध धर्म के कारण नहीं। शुद्ध धर्म रूप अमृत ने तो अतीतकाल में लाखों मानवों को तारा है, वर्तमान में भी तर रहे हैं और भविष्य में भी तरेंगे। शुद्ध धर्म का पालन तो समाज और राष्ट्र में सुख शान्तिवर्द्धक है, आत्मा का कल्याण

करने वाला है। दुर्गति में गिरने से बचाने वाला और सद्गति या मोक्षगति में पहुँचाने वाला है।

विचारणीय तथ्य यह है कि तथाकथित विभिन्न धर्मों के प्ररूपक महानुभावों ने शुद्ध धर्म के नाम से भी जो विधान किये हैं, उनमें परस्पर मतभेद है। इसी कारण साधारण मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है कि किसे धर्म मानें और किसे नही ?

एक धर्म कहता है—यज्ञ में होने वाली पशुबलि के रूप में हिंसा हिंसा नहीं होती। दूसरा कहता है—यज्ञीय हिंसा भी हिंसा है। एक धर्म कहता है—अमुक रीति-रिवाज, अमुक रूढ़ि धर्म है, इसके विपरीत दूसरा धर्म कहता है—अमुक रीति-रिवाज या प्रथा का पालन ही धर्म है, बशर्ते कि उसमें अहिंसा, संयम और तप हो, जहाँ अहिंसा-सत्यादि नहीं है, तप नहीं है वहाँ अमुक प्रथा धर्म नही हो सकती। अतः हिंसाप्रधान, असंयम- (व्यभिचार, चोरी, असत्य) प्रधान या तपस्यारहित केवल भोग-विलास-परायण धर्म, धर्म नही हो सकता।

अतः जिसमें अहिंसा, संयम और तप-त्याग की प्रधानता हो, जो आप्त पुरुषों द्वारा कथित हो, वही धर्म—केवलिप्रज्ञप्त धर्म ग्राह्य हो सकता है।[1]

जिस धर्म का प्रवक्ता अनाप्तपुरुष है, वह धर्म चाहे कितना ही पुराना हो, चाहे उसके अनुयायी लाखों-करोड़ों ही क्यों न हों, वह धर्म ग्राह्य नही हो सकता। क्योंकि अनाप्तपुरुषों द्वारा कथित-उपदिष्ट धर्म की एक-दो बाते ठीक हो, तो भी उसमें कई बाते अहिंसादि धर्मानुकूल नहीं होंगी। अतः अनाप्त का कथन प्रामाणिक नहीं हो सकता।

आप्त का अर्थ है—सर्वज्ञ तथा साक्षात् ज्ञाता-द्रष्टा। ऐसे आप्त पुरुष केवली (केवलज्ञानी-सर्वज्ञ) एवं साक्षात् द्रष्टा वीतराग-(रागद्वेष रहित) पुरुषों द्वारा कथित धर्म ही प्रामाणिक एवं ग्राह्य हो सकता है।

छद्मस्थ तथा अपूर्ण ज्ञान-दर्शन से युक्त व्यक्ति यत्किंचित् अज्ञान एवं रागद्वेष आदि से आवृत होने के कारण अनाप्त होता है, और अनाप्त-कथित धर्म प्रामाणिक नहीं हो सकता।

जब अज्ञान और मोह का पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उस शुद्ध आत्मज्योति के समक्ष कोई भी पदार्थ दुर्ज्ञेय या अज्ञेय नहीं रह पाता। जब दोष या अज्ञान आदि आवरणों का समूल क्षय हो जाता है, तब उसके ज्ञान-

---

१ 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।' —दशवैकालिक अ० १, गा० १

दर्पण में दर्पणतल की तरह समस्त पदार्थ समूह झलकने लगते है। उससे धर्म-अधर्म का यथार्थ यथावस्थित स्वरूप कुछ भी छिपा नही रहता। वे साक्षात् द्रष्टा होते है। लोकव्यवहार में भी सुनी-सुनाई बात कहने वाले की अपेक्षा साक्षात् द्रष्टा—प्रत्यक्ष अनुभवी की बात पर अधिक विश्वास किया जाता है। अतएव धर्म भी साक्षात् द्रष्टा केवलज्ञानी, रागद्वेषविजेता आप्त पुरुषों द्वारा कथित ही वास्तविक श्रद्धास्पद होता है। इसीलिए **'केवलिपण्णत्तो धम्मो'** विशेषण धर्म के लिए दिया गया है।

शुद्ध धर्म की कसौटी

वीतराग सर्वज्ञकथित धर्म प्रामाणिक होने पर भी कई बार लोग सर्वज्ञकथित धर्म के आशय को न समझकर उसे विपरीत रूप में ग्रहण कर लेते हैं, यद्यपि विपरीत रूप से पकड़े हुए शस्त्र की तरह विपरीत रूप में गृहीत वह धर्म उनका सर्वनाश कर देता है।[1] तथापि वे उसे ही धर्म कहते हैं और उसी का शुद्ध धर्म के नाम से प्रचार करते है। अत प्रश्न होता है किसे शुद्ध धर्म कहें, किसे नहीं ? शुद्ध धर्म की यथार्थ कसौटी क्या है ?

शुद्ध धर्म की एक कसौटी यह है कि जो अपनी आत्मा के अनुकूल न हो, वह अधर्म है, तथा जो आत्मा के अनुकूल हो, वह धर्म है। दूसरी कसौटी यह है कि जो अनुष्ठान या कार्य सर्वज्ञो के अविरुद्ध प्रवचन से प्रवर्तित हो, शास्त्रानुसारी हो और मैत्री आदि चार भावनाओं से संयुक्त हो, वह धर्म कहलाता है।[2]

इसका कारण यह है कि मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य—ये चार भावनाएँ जागृत रखकर कोई भी सुप्रवृत्ति करने से संसार घटेगा, मोक्षप्राप्ति की योग्यता बढेगी, रागद्वेषादि विकार अत्यल्प रह जाएँगे।[3]

चारों भावनाओं का स्वरूप

विश्व के समस्त प्राणियों को मित्र, सखा, बन्धु या आत्मीय मानना,

---

१ विसं तु पीयं जह कालकूड, हणाइ सत्थ जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥
— उत्तराध्ययन अ. २०, गा. ४४

२ (क) जह मम न पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
(ख) 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।'
(ग) वचनाद्यनुष्ठानमविरुद्धाद् यथोदितम्।
मैत्र्यादि भावसंयुक्तं तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥ धर्मबिन्दु प्रकरण. १

३ चतस्रो भावना धन्या. पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरंचित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥ —ज्ञानार्णव प० २७, श्लो० ४

उनके प्रति द्रोह, वैर, ईर्ष्या आदि न रखना, समस्त जीवों का हित या कल्याण चाहना, किसी का बुरा न चाहना, तथा वैर-विरोध, कलह-क्लेश को शान्त करने का नम्र प्रयत्न करना, **मैत्री भावना** है। मैत्री भावना का विकास होने पर साधक जब जीवमात्र के प्रति हिंसा, असत्य आदि से विरत हो जाता है तब वह मैत्री सक्रिय मानी जाती है। समत्वयोग, समता, विश्व-वात्सल्य, विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व, आत्मसमदर्शित्व आदि इसी मैत्री भावना के पर्यायवाची शब्द है।

जो आत्माएँ पुण्य प्रकर्ष के कारण क्षमा, समता, उदारता, दया आदि अनेक गुणो से युक्त है। अहर्निश यथाशक्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की आराधना में संलग्न है उन्हें देखकर प्रसन्न होना उनकी प्रशंसा करना, उन्हें प्रतिष्ठा देना **प्रमोद या मुदिता भावना** है। गुणानुराग, गुणग्राहकता, गुण बहुमान आदि इसके पर्यायवाची है।

जिसके हृदय में यह भावना प्रकट होती है वह प्रत्येक वस्तु, शास्त्र एवं व्यक्ति में से गुण ग्रहण कर लेता है। गुणवानों से अधिकतम गुण ग्रहण करने से उसमें भी गुणों का संग्रह होता जाता है और वह स्वयं भी गुणो का भण्डार बन जाता है। इस कारण उसमें सहज ही धर्म का प्रवेश हो जाता है। जिसमें प्रमोद भावना नही, गुणग्राहकता नहीं, उसमें ईर्ष्या, द्वेष, छिद्रान्वेषण, छल-प्रपंच आदि दुर्गुणों के कारण धर्म का केवल कलेवर ही रह जायगा, धर्म का प्राण तत्त्व उसमें टिक नहीं सकेगा।

जो आत्माएँ पापकर्म के उदय से विविध प्रकार के कष्ट—दुःख भोग रहे है, उन्हें देखकर उनका दुःख दूर करने की वृत्ति **कारुण्य भावना** कहलाती है। दया, अनुकम्पा, दीनानुग्रह आदि उसके पर्यायवाची शब्द हैं। जिसके हृदय में यह भावना प्रकट होती है उससे किसी का दुःख देखा नहीं जाता। फलस्वरूप उसमें परदुःख-निवारण की वृत्ति जागृत होती है। उसके लिए उसे चाहे जितना तप, त्याग, संयम (इच्छानिरोध) करना पड़े, वह प्रसन्नता-पूर्वक करता है। जहाँ निःस्वार्थ निष्काम दया या करुणा होगी, वहाँ धर्म तो अनायास हो आ जायगा।

जो आत्माएँ अधम हैं, निरन्तर पापकर्म में रत रहते हैं, उद्धत बन कर हितैषियों की हितशिक्षा को ठुकराकर बेखटके पापकर्म करते हैं, धर्म व धार्मिकों की निन्दा, उपहास करते हैं, हिंसा, चोरी, अनाचार, अन्याय आदि निःशंक होकर करते हैं, उनके प्रति न तो राग रखना और न द्वेष रखना—उपेक्षा वृत्ति धारण करना **माध्यस्थ्य भावना** कहलाती है। उदासीनता, उपेक्षा, मध्यस्थता, तटस्थता, शान्ति आदि इसके समानार्थक शब्द हैं।

जिनके हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है, वे दुष्टजनों, पापियों या दुर्वृत्ति वाले प्राणियों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, व्यर्थ चिन्ता से बचकर उनके प्रति सद्भावना रखते हैं।

जो लोग इस भावना का रहस्य नहीं समझते, वे अधम आत्माओं को बलात् सुधारने की प्रवृत्ति करते है, उसमें असफलता मिलने पर खेद, या विषाद का अनुभव करते है और उन अधम आत्माओ पर रोष, या द्वेष करते हैं। इससे वे तो सुधरते नही, उनका तो हृदय परिवर्तन नही होता; उन सुधारकों का अपना पतन अवश्य हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक सत्कार्य के साथ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावरूप चतुरंगी धर्म का अभाव हो तो वहाँ द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, संघर्ष, नीचा दिखाने या गिराने की दुर्भावना, आर्त-रौद्रध्यान, निर्दयता आदि होने से वह सफल नही हो सकता, न ही उस व्यक्ति मे मोक्ष प्राप्ति या राग-द्वेषविजय की योग्यता बढती है।

धर्माचरण का प्रधान सूत्र

'आत्मा से आत्मा को देखो' यह धर्माचरण का प्रधान सूत्र है। इस सूत्र के बिना धर्म शुद्ध रूप मे जीवन में आचरित नही हो पाता। स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय से धर्माचरण करने वाले लोग धर्म का शुद्ध रूप में आचरण नही कर पाते। वे धर्म से कर्मक्षय करने के बजाय शुभकर्म का संचय कर लेते है, अथवा अशुभकर्मों से बच जाते है किन्तु धर्म उनके स्वभाव में रमता नही, धर्म उनके रग-रग में प्रविष्ट नहीं होता। अगर उनके समक्ष नरक का कोई भय न हो अथवा स्वर्ग सुखो का प्रलोभन निष्फल प्रतीत होता हो तो वे शुद्ध धर्म को तिलांजलि भी देसकते है।

धर्म वस्तुतः आन्तरिक वस्तु है, वह अपनी आत्मा से दूसरो आत्मा[1] को देखने की वृत्ति जागृत होने पर ही शुद्ध रूप में जीवन में आता है। परन्तु धर्म के क्षेत्र में जैसे-जैसे ऐसी अन्तर्मुखता दूर होती गई और बहिर्मुखता बढ़ती गई, वैसे-वैसे धार्मिक के व्यक्तित्व के दो परस्पर विरोधी रूप बन गये। धर्म की उपासना के समय का एक रूप और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक व्यक्ति उपासना—धार्मिक क्रिया करते समय समता की मूर्ति बन जाता है, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में—घर में, दुकान में या कार्यालय में वह क्रोधी, स्वार्थी, अन्यायी, अनैतिक, अप्रामाणिक और क्रूर बन जाता है।

---

१ 'अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए।'

इस दोहरी मनोवृत्ति ने जनमानस में धार्मिक होने का झूठा दम्भ भर दिया, किन्तु धर्म का शुद्ध रूप उनके जीवन में नहीं उतर सका। धार्मिक का मानदण्ड भी इससे गलत हो गया। धर्म, जो आत्मा में प्रतिष्ठित होना चाहिए था वह नहीं हो सका। वस्तुतः जो आत्मा को देखता है, आत्मा की आवाज सुनता है, और आत्मा की वाणी बोलता है, वही स्वतः स्फुरित चेतना से उत्साह और श्रद्धापूर्वक शुद्ध धर्माचरण कर पाता है। तथा अपने सम्पर्क में आने वाले आत्माओं के प्रति आत्मवत् व्यवहार भी कर पाता है। यही शुद्ध धर्माचरण का प्रमुख सूत्र है। शुद्ध धर्म केवल क्रियाकाण्ड की वस्तु नहीं, आचरण की वस्तु है, यह भी इस सूत्र में से प्रतिफलित होता है।[1]

धर्म के दो रूप : मौलिक और सरल

सुविधावादी लोगों के जीवन में धर्माचरण के झूठे सन्तोष ने धर्म का मौलिक रूप भुला दिया। धर्म का मौलिक रूप है—इन्द्रियों और मन पर संयम, समता का जीवन में अभ्यास, भय-प्रलोभनादि दोषों से रहित होकर अहिंसादि का विशुद्ध आचरण और शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति विविध महत्त्वाकांक्षाओं का निरोध और आत्मशुद्धि करने के लिए ज्ञानपूर्वक बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण।

किन्तु पुण्यवादी लोगों ने एवं तथाकथित धर्मप्रवक्ताओं ने अनुयायियों की संख्या वृद्धि के लोभ में आकर धर्म के मौलिक रूप से हटकर उसे सरल रूप दे दिया। भगवान् को भक्ति, नाम-जप, कुछ धार्मिक क्रियाएँ, आदि में उन्होंने धर्म को सीमित कर दिया। फलतः धर्माकांक्षी लोगों को पारलौकिक जीवन के अभ्युदय के लिए आश्वासन मिला, परन्तु वर्तमान जीवन में आचार-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि तथा इन्द्रिय-मनसंमय के लिए किये जाने वाले तीव्र अध्यवसाय और पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं समझी गई।

धर्म के इस सरल और सुविधावादी रूप की धारणा ने तथाकथित धार्मिकों की संख्या तो बढ़ा दी, लेकिन धर्मचेतना क्षीण कर दी। फलतः संयम-प्रधान धर्म का आसन उपासनाप्रधान धर्म ने ले लिया। धर्म की चेतना और शक्ति क्षीण हो गई।

इसीलिए भगवान् महावीर ने क्रियाकाण्डों या कोरी उपासना में धर्म का मिथ्या आश्वासन मानने वालों को चेतावनी के स्वर में कहा—

---

1 धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ —उत्तराध्ययन अ. ३, गा. १२

'आणाए धम्मो', 'आणाए मामगं धम्मं'—'आज्ञा-पालन में धर्म है। आज्ञानुसार चलने में मेरा धर्म है।'

आज्ञा का स्पष्टीकरण आचार्य हेमचन्द्र ने इस प्रकार किया है—भगवान्! आपकी यह त्रैकालिक एवं हेयोपादेय-विषयक आज्ञा है कि आस्रव को सर्वथा हेय समझो और संवर (मन-वचन काया एवं श्वास के संवर) को उपादेय।[1]

धर्म का फल इहलौकिक या पारलौकिक ?

मानव के हृदय में सहज जिज्ञासा होती है कि धर्म का फल वर्तमान-काल में इस लोक में ही मिल जाता है, या मरने के बाद परलोक में मिलता है ?

भगवान् महावीर से जब यह प्रश्न पूछा गया तो उन्होंने अनेकान्त शैली में उसका उत्तर दिया—"धर्म इस लोक के हित के लिए, सुख के लिए, निःश्रेयस (कल्याण) के लिए, आत्मा को रागद्वेषविजय में या कर्मक्षय में सक्षम (समर्थ) बनाने के लिए है, तथा वह परलोकानुगामी[2] होने से परलोक के उत्कर्ष के लिए भी है।'

वास्तव में देखा जाए तो धर्म का फल वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष मिलता है। जिस क्षण धर्म का आचरण किया जाता है, उसी क्षण मैत्र्यादि भावनाओं से अनुप्राणित होने के कारण व्यक्ति रागद्वेष-रहित, कषाय-विजयी सुख-शान्तिमय उपशान्त होकर कर्मों का निरोध (संवर) या क्षय (निर्जरा) कर लेता है। धर्म का अनन्तर फल यही है।

जिसके कर्मों का निरोध या क्षय होता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध, इन्द्रियाँ अचंचल, वृत्तियाँ प्रशान्त एवं व्यवहार शुद्ध हो जाता है। उसके मन में धर्म के फल के रूप में स्वर्ग प्राप्ति का प्रलोभन या नरक के भय से निवृत्ति का भाव जागृत ही नहीं होता है।

मध्यकालीन पुण्यवादी या पारलौकिक फलवादी धारा ने धर्म के इहलौकिक या प्रत्यक्ष फल के तथ्य को लुप्त या गौण कर दिया।

किन्तु आचार्य उमास्वाति ने एक नया चिन्तन प्रस्तुत करके धर्म-

---

१ आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा।
आश्रव: सर्वथा हेय:, उपादेयश्च संवर: ॥ —वीतरागस्तव १९।५

२ धम्मस्स (इहलोग) हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवइ। —औपपातिक सूत्र अ. ४

फल विषयक शुद्ध आस्था की जड़ें मजबूत कर दीं—'स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, उनके बारे में तुम्हें विचिकित्सा हो सकती है; मोक्ष का सुख तो उनसे भी परोक्ष है, उसके विषय में तुम्हें सन्देह हो सकता है; किन्तु धर्म से होने वाला शान्ति (प्रशम) का सुख तो प्रत्यक्ष है, इसे प्राप्त करने में तुम स्वतन्त्र हो, यह स्वाधीन सुख है और इसे प्राप्त करने में अर्थव्यय भी नहीं करना पड़ता किन्तु समता-सरिता में डुबकी लगाने से प्राप्त होता है।'[1]

भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—

'जिनका मन समताधर्म (साम्य) में स्थित हो गया, समझ लो, उन्होंने यहीं संसार को जीत लिया।'[2]

धर्म की आवश्यकता

वर्तमान युग में पश्चिम के भोगवाद, साम्यवाद और नास्तिकवाद के प्रचार से प्रभावित बहुत-से लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि धर्म की आवश्यकता ही क्या है? धर्म को न माना जाए तो क्या हानि है? ऐसे लोग यह तर्क देते है कि जो काम धर्म करता है, वही कार्य राज्य की दण्ड-शक्ति से हो सकता है। सरकारी कानून बना दिया जाए कि हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, अतिसंग्रह, अनैतिकता, अप्रामाणिकता, अन्याय आदि कोई भी नही करे, करेगा तो उसे अमुक-अमुक प्रकार का दण्ड दिया जाएगा। कानून को या राज्य की दण्डशक्ति से कुछ अपराध बच भी गये तो उनकी रोकथाम जाति, कुल, संघ आदि के संगठनों के प्रभाव से हो सकेगी। इस प्रकार जिन अपराधों की रोकथाम धर्म कर सकता है, उन्हीं अपराधों की रोकथाम राज्य की दण्ड-शक्ति और समाज की प्रभाव-शक्ति के द्वारा हो सकता हैं, फिर धर्म की क्या आवश्यकता है?

इसका समाधान यह है कि मनुष्य की प्रवृत्ति के तीन निमित्त हैं, अर्थात् तीन प्रेरणास्रोत है—(१) शक्ति, (२) प्रभाव और (३) सहजवृत्ति। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं—दण्डप्रेरित, भय एवं लोभ प्रेरित और सहज संस्कार प्रेरित। जिस प्रकार पशुओं को डण्डे से हाँका जाता है, उसी प्रकार दण्ड-प्रेरित व्यक्ति राज्य की दण्ड-शक्ति से हाँके जाते हैं। परन्तु दण्ड-शक्ति से व्यक्ति के स्वतन्त्र मनोभावों का विकास नहीं हो पाता। दण्ड-शक्ति राज्य-संस्था का आधार है, इसका सूत्र है सबको दण्ड-शक्ति से अहिंसादि का पालन करने के लिए बाध्य कर दिया जायगा।

---

१ स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं, न च व्ययप्राप्तम् ॥२३७॥ —प्रशमरतिप्रकरण

२ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। —भगवद्गीता, अ० ५, श्लो० १९

इसके पश्चात् प्रभाव-क्षमता समाज सस्था का आधार है। समाज मे रहकर मनुष्य भय और प्रलोभन दोना प्रकार के प्रभाव से हिसा आदि पापकृत्य करने स प्राय रुकता है। समाज की प्रभाव-क्षमता मनुष्यों को बाँधती है। परन्तु वह भी भय और प्रलाभन पर आधारित मानसिक अनुभूति की स्थूल दिशा है। इसमे और दण्ड-शक्ति मे स्थायित्व नही है और न ही मनुष्य स्वतन्त्र रूप से विचार और विवेकपूर्वक हृदय की सहज वृत्ति से प्रेरित होकर हिसादि अपराधो मे रुकता है या अहिसादि का पालन करता है। इसे वास्तविक रूप मे अहिंसादि धर्म का पालन भी नही कहा जा सकता है।

अगर इसे अहिसादि का पालन कहे तो एक कसाई या चार का जब तक जेल मे बन्द कर रखा है, तब तक वह जीवहिसा या चोरी नही करता, तो क्या इसमे उसे अहिसाव्रती या अचौयव्रती कहा जा सकेगा? कदापि नही।

इसीलिए धम की आवश्यकता है। जो काय स्थायी रूप स राज्य की दण्ड-शक्ति या समाज की प्रभाव-क्षमता नही कर सकती, उसे धर्म कर सकता है। धर्म मनुष्य के हृदय की सहज वृत्ति है। एक पापी म पापा, हिसक या चोर आदि व्यक्ति भी जब धर्म को स्वीकार कर लेता है, हिंसा, चोरी आदि पापो का स्वेच्छा से त्याग (प्रत्याख्यान) कर लेता है, तब वह अपने प्राणो पर खेलकर भी त्याग किये हुए हिसा आदि पापो को जीवन मे कदापि नही अपनाता।

धर्म मनुष्य का हृदय-परिवतन करता है, वह शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस मे आत्मौपम्य-भाव जगाता है। व्यक्ति जब अन्तर् की सहज स्फुरणा से हिसा आदि को सवथा तिलाजलि दे देता है वही हृदय परिवर्तन है जिसे धर्म के सिवाय कोई नही कर सकता।

विश्व के इतिहास मे ऐसे पतितो और पापियो के सैकडो उदाहरण मिलेंगे, जिन्होने धर्म का अवलम्बन लेकर अपने जीवन के कँटीले-कँकरीले माग को बदल दिया, वे सन्मार्ग पर आगए और जगत् के इतिहास मे परम धार्मिक के रूप में अमर हो गए। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के मानव को स्थायी रूप से सत्पथ पर चलाने के लिए शुद्ध धर्म की आवश्यकता प्रत्येक काल मे रही है, आज भो है और सदा रहेगी।

अगर धर्म मानव जीवन मे नहीं होगा, तो मनुष्य मानवभक्षी, बर्बर, पापाक्रान्त, हत्यारा, व्यभिचारी, चोर आदि होकर पशुओ से गया-बीता हो

जाएगा। नीतिकारो ने तो कह ही दिया है कि मनुष्य और पशु की आकृति और अगोपागो मे भिन्नता होने पर भी, आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि सज्ञाओ मे पशुओ के समान है, इसलिए मनुष्य मे अगर धर्म न हो तो पशु और मनुष्य मे कोई अन्तर नहीं है। दोनो के हृदय[1] धर्मविहीन होने से एक-से हैं। बल्कि हिंसा आदि कई पापो से धर्मविहीन मनुष्य पशुओ से भी निकृष्ट बन जाता है। धर्मविहीन मनुष्य दानवो के समान क्रूरहृदय हो जाता है उसके मन मे हिंसा आदि पापो का आचरण करते समय कोई सकोच, विचार या विवेक नही होता।

निष्कर्ष यह है कि विश्व के मानवो मे निहित पाशविक तथा दानवाय वृत्ति को तथा उसके कारण उनके मन मे उठने वाले हिंसादि पाप भावो को रोकने और अहिंसा आदि की वृत्ति स्थायी रूप से जगाने का कार्य धर्म करता है। धर्म का दायरा कर्तव्य से अत्यधिक विशाल है। कर्तव्य के दायरे मे तो मनुष्य उतना ही करता है, जितना दूसरे ने उसके लिए किया है अथवा सामाजिक एव राजनीतिक विधि-विधानो के अनुसार उसके लिए उत्तरदायित्व निश्चित किये गये हैं, किन्तु धर्म के दायरे मे मनुष्य कर्तव्य से भी ऊपर उठकर अज्ञात, अपरिचित एव अपकारी के प्रति भी अहिंसा, मैत्री, सवा, दया, क्षमा आदि धर्म-भावो का सक्रिय आचरण करता है। धर्म मे किसी प्रकार का स्वार्थ, सौदेबाजी, कामना, यश-कीर्ति की भावना, प्रलोभन या भय की प्रेरणा नही होती। शुद्ध धर्म का आचरण नि स्वार्थ, निष्काम, निर्निदान, दण्डादि शक्तियो से अप्रेरित सहज-स्फुरित होता है।

इससे भी आगे बढकर धर्म मानव को आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देता है। धर्म के द्वारा मनुष्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पराकाष्ठा पर पहुँच कर अपने अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यह कार्य राज्य की दण्ड-शक्ति या समाज की प्रभावक्षमता का कतई नही है।

इन सब महत्त्वपूर्ण कारणो से धर्म की विश्व को नितान्त आवश्यकता है।

धर्म मानव-जीवन का प्राण

यह निर्विवाद सत्य है कि जो मनुष्य धर्म का यथाविधि आराधन एव आचरण करते हैं, वे सुसस्कारी और सभ्य बनकर

---

१ आहार-निद्रा-भय-मैथुन च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥ —हितोपदेश

शनैः-शनैः आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच सकते हैं. स्वेच्छा से वे अपने कर्तव्य का पालन करते है. समय आने पर वे दूसरो के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणो का बलिदान भी कर सकते हैं, सेवा, दया, क्षमा, मैत्री आदि का सक्रिय आचरण करके अपनी आत्म-शक्ति का परम विकास कर सकते हैं। उत्तरोत्तर उन्नत भूमिकाओ (गुणस्थान श्रेणियो) का स्पर्श करके वे केवलज्ञान, वीतरागता, क्षीणमोहता एव समस्त कर्मक्षय क्षमता प्राप्त करके मोक्ष-महालय में भी प्रविष्ट हो सकते है।

अतः जो मनुष्य आदर्श, उत्तम और अच्छा जीवन जीना चाहते है, धर्माराधन के बिना वे एक कदम भी नही चल सकते। पद-पद पर एव श्वास-श्वास में उन्हें धर्म की आवश्यकता रहेगी। यही कारण है कि जैसे भूतकाल में धर्म की आराधना करके लाखो-करोडो प्राणी संसार से तर चुके वैसे वर्तमान में भी करोडों मानव संसार-सागर से पार होने के लिए किसी न किसी रूप में धर्माराधना कर रहे हैं।

अगर धर्म की आवश्यकता न होती तो प्रागैतिहासिक काल से—भगवान् ऋषभदेव के युग से धर्म का प्रवर्त्तन ही क्यों होता ? अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि कुल, जाति, गण, ग्राम, नगर, राष्ट्र, प्रान्त, समाज आदि की सुव्यवस्था सुरक्षा, सुख-शान्ति आदि के लिए प्रत्येक युग में धर्म की आवश्यकता रही है और रहेगी। अगर व्यक्ति, कुल, गण, जाति, राष्ट्र, समाज आदि के जीवन से धर्म विदा हो जाए तो एक दिन भी उनकी व्यवस्था नहीं चल सकती। इसीलिए वेदो में कहा गया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

धर्म समग्र विश्व का आधार है, प्रतिष्ठान है। धर्म के बिना कोरी राज्यशक्ति से या समाज-प्रभावक्षमता से विश्व का तन्त्र एक दिन भी चलना कठिन है।

एक आचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है कि पुष्प में सुगन्ध न हो, मिश्री में मिठास न हो, अग्नि मे उष्णता न हो, घृत में स्निग्धता न हो तो उनका क्या स्वरूप बच रहेगा ? कुछ भी तो नहीं; उपर्युक्त सभी पदार्थ निःसार, निःसत्त्व कहलाएँगे। ठीक यही दशा धर्म-रहित मानव की है। धर्म के बिना मानव-जीवन प्राणरहित शव जैसा है।

धर्म की उपयोगिता

यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य है कि इस जगत् में सभी प्राणियों की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है, परन्तु सुख-प्राप्ति के लिए अहर्निश इतनी दौड़-धूप करने पर भी संसार के सभी प्राणी दुःखी क्यो हैं ?

जिन्हें पेट भरने के लिए अन्न और तन ढांकने के लिए वस्त्र नहीं मिलता, उनकी बात जाने दीजिए, जो धनाढ्य हैं, साधनसम्पन्न हैं, वे भी किसी न किसी अभाव से—दुःख से पीडित हैं। निर्धन धन के लिए छटपटाते हैं और धनवानों को धन की तृष्णा चैन नही लेने देती। निःसन्तान सन्तान के लिए रोते हैं और सन्तान वाले भरण-पोषण के लिए या कुसन्तान होने से चिन्तित हैं। किसी का पुत्र मर जाता है या किसी की पुत्री विधवा हो जाती है तो वह दुःखी है। कोई पत्नी के बिना दुःखी है तो कोई कुभार्या मिलने के कारण दुःखी है। इस प्रकार सारा संसार किसी न किसी दुःख से दुःखी है और अपनी-अपनी बुद्धि तथा रुचि-प्रवृत्ति के अनुसार दुःखनिवारण के लिए प्रयत्न करता है, फिर भी दुःखो से छुटकारा नही होता। अधिकांश मनुष्यों का जीवन सुख की चाह को पूरा करने में व्यतीत हो जाता है, फिर भी उनकी सुख की चाह पूर्ण नही होती, इसका क्या कारण है ?

भारतीय संस्कृति एवं धर्म के उन्नायकों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—सुख के तीन साधन माने जाते हैं—१. धर्म, २ अर्थ और ३. काम। इनमें से धर्म ही सुख का मुख्य और उत्कृष्ट साधन है, बाकी के दोनो साधन गौण है, क्योकि सर्वप्रथम तो शुद्ध धर्माचरण के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही कठिन है। कदाचित् इनकी प्राप्ति हो भी जाय तो भी अधर्म-अनीतिपूर्ण साधनो से उपार्जित अर्थ और काम सुख के बजाय दुःखों के ही कारण बनते है। उदाहरणार्थ—चोरी से धन कमाने वालों और परस्त्रीगामियो को देख लीजिए; इन कामों में वे सुखेच्छा से प्रवृत्त होते है, परन्तु उस धन और काम-भोग से उन्हें कितना सुख मिलता है, यह उनकी अन्तरात्मा ही जानती है। सन्तोष के बिना तृष्णा की ज्वाला में जलते हुए मनुष्यों को सुख का लेश भी नही मिलता है।

इसी प्रकार काम-भोग की लालसा में पड़कर काम-भोग के साधन—शरीर, इन्द्रियाँ आदि को जर्जर कर देने वाले क्या कभी सुखी हो सकते हैं ? फिर अर्थ और काम, ये दोनो सदा ठहरने वाले नहीं हैं, नश्वर है, तब वे उन मनुष्यों को स्थायी और स्वाधीन सुख कैसे दे सकते हैं ? परन्तु आज लोगों की यह भ्रमपूर्ण मान्यता बन गई है कि अधिकाधिक सम्पत्ति और भोगोपभोग के विविध साधनो से सम्पन्न होने पर मनुष्य सुखी होता है, उसे लोग आदर देते है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती है। फिर उनकी देखा-देखी क्या मूर्ख और विद्वान्, क्या ग्रामीण और क्या शहरी सभी अर्थ और काम के लिए भरसक पुरुषार्थ करते हैं।

नि स्वार्थ-निष्काम शुद्ध धर्म मे प्रथम तो प्राय लोग पुरुषार्थ करना ही छोड बैठे हैं। अगर कोई 'धर्म' के विषय मे तथाकथित पुरुषार्थ करना भी है तो उसके अन्तर्हृदय में अर्थ-काम प्राप्ति की लालसा अंगडाई लेती ही रहती है। ऐसी स्थिति में वे अर्थ काम-परायण मनुष्य दु खी न हो तो क्यो न हो। बल्कि ऐसे लोगो की प्रबल अमर्यादित अर्थ-लालसा और काम-लालसा केवल उन्हें ही दु खी नही करती परन्तु उनके पूरे परिवार जाति ग्राम नगर राष्ट्र और समाज को दु खी और अशान्त बना देती है। क्योकि अनैतिक तरीको से उचित-अनुचित का विचार किये बिना जो धन कमाता है अथवा चोरी या छल से धनोपार्जन करता है वह दूसरो के कष्ट का कारण अवश्य होता है।

फिर दूसरे चतुर लोग भी उसी का अनुसरण करके उसी रीति से येन-केन-प्रकारेण धन कमा कर धनवान बनने की चेष्टा करते है। इस प्रकार परम्परा से एक-दूसरा को कष्ट पहुँचा करके सारे ही समाज को दु खी कर डालते है। यही बात उच्छृखल काम-भोग के सम्बन्ध मे है।

निष्कर्ष यह है कि धर्म के अकुश के बिना निरकुश अर्थ काम सेवन से मनुष्य सुखी होने की अपेक्षा दु खी ही होते है। अत यह सिद्ध हुआ कि सुख के साथ धम का ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। चाणक्य नीतिसूत्र के अनुसार सुख का मूल धम है।

सुख का कारण—इच्छाओं का निरोध

वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ सुख वास्तव मे सुख है ही नही वह तो उलटे दु ख का कारण बनता है उसका परिणाम दु खप्रद होता है। इसके अतिरिक्त एक ही पदार्थ या व्यक्ति किसी के लिए और कभी सुख का साधन होता है तो किसी के लिए और कभी दु ख का साधन भी हो जाना है। जैसे—जो भोजन सुखकारक प्रतीत होता था वही अजीर्ण मे या रोग-शोक के समय दु खकारक बन जाता है। उसा मे यदि विष मिला हो तो मृत्यु का कारण भी हो जाता है।

पुत्र जब तक माता-पिता का आज्ञाकारी रहता है तब तक सुख का साधन होता है और जब वही उद्दण्ड हो जाता है तो दु ख का कारण बन जाता है।

अत यह स्पष्ट है कि कोई भी बाह्य पदार्थ या व्यक्ति एक के लिए

---

१ सुखस्य मूल धम —चाणक्यनीतिसूत्र सू २

और एकदा सुख का कारण बनता है वही दूसरे के लिए या दूसरे समय मे दु ख का कारण बन जाता है। और फिर कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप मे न सुख का कारण है न स्वय सुख रूप है न ही सदा सुख दे सकता है। अज्ञानवश ही मानव बाह्य पदार्थ या व्यक्ति को सुख रूप मानता है।

इसी प्रकार शरीर मे उत्पन्न होने वाले भूख प्यास कामसेवन आदि विकारो की क्षणिक शान्ति के उपायो को भी मनुष्य भ्रमवश सुख साधन मान लेता है किन्तु वास्तव मे ये सुख के साधन नही है। इच्छाओ की पूर्ति होने पर सुख मानने वाले भी भ्रम मे है। इच्छाओ की पूर्ति मे कदापि सुख नही है जो इस सत्य को नही समझते वे इच्छा को न रोक कर (सयम न करके) इच्छा के अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके सुखी होने का प्रयत्न करते है किन्तु एक इच्छा के पूर्ण होते न होते दूसरी इच्छा पानी की लहर की तरह आ धमकती है दूसरी पूर्ण नही होती तब तक तीसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस तरह इच्छाओ का प्रवाह बहता ही रहता है। किसी की समस्त इच्छाएँ पूर्ण होनी सम्भव नही है। पुन पुन इच्छा का उत्पन्न होना और उसकी पूर्ति न होना दु ख का कारण है। अत इच्छाओ का निरोध (तपश्चरण रूप धर्म) करना ही सुख का सच्चा उपाय है।[1] स्वच्छन्दता—निरकुशता या उच्छृखलता को रोकने से ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

सच्चा सुख आत्मस्वाधीनता

इन्द्रिय विषयो के उपभोग द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह पराधीन और क्षणिक है। भूख लगने पर रुचिकर पदार्थ मिलने से सुख प्रतीत होता है लेकिन रुचिकर पदार्थ मिलना किसी के वश की बात नही न मिला तो दु ख हुआ मिल गया किन्तु अचानक शोकजनक पत्र मिलने से उसका उपभोग न कर सकने के कारण दु ख होता है। फिर एक बार भरपेट भोजन कर लेने पर फिर दूसरी बार भूख सताती है और मनुष्य भोजन के लिए विकल होता है। अत इस प्रकार से प्राप्त होने वाला सुख वास्तव मे सुख ही नही है किन्तु दु ख ही है। सच्चा सुख वह है जो स्वाधीन हो[2] तथा जिसे एक बार प्राप्त कर लेने पर फिर दु ख का भय न रहे। ऐसा स्वाधीन

---

१ (क) इच्छानिरोधस्तप।
(ख) छन्दनिरोहेण उवेइ मोक्खं। —उत्तरा अ ४ गा ८

२ सर्वमात्मवशं सुखम्।

और स्थायी सुख का साधन न तो अर्थ है, न काम है, न इन्द्रिय-विषय हैं, और न ही इच्छानुकूल पदार्थ या व्यक्ति हैं, किन्तु धर्म ही स्वाधीन और स्थायी सुख का साधन है, जो पूर्वोक्त सुखाभासों तथा दुःखों से छुड़ाकर सुख ही नहीं, उत्तम सुख प्राप्त करा सकता है। आचार्य समन्तभद्र का धर्म की उपयोगिता के सन्दर्भ में इसी ओर संकेत है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निबर्हणं।
संसार-दुःखतः सत्वान् यो धरति उत्तमे सुखे ॥[1]

—मैं कर्मबन्धन का नाश करने वाले उस समीचीन धर्म का प्रतिपादन करता हूँ, जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरता, प्राप्त कराता है।

इसमें से तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) संसार (सांसारिक पदार्थ या व्यक्ति) अपने आप में दुःख रूप है।

(२) उन दुःखों का कारण प्राणियों के अपने-अपने कर्म हैं।

(३) धर्म उन कर्मों के क्षय का उपाय है, स्वेच्छा से तप, त्याग, संयम द्वारा आत्मदमन रूप धर्म, सुख रूप है।[2] धर्म उन दुःखों एवं सुखाभासों से छुड़ाकर प्राणी को उत्तम (स्वाधीन एवं स्थायी) सुख प्राप्त कराता है।

धर्म की उपयोगिता इसी स्वाधीन एवं स्थायी सुख को प्राप्त कराने में है, जो अर्थ-काम आदि किसी भी अन्य उपाय से प्राप्त नहीं हो सकता। धर्म से ही मनुष्य की सच्चे स्वाधीन सुख की इच्छा की पूर्ति हो सकती है।

विवेकदृष्टि से सोचा जाए तो 'संसार के समस्त पदार्थ, जिनसे मनुष्य सुख की आशा रखता है, अध्रुव हैं, अशाश्वत (नाशवान्) हैं। प्रत्येक पदार्थ, जिसमें मनुष्य सुख की कल्पना करता है, परिवर्तनशील है। इसलिए इस दुःख प्रचुर संसार में या सांसारिक पदार्थों में सुख तो राई भर है मगर दुःख पर्वत के बराबर है। फिर वह राई भर सुख भी सच्चा सुख नहीं है—सुख का विकार है—सुखाभास है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को सोचना चाहिए कि वह कौन-सा कार्य है, जिससे मैं दुर्गति—दुःख से बच सकूँ।[3]

---

१ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, श्लोक २

२ अप्पा दंतो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य। —उत्तरा० अ० १, गा. १५

३ अधुवे असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छे॥ —उत्तरा० अ. ८।१

यह तो निश्चित है ही कि स्वाधीन और सच्चा सुख धर्म से ही प्राप्त होता है। ऐसे सच्चे सुख के भागी, धर्म को जीवन में ओतप्रोत कर देने वाले पूर्ण धर्मिष्ठ वीतरागी मुनि ही हो सकते हैं, अथवा वीतराग मार्ग पर चलने वाले धर्मिष्ठ साधु-श्रावकवर्ग हो सकते है।

एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—'रत्नों के विमान में निवास करने वाले, देवांगनाओं के साथ विलास करने वाले, कई सागरोपम की आयु के धारक देवता भी सुखी नही है। छह खण्ड पृथ्वी पर राज्य करने वाले, हजारों रानियो के साथ विषय-विलास करने वाले और देवों द्वारा सेवित चक्रवर्ती राजा भी सुखी नही है और न ही धनाढ्य सेठ या सेनापति ही सुखी है। तात्पर्य यह है कि इस संसार के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वैभव सम्पदा के धनी व्यक्ति भी सुख के पात्र नहीं है। अगर सच्चे माने में कोई सुखी है, तो धर्मधुरन्धर वीतरागी साधु ही सुखी हैं।[१]

धर्म की उत्पत्ति

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म की उत्पत्ति का क्या कारण है ? मानव जाति के समक्ष ऐसी कौन-सी समस्याएँ या कठिनाइयां आयीं, जिन्हें हल करने के लिए उसके हृदय में धर्म की प्रबल भावनाएँ जागृत हुई ?

आदिम युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अकर्मभूमि से कर्मभूमि में जब से मानव जाति ने प्रवेश किया, तब से सारी परिस्थितियाँ बदल गई थीं, राज्य व्यवस्था, समाज व्यवस्था एवं संघ व्यवस्था में सर्वत्र विविध क्षेत्रों में प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने धर्म का प्रवेश कराया। इसी शुभ उद्देश्य से धर्म का श्रीगणेश हुआ। इसी परम्परा के अनुसार आगे के तीर्थंकरों ने भी प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ 'धर्म' पालन की प्रेरणा दी। शास्त्र में यत्र तत्र 'धम्मो कहिओ' (धर्म का प्रतिपादन किया) वाक्य इसी उद्देश्य का सूचक है।

ह्यूम, कांट, हेगल, जेन ऑस्टिन, डीवी आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने धर्म की उत्पत्ति का आधार मानव-जीवन में आने वाले भय, आशा, प्रलोभन, नैतिकता (Morality) अथवा मानव की असहाय अवस्था आदि बताया

---

१ नवि सुही देवता देवलोए, न वि सुही पुढवीपइ राया।
नवि सुही सेट्ठि सेणावइ य, एगंतसुही मुणी वीयरागी ॥

है। भारतीय परम्परा मे धर्म की उत्पत्ति का मुख्य कारण जन्म-मरणादि की दु ख परम्परा से मुक्ति की अभिलाषा है।

धर्म की शक्ति

धर्म की शक्ति अचिन्त्य है अपरिमित है। धर्म साधारण मे साधारण व्यक्ति को महापुरुष बना सकता है और हत्यारे चोर डाकू व्यभिचारी और वेश्यागामी पापी को सत-महात्मा के पद पर आसीन कर सकता है।

अमरकोश के प्रसिद्ध टीकाकार भानुजी दाक्षित कहते है—धरति विश्व मिति धर्म ' जो विश्व को धारण करता है वह धर्म है। विश्व का धारण पोषण और रक्षण करने तथा समाज को सखमय बनाने एव प्राणियो का जन्म-मरणादि की दु ख परम्परा से मुक्त कराने की शक्ति अगर किसी मे है तो धर्म मे ही है।[1] दीपक जैसे अन्धकार-समूह का नाश कर देता है अमृत बिन्दु विष को निष्प्रभावी कर देता है वैसे ही धम अमगल और पाप के पु ज का नाश कर देता है। इसीलिए महापुरुषो ने धम की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते हुए कहा है—धर्म सर्वोत्कृष्ट मगल[2] है— पापनाशक है। धम ही समस्त मगलो का मूल है। वही सर्व मगलो का मगल है और सवकल्याण कारक है।

इसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व रूप उत्तम सिद्ध पद और उत्तम अरिहन्त वीतरागपद की प्राप्ति के लिए एक मात्र साधन अहिसा सत्यादि अथवा क्षमा, समता वीतरागता आदि उत्तम धर्म है। धम के द्वारा ही अरिहन्त सिद्ध और साधु पदो को उत्तमत्व प्राप्त है।

धर्म की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है— एक तो वह आपदग्रस्त व्यक्तियो का रक्षण करता है शरण देता है। दूसरे वह सुख की प्राप्ति कराता है।

एक आचार्य ने धर्म की इस द्विविध शक्ति पर सुन्दर प्रकाश डाला है—सैकडो कष्टो मे फँसे हुए क्लेश और रोग मे पीडित मरणभय से हताश दु ख और शोक से पीडित—व्यथित तथा जगत् मे अनेक प्रकार से व्याकुल

---

१ जरा-मरण वेगेण बुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तम। —उत्तराध्ययन अ २३ गा ६८

२ (क) धम्मोमगलमुक्किट्ठ। —दशवैकालिक अ १ गा १
(ख) सर्वमगलमांगल्य सर्वकल्याणकरणम्।

एवं निराश्रित एव असहायजनो के लिए एक मात्र धर्म ही नित्य शरण भूत है।'

ससार के जितने भी पदार्थ एव व्यक्ति है वे मनुष्य को शरण नही दे सकते। न धन न परिजन न राज्य न ऐश्वर्य न सुखभोग के साधन न सैन्य न मित्र न शरीर और न ही अपनी बुद्धि यहां तक कि कोई भी कुछ भी शरण नही दे सकते। संसार दु ख की ज्वालाओ से चारो ओर धाय धाय करके जल रहा है। कही भी सुख शान्ति नही। झौपडी वाले अपने दु खो से व्याकुल है और महल वाले अपनी कठिनाइया परेशानियो से चिन्तित — व्यथित है। दरिद्र अपनी सीमा मे दु खी है तो धनाधीश अपनी सीमा मे दु खी है। सभी मनुष्य असहाय, निरुपाय और निराश्रित है। किसकी शरण मे जाएँ ? मानव के देखते ही देखते मृत्यु धर दबोचती है बुढापा आ घेरता है उस समय विवश जीवात्मा को कौन शरण देता है ? कौन बचाता हैं ? एक मात्र धर्म ही जीवो को शाश्वत शरण दे सकता हैं रक्षण कर सकता है।

नीतिकार भी स्पष्ट कहते है—मृत्यु के समय धन तिजोरी मे बन्द पड़ा रह जाता है पशुधन बाडे मे बन्द खडा रहता है नारी घर के दरवाजे तक और मित्रजन श्मशान तक आते हैं। कोई भी उस समय जीव को शरण नही दे सकता। केवल धर्म ही उस समय शरण देता है। धर्म की शरण मे आने पर ही मनुष्य को सुख शाति मिलती हैं। मोहमाया मे व्याकुल आत्मा का उद्धार और कल्याण धर्म की शरण मे आने पर ही हो सकता है।

इस पर से धर्म की अचिन्त्य शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। धम की अपार शक्ति के परिचायक जैनशास्त्रो और ग्रन्थो मे सैकडो उदाहरण मिलते है।

धर्म की महिमा

धर्म की महिमा के सम्बन्ध मे क्या कहा जाए ? जो व्यक्ति धर्म पालन करते हैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का शुद्ध अन्त करण से आचरण करते हैं, वे जानते हैं कि धर्म की कितनी महिमा और गरिमा है। मनुष्य क्यो

---

१ (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ २० गाथा २२ से ३१ तक

(ख) व्यसनशतगताना क्लेशरोगातुराणां
मरणभयहताना दु खशोकार्दितानाम ।
जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानाम्
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्म ॥

ही धर्म का शुद्ध मन से आश्रय लेता है, त्यों ही उसके मन में अपूर्व शान्ति, प्रसन्नता, उल्लास, उत्साह और आत्मबल का स्रोत फूट पड़ता है। यहाँ तो धर्म का प्रत्यक्ष फल उसे मिलता ही है। परलोक में भी उसे सुख, समृद्धि, उत्तम गति, कुल आदि प्राप्त होता है। धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए दशवैकालिक सूत्र में आचार्य शय्यंभव कहते हैं—

देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।[1]

जिसका मन सदैव धर्म में रत रहता है, उसके चरणो में देवता, चक्रवर्ती, शासक, श्रेष्ठी आदि सब नमस्कार करते है। दिग्दिगन्त में उसकी यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा गूँज उठती है।

धर्म की महिमा के सम्बन्ध में एक आचार्य कहते हैं—'धर्म की उचित रूप में आराधना से उच्चकुल में जन्म होता है, स्वस्थ-नीरोग शरीर और पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता की प्राप्ति होती है। धर्म से ही सौभाग्य, दीर्घायुष्य, बल, निर्मल यश, विद्या और अर्थ-सम्पत्ति प्राप्त होती है। धर्म का आराधन घोर जंगल में महान् भय उपस्थित होने पर भी उसके आराधक का रक्षण करता है। वस्तुतः ऐसे धर्म की सम्यक् प्रकार से उपासना करने पर वह स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) सुख-प्रदायक बनता है।[2]

शुद्ध धर्म प्राप्ति की दुर्लभता के कारण

पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त तथा आराध्य कोटि का धर्म—शुद्ध धर्म प्राप्त करना तथा उसकी साधना-आराधना करना बहुत ही दुर्लभ है।[3] उसकी दुर्लभता के कुछ मुख्य कारण[4] आचार्यों ने बताए है, उन पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) मनुष्य-जन्म

धर्म की उत्कृष्ट आराधना, सर्वोच्च साधना मनुष्यगति एवं मानवभव

---

१ (क) दशवैकालिक अ.१ गा.१ (ख) 'धर्मो रक्षति रक्षितः'

२ धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलम्,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्याऽर्थसम्पत्तय ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥

३ लभंति विउले भोए, लभंति सुरसंपया ।
लभंति पुत्तमित्तं च एगो धम्मो सुदुल्लहो ॥

४ उत्तराध्ययन अ.३, गा.१ से २१ तक

में ही हो सकती है। धर्म की सर्वोच्च आराधना का अधिकारी देव तो हो नहीं सकता, न ही नारक हो सकता है, इन दोनों भवों में अधिक से अधिक तो सम्यग्दर्शन हो सकता है, व्रताचरण नहीं। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के भव में जीव सम्यग्दर्शन एवं देशविरति श्रावकव्रत का आचरण कर सकता है। मनुष्य चाहे तो वह सम्यग्दर्शन और देशविरति श्रावक व्रताचरण की भूमिका से भी आगे बढ़कर सर्वविरति साधुत्व का अंगीकार कर सकता है। परन्तु मनुष्यजन्म मिलना भी आसान नहीं है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय की योनि एवं भव को पार करने पर प्रचुर-पुण्य राशि संचित होने पर ही मनुष्य जन्म मिलता है। इसीलिए आत्मिक उत्थान की दृष्टि से मनुष्य-पर्याय को चिन्तामणि रत्न से उपमा दी गई है। क्योंकि जिस प्रकार चिन्तामणि मनुष्य को लौकिक सुखों की प्राप्ति कराने में सक्षम है उसी प्रकार उत्साहपूर्वक धर्म-पुरुषार्थ करने वाला मनुष्य पारलौकिक सुखों, यहाँ तक कि मुक्ति-सुख को भी प्राप्त कर सकता है।

(२) आर्यक्षेत्र

मनुष्य जन्म मिल जाने पर आर्यक्षेत्र का मिलना दुर्लभ है, जहाँ उसे धर्मात्मा महापुरुषों एवं धर्मधुरन्धरों का समागम एवं धर्म का वातावरण मिल सकता है। अधिकांश व्यक्ति मनुष्यजन्म प्राप्त कर लेने पर भी अनार्य क्षेत्र में जन्म लेते है, वहाँ धर्म का सुसंयोग मिलना दुर्लभ है।

(३) उत्तम कुल

कदाचित् किसी मनुष्य को आर्य क्षेत्र मिल भी जाए फिर भी उत्तम कुल में जन्म होना बहुत हो प्रबल भाग्य से मिलता है। उत्तम कुलों में धर्माचरण होता रहता है, वहाँ धर्मपरायण माता-पिता, भाई-बहन, परिवारी-जन आदि मिलते हैं। इस कारण धर्म-सम्मुखता अनायास ही हो जाती है। किन्तु नीच कुल में जन्म होने पर मनुष्य धर्म के पवित्र वातावरण से प्रायः वंचित रहता है। नीच कुलों में पापी-जनों की संगति और पापाचरण की प्रेरणा हो प्रायः मिलती है।

(४) दीर्घ-आयु

मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र और उत्तम कुल प्राप्त होने पर भी कई मनुष्य अल्पायु होते हैं, प्रसवकाल में या शैशवकाल में ही मरण-शरण हो जाते हैं। आयु की अल्पता के कारण वे धर्माचरण नहीं कर पाते। धर्म उनके लिए अतीव दुष्प्राप्य होता है। अल्पायु वाला मानव धर्म को समझ भी नहीं पाता आचरण तो दूर की वस्तु है।

(५) अविकल इन्द्रियाँ

कदाचित् पुण्ययोग से दीर्घायु भी प्राप्त हो गई और यदि इन्द्रियाँ परिपूर्ण न मिलें तो भी मनुष्य प्रायः धर्माचरण नहीं कर पाता। जैसे कोई व्यक्ति जन्मान्ध होता है, वह पढ़-लिख नही सकता, इसलिए धर्म का बोध उसे प्राप्त होना प्रायः दुष्कर होता है, कोई बहरा होता है, वह धर्म-श्रवण नहीं कर सकता, कोई गूंगा होता है, वह भी भलीभांति धर्मपालन नही कर पाता। प्रायः ऐसे मनुष्यों का जीवन भारभूत एवं पराधीन बन जाता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध धर्म का आराधन उनके लिए दुष्कर होता है।

(६) नीरोग शरीर

स्वस्थ और परिपूर्ण इन्द्रियाँ मिलने पर भी यदि शरीर नीरोग न रहता हो, किसी न किसी रोग से आक्रान्त रहता हो तो ऐसा व्यक्ति धर्माराधना नही कर सकता। शरीर स्वस्थ होने पर ही जप, तप, त्याग, संवर, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि सुचारु रूप से हो सकते है। स्वस्थ शरीर प्रबल भाग्य से मिलता है।

(७) सद्गुरु-समागम

पूर्वोक्त सभी संयोग मिल भी जाएँ, किन्तु सच्चे निर्ग्रन्थ त्यागी सद्गुरु का सत्संग एव दर्शन-सेवा आदि का लाभ न मिले तो सब कुछ व्यर्थ है, काता-पींजा कपास है; क्योंकि प्रायः कई व्यक्तियो को ऐसे कुगुरु मिल जाते है, जो उन्हें गुमराह करके सद्धर्म से वंचित कर देते हैं। ऐसे भंगेड़ी-गंजेड़ी, दुर्व्यसनी, दुराचारी कुगुरुओं के कुसंग से व्यक्ति दुर्व्यसनी, दुराचारी एवं अधर्मी ही बनता है। अतः सद्गुरु-समागम मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। सद्गुरु-समागम के बिना सद्धर्म की प्राप्ति होना भी अत्यन्त दुष्कर है।

(८) शास्त्र-श्रवण

इतने सब योग मिलने पर भी अगर व्यक्ति की रुचि धर्म या शास्त्रो के श्रवण-मनन-पठन-पाठन में या स्वाध्याय में न हुई तो सद्धर्म का बोध होना कठिन है। सद्धर्म के बोध के बिना या तो व्यक्ति धर्म से विमुख हो जाता है या फिर धर्म के नाम से भ्रान्त अशुद्ध धर्म को पकड़ लेता है। अतः शुद्ध धर्म की प्राप्ति शास्त्रश्रवण रुचि के बिना होना प्रायः दुर्लभ है।

धर्मश्रवण करने का लाभ भी प्रत्येक व्यक्ति नहीं उठा सकता।

स्थानागसूत्र मे बताया गया है— महारम्भ और महापरिग्रह, इन दो कारणों से व्यक्ति केवलिप्रज्ञप्त धर्मश्रवण का लाभ नही ले सकता।"[1]

बहुत से लोगो को धर्मश्रवण का लाभ तो मिलता है लेकिन धर्म-स्थान मे धर्मश्रवण करने हेतु आकर भी धर्मोपदेश के समय नीद लेने लगते है अन्यमनस्क हाकर धमश्रवण करते है उनका मन सासारिक बातो मे घूमता रहता है वे अनिच्छा से आते है और धर्मोपदेश के समय गप्पें लगाने लगते है।

इस प्रकार उनके द्वारा किया गया धर्मश्रवण भी निरर्थक और अश्रवण-सा हो जाता है। ऐसे श्रोता केवल प्रथापालन करने के लिए धर्म-स्थान मे आते है आर जडवत् बैठकर धर्मश्रवण करते है। श्रवण करने के बाद न तो वे मनन-चिन्तन कर पाते हैं न ही उसके अनुसार कुछ आचरण करने का प्रयत्न करते है। ऐस लोगो को धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

(९) शुद्ध श्रद्धान

कई लोग धमश्रवण ता करते है, लेकिन उनका धर्मश्रवण श्रद्धा रहित हाना है, व शास्त्र की प्रत्येक बात मे शका-कुशका करने लगते हैं। उनका श्रद्धारहित शास्त्र-श्रवण राख पर लीपने जैसा निरर्थक होता है। धर्म पर शुद्ध एव दृढ श्रद्धान के बिना धम उनके जीवन मे जरा भी नहीं उतरता। फलत वे धर्म प्राप्ति से बहुत दूर रहते है।

(१०) धर्मस्पर्शना

धम पर श्रद्धा रखने वाले सम्यग्दृष्टि जीव तो चारो गतियो में पाए जाते है लेकिन पूर्णरूप से धर्म की स्पर्शना (धर्माचरण) करने वाले केवल मनुष्यगति मे ही पाए जाते है। मनुष्यो मे भी अधिकाश मनुष्य ऐसे होते है, जो पूर्वोक्त सभी साधनो को प्राप्त करके शुद्ध धर्माचरण धर्मस्पर्शना से वचित रह जाते है। वे या तो मोहवश सासारिक भोग-विलासो मे फँस जाते है अथवा वे कुटुम्बीजनो के मोह मे ग्रस्त हो जाते है, अथवा महारम्भ-महापरिग्रह मे फँसने से उनको बुद्धि पर इतना गाढ़ आवरण चढा रहता है कि वे धर्म की स्पर्शना नहीं कर सकते, धर्माचरण मे पुरुषार्थ करने से वे कतराते है।[2]

---

१ 'दोहिं ठाणेहिं जीवा केवलिपण्णत्त धम्म न लभेज्ज सवणयाए—महारभेण चेव महापरिग्गहेण चेव।' —स्थानाग स्थान २

२ (क) माणुस्स विग्गहं लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जति तवं खंतिमहिंसयं ॥८॥ (contd.)

मुख्यतया इन दस कारणोंसे शुद्ध धर्म की प्राप्ति और उसकी स्पर्शना से जीवन में सदुद्देश्य की उपलब्धि अत्यन्त दुष्कर है।

एक ही धर्म के विविध प्रकार क्यों?

धर्म का सर्वांगीण स्वरूप और उसकी आवश्यकता, उपयोगिता, शक्ति और महिमा को जान लेने के बाद भी यह जानना शेष रह जाता है, कि धर्म—शुद्ध धर्म का स्वरूप सिद्धान्त आदि एक होते हुए भी उसके विभिन्न रूप और प्रकार क्यो दृष्टिगोचर होते है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यह कोई नियम नही कि सत्य का प्रकाश एक ही तरह से हो, भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विविध प्रकार से भी प्रकाश हो सकता है, और होता है। अनेकान्तवाद के सापेक्ष सिद्धान्त में एक ही सत्य को विभिन्न अपेक्षाओ से जब प्रकाशित करना होता है तो विभिन्न प्रकार से उसको अभिव्यक्ति की जाती है।

वेदो में भी कहा है—'एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'—'एक ही सत्य को विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से कहते ह।' इसी बात को अन्य शब्दो मे कहना हो तो यो कह सकते है—सिद्धान्त नही बदलते, परन्तु उनसे सम्बन्धित क्रियाएँ बदल जाती है।[१] जैसे—मनुष्य का हृदय तो एक ही होता है, अर्थात् उसके हृदय में तो धर्म के अहिसा, सत्यादि या क्षमा, मैत्री, दया आदि सिद्धान्त तो एक-से ही होते है, किन्तु सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, पारिवारिक आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रयोग करते समय उस-उस क्षेत्र की यथायोग्य भूमिका के अनुसार उसे विभिन्न प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। एक ही मनुष्य विविध जीवन क्षेत्रो में धर्म का विविध रूप में सक्रिय आचरण करता है।

दूसरी दृष्टि से विचार किया जाए तो एक ही शुद्ध धर्म के विभिन्न बाह्य रूपों के निर्माण होने में जैनधर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को मुख्य कारण मानता है। जैनधर्म का यह कथन है कि सभी जीव संसारी अवस्था में द्रव्य की अपेक्षा समान नही होते, क्योंकि उनके विकास, उम्र, आरोग्य, बल,

---

(ख) आहच्च सवण लद्धु सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउय मग्ग बहवे परिभस्सइ ॥९॥

(ग) सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहा।
बहवे रोयमाणा वि नो एणं पडिवज्जए ॥१०॥ —उत्तरा० अ ३

१ 'Principles are not changed but practice is changed.'

उत्साह, श्रद्धा, संस्कार आदि में तारतम्य होने से उनकी भूमिकाएँ पृथक् पृथक् होना स्वाभाविक है।[1] तदनुसार उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः इन सभी जीवों—विशेषतः मनुष्यों के लिए आचरणीय धर्म का एक ही रूप कैसे संभव हो सकता है ?

धर्म के विभिन्न रूपों के होने में क्षेत्रीय (ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि की) पृथक् पृथक् परिस्थिति भी कारण है। सभी क्षेत्रों की परिस्थिति सदैव एक-सी नही रहती। उदाहरणार्थ—एक धर्म जिस रूप में भारत राष्ट्र में पाला जाता है, उस रूप में चीन, जापान, रूस या अमेरिका में पाला नही जा सकता और जिस रूप में चीन आदि राष्ट्रों में पाला जा सकता है, उस रूप में भारत में नही पाला जा सकता। भौगोलिक परिस्थिति के कारण उसमें अवश्य ही कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होगा।

उदाहरणार्थ--प्रणाम, प्रार्थना और पूजा ये धर्म के अंग है। परन्तु प्रणाम, प्रार्थना और पूजा करने के ढंग, तरीके या परम्पराएँ या रूप विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। केवल प्रणाम करने की रीतियां ही इस विश्व में इतनी भिन्न है, कि वे एक दूसरे से नहीं मिलती। इसी प्रकार अन्य व्यवहारों में भी भिन्नता है, फिर भी धर्म को सबके साथ अनुस्यूत करने के कारण उन विभिन्न प्रथाओ को धर्म का रूप मान लिया जाता है।

आचरणीय धर्म के विविध रूप होने में काल का भी बहुत बड़ा हाथ है। चतुर्थ आरे में धर्मपालन का जो रूप था, पंचमकाल में वह रूप नहीं रह सका। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में चातुर्याम धर्म के पालन में ही पंच-महाव्रतों का पालन गतार्थ हो जाता था, किन्तु भगवान् महावीर ने अपने युग में साधकों के मनोभाव, बल, उत्साह आदि देखकर साधकों के लिए पंच महाव्रतो और छठे रात्रिभोजनविरमणव्रत का विधान किया।

इसी प्रकार महाव्रतों और तदनुरूप समाचारी के पालन का जो रूप भगवान् महावीर के युग में था, उसके पश्चात् उत्तरोत्तर कालक्रम से महाव्रतों के पालन के रूप में परिवर्तन होता गया।

इस प्रकार काल के अनुसार भी धर्म के रूप में अन्तर पड़ता है। आद्य शंकराचार्य ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिस देश या काल में जो

---

१ (क) दव्वं खेत्तं कालं भावं च विण्णाय.... —आचारांग प्र. श्रु.

(ख) 'बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निउंजए ॥' —दशवैकालिक अ.८ गा.३५

धर्म समझा जाता है, वही देशान्तर या कालान्तर में प्रायः अधर्म हो जाता है।[1]

जैनशास्त्रों की भाषा में कहें तो एक काल में जो उत्सर्ग धर्म था, परिस्थितिवश दूसरे काल में उसके बदले अपवाद धर्म भी हो जाता है।

इसी प्रकार धर्म-साधकों के मनोभाव भी सबके एक-से नहीं होते। यद्यपि लक्ष्य सभी साधकों का एक ही होता है, महाव्रतों या अणुव्रतों की प्रतिज्ञा का रूप भी समान होता है, तथापि साधको के मनोभावों में अन्तर होने से अथवा बाह्य साधनों (पदार्थों) में अन्तर होने से धर्म पालन के रूप में भी भिन्नता आ जाती है।

उदाहरणार्थ—एक साधु तपस्या मे भारी पुरुषार्थ करता है, उसे तपस्या में रुचि और श्रद्धा है, परन्तु दूसरा साधु शरीर से दुर्बल है, तपस्या में उसकी रुचि कम है, वह तपस्या को आचरणीय धर्म समझते हुए भी उसमें इतना पुरुषार्थ नहीं कर पाता। वह बौद्धिक दृष्टि से समर्थ है, शास्त्रीय अध्ययन और ज्ञानार्जन करने में सक्षम है, उसकी रुचि और श्रद्धा भी है। अतः वह ज्ञानार्जन में पुरुषार्थ करता है।

इसी प्रकार एक गृहस्थ धन-सम्पन्न है, किन्तु दान-धर्म की रुचि और भावना कम होने से प्रेरणा करने पर बहुत ही कम दान देता है, दूसरा सद्गृहस्थ धन-सम्पन्न होने के साथ-साथ उदार भावना वाला है वह अपनी अन्तःस्फुरणा से लाखों रुपयों का दान देता है। तीसरा सद्गृहस्थ सामान्य स्थिति का है, दानधर्म की भावना होते हुए भी वह बहुत ही कम दान दे पाता है। जिसकी स्थिति अत्यन्त सामान्य हो, वह क्षुधातुर को रोटी का टुकड़ा देकर अथवा तृषातुर को शीतल जल पिलाकर भी दानधर्म का पालन करता है।

इसी प्रकार एक बालक बहुत ही छोटा-सा तप करता है जबकि युवक या प्रौढ़ मनुष्य बड़ी तपस्या करता है। दोनों ही तपोधर्म का पालन करते हैं; किन्तु दोनों के तपोधर्म के रूप में अन्तर अवश्य है, जो उनके मनोभावों के अनुसार स्वाभाविक है। भाव की अपेक्षा भी धर्म के विविध प्रकार दिखाई देते हैं।

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से धर्म—शुद्ध धर्म एक होते हुए भी उसके रूपों में अन्तर हो जाता है। परन्तु धर्मों के रूपों में

---

१ 'यस्मिन् देशे काले च यो धर्मो भवति, स एव देशान्तरे कालान्तरे च अधर्मो भवति।'

अन्तर या द्रव्य-क्षेत्रानुसार विभिन्न योग्यता वाले लोगों की अपेक्षा से अथवा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तदनुरूप धर्माचरण के कारण धर्मों की विभिन्नता देखकर यह कहना उचित नही है कि ये धर्म नही है, अधर्म है।

पूर्वोक्त कारणों से धर्मों की विभिन्नता को लेकर उन्हें अधर्म तो कथमपि नही कहा जा सकता। अलबत्ता, धर्म-पालकों की कक्षा या भूमिका मे अन्तर के कारण धर्माचरण की डिग्री में अन्तर हो सकता है।

जैसे एक कुशल एवं अनुभवी वैद्य रोगियों की विभिन्न आयु, प्रकृति, परिस्थिति और रोग का प्रकार देखकर प्रत्येक रोगी को उसके रोग आदि के अनुरूप औषध अमुक-अमुक मात्रा में देता है, तभी उसके रोग का निवारण होता है। वह सभी रोगियो की एक ही दवा, अथवा एक ही प्रकार के सभी रोगियो को भी समान मात्रा मे दवा नही देता। उसी प्रकार भवरोग के कुशल एव केवलज्ञानी-केवलदर्शी, वीतराग-वैद्य भी संसार के सभी प्राणियो को, विशेषतः समस्त मनुष्यो को एक ही प्रकार की धर्मरूपी औषधि नही देते और न ही जन्म-मरण-रूप संसार के कारणभूत एक ही प्रकार के कर्म-रोग को मिटाने की धर्मरूप औषध समान मात्रा में देते है।

यही कारण है कि शुद्ध धर्म और उसके अंग समान होते हुए भी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भवव्याधिभिषग्वर्यों ने प्राणियो को शुद्ध धर्म के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भूमिका की अपेक्षा से विभिन्न रूप बताए है। विभिन्न प्रकार की योग्यता वाले लोगों के लिए उनकी धर्मदेशना भी विभिन्न प्रकार की रही है।[1] जैसे सर्वविरति साधुओं के लिए अनगारधर्म बताया, तो देशविरति श्रावकों के लिए आगारधर्म। साधुओ में भी जिनकल्पी, स्थविर-कल्पी, प्रतिमाधारी आदि साधुओ के पृथक्-पृथक् धर्मों का निरूपण किया गया है। श्रावकों में सम्यक्त्वी, अणुव्रती, द्वादशव्रती, प्रतिमाधारी आदि के धर्म पृथक्-पृथक् हो जाते है। सम्यग्दृष्टि में भी नीतिनिष्ठ, मार्गानुसारी, नैष्ठिक, पाक्षिक आदि कोटियाँ है।

दस प्रकार के धर्मों का स्वरूप

यही कारण है कि श्रमण भगवान् महावीर ने स्थानांगसूत्र में द्रव्य-क्षेत्रादि के अनुसार धर्मपालकों की विभिन्न कक्षाओं को देखकर धर्म के दस प्रकार बताये हैं, वे इस प्रकार है—

---

१ समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है—
'चित्रा तु देशनैतेषा, स्याद् विनयानुष्ठानत. ।
यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्वरा. ।।

(१) ग्रामधर्म, (२) नगरधर्म, (३) राष्ट्रधर्म, (४) पाषण्डधर्म, (५) कुलधर्म, (६) गणधर्म, (७) संघधर्म, (८) श्रुतधर्म, (९) चारित्रधर्म और (१०) अस्तिकाय धर्म।[1]

इन दस धर्मों को प्रमुख रूप से तीन प्रकारो में विभाजित किया जा सकता है—(१) लौकिकधर्म, (२) लौकिक-लोकोत्तरधर्म (३) लोकोत्तर धर्म।

लौकिक और लोकोत्तर धर्म

यह एक निर्विवाद तथ्य है जैसे मकान की सुदृढ़ता और स्थायित्व के लिए गहरी से गहरी नीव डाली जाती है, वैसे मानव जीवन-रूपी मकान सुदृढ़ता और स्थायित्व के लिए धर्मरूपी नीव (आधारशिला) गहरी और पुख्ता बनाना आवश्यक है। धर्मरूपी नीव अगर कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान अज्ञान, अन्धविश्वास, शंका, कुतर्क, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानो से हिलकर धराशायी हुए बिना न रहेगा।

मकान की नीव को मजबूत बनाने के लिए जैसे—रेत, पानी, सीमेंट, चूना आदि की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानवजीवन रूपी मकान को धर्मरूपी नीव को मजबूत बनाने के लिए सभ्यता, संस्कृति, नागरिकता, राष्ट्रीयता, धार्मिक-नियमबद्धता, कुलीनता, सामूहिकता, संघशक्ति, एकता आदि लौकिक धर्मों के पालन की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

जैसे शुद्धधर्म की नीव को सुदृढ़ और स्थायी बनाने हेतु लौकिक धर्मों का पालन करना अत्यावश्यक है, वैसे ही ऊपर की चिनाई को मजबूत बनाने हेतु लोकोत्तर धर्मों का पालन करना भी उतना ही आवश्यक है। लौकिक धर्मों का भलीभाँति पालन किये बिना लोकोत्तर धर्मों का पालन करना ऐसा ही है जैसे सीढ़ियो के बिना ऊँचे महल में प्रवेश करने का निष्फल प्रयास करना। जैसे किसी गृहस्थ के सिर पर तो कीमती पगड़ी बँधी हुई हो लेकिन नीचे धोती या लंगोटी भी पहनी हुई न हो तो उसकी स्थिति हास्यास्पद होती है, उसी प्रकार केवल लोकोत्तर धर्म-रूपी पगड़ी बाँधे हुए, किन्तु लौकिकधर्मरूपी धोती या लंगोटी से विहीन गृहस्थ की हास्यास्पद स्थिति होती है।

---

१ दसविहे धम्मे पन्नत्ते, तं०—गामधम्मे १, नगरधम्मे २, रट्ठधम्मे ३, पासंडधम्मे ४, कुलधम्मे ५, गणधम्मे ६, संघधम्मे ७, सुयधम्मे ८, चरित्तधम्मे ९, अत्थिकाय-धम्मे १०।
—स्थानांग सूत्र, स्था.१०, सू.७६०

सार यह है कि मनुष्य को लौकिक और लोकोत्तर दोनो धर्मों का भलीभांति समन्वय करके पालन करने से ही नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन समृद्ध और सुदृढ़ हो सकता है, तथा मानव जीवन का अन्तिम वास्तविक लक्ष्य—मोक्ष सिद्ध हो सकता है।

प्रस्तुत दस धर्मों में से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्र धर्म, ये तीन लौकिक धर्म है, तथा पाषण्ड धर्म, कुल धर्म, गण धर्म संघ धर्म, ये चार कथञ्चित् लौकिक धर्म है, कथंचित् लोकोत्तर, और श्रुत धर्म, चारित्र धर्म तथा अस्तिकाय-धर्म लोकोत्तर है।

लौकिक धर्म आधार : लोकोत्तर धर्म आधेय

यद्यपि ग्राम धर्म आदि लौकिक धर्म सीधे (Direct) मोक्ष की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही है, तथापि जिन धर्मों से सीधे (Direct) मोक्ष की प्राप्ति होती है, उनके लिए ये ग्राम धर्म आदि लौकिक धर्म आधार अवश्य है। स्पष्ट शब्दो में कहें तो ग्रामधर्मादि लौकिक धर्म आधार है, तो श्रुत-चारित्र धर्म आदि लोकोत्तर धर्म आधेय हैं। आधार के अभाव में आधेय किसके सहारे टिकेगा ? पात्र के अभाव मे जैसे घी टिक नही सकता, वैसे ही ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि लौकिक धर्मों के आधार के बिना श्रुत-चारित्र लोकोत्तर धर्म रूप आधेय टिक नही सकते।

जिस ग्राम, नगर या राष्ट्र में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्रधर्म का पालन न होता हो, जहाँ चोरी, लूटपाट, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, अन्याय-अत्याचार, अनाचार आदि पाप धडल्ले से पनप रहे हो, किसी धर्मयुक्त बात को कोई सुनने को तैयार न हो, ऐसी स्थिति में कोई व्रती सद्गृहस्थ या महाव्रती साधु वहाँ रहकर कैसे अपने लोकोत्तर धर्म का पालन कर सकेगा ? कैसे आत्मसाधना कर सकेगा और किस प्रकार वह अपनी सज्जनता या साधुता की सुरक्षा कर सकेगा ? ऐसे लौकिक धर्म-विहीन दूषित ग्राम, नगर या राष्ट्र में कोई भी श्रमणोपासक वहाँ घर बसाकर स्थायी रूप से रहने को या श्रमण स्थिरवास रहने को तैयार नही होगा।

यद्यपि साधु-साध्वीगण अपने पूर्वाश्रम में पालनीय लौकिक धर्मों की भूमिका को पार करके लोकोत्तर धर्म की भूमिका में आ जाते हैं, उन्हे अब प्रत्यक्ष रूप से लौकिक धर्म का पालन करना नहीं होता, तथापि उन्हें सद्गृहस्थों को लौकिक धर्म-पालन की प्रेरणा देना आवश्यक होता है, उससे विमुख होकर वे रह नही सकते, क्योंकि गृहस्थ लोगो द्वारा लौकिक धर्म का पालन सुचारु रूप से होगा, तभी साधुवर्ग लोकोत्तर धर्म का पालन सुचारु रूप से कर सकेगा।

गृहस्थो के लिए लौकिक धर्म के पालन की उपेक्षा करने से लोकोत्तर धर्म भी खतरे में पड जाएगा। लौकिक धर्म की उपेक्षा करने से गृहस्थ श्रावक भी लोकोत्तर धर्म का पालन ठीक से नही कर सकेगा और न ही साधु वर्ग अपने साधुधर्म (लोकोत्तर धर्म) का पालन ठीक से कर सकेगा। गृहस्थो का जीवन नीतिमय एव पवित्र नही होगा तो साधु वर्ग का जीवन भी पवित्र रहना कठिन है। जैसा खाए अन्न वैसा रहे मन इस कहावत के अनुसार साधु का जिस ग्राम नगर या राष्ट्र मे रहना हो वहाँ के निवासी अगर अधर्मी चोर या अत्याचारी होगे तो उनका अन्न खाने वाला साधुवर्ग अपने विचार को शुद्ध एव पवित्र कैसे रख सकेगा ? अधर्मी या अत्याचारी का अन्न खाने मे उसके विचारो का प्रतिबिम्ब साधु के मन पर पडे बिना कैसे रह सकता है ?

अत स्व पर कल्याण परायण साधुवर्ग को ग्रामधर्म आदि लौकिक धर्मो से थोडा बहुत सम्बन्ध रखना ही पडता है फिर उन लौकिक धर्मो की तद् योग्यजनो को प्रेरणा देने मे किनाराकसी करना कैसे उचित कहा जा सकता है।

लौकिक धर्म की कसौटी

हा अगर लौकिक धर्मो के नाम से कही हिंसा असत्य अन्याय अत्याचार या सम्यक्त्व को दूषित करने वाले आदेश निर्देश किये जा रहे है तथा लौकिक धर्म पालको को उन प्रथाओ या रीति रिवाजो का पालन करने के लिए बाध्य किया जा रहा हो या उनका सम्यक्त्व नष्ट होने की सम्भावना हो वहाँ उस लौकिक विधि को लौकिक धर्म के नाम से मानना कथमपि उचित नही है साधुओ को भी ऐसी स्थिति मे उक्त भ्रान्त लौकिक धर्म को न मानने की प्रेरणा अपने अनुयायी गृहस्थवर्ग को देनी चाहिए।

आचार्य सोमदेवसूरि ने लौकिक धर्म की स्पष्ट कसौटी बता दी है— जैनो के लिए वह समग्र लौकिक व्यवस्था प्रमाण है जिसे मान्य करने पर सम्यक्त्व की किसी प्रकार से हानि न हो और अहिंसादि व्रत दूषित न हो।[1]

अतएव आत्मशुद्धि और सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करने के उद्देश्य से शास्त्रकारो ने लौकिक और लोकोत्तर धर्मरूप दस प्रकार के धर्मो की योजना की है।

---

१ सर्व एव हि जैनानां प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न स्याद् व्रतदूषणम् ॥ —यशस्तिलकचम्पू

लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्मों का पालन आवश्यक

आचार्य सोमदेवसूरि ने गृहस्थो के लिए लौकिक और लोकोत्तर (पारलौकिक) दोनो धर्मों के पालन का सकेत किया है। देखिये उनके ग्रन्थ का प्रमाण—' गृहस्थ के लिए दोनो धर्म ही पालनीय होते है यथा—लौकिक और पारलौकिक (लोकोत्तर)। लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक (लोकोत्तर) धर्म आगमाश्रित है।[१]

इसका फलितार्थ यह है कि लौकिक धर्मों के लिए विस्तृत वर्णन या प्ररूपण आगमो मे प्राप्त नही होगा, केवल नाम निर्देश होगा क्योकि लौकिक धर्मों मे द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से परिवर्तन-सशोधन-परिवर्द्धन होते रहते है अत आगमो मे लौकिक धर्मों की कोई एक निश्चित रूपरेखा पद्धति या विधि नही बताई गई है। परन्तु लोकोत्तर धर्म की विधि या पद्धति निश्चित है इसलिए आगमो मे लोकोत्तर धर्मों की मर्यादाएँ निश्चित कर दी गई है उनकी विधियो का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

आचार्यों ने लौकिक धर्मों की कसौटी और उनके पालन की कुछ मर्यादाएँ अवश्य बताई है।

प्रत्येक धर्म की रक्षा के लिए धर्मनायक

शास्त्रकारो ने पूर्वोक्त दस धर्मों के यथावत् पालन के लिए तथा विभिन्न प्रकार की नैतिक सामाजिक एव धार्मिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए दस प्रकार के धर्मनायको की भी योजना की है। वे दस धर्मनायक इस प्रकार है—(१) ग्रामस्थविर, (२) नगरस्थविर (३) राष्ट्रस्थविर (४) प्रशास्तास्थविर (५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर, (७) सघस्थविर (८) जातिस्थविर (९) श्रुतस्थविर और (१०) दीक्षास्थविर।[२]

प्रस्तुत दोनो सूत्रो अर्थात् धर्मों और स्थविरो का रूप और रस की तरह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जहाँ रूप होता है वहाँ रस अवश्य होता है जहाँ रस होता है, वहाँ रूप भी दृष्टिगोचर होता है। रूप और रस के अविनाभावसम्बन्ध की तरह धर्मों और स्थविरों का भी अविनाभाव सम्बन्ध

---

१ द्वौहि धर्मौ गृहस्थानां लौकिक पारलौकिक ।
लोकाश्रयो भवेदाद्य पर स्यादागमाश्रय ॥ —यशस्तिलकचम्पू

२ दस थेरा पण्णत्ता त जहा—गामथेरा १ नगरथेरा २ रट्ठथेरा ३ पसत्थारथेरा ४ कुलथेरा ५ गणथेरा ६ संघथेरा ७ जातिथेरा ८ सुयथेरा ९ परियायथेरा १० । —स्थानाग सूत्र, स्थान १०, सू-७६१

है, क्योकि धर्म से ही स्थविरो का जीवन निर्माण होता है और स्थविरो से उस उस धर्म के नीति नियमो का निर्धारण होता है।

इन दस धर्मों की क्रमश व्याख्या इस प्रकार है—

(१) ग्राम-धर्म

जहाँ साधारण जनसमूह, विशेषतया कृषक जनो का समूह सगठित होकर अमुक सीमित सख्या मे बसता हो उसे 'ग्राम' कहते है। ग्रामवासियो के दु ख कष्ट और समस्याएँ दूर करने के लिए, जो धर्मप्रधान व्यवस्था की जाती है, अथवा ग्रामो को लक्ष्य करके ग्रामो की उन्नति उत्थान विकास और सुरक्षा के लिए जो नियमोपनियमो की आचारसहिता या ग्राम्यव्यवस्था का निर्माण किया जाता है, उसे ग्रामधर्म कहते हैं। दूसरे शब्दो मे—जिस धर्म का पालन करने से ग्राम्य जीवन की सुरक्षा होती है उसकी उन्नति होती है उसे साधारणतया ग्रामधर्म कहा जा सकता है।

ग्राम मे अगर चोरी होती हो तो उसे रोकना, वेश्यागमन जुआ व्यभिचार आदि न होने देना पशुहिसा न होने देना, मुकदमेबाजी पार्टीबाजी आदि से होने वाली सम्पत्ति की हानि एव पारस्परिक वैमनस्य का निवारण करना गाँव की सगठित शक्ति द्वारा गाँव की फूट, असुरक्षा अन्याय-अनीति आदि दूर करना गाँव के प्रमुख—ग्रामस्थविर के द्वारा ग्रामहित के लिए बनाये गये नियमो का पालन करना ग्राम का मुख्य धर्म है।

आज ग्रामो मे अज्ञान, अन्धविश्वास अनारोग्य और निर्धनता है साथ ही शहरो के सम्पर्क के कारण धूम्रपान तथा मद्य, भग गाजा अफीम आदि कई दुर्व्यसनो के कारण गाँवो की व्यवस्था बिगडती जा रही है। इस दुर्व्यवस्था के कारण ग्रामवासी प्राय अनेक दु खो से ग्रस्त है। अगर ग्रामीण जन ग्रामधर्म का पालन करें तो ये सब दु ख अनायास ही दूर हो जाएँ। साराश यह है—ग्रामो की व्यवस्था को दुर्व्यसनो तथा अज्ञान अन्धविश्वास आदि से दूर रखना ग्रामधर्म है।

ग्राम-वासियो के कर्त्तव्य एव नीति नियम, जो कि ग्राम-स्थविरो द्वारा ग्रामो की सुव्यवस्था एव शान्ति के लिए निश्चित किये गये हो, उनका नाम भी ग्राम धर्म है।

बीज बोने से पहले जैसे खेत जोतना आवश्यक होता है, वैसे ही धर्म-बीज बोने के लिए ग्रामधर्म रूपी भूमिका तैयार करना आवश्यक होता है। क्योकि ग्रामधर्म की भूमिका मे से सभ्यता, नागरिकता, राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं।

जैसे कृषि का मूल खेत को जोतना है, वैसे ही धर्म का मूल ग्रामधर्म की तैयारी करना है। जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्मरूप मूल को नीति के जल से नही सीचा जाएगा, तब तक सूत्रधर्म और चारित्रधर्मरूप मधुर फल की आशा नही रखी जा सकती।

निष्कर्ष यह है कि धर्मवृक्ष के ग्रामधर्मरूप मूल को नीति जल से नियमित सिचन करके सुदृढ बना लेने के पश्चात् ही सूत्र-चारित्रधर्मरूप मधुरफल प्राप्त हो सकते है। ग्रामो मे प्राचीनकाल मे सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता, सरलता सादगी तथा उच्च चरित्रसम्पत्ति थी उसका कारण ग्राम्यजनो द्वारा ग्रामधर्म का पालन करना था, परन्तु आज उन बातो के भग्नावशेष ही रह गये है। इसका कारण भी गहराई से देखा जाए तो ग्रामधर्म का अभाव प्रतीत होगा। आज ग्रामो के लोग ग्रामधर्म को छोडकर प्राय स्वार्थ, भय दैववाद यत्र-मत्र वाला क्रियाकाण्ड, रिश्वत आदि के चगुल मे फँस गए है। इसी कारण वे नाना दु खो से आक्रान्त है।

(२) नगरधर्म

जब ग्राम का जनसमूह अधिक सख्या मे बढ जाता है, साथ ही सभ्यता, अलकृत वेशभूषा, सुसस्कृत भाषा, आदि कुछ ऊपरी विशेषताएँ आ जाती है तब वह ग्राम, ग्राम न रहकर 'नगर' बन जाता है। जिस प्रकार ग्रामो को लक्ष्य करके ग्रामधर्म का विधान किया गया है, उसी प्रकार नगरो को लक्ष्य करके नगरधर्म की योजना की गई है।

यद्यपि प्रत्येक नगर की बाह्य रीति, प्रथा या खान-पान, वेशभूषा आदि की बाह्य सस्कृति भिन्न-भिन्न होती है, तथापि वे नीति-रीतियाँ आदि धर्म से अनुप्राणित हो, तथा जो भी नियमोपनियम या आचार-व्यवहार नगर-स्थविरो द्वारा बनाये जाएँ, वे नागरिको की सुख-शान्ति और सुव्यवस्था मे बाधक न हो तभी वे नगरधर्म ही कहलाए जायेंगे।

दूरदर्शी नगरस्थविर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार नागरिको के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक हितो को लक्ष्य मे रखकर जो भी धर्मानुप्राणित नीति-नियम बनाते हैं, आचारसहिता की योजना बनाते हैं, वह सब नगरधर्म है। नागरिको का यह नैतिक कर्तव्य है कि वे नगर के तथा नगरवासियो के किसी भी हित के विरुद्ध, नगर को हानि पहुँचाने वाली, नगरसुरक्षा के लिए खतरनाक कोई भी प्रवृत्ति न करे।

एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ग्राम और नगर मे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ग्रामो के बिना नगरो का जीवन सुरक्षित नहीं

रह सकता, क्योंकि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएँ अन्न और वस्त्र हैं, जो खेती से निष्पन्न होते है, और खेती ग्रामों की प्रधान जीविका है। कल-कारखानों में अन्न और वस्त्र के लिए कच्चा माल पैदा नही हो सकता। साथ ही नगरों के बिना भी आज ग्रामो की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। इसलिए ग्राम अपने ग्रामधर्म को और नगर अपने नगरधर्म को भूल जायें तो दोनों का पतन अवश्यम्भावी है। शरीर और मस्तिष्क में जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा ही सम्बन्ध ग्रामधर्म और नगरधर्म में परस्पर है। ग्रामीण-जन शरीर के स्थान पर है तो नागरिकजन मस्तिष्क की जगह। दोनो की अस्वस्थता का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क अगर संयोगवश विक्षिप्त या विकृत हो जाए तो वह सारे शरीर को हानि पहुँचाता है।

दुर्भाग्य से, वर्तमान में अधिकांश नागरिक अपने नगरधर्म का भान प्रायः भूले हुए हैं, उन्हें अपने नगर की व्यवस्था एवं सुरक्षा का भी भान नहीं रहा। वे ग्रामों की घोर उपेक्षा कर रहे है, यह कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं। आज के नागरिक प्रायः नगरधर्म या नगर के प्रति स्वकर्तव्य को भूलकर नाटक-सिनेमा, फैशन, नाचरंग तथा मदिरापान आदि दुर्व्यसनो में अपने समय, शक्ति और धन का दुरुपयोग कर रहे है। विवाह आदि प्रथाओं में फिजूलखर्ची करने में अधिकांश नागरिक अपनी शान समझते है।

आज की राजनीति अधिकांशतः नगर के हाथों में है। राजनैतिक नेता भी प्रायः नगरनिवासी ही अधिक संख्या मे है। और वे विधानसभा या लोकसभा में जनता के मत से चुने जाने के बाद प्रायः अपनी कीर्ति, लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर जनहित-घातक कानूनों का समर्थन करते देखे जाते है। ऐसे लोग ग्रामधर्म और नगरधर्म से कोसों दूर है। नगरधर्म-पालक का कर्तव्य है, कि जनहित-विरुद्ध कानूनो का समर्थन न करे, बल्कि सामूहिक रूप से तीव्र विरोध करे। यही वास्तविक नगरधर्म है।

'विरुद्धरज्जाइक्कमे' (विरुद्धराज्यातिक्रम) का अर्थ है—राज्य द्वारा कृत सुव्यवस्था का उल्लंघन न करना। किन्तु यदि राज्य की सरकार ही अनीति, अन्याय अथवा स्वार्थ से प्रेरित होकर राज्य व्यवस्था को दूषित या चौपट करती हो, या धर्मविरुद्ध राज्य व्यवस्था हो तो उसके विरुद्ध अहिंसात्मक शांतिपूर्ण आन्दोलन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है।

कल्पना करिए—जनता ने मद्य, अफीम आदि मादक द्रव्यों से होने वाली हानियों को समझकर उनका त्याग कर दिया, किन्तु इससे सरकार की आय को धक्का लगा। अब यदि कोई सरकार

नगरधर्म को तिलांजलि देकर अपनी आय बढ़ाने के लिए ऐसा नियम बना दे कि प्रत्येक नागरिक को प्रतिदिन शराब पीना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में नागरिकों का धर्म अथवा कर्तव्य क्या होगा ? यही होगा कि वह सरकार के इस अनीतिमय नियम का अहिंसात्मक उपायों से विरोध करे। उसका इस प्रकार का विरोध करना भी नगरधर्म से संगत माना जाएगा।

नगरजनों द्वारा वर्तमान नगरधर्म का यथार्थ पालन न होने के कारण ग्रामीण लोग भी धूम्रपान, शराब, मांसाहार, नाच-गान, विलासिता, फैशन आदि में अपने समय, शक्ति और धन का दुर्व्यय करना सीख रहे है। अतः नगर में रहने वाले व्यापारी, विद्यार्थी, शिक्षक, वकील, डॉक्टर, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी आदि सभी पूर्वोक्त नगरधर्म का पालन करें तो राष्ट्र का सर्वांगीण हित होने की पूरी सम्भावना है।

(३) राष्ट्रधर्म

सामान्यतया ग्रामों और नगरों का समूह राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र शब्द की व्याख्या आचार्यों तथा मनीषी विद्वानों ने इस प्रकार की है—जो प्राकृतिक (भौगोलिक) सीमा से सीमित हो, प्रायः एक ही जाति अथवा एक ही सभ्यता या संस्कृति के लोग जहाँ रहते हों, उस देश को राष्ट्र कहते हैं। देश राष्ट्र शब्द का पर्यायवाचक है।

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, अर्थात्—राष्ट्र की बिगड़ी हुई व्यवस्था ठीक होती है, मानव समाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सम्पत्ति तथा आर्थिक-राजनतिक उन्नति का संरक्षण होता है, जिस कार्य से राष्ट्र की प्रतिष्ठा, सुख-शान्ति और शक्ति बढ़ती है, उसे राष्ट्रधर्म कहते हैं।

राष्ट्र के निवासी द्वारा राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई काम न करना तथा राष्ट्र-द्रोह-सम्बन्धी कोई भी कार्य न करना, राष्ट्र बदनाम हो, राष्ट्रीय चरित्र दूषित होता हो, राष्ट्र पर अत्याचार हो रहा हो, आदि ऐसे कार्यों में सहयोग न देना भी राष्ट्रधर्म का पालन है।

दूरदर्शी राष्ट्रस्थविर अपने राष्ट्र की परिस्थिति देखकर विदेशों से आयात-निर्यात के जो नियम बनाते हैं, अथवा परिस्थितिवश या आर्थिक लाभ न होता देख कई विदेशों से माल मंगाने पर रोक लगाते हैं, राज्य संचालन अथवा राष्ट्र-संचालन के लिए अमुक-अमुक न्यायोचित राजकीय कर निर्धारित करते हैं, राष्ट्रहित के लिए जनता के बहुमत से कानून और दण्ड व्यवस्था बनाते हैं, भाषा, शिक्षा, न्याय, सुरक्षा आदि से सम्बन्धित

नीति निश्चित करते हैं, उनका उल्लंघन न करना, उनका ठीक ढंग से यथोचित पालन करना भी राष्ट्रधर्म कहलाता है।

जिस राष्ट्र में अनेक भाषा, जाति तथा धर्म-सम्प्रदाय के लोग बसते है, वहाँ के राष्ट्र स्थविर ऐसे नियम बनाते है, जिससे विविध भाषा, वेशभूषा, जाति और धर्म-सम्प्रदाय के लोगो में परस्पर वैमनस्य, संघर्ष, फूट एवं कलह न हो, वे एक राष्ट्रवासी परस्पर भाई-भाई की तरह राष्ट्र में रहे, एक दूसरे के दुःख-सुख में, विवाहादि उत्सवो में सम्मिलित हों, सहयोग दे।

राष्ट्रस्थविर राजा और प्रजा (सरकार और जनता) दोनो का प्रतिनिधि होकर दोनों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए राष्ट्र की प्रकृति, सस्कृति, सभ्यता, सह्य खानपान, सह्य वेशभूषा, भाषा आदि को दृष्टिगत रखकर ही नियम बनाता है। अतः उन नियमों का पालन करना राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

जो ग्राम्यजन ग्रामधर्म का और जो नागरिक नगरधर्म का पालन नही करते, वे अपने राष्ट्र का अपमान और पतन करते हैं। ऐसे ही व्यक्तियो के कारण राष्ट्र आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से विदेशी शक्तियो का गुलाम बनता है।

वास्तव मे, अगर भारतवर्ष के अधःपतन एवं परतन्त्र होने का कारण ढूढें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि थोड़े से नागरिको ने नगरधर्म का पालन नही किया, इसी कारण राष्ट्रधर्म का लोप हो गया। जो लोग राष्ट्रहित के विरुद्ध कार्य करते हैं, अथवा जो लोग एक राष्ट्र के नागरिक होकर दूसरे राष्ट्र को केवल अपने धर्म-सम्प्रदाय के कारण राष्ट्र की गोपनीय बातें बताते है, उसके लिए जासूसी करते हैं, वे राष्ट्र की कब्र खोदते हैं, ऐसे पर-राष्ट्रमुखी लोग प्रायः राष्ट्रद्रोह का कार्य करते है।

भारत में जब से राष्ट्रधर्म-पालन के प्रति लोगों में उपेक्षाभाव आया, तब से राष्ट्र की अवनति हुई है।

जो लोग अपने राष्ट्र की रक्षा के बदले अपनी व्यक्तिगत रक्षा करना चाहते हैं, वे जहाज में होते हुए छेद को बन्द न करके स्वयं बचने की झूठी आशा करते हैं। राष्ट्र के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा या उदासीनता का कारण राष्ट्रधर्म की महत्ता का अज्ञान है। जननी और जन्म-भूमि दोनों माताएँ हैं। राष्ट्र भी माता के समान है, उस राष्ट्रमाता के प्रति कृतज्ञ न रहकर राष्ट्र की सेवा-भक्ति, सुरक्षा, स्वदेश-गौरव, स्वार्पण की भावना को तिलांजलि देना कथमपि उचित नहीं है।

'राष्ट्र की रक्षा मे हमारी रक्षा है, राष्ट्र के विनाश में हमारा विनाश है'—इस राष्ट्रधर्म के मत्र को हृदय मे अकित करके प्रत्येक राष्ट्र-वासी को चलना है। स्वय भगवान् ऋषभदेव ने श्रुत-चारित्रधर्म से पहले ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की स्थापना की थी।[1]

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रधर्म के बिना श्रुतचारित्र-धर्म टिक नही सकेंगे। अत श्रुत-चारित्रधर्म के पालन के लिए प्रथम राष्ट्रधर्म का पालन करना आवश्यक है।

स्थानागसूत्र मे बताया गया है कि श्रुत-चारित्रधर्म का अगीकार करने वाले साधको के लिए पाच वस्तुओ का आधार लेना पडता है, यथा—षट्काय, गण राजा (राज्य या राष्ट्र), गृहपति और शरीर।[2] यहाँ राजा-शब्द का तात्पर्यार्थ है—राज्य या राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय व्यवस्था (राज्य प्रबन्ध)। जहाँ राष्ट्रीय प्रबन्ध अच्छा नही होता, वहाँ चोरी, हिंसा, भ्रष्टाचार अनाचार, अत्याचार आदि कुकर्म फैल जाते है। ऐसी स्थिति में श्रुत-चरित्र धम का समुचित रूप मे पालन नही हो सकेगा। राष्ट्रधर्म के पालन के बिना राष्ट्रीय सुव्यवस्था अच्छी नही हो सकती। राष्ट्र की सुव्य-वस्था के बिना साधारण जनता की चोर आदि दुष्टो से सुरक्षा नही हो सकती, न हो मुनिगण शान्तिपूर्वक अपना श्रुत-चारित्रधर्म पालन कर सकते है। अत. राष्ट्रधम राष्ट्र के प्रत्येक कोटि के व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक है।

(४) पाषण्ड धर्म

मूल सूत्र मे 'पासडधम्मे' शब्द है, इसके दो रूपान्तर सस्कृत मे किये गए है—पाषण्डधर्म और पाखण्ड धर्म। प्रस्तुत मे प्रथम रूप ही उपयुक्त लगता है। क्योकि पाखण्ड शब्द वर्तमान मे प्राय ढोग, धतिग, दम्भ आदि अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा है। अत 'पाखण्ड' शब्द के इस अर्थ के साथ धर्म का कोई मेल हो नहीं है। भगवान् महावीर को पाखण्ड धर्म बताने की कोई आवश्यकता भी नही थी।

पाषण्ड शब्द के विभिन्न अर्थ

दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन की निर्युक्ति की टीका

---

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र प्रथम वक्षस्कार

२ धम्मस्स ण चरमाणस्स पच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता, तजहा—छक्काया, गणे, राया, गाहावई, सरीरे।'
—स्थानाग, स्थान ५, सू ४४८

में 'पाषण्ड' शब्द का 'व्रत' अर्थ किया है,[1] जो यहाँ बहुत ही सुसंगत लगता है।

अगर पाखण्ड का अर्थ दम्भ या कपट ही यहाँ माना जाए तो सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों में **'परपाखण्ड (पाखण्ड) प्रशंसा'** और **'परपाखण्ड (पाखण्ड) संस्तव'** नामक जो अन्तिम दो अतिचार है, उनके पूर्व 'पर' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी ? केवल पाखण्ड शब्द से ही काम चल जाता। अतः पाखण्ड या पाषण्ड शब्द का अर्थ यहाँ भी 'दम्भ, कपट करना' शास्त्रसम्मत नही है।

स्थानांगसूत्र में 'पाषण्ड धर्म' का उल्लेख मिलता है, वहाँ उसका अर्थ किया गया है—'व्रतधारियो का धर्म'।

प्रश्नव्याकरणसूत्र के द्वितीय संवरद्वार में **अणेग पासण्डिपरिग्गहियं** शब्द का अर्थ किया है—नाना प्रकार के व्रतधारियो द्वारा अंगीकृत।[2]

इन सब दृष्टिकोणो से तथा धर्म के साथ संगति बिठाने की दृष्टि से **पाखण्डधर्म** का अर्थ '**व्रतधर्म**' ही उपयुक्त लगता है।

व्रतधर्म का अर्थ है—धर्म-पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय करना अथवा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्वादेन्द्रिय-निग्रह, आदि जो-जो व्रत, प्रत्याख्यान या नियम धारण किये हो, उन पर दृढ़ रहना।

शास्त्रकारो ने ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का समुचित पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय-रूप व्रतधर्म की आवश्यकता स्वीकार की है।

इसके अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में (श्रमण) शब्द की व्याख्या करते हुए 'पाषण्डी' शब्द 'व्रतधारी' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

पाखण्ड शब्द के 'व्रत' अर्थ की संगति करते हुए आचार्य कहते है—पाखण्ड की व्युत्पत्ति है—**'पापान् खण्डयतीति पाखण्डः'** जो पापो का खण्डन करता है—पापों का नाश करता है, पाप से बचाता है, वह पाखण्ड है। दूसरी बात, पाखण्डधर्म यानी व्रतधर्म ग्राम, नगर और राष्ट्र में फैलने वाले दम्भ-अधर्म को रोकता है और धर्मभावना जागृत करता है।

---

१ पाषण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि।
स पाषण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाशाद् विनिर्गतः ॥

—दशवै० निर्युक्ति १४८ की टीका

२ अनेक पाषण्डिपरिगृहीतम् —नानाविधव्रतिभिरंगीकृतम्।

—प्रश्नव्याकरण द्वि० संवरद्वार

अगर पाखण्ड धर्म से धर्म प्रचार के बदले अधर्म फैलता है, तो उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है ? अतएव पाखण्डधर्म धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करता है। इस व्रतधर्म के माहात्म्य से धर्मशील मनुष्यो मे दृढ निश्चय आत्मविश्वास निर्भयता एव स्थिरता की शक्ति तथा स्फूर्ति का विकास होता है जिससे वह समय आने पर कठोर से कठोर व्रतो का पालन कर सकता है।

व्रतधम का पालक व्यक्ति मैत्री क्षमा, आत्मौपम्य, दया आदि सद्गुणो तथा अपने प्रण स चाहे जितना सकट, विघ्न, यहाँ तक कि मृत्यु का प्रसग भी क्या न आए नहीं हटता। ऐसे व्रतधर्मी प्राणवियोग की स्थिति हो तो भी मेरु के समान अपने व्रत प्रण या प्रतिज्ञा पर अटल रहते है। व्रतधर्मी का महान् धम यही है कि महापुरुषो या प्रशास्ता स्थविरो द्वारा निर्धारित धम मर्यादाओ का कदापि उल्लघन न करे। ऐसा सुव्रती समाज और देश के चरणो मे अपने जीवन का बलि देकर भी अन्याय का प्रतीकार और न्याय की रक्षा करता है।

अगीकृत व्रत-नियमो त्याग-तप-प्रत्याख्यान, प्रण, प्रतिज्ञा आदि को अन्तिम श्वास तक पूर्ण रूप स निभाना, उसके पालन मे दृढ रहना ही व्रतधम का तात्पय है। कठिनाइयो, मुसीबतो, असुविधाओ, अशुभ इच्छाओ एव आत्म-दुबलता को जीतने के लिए तथा निश्चय पर अटल रहकर आत्मशक्ति बढाने के लिए व्रतधर्म की नितान्त आवश्यकता है। 'जहाँ तक बन पडेगा, पालन करूँगा, इस प्रकार के उद्गार दुर्बलता, कायरता, आत्मविश्वास की कमी, शुभनिश्चय मे बाधक के सूचक हे। ऐसे लोग छोटे-से-छोटे नियम पर भी दृढ नही रह सकते, उनका मन बात-बात मे ढच्चुपच्चु और सशयग्रस्त बना रहता है।

पाखण्डधर्म मे लौकिक और लोकोत्तर, दोनो प्रकार के व्रतो के पालन अथवा दृढ निश्चय का समावेश हो जाता है। जैसे साधु जीवन मे व्रतो का दृढतापूर्वक पालन होता है, वैसे गृहस्थ-जीवन मे भी व्रतो का दृढतापूर्वक पालन हो सकता है।[1]

(५) कुलधर्म

परिजनो का समूह कुल कहलाता है। घर और कुटुम्ब से आगे का

---

१ देखें— गिहिवासे वि सुव्वए'....। —उत्तराध्ययन सूत्र अ ५, गा. २४

परिजन समूह कुल कहलाता है। परिजनों का एक सरीखा धर्मानुकूल आचार-विचार, व्यवहार और परम्परागत कार्य—कुलधर्म कहलाता है।

जैसे—जिन कुलो का अहिंसा धर्म के अनुकूल यह स्वाभाविक धर्म-संस्कार है कि मांस भक्षण न करना, मद्यपान न करना, शिकार न करना, परस्त्रीगमन या वेश्यागमन न करना, जुआ न खेलना, चोरी न करना, किसी से याचना करके न मागना—हाथ न पसारना, दान देना, अन्तिम समय निकट आते ही गार्हस्थ्य-प्रपंच छोड़कर आत्मधर्म में प्रवृत्त होना आदि। ये सब कुलधर्म हैं।

शिकार खेलना, जुआ खेलना, पशुबलि करना आदि कुल धर्म नही कहे जा सकते, क्योंकि इनमें शुद्ध धर्म का पुट नही है। अत कुलधर्म की कसौटी है—जिस आचार-विचार से, जिम व्यवहार और कार्य से कुल की प्रतिष्ठा, शान, खानदानी और मान-मर्यादा बढती है, कुल ऊँचा उठता है, कुल में कुलीनता आती है, वह आचार-विचार, व्यवहार और कार्य कुल-धर्म है। जिस व्यवहार से परिजनसमूह या समाज में जाति-गत उच्च नीचता, स्पृश्यास्पृश्यता, विषमता, वर्गविग्रह, अव्यवस्था आदि उत्पन्न हो, उसे कुल-धर्म नही, किन्तु 'कुलकलंक' कहा जाना चाहिए।

अब तक चार प्रकार के धर्मों में संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता और धर्मशीलता के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार किया था, किन्तु इन चारों प्रकार के धर्मों का विकास मानव-समाज में कहाँ से, कैसे और कब से होता है ? इस पर गहराई से विचार करने पर यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उपर्युक्त धर्मों का उद्भव-स्थान गृहसंस्कार हैं, माता-पिता के सद्व्यवहार व सदाचरण से गृहसंस्कार सुधरते है। ये ही गृहसंस्कार सुधरते-सुधरते बालक के शैशवकाल से किशोरावस्था को प्राप्त होने पर कौटुम्बिक संस्कारों के रूप में परिणत होते जाते है। उसके पश्चात् बालक की उम्र और बुद्धि का विकास होने के साथ-साथ वे कौटुम्बिक संस्कार विस्तीर्ण होकर कुलसंस्कार के रूप में परिणत होते जाते है। इस-लिए कुलधर्म के पालन के लिए कुल संस्कारो का सुधारना आवश्यक होता है तथा कुल संस्कारो को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वप्रथम गृहसंस्कार और कौटुम्बिक सस्कारो को सुधारना आवश्यक है।

कुलधर्म का महत्त्व

पूर्वोक्त चारों धर्मों तथा लोकोत्तर श्रुत-चारित्र धर्मों के पालन में, समाज की सुख-शान्ति बढ़ाने में कुलधर्म का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ है। आज समाज और राष्ट्र में भ्रष्टाचार, अनाचार एवं अशान्ति है, तथा संपूर्ण

विश्व मे भी जो अशान्ति है, अव्यवस्था है, उसका कारण कुलधर्म की अवहेलना है। कुलधर्म के सम्यक् पालन से समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण हो सकता है। कुल एक प्राथमिक इकाई है, उससे सम्बद्ध धर्म ग्रामधर्मादि की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

कुलधर्म का व्यापक क्षेत्र

कुलधर्म का क्षेत्र काफी विस्तृत है। वह मुख्यतया दो भागो मे बँटा हुआ है—(१) लौकिक कुलधर्म और (२) लोकोत्तर कुलधर्म।

लौकिक कुलधर्म मे माता-पिता, कुटुम्ब-कबीला एव उस कुल (वश) के अन्य गुरुजनो की धर्मानुकूल आज्ञा एव कुल परम्परा का पालन करते हुए वशवृद्धि का, वशपालन का, वश की व्यवस्था का, तथा लोकजीवन की समुचित शिक्षा दीक्षा का, कुल के सुसस्कारो की सुरक्षा और वृद्धि का समावेश होता है। कुलस्थविर कुल मे सुख-शान्ति, समृद्धि और सस्कार शुद्धि के लिए धर्मानुकूल कुछ नियमोपनियम एव आचार-विचार पद्धति निश्चित करते है। उनके अनुरूप प्रवृत्ति करना भी कुलधर्म का पालन है। लौकिक कुलधर्म और लोकोत्तर कुलधर्म, दोनो की शिक्षा-दीक्षा की पद्धति मे भले ही अन्तर प्रतीत होता हो, लेकिन दोनो का आदर्श एक ही है—मानव समाज मे सुख-शान्ति स्थापित करना। लौकिक कुलधर्म इस आदर्श पर पहुँचने के लिए शुभ नीतिधर्मानुकूल प्रवृत्तिमार्ग का विधान करता है, और लोकोत्तर कुलधर्म धर्मानुरूप शुभ निवृत्ति-मार्ग का। यह शुभ प्रवृत्ति और शुभ निवृत्ति दोनो मिलकर धर्म का परिपूर्ण रूप होता है। यद्यपि प्रवृत्ति मार्ग की अपेक्षा, निवृत्ति मार्ग अधिक सीधा लगता है, परन्तु आचरण मे वह अत्यन्त कठिन है, जबकि प्रवृत्ति मार्ग टेढा-मेढा होने पर भी सगम है।

सत्प्रवृत्ति द्वारा कुल के आदर्श को उन्नत बनाना पापमय नही है, किन्तु शुभ अध्यवसायपूर्वक सच्ची कुलीनता प्राप्त करना धर्ममय कार्य है। इसलिए लौकिक कुलधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला सच्चा कुलधर्मी अपने कुल-परम्परागत सद्व्यवहार का त्याग नही कर सकता। कुलधर्मी भूखा मर जाएगा, मगर उदर की ज्वाला को शान्त करने के लिए चोरी, जारी या असत्य का आचरण करना कदापि पसन्द नही करेगा।

मनुष्य के कुलधर्म की कसौटी भी विपत्ति पडने पर होती है। नीचकुल मे जन्म लेने मात्र से कोई नीच नहीं कहलाता, अपितु असत्प्रवृत्ति करने वाला ही नीच कहलाता है। सत्प्रवृत्ति द्वारा चरित्र उच्च बनाने वाला

उच्चकुलीन कहलाएगा। हाँ, अगर कुलपरम्परागत धर्मानुरूप आचार-विचार में कोई त्रुटि उत्पन्न हो गई हो तो कुलस्थविर दीर्घ-दृष्टि से सोचकर उसका निवारण करने का प्रयत्न करते है।

लोकोत्तर कुल कहते है—एक गुरु के विस्तृत शिष्य परिवार को। एक गुरु के शिष्यो का जो परस्पर वन्दनादि व्यवहार है, शास्त्रवाचना, आहार-पानी के आदान-प्रदान का जो सम्बन्ध है, अथवा गच्छ या संघाड़े के रूप में जो समाचारी है, अथवा तप, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि जो कुल-परम्परागत क्रियाएँ है, नियमोपनियम है, वे सब लोकोत्तर कुलधर्म के अन्तर्गत है। दीर्घदर्शी कुलस्थविरों के द्वारा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परिस्थिति देखकर साधु संस्था के नियमोपनियमो मे जो सशोधन-परिवर्धन किया जाता है; वे भी कुलधर्म है, और उक्त लोकोत्तर कुल के साधुगण को उनका पालन करना चाहिए। अगर लोकोत्तर कुल का कोई साधक स्वच्छन्द होकर कुल-धर्म का उल्लंघन करता है तो कुलस्थविर का कर्त्तव्य है कि वह उसे सचेष्ट करके पुनः कुलधर्म के पथ पर ले आए।

लौकिक और लोकोत्तर दोनो ही प्रकार के कुलधर्मों का ध्येय, लोक-जीवन को सफल बनाते हुए, यथाशक्ति श्रुत-चारित्रधर्म का पालन करके मोक्ष पहुँचना है।

(६) गणधर्म

अनेक कुलों के समूह को गण कहते हैं। गण के प्रत्येक सदस्य का गण के प्रति वफादार रहना, गण-स्थविर द्वारा निर्धारित नीति-रीति, एवं सदाचार के नियमों का पालन करना, गण के किसी सदस्य पर कोई जबर्दस्त व्यक्ति अन्याय-अत्याचार करता हो, सताता हो, उस समय उक्त निर्बल गण-सदस्य की सहायता करना, उसे न्याय दिलाना, बलिदान देकर भी अन्याय-अत्याचार का प्रतीकार करना, गणधर्म है।

प्राचीन काल में भारत में गणतन्त्र पद्धति थी। भगवान् महावीर के युग में नौ मल्ली और नौ लिच्छवी जाति के अठारह गणराज्यो का गणतन्त्र इतिहास में प्रसिद्ध था। अठारह गणराज्यों के गणतन्त्र की यह खूबी थी कि वह सबलों द्वारा सताई जाने वाली निर्बल एवं पीड़ित जनता को पीड़ामुक्त कराने के लिए, उसकी सुख-शान्ति की व्यवस्था करने के लिए तन-मन-धन को न्यौछावर करने में नही हिचकता था। असहायों की सहायता करने में वह अपना गौरव समझता था।

वैशाली गणतन्त्र के संचालक, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में गणस्थविर

कह सकते हैं, राजा चेटक थे। कोणिक राजा का छोटा भाई विहल्लकुमार, कोणिक द्वारा हार और सेचनक हाथी की जबरन माँग और धमकी के कारण राजा चेटक (अपने माता-मह) की शरण में आकर रहने लगा। जब चेटक को कोणिक के अन्याय का पता चला तो उन्होंने अठारह गणराजों को एकत्र करके कोणिक के अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए परामर्श माँगा। अठारह गणराजो ने कोणिक राजा के अत्याचार के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया और यह वचन दिया कि अगर युद्ध का अवसर आया तो गणतन्त्र के समस्त राजा मिलकर गणतन्त्र-संचालक चेटक राजा की सहायता करेंगे।

इस प्रकार गणधर्म के पालन के लिए समस्त गणराजो ने अपने प्राणों की बाजी लगाने का निश्चय कर लिया था। गणधर्म में असीम शक्ति विद्यमान है। गणतन्त्र पद्धति से चलाये जाने वाले गणराज्य में समस्त गणराज्यों की एक आचार संहिता होती थी, कोई गणराज्य किसी दूसरे की भूमि हड़पने या अन्याय-अत्याचार का दुष्कृत्य नहीं कर सकता था, न ही जनता पर अन्याय-अधर्मपूर्ण नियम थोप सकता था। सब गणराजों अथवा गणप्रमुखों का शासनकाल नियत समय तक का ही होता था। गणराज का चुनाव जनता की सम्मति से हुआ करता था।[1]

गणधर्म राष्ट्रधर्म का प्राण है। गणधर्म का पालन तभी सुचारु रूप से हो सकता है, जबकि गणराज्य का प्रत्येक सभ्य (नागरिक) गणधर्म के पालन के लिए सचेष्ट रहे, समय आने पर गणराज्य के लिए सभी प्रकार का त्याग करने को कटिबद्ध हो, गणराज्य पर विपत्ति आने पर अपने निजी स्वार्थों और मतभेदों को तिलांजलि देकर गणराज्य, समाज एवं राष्ट्र के लिए अपना बलिदान देने तक के लिए तैयार हो।

गणधर्म के भी कुलधर्म की तरह दो प्रकार हैं—**लौकिक गणधर्म और लोकोत्तर गणधर्म।**

लौकिक गणधर्म के विषय में हम ऊपर कह आए है। 'लोकोत्तर गणधर्म साधुओं अथवा कुछ अंशों में देशविरत श्रावकों के द्वारा आचरणीय होता है। यहाँ गण साधुओं के अनेक कुलों के समूह का नाम है। ऐसे गण का जो धर्म है, आचार-विचार हैं, नियमोपनियम हैं, जो भी सुन्दर शुभ परम्परा है, वह गणधर्म कहलाता है। साधुओं के गण में छह पदवीधर होते हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) गणी, (४) गणावच्छेदक, (५) प्रवर्त्तक और (६) स्थविर।

---

१ देखिये, निरयावलिका सूत्र में गणराज्यों का वर्णन।

(१) **आचार्य का गणधर्म**—यह है कि गण (गच्छ) की भलीभाँति रक्षा करते हुए गण में ज्ञानवृद्धि करते हुए ज्ञानाचार में पुरुषार्थ करे, सम्यक्त्व-विशुद्धि के उपाय सीखते-सिखाते हुए दर्शनाचार में पुरुषार्थ करे, गण में चारित्र की विशुद्धि करते हुए चारित्राचार में पुरुषार्थ करे, तप-आचार का प्रचार करे तथा तप, संयम की वृद्धि के लिए प्रयत्न करे।

(२) **उपाध्याय का गणधर्म** यह है कि गण के साधुसाध्वीगण को सूत्र और अर्थ की वाचना देकर विद्वान् बनावे, यथासम्भव गच्छ में ज्ञान प्रचार करें।

(३) **गणी का गणधर्म है**—गण मे साधकों द्वारा हो रही क्रियाओं का निरीक्षण-सर्वेक्षण करते रहें। गण में हो रही अशुभ क्रियाओं को सावधानी से दूर करें।

(४) **गणावच्छेदक का गणधर्म है**—मुनियों को साथ लेकर देश-परदेश में गण के साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय धर्मोपकरण (वस्त्र, पात्र तथा ज्ञान सामग्री—पुस्तकादि) जुटावें और साधुसाध्वी की आवश्यकतानुसार वितरण करें ताकि गण सुरक्षित रहे।

(५) **प्रवर्त्तक का गणधर्म है**—कि वह अपने साथ रहने वाले मुनियों को आचार-विचार में प्रवृत्त एवं प्रशिक्षित करे। कहीं साधुओं का सम्मेलन, गोष्ठी या सगीति हो तो वहाँ पधारने वाले मुनिवरों को आहार-पानी, औषध आदि लाकर दे, उनकी सेवाशुश्रूषा वैयावृत्य में दत्तचित्त रहें।

(६) **स्थविर का गणधर्म**—यह है कि जो आत्माएँ या गण के जो साधक धर्म से पतित, विचलित एवं भ्रष्ट हो रहे हो, उन्हें धर्म में स्थिर करें। जिन लोगों ने अभी तक धर्म का स्वरूप नहीं समझा है, उन्हें धर्म का स्वरूप समझाकर धर्मपथ पर आरूढ़ करें।

यद्यपि 'गणधर' नामक एक पदवी भी होती है, परन्तु वह श्री तीर्थंकर-देव के विद्यमान होने पर ही होती है, क्योंकि जो तीर्थंकरदेव का पट्टशिष्य (प्रमुख अन्तेवासी) होता है, वही गणधर कहलाता है।

लोकोत्तर गण में जो पदवीधारी मुनिवर हो, वे ही 'गणस्थविर' कहलाने योग्य है। वे लोकोत्तर गण में ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप-संयम की उन्नति एवं वृद्धि के लिए तथा गणवासी साधु-साध्वीगण शान्तिपूर्वक संयमवृत्ति की आराधना करके सुगति के अधिकारी बनें, इस हेतु से तदनुसार साधु-समाचारी का निर्माण करें, नियमोपनियम बनाएँ।

गणवासी समस्त साधुसाध्वियों का भी कर्त्तव्य है कि वे गण एवं गण-स्थविर के प्रति विनीत, आज्ञाकारी एवं वफादार रहें, गण के परम्परागत आचार-विचार का समुचित रूप से पालन करें, गण के प्रतिकूल गण में फूट डालने का या गण की आचारसंहिता से विपरीत कार्य न करें।

लोकोत्तरगण में साधु-साध्वीगण की तरह श्रावक-श्राविकागण भी प्रविष्ट होते है और उन्हें भी उपर्युक्त प्रकार से गणधर्म का पालन करना अनिवार्य होता है।

उपासकदशांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में वर्णन आता है कि आनन्द श्रमणोपासक ने भगवान् महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा धारण करते हुए उनसे निवेदन किया कि 'मैं आज से ग्रहण किये गए व्रतों और नियमों का पालन छह प्रकार के आगार (छूट) रखकर करूँगा।' उन छः कारणों में से एक कारण 'गणाभिओगेणं' (गणाभियोग) भी है। अर्थात् अगर 'गण' अथवा 'गणाधिपति' का विशेष अनुरोध हो तो मुझे वह कार्य करणीय होगा, उससे मेरा गृहीत व्रतनियम खण्डित नहीं समझा जाएगा।

इससे स्पष्ट है कि धार्मिक व्रत-नियमों को ग्रहण करते समय भी 'गणधर्म' या 'गण' का विशेष ध्यान रखा जाता था कि कहीं मेरे कारण गण में फूट न पड़ जाए, अथवा गण का गौरव कम न हो जाए।

लौकिक गण शब्द आजकल 'बिरादरी' अर्थ में प्रचलित है। बिरादरी का 'चौधरी' या 'सरपंच' गणस्थविर समझा जाता है। अतः जैसे कुलधर्म ठीक हो जाने पर 'गणधर्म' भी भलीभाँति चल सकता है, वैसे ही गणधर्म ठीक होने पर राष्ट्रधर्म या संघ (समाज) धर्म का भलीभाँति पालन हो हो सकता है।

इस प्रकार लौकिक गण भी समाज और राष्ट्र की सब प्रकार से उन्नति करता हुआ लौकिक गणधर्म के पालन से सब प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्त करता है, वैसे ही लोकोत्तर गण भी आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ लोकोत्तर गणधर्म के पालन से यहाँ धार्मिक संघ में सब प्रकार की सुव्यवस्था से सुख-शान्ति प्राप्त करता हुआ मोक्ष के अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

(७) संघधर्म

व्यक्तियों का या गणों का समूह 'संघ' कहलाता है। यह समूह समान आचार, विचार और व्यवहार तथा समान सभ्यता और संस्कृति को लेकर बनता है अथवा बनाया जाता है। ऐसा समानधर्मा संघ वर्तमान युग में समाज (अथवा मण्डल, परिषद्, संस्था, संस्थान या सभा, सोसाइटी) कहलाता है।

ऐसे संघ (समूह) द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि के हित और श्रेय के लिए जो नियमोपनियम बनाये जाते है, आचार संहिता का गठन किया जाता है, उन नियमोपनियमों या आचारसंहिता को संघधर्म कहते हैं।

संघ की विराट शक्ति

संघ (समूह) में अपार शक्ति है।[1] एक व्यक्ति की शक्ति चाहे जितनी ही क्यों न हो, वह कृतकार्य नही हो सकती, किन्तु जब अनेक व्यक्तियो की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके संघ-रूप मे परिणत (संगठनबद्ध) कर दिया जाता है, तब वह बडे-बडे असम्भव माने जाने वाले कार्यों को कर सकती है। नीतिकार भी संघशक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए कहते है—नगण्य समझे जाने वाले थोडे-से पुरुषो की संहति (संगठन) कल्याणकारिणी होती है। जैसे, तिनकों जैसी तुच्छ वस्तुओं को एकत्र करके उनका रस्सा बना दिया जाए तो बडे-बडे मतवाले हाथियों को बाँधने में समर्थ होता है। अत· संघशक्ति महान् कार्यों को अल्प समय में सिद्ध कर सकती है।[2]

जब निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं का संगठन अद्भुत कार्य करके दिखा सकता है तो विवेक-बुद्धि-सम्पन्न मानव-जाति की सघ शक्ति का तो कहना ही क्या ? राष्ट्र, गण, समाज और धर्म के तंत्र का संचालन संघ-शक्ति के बल से ही चलता है। कार्य छोटा हो या बडा, उसकी सफलता या सिद्धि के लिए संघशक्ति परम आवश्यक है।

परन्तु एक बात निश्चित है कि मनुष्यों की संगठित शक्ति को यथार्थ और धम-नीति का दिशानिर्देश न मिले तो वह सगठित शक्ति विपरीत दिशा में चल पडती है, फिर वह सगठित शक्ति या तो परस्पर लडने-भिडने, अपने-अपने कर्तव्यों को भूलकर अधिकारो के लिए संघर्ष करने में समाप्त हो जाती है, अथवा फिर निर्बलो को दबाने, सताने या चूसने में या पीड़ित-पददलित करने में लगती है। ऐसी संघ-धर्मविहीन संघ शक्ति से कल्याण तो दूर रहा, प्राय· अकल्याण ही होता है। इसीलिए यहाँ संघधर्म से युक्त संघ-शक्ति का ही समर्थन है।

१ सघेशक्ति· कलौयुगे।

२ सहति· श्रेयसी पुसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
अल्पानमपि वस्तूना संहति· कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिन ॥ —हितोपदेश

संघशक्ति को संघधर्म से अनुप्राणित करने से वह पारस्परिक संघर्ष, अधिकार-प्राप्ति के कलह, वैमनस्य से बच जाती है, अनुशासित और कर्तव्य-तत्पर रहती है, साथ ही उक्त संघ एवं संघस्थविर के प्रति श्रद्धाशील एवं वफादार रहकर संघस्थविर द्वारा संघहित के लिए बनाये हुए नियमोपनियमो एवं आचार-विचारो का पालन करने को उद्यत रहती है। यही कारण है कि दूरदर्शी धर्मप्राण सघस्थविर बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि विविध शक्तियो और क्षमताओं वाले सदस्यो को सगठित करके उनकी शक्तियों और क्षमताओ को विभिन्न कार्यों में विनियोजित करते है ताकि पारस्परिक संघर्ष और कलह में उनकी शक्तियो को दुरुपयोग न हो, साथ ही संघ के विभिन्न घटको (बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री-पुरुष आदि) का समन्वय करके संघ धर्म-पालन मे केन्द्रित करे, ताकि संघर्ष को विवेकपूर्वक दूर किया जा सके।

संघधर्म का ध्येय

संघधर्म का ध्येय व्यक्ति के श्रेय के साथ-साथ समष्टि के श्रेय का साधन करना है। समष्टि के हित के लिए जब व्यक्ति-हित का बलिदान आवश्यक हो, तब व्यक्तिगत हित को गौण करके समष्टिगत हित-साधन करना संघधर्म का ध्येय बन जाता है। सघधर्म को व्यवस्थित रखने का उत्तर-दायित्व सघ के प्रत्येक सदस्य पर रहता है। गणधर्म की तरह संघधर्म के भी लौकिक और लोकोत्तर, यो दो भेद होते है।

लौकिक संघधर्म

लौकिक संघधर्म के सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं—संघधर्म का अर्थ है—गोष्ठी-अर्थात् सभा, मंडली, मंडल, संस्था, परिषद् या संघ की समा-चारी-आचारसंहिता अथवा विधान और नियमावली।

लौकिक संघधर्म के कई अंग हैं। जैसे कि—अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (A I National Congress), अथवा जैन महामण्डल, महासभा, संघ (स्थानकवासी आदि परम्पराओं की धर्म-संस्था), अथवा अन्य कोई सार्वजनिक सस्था या श्रावक संघ आदि। लौकिक संघधर्म के अन्तर्गत राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक संगठन हो सकते है, बशर्ते कि उनमें नैतिकता, अहिंसा, सत्यादि, धर्म-न्याय आदि का पुट हो, तथा वे सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बन्धित हो। जिसमें किसी एक ही वर्ग समाज या जाति का विचार किया जाता हो उसे कुलधर्म भले ही कहा जा सके वह समग्र-राष्ट्र का संघधर्म नही हो सकता।

संघधर्म के अनुसार जिस संस्था या सभा की स्थापना की जाती है,

उसमें समष्टि के हित के विरुद्ध, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित का विचार नहीं किया जाता। इसके विपरीत समष्टिहित को जोखिम में डालकर व्यक्तिगत या वर्गगत हित का विचार करना संघधर्म की जड उखाड़ना है। जिस पद्धति या कार्य से समष्टि का श्रेय और हित सुरक्षित होता हो, उसी में संघधर्म की महत्ता और शोभा है।

संघधर्म को जीवन में उतारने के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को दायित्वपूर्वक संघ के नियमोपनियमों का पालन करना आवश्यक है। संघ, समाज की प्रतिनिधि संस्था है। संघ के श्रेय और सम्मान में ही मेरा श्रेय और सम्मान है, इस स्वर्णसूत्र को भूलकर स्वार्थवश जो व्यक्ति संघधर्म को भंग करता है, वह संघधर्म का नाशक है। लौकिक संघधर्म में लोकव्यवहार चलाने के लिए नैतिक आचार-व्यवहार, सामूहिक तंत्र का गठन और लोकोत्तर संघधर्म से अविरुद्ध सम्बन्ध का समावेश हो जाता है।

यद्यपि लौकिक सघधर्म और लोकोत्तर संघधर्म के नियमोपनियम और आचार-व्यवहार भिन्न-भिन्न है, तथापि दोनो प्रकार के संघधर्म नीति-धर्म को लेकर परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध है। इन दोनों को एकान्त भिन्न नही माना जा सकता। बल्कि लौकिक संघधर्म का भलीभाँति पालन किया जाए तो लोकोत्तर संघधर्म भी व्यवस्थित रूप से चलेगा।

कुछ लोग लौकिक संघधर्म के सगठन को, तथा संघधर्म के द्वारा किये जाने वाले कार्यों को आरम्भ-समारम्भजनक तथा एकान्त पाप बतलाते है। ऐसे लोग भ्रम में है। जिस लौकिक संघधर्म के पालन से मनुष्य समाज नीच कर्मों, कुव्यसनों, महारम्भ-महापरिग्रहरूप पापकर्मों का त्याग करके अमुक मर्यादा में धर्म का पालन करता है, विवाहादि कार्यों में नीति-धर्म की मर्यादाओ को सुरक्षित रखता है, साथ ही जिससे संसार का अभ्युदय, पुण्य-सचय होता है और श्रुत-चारित्रधर्म के लिए क्षेत्र तैयार होता है, उस लौकिक संघधर्म को एकान्त पाप कहना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहार में करणीय कार्यों को एकान्त पाप कहकर लोग त्याग न दे और अवनति के मार्ग पर अग्रसर होकर निरंकुश रूप से महान् पापो की वृद्धि न करे, नैतिक अंकुश में रहें, लौकिक संघधर्म की स्थापना का यही उद्देश्य है।

लोकोत्तर-संघधर्म

तीर्थंकरो के द्वारा गणसमुदायरूप चातुर्वर्ण्य-चतुर्विध श्रमणप्रधानसंघ

को लोकोत्तर संघ कहते हैं। यह चार प्रकार का है—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन चारों के समूह का नाम लोकोत्तर संघ है।

इस चतुर्विध संघ में अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं—जैसे—साधुगण में आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक, स्थविर तपस्वी, बहुश्रुत तथा सामान्य साधुवर्ग; साध्वीगण में भी स्थविरा, प्रवर्तिनी, सामान्य आर्याएँ आदि, श्रावकगण में श्रावकगण के मुख्य-मुख्य स्थविर तथा सामान्य श्रावकवर्ग, इसी प्रकार श्राविकागण में मुख्य-मुख्य स्थविरा तथा सामान्य श्राविकावर्ग आदि का समावेश चतुर्विध संघ में हो सकता है।

इस लोकोत्तर संघ का धर्म अर्थात् चतुर्विध संघ के स्थविरों द्वारा परस्पर विचार विमर्श करके संघ के श्रेय, हित और अभ्युदय के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर निर्माण किये गए नियमोपनियम, समाचार-विचार (समाचारी) संघ धर्म कहलाता है। अर्थात्—संघ के अभ्युदय के साथ-साथ अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति करना लोकोत्तर संघधर्म है।

निष्कर्ष यह है कि जिस धर्म के पालन से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ का श्रेय हो, हित हो, तथा विकास हो, वह लोकोत्तरसंघ का धर्म है।

लोकोत्तर संघ-धर्म में भी लौकिक संघधर्म की तरह व्यक्तिगत ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप-संयम आदि के लाभ का विचार करते हुए भी मुख्यतया समष्टिगत लाभ का दृष्टिकोण ही सामने रखना चाहिए।

इस दृष्टि से चतुर्विध संघ का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह संघहित के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे, जो व्यक्ति संघ का सदस्य होकर भी संघहित के विरुद्ध प्रवृत्ति करता हो, उसे सहयोग न दे। कोई व्यक्ति (साधुवर्ग या श्रावकवर्ग) संघधर्म के विरुद्ध अपनी वैयक्तिक स्वच्छन्दता को लेकर प्ररूपणा करता है, प्रचार करता है, संघ में फूट डालता है, उसे भी संघ का द्रोही समझकर उसको सहयोग न दे।

इसी तरह कोई साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका संघस्थविरों द्वारा सर्वहित की दृष्टि से दूरदर्शितापूर्वक बनाए गए नियमोपनियमों को बन्धन समझकर उनकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता, उन नियमों को ठुकराता या भंग करता है, संघ की अवहेलना करता है, या संघ से बहिष्कृत होकर संघ की निन्दा करता है, ऐसा व्यक्ति संघ की अविनय-आशातना करता है, संघ का द्रोह करता है। लोकोत्तर संघधर्म के पालक साधकों का कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियों को सम्मान या प्रश्रय न दें।

संघ के प्रत्येक सदस्य को श्रीसंघ की आज्ञा का पालन करना, संघ-धर्म का पालन करना है, क्योंकि शास्त्र में बताया है कि श्रीसंघ का अविनय-अपमान करने वाला व्यक्ति दुर्लभबोधि दुष्कर्म का बन्ध कर लेता है, जबकि श्रीसंघ को श्रद्धा-भक्ति, विनय-बहुमान अथवा स्तुति करने वाला व्यक्ति सुलभबोधि शुभकर्म का उपार्जन करता है, जिसके प्रभाव से वह व्यक्ति जिस योनि में उत्पन्न होगा, वहाँ धर्म-प्राप्ति एवं बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्ति सुलभ हो जाएगी।

संघधर्म का महत्त्व

शास्त्र में संघधर्म का महत्त्व व्यक्तिगत श्रुत-चारित्र धर्म की साधना से भी बढ़कर बताया है। उदाहरणार्थ—कोई साधु विशिष्ट अभिग्रह या प्रतिज्ञा धारण करके श्रुतधर्म या चारित्रधर्म की विशिष्ट साधना में तल्लीन हो, उस समय श्रीसंघ (लोकोत्तर चतुर्विध संघ) को यदि उस साधु की अनिवार्य आवश्यकता पड़ जाए और श्रीसंघ उक्त साधु को आमन्त्रित करे या आदेश (संघस्थविरों द्वारा सर्वसम्मति से निर्धारित) दे तो उस समय उक्त साधु को अपनी व्यक्तिगत विशिष्ट साधना को छोड़कर श्रीसंघ का कार्य पहले करना चाहिए, अर्थात्—श्रीसंघ का आदेश शिरोधार्य करके उसका आमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिए। जैसे—पाटलिपुत्र नगर में एकत्रित श्रीसंघ को आचार्य भद्रबाहु स्वामी की आवश्यकता पड़ी तो वे अपनी योग-साधना को छोड़कर संघ-कार्य के लिए पधारे।[1]

श्रीसंघ पर कोई विपत्ति आ पड़ी हो, या आन्तरिक विग्रह उत्पन्न हो गया हो, अथवा कोई महत्त्वपूर्ण समस्या हो, उस समय विशिष्ट लब्धि-शाली एवं प्रतिभाशाली साधु का कर्त्तव्य है कि श्रीसंघ के आमन्त्रण पर अपनी विशिष्ट साधना को गौण करके श्रीसंघ के आदेश को प्रमुखता दे।

शास्त्र का कथन है कि गुरु और सहधर्मियों को किसी प्रकार की शान्ति पहुँचाने से कर्मनिर्जरा होती है, संघ की रक्षा होती है। यही वस्तुतः संघधर्म की रक्षा है।[2]

पूर्वाचार्यों ने लोकोत्तर 'संघ' को भगवान् मानकर उसकी विविध उपमाओं और पहलुओं से स्तुति की है और 'नमो संघस्स' (संघ को नमस्कार

---

१ भद्रबाहु स्वामी की इस कथा के लिए देखें—'प्रभावकचरित्र'

२ गुरुसाहम्मिय-सुस्सूसणयाए विणयपडिवत्ति जणयई····मणुस्स देवसुग्गइओ निबंधइ। सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ।

—उत्तरा. २९।४

हो), **संघमहामंदर वंदे** (सघरूपी महामदराचल को वन्दन हो), **'संघं गुणायरं वंदे'** (सघरूपी गुणाकर को वन्दन हो,) कह कर सघ को वन्दन-नमस्कार किया है। नन्दीसूत्र मे १६ गाथाओ द्वारा सघ की स्तुति की गई है।[1]

सघधर्म का पृथक वर्णन क्यो ?

यह प्रश्न समुपस्थित हो सकता है कि श्रुत-चारित्रधर्म मे ही सघधर्म का समावेश हो जाता है फिर उसका अलग से वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका समाधान यह है कि श्रुत-चारित्रधर्म प्रत्येक व्यक्ति का पृथक पृथक धर्म है जबकि सघधर्म सबका (सघ के सभी सदस्यो का) सामूहिक धर्म है। सघधर्म मे व्यक्ति अपने कल्याण के साथ-साथ समस्त समाज का कल्याण हित और श्रेय साधन करता है जबकि सघधर्मविहीन श्रुत-चारित्र धर्म मे सघ के हित के लिए प्रवृत्ति नही होती, इतना ही नही, सघ पर आई हुई विपत्ति सघ-शान्ति आदि के लिए प्रयत्न भी नही होता। किन्तु इसका परिणाम यह होगा कि सघधर्म के अभाव मे श्रुत-चारित्र-धर्म भी अधिक समय तक टिक नही सकेगा।

जैसे—किसी गाव के लूटे जाने पर व्यक्ति (ग्राम का एक निवासी) चाहते हुए भी अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा नही कर सकता वैसे ही सघधर्म की सुरक्षा न होने पर श्रुत-चारित्रधर्म रूप व्यक्तिगत सम्पत्ति की भी सुरक्षा नही हो सकती। क्योकि सघ मे न होने से उसकी श्रुतसम्पत्ति की अभिवृद्धि और सुरक्षा होनी कठिन है सत्य शील आदि चारित्र सम्पत्ति की रक्षा भी सम्भव नही है। अत श्रुत-चारित्र-धर्म की रक्षा के लिए सघधर्म की रक्षा करना अनिवार्य है।

दूसरी बात यह है कि जैसे श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अलग-अलग है वैसे ही सघधर्म उन दोनो से भी पृथक है।

संघधर्म मे भी साधु और श्रावक के धर्म मे अन्तर

लोकोत्तर सघधर्म में गृहस्थ और त्यागी दोना प्रकार के सदस्य होते

---

१ (क) नदीसूत्र—सघस्तुति गा-१८ १६

(ख) नगर-रह-चक्क-पउमे चंदे सूरे समुद्दमेरुम्मि।
जो उवमिज्जइ सयय त सघ गुणायर वदे॥

जिस संघ को सतत नगर रथ चक्र पद्म चन्द्रमा सूर्य, समुद्र और मेरु पर्वत से उपमित किया जाता है उस गुणों के आकर (खान) संघ को मैं वन्दन करता हूँ। —नन्दीसूत्र संघस्तुति, गा १६

हैं, इसलिए दोनों के कर्तव्य पृथक्-पृथक् बतलाए गए हैं। अगर इन दोनों के कर्तव्य भिन्न-भिन्न न बताकर एक ही सरीखे बताया जाएँ तो लोकोत्तर संघ का उद्देश्य और अस्तित्व ही खतरे में पड जाएगा।

इसे लौकिक संघधर्म के एक उदाहरण से समझिए।

लौकिक संघधर्म की दृष्टि से वस्त्र व्यवसायी और रत्न-व्यवसायी दोनो समान हैं, फिर भी वे एक दूसरे का कार्य करने मे असमर्थ हैं। अर्थात्—रत्न-व्यवसायी, वस्त्र-व्यवसायी का और वस्त्र-व्यवसायी, रत्नव्यवसायी का काम सफलतापूर्वक नही कर सकता, इसी प्रकार त्यागी श्रमण-वर्ग और श्रमणोपासक सद्गृहस्थवर्ग दोनों को मिलाकर लोकोत्तर संघ बनता है। ऐसी स्थिति में जब समग्र संघ की व्यवस्था, सुरक्षा या उन्नति का प्रश्न आता है, तब सारा ही संघ (साधु-श्रावक दोनो वर्ग) मिलकर उक्त प्रश्न को हल करके अपना संघधर्म निभाता है। किन्तु जब साधु के व्यक्तिगत दायित्व या श्रावक के व्यक्तिगत दायित्व का प्रश्न आता है, जैसे रत्न-व्यवसायी और वस्त्रव्यवसायी एक दूसरे का दायित्व नही निभा सकते वैसे ही साधुवर्ग श्रावकवर्ग का और श्रावकवर्ग, साधु वर्ग का दायित्व नही सम्भाल सकता।

लोकोत्तर संघधर्म चतुर्विध होने से प्रत्येक वर्ग को अपना-अपना उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा साधुवर्ग श्रावक-वर्ग का काम करने लगेगा या श्रावकवर्ग साधुवर्ग का कार्य करने लगेगा तो दोनो के ही कार्य नष्ट होंगे, तथा संघधर्म को हानि पहुँचेगी।

जब एक साधारण घर में भी प्रत्येक सदस्य का अलग-अलग कार्य निर्धारित रहता है, तब इतने बडे लोकोत्तर संघ का कार्य कार्यप्रणाली को विभाजित किये बिना कैसे चल सकता है? साधुओं में भी आन्तरिक भेद (जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, तपस्वी, नवदीक्षित आदि) के अनुसार उनका पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य निर्धारित किया जाता है, वैसे ही साधुवर्ग और श्रावक-वर्ग का निर्वाह पृथक्-पृथक् मर्यादाएँ एवं कर्त्तव्य निर्धारित किये बिना नहीं हो सकता।

इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर संघधर्म का भलीभाँति पालन हो तो संघबल सुदृढ़ होगा, जिससे राष्ट्र, समाज और धर्म तीनों क्षेत्रों में शुद्ध धर्म की उन्नति होगी। प्रकारान्तर से संघ सेवा ही धर्मसेवा है।

आगे की कलिकाओं में हम क्रमशः श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म की व्याख्या करेंगे। □

जैन तत्व कलिका

चतुर्थ कलिका

श्रुत धर्म का स्वरूप—

[सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ मे]

श्रुत के विभिन्न अर्थ
श्रुतधर्म के दो प्रकार
सम्यग्ज्ञान क्या है ?
सम्यग् ज्ञान के प्रकार
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
शास्त्र-परिचय
शास्त्र की कसौटी
अवधि मन पर्यव एव
केवल ज्ञान
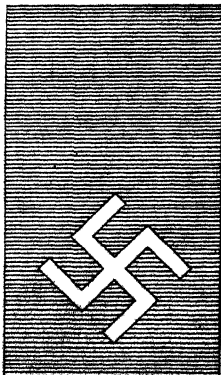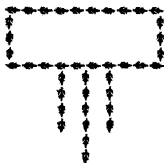
श्रुतधर्म का स्वरूप

(सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ मे)

प्राचीन आचार्यों ने धर्म शब्द के दो अर्थ किये हैं, (१) वस्तु स्वभाव[1] और (२) उत्तम सुख[2] (मोक्ष) मे धरने (रखने) वाला आचार। इस प्रकार धर्म शब्द मे दो अर्थों का बोध होता है—एक वस्तुस्वभाव का और दूसरे-उत्तम सुख प्रापक आचार का।

वस्तु स्वभाव-रूप धर्म तो जड और चेतन सभी पदार्थों मे पाया जाता है। परन्तु यहा वस्तुस्वभावरूप धर्म का अभिप्राय आत्मा के स्वभाव या आत्मा स सम्बद्ध तत्त्वा के स्वरूप से है, जिसे दर्शन कहते है। यद्यपि आचाररूप धम भी आत्मा से सम्बन्धित है, परन्तु उसका सीधा सम्बन्ध चारित्र स है।

इस प्रकार आध्यात्मिक धर्म के दो रूप है—दर्शन-रूप धर्म और चारित्र-रूप धर्म। इन्ही दोनो धर्मों को जैनागमो मे 'श्रुतधर्म' (अथवा सूत्र-धर्म) और 'चारित्रधर्म' कहा गया है।[3] ये दोना धर्म मोक्षरूपी रथ के दो चक्र है। इसीलिए आचार्यो ने बताया है—

ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष.

—ज्ञान और क्रिया से मोक्ष होता है।

अगर ज्ञान न हो, और कोरी क्रिया हो तो वह क्रिया अन्धी होगी, इसी प्रकार सिर्फ ज्ञान हो और क्रिया न हो तो कोरा ज्ञान पगु के समान होगा। इसलिए किसी भी वस्तु के स्वभाव को जाने बिना, केवल आचरण लाभदायक नहीं हो सकता। जैसे सोने के गुण और स्वभाव से अपरिचित

---

१ (क) वत्थुसहावो धम्मा —समयसार

(ख) वस्तु स्वभावत्वाद् धर्म —प्रवचनसार ७

२ 'यो धरति उत्तमे सुखे।'

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ज्ञानार्णव २।१०।१५।२१।६।१०।१५

३ दुविहे धम्मे पन्नत्ते, त जहा—सुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे चेव।

—स्थानांग० स्थान २, उ० १

(अनजान) व्यक्ति यदि सोने को शोधने का प्रयत्न करे तो उसका यह प्रयत्न लाभदायक नही हो सकता, उसी प्रकार दया, क्षमा, अहिंसा आदि का या जीव-अजीव आदि तत्त्वों का स्वरूप जाने बिना ही आचरण करने वाले व्यक्ति का जीवन विपरीत दिशा में मुड़ सकता है।

जो व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष आदि को नही मानता, अथवा वीतरागप्रणीत शास्त्रो को नहीं मानता, वह व्यक्ति अहिंसा आदि का आचरण शुद्ध रूप में नही कर सकता। उसका आचार भोगप्रधान तथा संसार-मार्गवर्द्धक ही होता है।

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है--पहले ज्ञान प्राप्त हो, फिर दया का पालन किया जाए, इसी रीतिनीति पर संसार के सभी संयमी-पुरुष स्थित है। बेचारे अज्ञानी क्या कर सकते है ? वे (सम्यग्ज्ञान के बिना) श्रेय और पाप (कल्याण और अकल्याण) को कैसे जान सकते है ?[1]

विचारो का मनुष्य के आचार पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। आचार-पालन के लिए पहले विचार, दृष्टि, श्रद्धा और ज्ञान परिपक्व होने आवश्यक है। इन्हीं को दर्शन कहते है। प्रत्येक धर्म का अपना एक 'दर्शन' होता है। दर्शन के बिना धर्म के सिद्धान्तो और तत्त्वों को युक्तियुक्त रूप से तथा तर्क, अनुमान, आगम आदि प्रमाणो से यथार्थरूप से समझा नही जा सकता और समझे बिना उन पर श्रद्धा परिपक्व नही हो सकती एवं परिपक्व श्रद्धा और ज्ञान के बिना किया हुआ आचरण मोक्षफलदायक नही हो सकता। अतः दर्शन धर्मशास्त्र में प्रतिपादित तत्त्वो तथा मान्यताओ को अपने तर्कबल से सिद्ध कर सकता है। जैनधर्म का भी अपना दर्शन है। चूँकि दर्शन वस्तु-स्वभावरूप धर्म में अन्तर्भूत हो जाने से वह धर्म का हो एक अंग है।

इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने धर्मरूपी कल्प-वृक्ष की तीन शाखाएँ बताई हैं--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र में इन तीनों को समन्वितरूप से मोक्षमार्ग (मोक्षसाधन) कहा गया है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का मार्ग कहा गया है।[2]

---

१ पढम नाणं तओ दया, एव चिट्ठइ सव्व सजए।
अन्नाणी कि काही, किवा, नाहिइ सेयपावगं ॥ —दशवैकालिक, अ. ४, गा. १०

२ (क) सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु.।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार

(ख) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १

प्रस्तुत मे ज्ञान और दर्शन का समन्वित रूप दर्शनधर्म है। दर्शनधर्म और चारित्रधर्म, ये दोनों शाखाएँ, अध्यात्म मे अविच्छिन्न रहती है, तब सत्य की अभिव्यक्ति होती है।

पूर्वोक्त तीनो मोक्ष साधनो मे पहले दो, अर्थात्—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो अवश्य ही सहचारी होते है। जैसे सूर्य का ताप और प्रकाश, एक दूसरे के बिना रह नही सकते, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के बिना रह नही सकते। परन्तु सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यम्भावी नही है। क्योकि सम्यक्चारित्र के बिना भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो कुछ समय तक रह सकते है। फिर भी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के क्रमानुसार सम्यक्चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है, तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन एव सम्यक्-ज्ञान साधनद्वय अवश्य होते है। दर्शन और ज्ञान का साहचर्य होने से तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक अवश्य होने स दोनो का समावेश श्रुत (सूत्र) धर्म मे किया गया है। अत श्रुतधर्म और चारित्रधर्म दोना सापेक्ष है।

यद्यपि श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म दोनो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि दोना धर्मों का विषय और आचार भिन्न-भिन्न है। इसी कारण दोनो धर्मो मे भेद है। सूत्र(श्रुत) धर्म आधार है, और चारित्रधर्म आधेय है। चारित्र-धर्म से पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप श्रुतधर्म का होना आवश्यक है। क्योकि श्रुतधम के बिना चारित्र सम्यक्चारित्र नही हो सकता। वास्तव मे चारित्र-धर्म आचारधर्म का अनुष्ठान करने से पूर्व श्रुतधर्म-विचारधर्म की सम्यक् आराधना आवश्यक है। जब तक वस्तु का यथार्थ स्वरूप न जान लिया जाए, और उपादेय तत्त्व के प्रति रुचि (श्रद्धान) जागृत न हो जाए, तब तक आचरण अर्थहीन होता है। जो व्यक्ति श्रुतधर्म की आराधना किये बिना ही चारित्रधर्म का आचरण करता है, वह मोक्ष का मर्म भलीभाँति नही समझता, न ही वह मोक्षमार्ग का अधिकारी बनता है।[1]

श्रुत-धर्म स्वरूप और विश्लेषण

जानो, समझो और विचार करो—इस मूलमन्त्र द्वारा धर्मशास्त्रकारो ने मुमुक्षु जीवो के लिए श्रुतधर्म की प्रमुखता सूचित की है।

---

१ नादसणिस्स नाण, नाणेण विना न हुति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थिमोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥
—उत्तराध्ययन अ २८, गा. ३

श्रुत के विभिन्न अर्थ

मूलआगम में 'सुयधम्मे' शब्द है। 'सुय' शब्द के संस्कृत में चार रूप होते हैं—श्रुत, सूत्र, सूक्त (सुत्त) और स्यूत। इन रूपो के अनुसार ही आचार्यों ने इनकी व्याख्या और महिमा बताई है। श्रुत का अर्थ है—द्वादश अंगशास्त्र अथवा जीवादि तत्त्वों का ज्ञान।[1]

जिस प्रकार सूत्र (डोरे) में माला के मन के पिरोये हुए होते हैं, उसी प्रकार जिसमें अनेक प्रकार के अर्थ ओतप्रोत होते है, उसे 'सूत्र' कहते हैं। जिसके द्वारा अर्थ सूचित होता है, वह सूत्र है। जिस प्रकार सोया हुआ (सुप्त) पुरुष वार्तालाप करने पर जागे बिना उस वार्तालाप के भाव से अपरिचित रहता है, ठीक उसी प्रकार व्याख्या पढ़े बिना जिसका बोध न हो सके उसे सूत्र कहते है। अथवा जिसके द्वारा अर्थ जाना जाए, अथवा जिसके आश्रय से अर्थ का स्मरण किया जाए, या अर्थ जिसके साथ अनुस्यूत हो, उसे सूत्र कहते है।[2]

ऐसे श्रुत अथवा सूत्र का स्वाध्याय करना, पठन-पाठन करना, श्रुत (शास्त्र) ज्ञान द्वारा जीवादि तत्त्वों एव पदार्थों का यथार्थ स्वरूप सम्यग्दर्शन (श्रद्धापूर्वक) जानना श्रुतधर्म है।

श्रुतधर्म का भावार्थ यही है कि जिन भगवान् द्वारा कथित जो जो शास्त्रज्ञान है, अथवा जिनप्रज्ञप्त जो तत्त्व है, उनका भलीभाँति श्रवण-मनन, वाचन (पठन-पाठन), निदिध्यासन और उन पर श्रद्धान करना।

जो लोग केवल चारित्रधर्म को ही धर्म मानते हैं और श्रुतधर्म उनके लिए नगण्य है, शास्त्र के अक्षर पढ़ लेने को ही जो पर्याप्त समझ बैठे है, वे भयंकर भ्रम में है। उन्होंने श्रुतधर्म का रहस्य ही नहीं समझा है। श्रुतधर्म के द्वारा ही जीव आत्मा-परमात्मा, बन्ध-मोक्ष, अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा, आदि तत्त्वो के स्वरूप को भलीभाँति जान सकता

---

१ (क) श्रुतमेव आचारादिक दुर्गतिप्रपतज्जीव-धारणात् धर्म्मं श्रुतधर्मः।
(ख) दुर्गतौ प्रपततो जीवान् रुणद्धि, सुगतौ च तान् धारयतीति धर्म.। श्रुत द्वादशागं तदेव धर्म. श्रुतधर्मः। —स्थानांग वृत्ति

२ सूच्यन्ते सूच्यन्ते वाऽर्था अनेनेति सूत्रम्। सुस्थितत्वेन व्यापित्वेन च सुष्ठूक्तत्वाद् वा सूक्तं, सुप्तमिव वा सुप्तम्।
सिचति क्षरति यस्मादर्थं तस्मात् सूत्रं निरुक्तविधिना वा सूचयति श्रवति श्रूयते; स्मर्यते वा येनार्थः। —स्थानांग वृत्ति

है और पदार्थों के स्वरूप को जान-कर ही वह हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थों का बोध कर सकता है।

इसके अतिरिक्त जिन-कथित शास्त्रों का श्रवण, मनन, चिन्तन आदि किया जाए तो मनुष्य संसार परित्त (परिमित) कर सकता है। शास्त्र में बताया गया है कि जो व्यक्ति जिनेश्वर भगवान् के वचनों में अनुरक्त हैं, जिन-वचनों की भावपूर्वक आराधना करते हैं, ऐसे संक्लिष्ट भावों से रहित एवं निर्मल स्वभाव के जीव परित्तसंसारी होते हैं।[1]

इसलिए सब धर्मों से बढ़कर श्रुतधर्म ही माना गया है। इसी के आधार से अनेक भव्य प्राणी स्व-परकल्याण कर सकते है।

श्रुतधर्म के दो प्रकार

श्रुतधर्म भी दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—(१) सूत्ररूप श्रुतधर्म और (२) अर्थरूप श्रुतधर्म।[2]

इनमें से श्रुतधर्म के दो मुख्य अर्थ प्रतिफलित होते है—(१) सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्शास्त्रों का ज्ञान—श्रुतज्ञान, और (२) सम्यग्दर्शन—पदार्थों का यथार्थ श्रद्धानपूर्वक ज्ञान। जिसके द्वारा पदार्थों का सम्यक् बोध हो, उसे अर्थ कहते है।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत

इस कथन से श्रुत के भी दो भेद सूचित होते है—(१) द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। अनुयोग-द्वार सूत्र मे बताया है कि जो पत्र (भोजपत्र, ताड़पत्र या कागजो) या पुस्तक पर लिखा हुआ होता है, वह द्रव्यश्रुत कहलाता है,[3] और उसे पढ़ते ही साधक उपयोगयुक्त हो जाता है, तब वह भावश्रुत कहलाता है।

इस कथन से यह भी ध्वनित हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को श्रुतधर्म की प्राप्ति के लिए यथावसर पाँचों अंगों[4] सहित स्वाध्याय करना चाहिए। यदि वह स्वाध्याय (स्वयं वाचन) न कर सकता है तो उसे विद्वान्

---

१ जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी॥

२ सुयधम्मे दुविहे पण्णत्ते त जहा—
सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव। —स्थानांग, स्था. २

३ 'दव्वसुयं पत्त—पोत्थय—लिहियं।' —अनुयोगद्वार सूत्र

४ वाचना, पृच्छा, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, ये स्वाध्याय के पाँच अंग हैं।

और अनुभवी साधु पुरुषों के सान्निध्य में पहुँचकर सूत्र के अर्थों का श्रवण-मनन करना चाहिए। जिन व्यक्तियों ने अक्षर ज्ञान नही पढा है, वे भी सूत्र के अर्थ पर विशेष ध्यान देकर स्व-परकल्याण कर सकते है। इसीलिए एक आचार्य ने स्वाध्याय को श्रुतधर्म कहा है।[1]

श्रुतज्ञान (शास्त्रज्ञान) का माहात्म्य बताते हुए कहा है—चाहे जैसे गाढ कीचड में पडी हुई सूई छोटे-से सूत्र-डोरे से युक्त हो तो वह गुम नही होती, वैसे ही सूत्रसहित (शास्त्र-स्वाध्याययुक्त) जीव संसार मे रहता हुआ भी आत्मभान से वंचित नही होता।[2]

श्रुतधर्म अक्षय और शाश्वतसुखरूप मोक्ष को दिलाने वाला है। क्योंकि शास्त्र में कहा है—सम्यग्ज्ञान विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। अतः सम्यग्ज्ञान शाश्वत सूर्य है। वह कभी न बुझने वाला दीपक है। उसके जगमगाते हुए प्रकाश से मोह, मात्सर्य, स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रूरता, लुब्धता, आदि अनेक रूपों में फैला हुआ अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। अज्ञान और मोह के नष्ट होते ही राग-द्वेष का समूल नाश हो जाता है। ऐसी वीतरागदशा प्राप्त होने हो जीव एकान्तसुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[3]

विधिपूर्वक श्रुत (शास्त्र) का अध्ययन करने से आत्मा को पदार्थों का सम्यक् बोध हो जाता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा को सम्यग्ज्ञान को प्राप्ति होती है और फिर उसके प्रभाव से वही आत्मा श्रुत (ज्ञान) समाधि से युक्त होकर स्वयं मोक्ष-मार्ग में निष्ठापूर्वक स्थिर हो जाती है तथा अन्य मुमुक्षु साधकों को भी मोक्ष मार्ग में स्थिर करने में समर्थ हो जाती है। इसलिए श्रुतधर्म का अवश्यमेव आलम्बन लेना चाहिए।

जब तक साधक को सर्वज्ञता (केवलज्ञान) प्राप्त न हो तब तक सर्वज्ञता प्राप्त कराने वाले श्रुतज्ञान का यथाशक्ति अभ्यास करते रहना चाहिए, जिससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो सके, क्योंकि क्रियाकाण्ड अनुष्ठान औषध है और सम्यग्ज्ञान पथ्य है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अनुष्ठान अमृत-

---

१ 'सुअधम्मो सज्झाओ'

२ जहा सुई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सइ॥

३ नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥
—उत्तराध्ययन, अ. ३२, गा.२

रूप बनकर आत्मा का वैभाविक उन्माद दूर करके उसे स्वाभाविक दशा में स्थिर करता (जागृत रखता) है।

मुण्डकोपनिषद में भी सम्यग्ज्ञान को आत्म-प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन बतलाया गया है।[१] आत्म-शोधन से सम्बन्धित सभी धर्मशास्त्रों में सम्यग्ज्ञान को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सम्यग्ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है कि एक व्यक्ति को सम्यग्ज्ञानाभिमुख करना और चौदह रज्जू-प्रमाण लोक के प्राणिमात्र को अभयदान देना एक समान है।

तात्पर्य यह है कि चौदह रज्ज्वात्मक लोक के जीवों को अभयदान देने की कुन्जी एकमात्र सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानाग्नि ही समस्त कर्मों को भस्म[२] कर देती है।

सम्यग्ज्ञान क्या और कैसे ?

वैसे तो प्रत्येक जीव में किसी न किसी प्रकार का तथा कम या अधिक मात्रा में ज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु वह सम्यग्ज्ञान तभी कहलाता है, जब सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) का सद्भाव हो। शास्त्रकारों ने बतलाया है कि कोई व्यक्ति चाहे जितना विद्वान् हो, षट्दर्शन का धुरन्धर पण्डित हो, व्याकरण, साहित्य, न्याय आदि विद्याओं का आचार्य हो, प्रसिद्ध वक्ता हो, व्यवहार-कुशल हो, अभिनय एवं मनोरंजन करने में प्रवीण हो, उसका उक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता[३] तथा कर्मबंधन के फलसहित (सफल) ही होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्ज्ञान वही कहलाता है, जिससे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति (विकास) हो, जिस ज्ञान के पूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, जिस ज्ञान के आविर्भाव से क्रोधादि कषाय मन्द हो जाते है, संयम और समभाव का पोषण होता हो, चित्तवृत्तियाँ शुद्ध होती हों, आत्मशुद्धि होती हो।

सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान (मिथ्याज्ञान या अज्ञान) में यही अन्तर है कि पहला सम्यक्त्वसहचरित (सहित) है, जबकि दूसरा सम्यक्त्वरहित (मिथ्यात्व-सहचरित) है। जिससे संसारवृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वह असम्यग्ज्ञान (मिथ्याज्ञान) है।

---

१ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥ —मुण्डकोपनिषद्

२ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! —भगवद्गीता, अ.४ श्लो.७

३ जे याऽबुद्धा महाभागा, वीराऽसमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ —सूत्रकृतांग श्रु.१ अ-८ गा.२२

सम्यग्दृष्टि से युक्त जीव का ज्ञान चाहे थोडा हो, सामग्री या क्षयोपशम की न्यूनता के कारण किसी विषय में किसी भी प्रकार का संशय हो, भ्रम भी हो, उसका ज्ञान भी अस्पष्ट हो, परन्तु सत्यगवेषक, जिज्ञासु और कदाग्रहरहित होने के कारण, वह अपने से महान् प्रामाणिक एवं विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी को सुधारने के लिए प्रस्तुत रहता है, अपनी त्रुटि सुधार भी लेता है, और अपने ज्ञान का उपयोग वह वासनापोषण में न करके प्रायः आध्यात्मिक विकास में करता है।

किन्तु सम्यग्दृष्टि से रहित जीव का स्वभाव इससे विपरीत होता है, उसकी दृष्टि मिथ्या एवं कदाग्रही होने के कारण वह सम्यक्शास्त्रों का उपयोग भी विपरीत रूप में करता है, सामग्री तथा क्षयोपशम को अधिकता के कारण कदाचित् उसे निश्चयात्मक, स्पष्ट और अधिक ज्ञान भी हो सकता है, लेकिन उसकी दृष्टि कदाग्रही एव विपरीत होने से अभिमानवश किसी विशेषदर्शी के विचारो को तुच्छ समझकर ग्रहण नही करता और अपने ज्ञान का उपयोग भी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति मे न करके प्रायः सांसारिक महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति में करता है।

सम्यक्श्रुत एवं मिथ्याश्रुत

नन्दीसूत्र में श्रुत (शास्त्र) भी दो प्रकार के बताये गए है—(१) सम्यक्श्रुत और (२) मिथ्याश्रुत।[१] वहाँ सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत के कुछ अन्य नाम भी गिनाए गए हे। वहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है कि सम्यक्श्रुत कहलाने वाले शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के हाथों में पड़कर मिथ्यात्व बुद्धि से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुत हो जाते हैं, और इसके विपरीत मिथ्याश्रुत कहलाने वाले शास्त्र सम्यग्दृष्टि के हाथो में पड़कर सम्यक्त्व से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुत बन जाते है।[२]

अतएव सम्यग्दर्शनयुक्त होने से सम्यग्ज्ञान का इतना प्रबल प्रभाव है कि सम्यग्दृष्टि के कारण सम्यग्ज्ञानी की दृष्टि विशाल, उदार, आग्रहरहित, प्रशान्त और निक्षेप, नय-प्रमाण, अनेकान्त आदि वादों को भलीभाँति समझ कर उनका प्रयोग करने वाली बन जाती है। अतः किसी भी धर्म-शास्त्र, यहाँ तक कि मिथ्या कहलाने वाले शास्त्रों (श्रुत) का भी अध्ययन, मनन, वाचन,

---

१ 'सम्मसुय, मिच्छासुय।'

२ एआइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।
एआइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं॥

—नन्दीसूत्र श्रुतज्ञान प्रकरण

उपदेशश्रवण या संसर्ग उसके लिए अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञानरूपी कवच के कारण वह सदैव मिथ्यात्व के दोषों से बचा हुआ—सुरक्षित रहता है। इसी कारण वह धार्मिक कलह को भी शान्त कर सकता है। जिस सम्यग्-दर्शन के प्रभाव से ज्ञान सम्यक् बन जाता है, उस सम्यग्दर्शन का सांगोपांग वर्णन भी श्रुतधर्म से सम्बन्धित होने से हम अगले प्रकरण में करेंगे।

सम्यग्ज्ञान के प्रकार

सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, और वह मुख्यतया पांच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान।

मतिज्ञान

पांचों इन्द्रियों तथा मन से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। वह चार प्रकार से होता है—अवग्रह से, ईहा से, अवाय से और धारणा से।[१] कभी स्पर्शेन्द्रिय से, कभी रसनेन्द्रिय से, कभी घ्राणेन्द्रिय से, कभी चक्षुरिन्द्रिय से और कभी श्रोत्रेन्द्रिय से तथा कभी मन से होता है।[२] इस कारण इसके चौबीस (४×६=२४) भेद हो जाते हैं।

अवग्रहज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह के ६ भेद (पाँच इन्द्रिय और छठा मन) पहले कहे जा चुके हैं। व्यञ्जनावग्रह के चार भेद हैं, क्योंकि वह चक्षु और मन के अतिरिक्त सिर्फ चार इन्द्रियों से होता है। यों पूर्वोक्त चौबीस और ये चार भेद व्यंजनावग्रह के मिलाकर मतिज्ञान के कुल २८ भेद होते हैं। ये ही २८ भेद क्षयोपशम और विषय की विविधता को लेकर प्रत्येक बारह-बारह प्रकार के होते है। जैसे—(१) बहुग्राही, (२) अल्पग्राही, (३) बहुविधग्राही, (४) अल्पविधग्राही, (५) क्षिप्रग्राही, (६) अक्षिप्रग्राही, (७) अनिश्रितग्राही (अलिंगग्राही), (८) निश्रितग्राही (सलिंगग्राही), (९) असंदिग्धग्राही, (१०) संदिग्धग्राही, (११) ध्रुवग्राही और (१२) अध्रुवग्राही।[३]

पूर्वोक्त २८ भेदों को १२ के साथ गुणित करने पर ३३६ भेद होते हैं। इन ३३६ भेदों में चार प्रकार की बुद्धि मिला देने से मतिज्ञान के ३४० भेद हो जाते हैं।

---

१ उग्गह ईहाऽवाओ य, धारणा एव हुंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाणस्स भेयवत्थु समासेणं॥ —नन्दीसूत्र, मतिज्ञानप्रकरण

२ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १४

३ 'बहु-बहुविध-क्षिप्रानिश्रितासंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम्'। —तत्त्वार्थ० १।१६

(१) **औत्पात्तिकी बुद्धि**—विकट उलझन को सुलझाने के लिए किसी के उपदेश के बिना तात्कालिक सूझबूझ।

(२) **वैनयिकी बुद्धि**—विनय करने से या शिक्षण से विकसित होने वाली बुद्धि।

(३) **कार्मिकी बुद्धि**—कार्य करते-करते प्राप्त होने वाला अनुभवज्ञान।

(४) **पारिणामिकी बुद्धि**—वय-अवस्था की परिपक्वता के अनुरूप परिणत (प्राप्त) होने वाली या लम्बे अनुभव से परिपक्व बुद्धि।

ये चार प्रकार की बुद्धियाँ है।

मति, स्मृति, जातिस्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ईहा, अपोह, तर्क, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, प्रज्ञा आदि सब मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द है।[1]

श्रुतज्ञान : स्वरूप और प्रकार

मतिज्ञान के पश्चात् चिन्तन-मनन के द्वारा जो परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित होता है, अर्थात् —श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण, शब्दशक्तिग्रहण, श्रुतग्रन्थ का पठन, श्रवण या अनुसरण अपेक्षित है। दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है। मतिज्ञान प्रायः विद्यमान वस्तु मे प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी, इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। अतः श्रुत का विषय अधिक होने के साथ-साथ उसमें विचारांश की स्पष्टता भी अधिक है तथा पूर्वापरक्रम भी है।

जब शब्द सुनाई देता है, तब उसके अर्थ का स्मरण होता है, उसके पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के आधार पर जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस अपेक्षा से मतिज्ञान कारण है, और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान कदापि सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है किन्तु उसका बहिरंग अथवा सहकारी कारण मतिज्ञान है।

आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि जितने अक्षर है और उनके जितने भी संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। किन्तु उन सारे भेदों की परिगणना करना सम्भव नहीं है। अतः शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान के मुख्यतया चौदह भेद बताये हैं —

---

१ नन्दीसूत्र सूत्र २६

(१) **अक्षरश्रुत**—अक्षर (स्वरो और व्यजनो) से उत्पन्न ज्ञान।

उपचार मे अक्षर को भी श्रुत कहा गया है। अत अक्षरश्रुत के तीन भेद है— (क) **सज्ञाक्षर**—(नागरी आदि लिपियो के अक्षर का आकार) (ख) **व्यञ्जनाक्षर**—(अक्षर का उच्चारण या ध्वनि) और (ग) **लब्ध्यक्षर**—(अक्षर सम्बन्धी क्षयोपशम—ज्ञानरूप अक्षर)।

(२) **अनक्षरश्रुत**—खासने छीकने, चुटकी मे या नेत्रादि के इशारे से होने वाला ज्ञान।

(३) **सज्ञिश्रुत**—यहाँ सज्ञा शब्द पारिभाषिक है। सज्ञा के तीन प्रकार होने से सज्ञिश्रुत के भी तीन प्रकार हैं—(क) **दीर्घकालिकी**—(जिसमे भूत-भविष्य का लम्बा विचार किया जाता है। (ख) **हेतुपदेशिकी**—(जिसमे केवल वर्तमान की दृष्टि से आहारादि मे हिताहित बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति होती है), और (ग) **दृष्टिवादोपदेशिकी**—(सम्यक्श्रुत के ज्ञान के कारण अथवा आत्म कल्याणकारी उपदेश से जो सज्ञान हिताहित बोध होता है।)

(४) **असज्ञिश्रुत**—असज्ञी जीवो को होने वाला श्रुतज्ञान। इसके भी तीन प्रकार है—(क) जो दीर्घकालिक विचार नही कर सकने वाले, (ख) अमनस्क—अत्यन्तसूक्ष्म मन वाले और (ग) मिथ्याश्रुत मे निष्ठा वाले।

(५) **सम्यकश्रुत**—उत्पन्नज्ञान–दर्शनधारक सर्वज्ञ सर्वदर्शी अर्हत्प्रणीत एव गणधरग्रथित द्वादशागी **अगप्रविष्टश्रुत** तथा जघन्य दशधरोवपूर्व द्वारा रचित उपाग आदि **अग बाह्य शास्त्रो** द्वारा होने वाला ज्ञान सम्यकश्रुत कहलाता है।[1]

अगप्रविष्ट आचाराग आदि १२ अगशास्त्र हैं और अगबाह्य मे बारह उपाग है।[2] चार मूलसूत्र (उत्तराध्ययन दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार) तथा चार छेद सूत्र (बृहत्कल्पसूत्र व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध) है। ये सब मिलाकर यद्यपि ३२ सूत्र होते हैं, किन्तु वर्तमान में बारहवा अग दृष्टिवाद लुप्त है, इसलिए विद्यमान ३१ सूत्र ही माने जाते हैं तथा एक आवश्यक सूत्र ये कुल मिलाकर ३२ सूत्र प्रमाणभूत माने जाते है।

चार मूलसूत्र-परिचय

(१) **उत्तराध्ययन सूत्र**—भगवान् महावीर ने निर्वाण के समय पावापुरी मे विपाकसूत्र के ११० अध्ययन और उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का

१ नन्दीसूत्र सू १३ १४ ४४

२ इन सबका विस्तृत वर्णन 'उपाध्याय-स्वरूप वर्णन' मे दिया गया है। स०

१६ प्रहरपर्यन्त १८ देशों के गणराजाओं आदि परिषद के समक्ष व्याख्यान किया था। उत्तराध्ययनसूत्र में ३६ अध्ययन इस प्रकार है—(१) विनयश्रुत, (२) परीषहप्रविभक्ति, (३) चतुरंगीय, (४) असंस्कृत, (५) अकाममरणीय, (६) क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, (७) उरभ्रीय, (८) कापिलीय, (९) नमिप्रवज्या, (१०) द्रुमपत्रक, (११) बहुश्रुत, (१२) हरिकेशीय, (१३) चित्तसम्भूतीय, (१४) इषुकारीय, (१५) सभिक्षुक, (१६) ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान, (१७) पापश्रमणीय, (१८) संजयीय, (१९) मृगापुत्रीय, (२०) महानिर्ग्रन्थीय, (२१) समुद्रपालीय, (२२) रथनेमीय, (२३) केशिगौतमीय, (२४) प्रवचनमाता, (२५) यज्ञीय, (२६) सामाचारीय, (२७) खलुंकीय, (२८) मोक्षमार्गगति, (२९) सम्यक्त्व-पराक्रम, (३०) तपोमार्गगति, (३१) चरणविधि, (३२) अप्रमादस्थान, (३३) कर्मप्रकृति, (३४) लेश्याध्ययन, (३५) अनगारमार्गगति और (३६) जीवाजीव-विभक्ति।

(२) **दशवैकालिकसूत्र**— इस सूत्र के रचयिता आचार्य शय्यंभव है। इसमें मुख्यतया साधुओं के आचार-विचार सम्बन्धी वर्णन है। इसमें १० अध्ययन इस प्रकार है—(१) द्रुमपुष्पिका (धर्मप्रशंसा तथा साधु की माधुकरी वृत्ति का वर्णन), (२) श्रामण्यपूर्वक (साधुजीवन में संयम, त्याग और धृति मे स्थिरता का वर्णन), (३) क्षुल्लकाचारकथा— (निर्ग्रन्थो द्वारा अनाचीर्ण १२ आचार), (४) षट्जीवनिका (षट्कायिक जीवों की रक्षा, पंचमहाव्रत और और श्रमण की क्रमबद्ध साधना का वर्णन) (५) पिण्डैषणा (दो उद्देशको में साधु की भिक्षावृत्ति और एषणासम्बन्धी वर्णन) (६) महाचारकथा, (७) वाक्यशुद्धि, (८) आचारप्रणिधि, (९) विनयसमाधि (चार उद्देशको में विनय-सम्बन्धी वर्णन) और (१०) सभिक्षु (भिक्षु के वास्तविक साधनात्मकगुणों का वर्णन)।

(३) **नन्दीसूत्र**—इसमें वीरस्तुति, संघस्तुति, तीर्थंकर-गणधरनाम, स्थविरावली, त्रिविधपरिषद्, और तत्पश्चात् मुख्यतया पाँच ज्ञानों का विस्तृत वर्णन है।

(४) **अनुयोगद्वार**—इसमें उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय (प्रमाणादि) चार मुख्य अनुयोग द्वारो का विस्तृत वर्णन है।

चार छेदसूत्र-परिचय

(१) **दशाश्रुतस्कन्ध**—इसमें २० असमाधिदोष, २१ शवलदोष, ७ निदान (नियाणा) आदि का वर्णन है।

(२) **बृहत्कल्पसूत्र**—इसमें साधु के लिए कल्पनीय-अकल्पनीय वस्त्र, पात्र शय्या (बस्ती-मकान) आदि का वर्णन है।

(३) **व्यवहारसूत्र**—इसमें साधु के आचार-व्यवहार का वर्णन है।

(४) **निशीथसूत्र**—इसमें साधु के संयम में दोष लगने पर विविध प्रायश्चित्तों का विधान है।

आवश्यकसूत्र—इसमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान; इन छह आवश्यकों का वर्णन है।

नन्दीसूत्र में अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त—ये दो प्रकार बताये है। तदुपरान्त आवश्यकव्यतिरिक्त के दो प्रकार और बताये है—कालिक और उत्कालिक।

इनमें से कालिक सूत्र [अनेक प्रकार के बताकर ३६ सूत्रों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है—(१) उत्तराध्ययन, (२) दशाश्रुतस्कन्ध, (३) बृहत्कल्प, (४) व्यवहारसूत्र, (५) निशीथ, (६) महानिशीथ, (७) ऋषिभाषित, (८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, (१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (११) क्षुद्रविमानविभक्ति, (१२) महाविमानविभक्ति, (१३) अंगचूलिका, (१४) वर्गचूलिका, (१५) विवाह [व्याख्या] चूलिका, (१६) अरुणोपपात, (१७) वरुणोपपात, (१८) गरुडोपपात, (१९) धरणोपपात, (२०) वैश्रमणोपपात, (२१) वेलंधरोपपात, (२२) देवेन्द्रोपपात, (२३) उत्थानश्रुत, (२४) समुत्थानश्रुत, (२५) नागपरितापनिका (२६) निरयावलिका, (२७) कल्पिका, (२८) कल्पावतंसिका, (२९) पुष्पिका, (३०) पुष्पचूलिका, (३१) वृष्णी (वह्नि) दशा, (३२) आशीविषभावना, (३३) दृष्टिविषभावना, (३४) स्वप्नभावना, (३५) महास्वप्नभावना, और (३६) तेजोऽग्नि निसर्ग इत्यादि।[1]

इसी प्रकार उत्कालिक सूत्रों के भी अनेक प्रकार बताकर २९ नामों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार है—(१) दशवैकालिक, (२) कल्पिकाकल्पिक, (३) क्षुद्रकल्पसूत्र, (४) महाकल्पसूत्र, (५) औपपातिक, (६) राजप्रश्नीय, (७) जीवाभिगम, (८) प्रज्ञापना, (९) महाप्रज्ञापना, (१०) प्रमादाप्रमाद, (११) नन्दीसूत्र, (१२) अनुयोगद्वार, (१३) देवेन्द्रस्तव, (१४) तन्दुलवैचारिक, (१५) चन्द्रविजय, (१६) सूर्यप्रज्ञप्ति, (१७) पौरुषीमण्डल, (१८) मण्डलप्रवेश, (१९) विद्याचरणविनिश्चय, (२०) गणिविद्या, (२१) ध्यानविभक्ति, (२२) मरणविभक्ति, (२३) आत्मविशोधि, (२४) वीतरागश्रुत, (२५) संल्लेखनाश्रुत, (२६) विहारकल्प, (२७) चरणविधि, (२८) आतुरप्रत्याख्यान, और (२९) महाप्रत्याख्यान इत्यादि।[2]

---

१ नन्दीसूत्र सू. ४३ के अन्तर्गत कालिक सूत्राधिकार

२ नन्दीसूत्र सू. ४३ के अन्तर्गत उत्कालिक सूत्राधिकार

इस प्रकार ३६ कालिक और २९ उत्कालिक सूत्र तथा एक आवश्यक मिलाकर कुल ६६ अगबाह्य सूत्रो का उल्लेख है इनमे से कई सूत्र वर्तमान मे उपलब्ध नही है। द्वादशवर्षीय दुष्काल के समय बहुत से शास्त्र विच्छिन्न हो गए।[1] यह सम्यक्श्रुत का विश्लेपण है।

प्राचीन आगमो की भाषा मे श्रुतज्ञान का अर्थ यही किया गया है कि जो ज्ञान श्रुत—आप्तपुरुषो द्वारा रचित आगम एव अन्य शास्त्रो—से होता है।

(६) मिथ्याश्रुत—अपनी मन कल्पना से असर्वज्ञ अनाप्त पुरुषो द्वारा रचित सर्वज्ञसिद्धान्तविपरीत, पूर्वापरविरुद्ध हिंसादि पचाश्रव विधान से पूर्ण एव आत्मकल्याण के लिए असाधक शास्त्रो द्वारा होने वाला ज्ञान।

नन्दीसूत्र मे मिथ्याश्रुत मे परिगणित कुछ शास्त्रो के नामो का उल्लेख किया गया है। किन्तु सम्यग्दृष्टि के लिए ये ही मिथ्याश्रुत सम्यकरूप मे परिणत होने के कारण सम्यक्श्रुत हो जाते है।

(७-८) सादिश्रुत एव अनादिश्रुत—जिसकी आदि है वह सादिश्रुत तथा जिसकी आदि न हो वह अनादिश्रुत है। श्रुत द्रव्यरूप से अनादि है और पर्यायरूप से सादि है।

(९ १०) सपर्यवसित अपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त होता है वह सपर्यवसित और जिसका अन्त न हो वह अपर्यवसितश्रुत ज्ञान है। यह श्रुत भी द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से अनन्त और सान्त है।

(११ १२) गमिकश्रुत-अगमिकश्रुत—जिसमे सदृश पाठ हो वह गमिक और जिसमे असदृशाक्षरालापक हो वह अगमिकश्रुत है।

नन्दीसूत्र मे गमिक मे दृष्टिवाद को और अगमिक मे कालिक श्रुत को बताया गया है।[2]

---

१ श्वेताम्बर मू पू आम्नाय मे वर्तमान मे ४५ आगम माने जाते हैं—जिनमे ११ अगशास्त्र १२ उपागशास्त्र ५ छदसूत्र (४ छद पहले बताए गये हैं पाचवाँ महानिशीथ है) ४ मूलसूत्र (आवश्यकसूत्र दशवैकालिक उत्तराध्ययन और ओघनिर्युक्ति) २ सूत्र (नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार) तथा १० प्रकीर्णक (चतु-शरण आतुरप्रत्याख्यान भक्तपरिज्ञा सस्तारक तन्दुलवैचारिक चन्द्रवेध्यक देवेन्द्रस्तव गणिविद्या महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव) इस प्रकार कुल १२+१२+५+४+२+१० = ४५ आगम। —स०

२ से कि त गमिय ? गमिय दिट्ठिवाओ।
से कि त अगमिय ? अगमिय कालियसुयं। —नन्दीसूत्र सू० ४३ का प्रारम्भ

(१३-१४) अगप्रविष्ट और अगबाह्य—इन दोनो पर सम्यक्श्रुत में प्रकाश डाला गया है।

सम्यक्शास्त्र स्वरूप, महत्त्व और कसौटी

आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की दृष्टि में सम्यक्शास्त्र की कसौटी इस प्रकार है—

'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टाविरुद्धकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥'[1]

(१) जो आप्त (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतरागपुरुषो) द्वारा मूल मे कथित हो (२) जिसका कोई उल्लघन न कर सकता हो, (३) जो प्रत्यक्ष और अनुमान मे विरुद्ध न हो (४) तत्त्व का उपदेश करने वाला हो (५) सबका हित बताने वाला हो, और (६) कुमार्ग का निषेधक हो वही सच्चा शास्त्र है। ऐसे शास्त्र को ही सम्यकश्रुत कहना चाहिए।

साधक जब साधनापथ पर आगे बढता है, तब उसके सामने अनेक उलझने आती है कई बार वह धर्मसकट मे पड जाता है कि इस मार्ग का अनुसरण करूँ या उस मार्ग का ? सभी साधक विशिष्ट ज्ञानी नही होते अधिकाश मुमुक्षु साधको का ज्ञान सीमित होता है, वीतरागदेव उनके समक्ष प्रत्यक्ष नही होते नि स्पृह निर्ग्रन्थ गुरु का समागम मिलना भी दुर्लभ हो जाता है, ऐसी स्थिति मे मन, बुद्धि एव इन्द्रियो की पहुँच से परे की, अभी तक अपरिचित, अज्ञात वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय करना हो, अथवा गुरु-परम्परा से सुनी हुई बात औत्सर्गिक हो, मगर निर्णय किसी आपवादिक स्थिति मे करना हो तो साधक क्या करे ? किसका अवलम्बन ले ? कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य हिताहित सुमार्ग-कुमार्ग का निर्णय कैसे करे ? इसके लिए सुशास्त्र ही एकमात्र मार्गदर्शक होता है। भगवद्गीता में भी स्पष्ट कहा है —

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।[2]

—कार्य और अकार्य की व्यवस्था के लिए शास्त्र ही प्रमाणभूत होता है।

शास्त्र के द्वारा साधक साधनापथ को देखकर चलता है। गुरु या मार्गदर्शक धर्मनायक प्रत्येक समय साथ नही रहता। साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे जो कुछ देखना, सोचना, समझना और करना होता है, वह

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार और न्यायावतार।
२ भगवद्गीता अ १६, श्लो २४

शास्त्र की आँख के द्वारा ही होता है। इसीलिए साधक का अन्तर्नेत्र आगम बताया गया है।[1] उससे वह चेतन, अचेतन, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष आदि का स्वरूप भलीभाँति जान-देख लेता है। शास्त्र से ही वह स्वपर पदार्थों को भलीभाँति जान लेता है।

मैं कौन हूँ ? मेरे साथ शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि का क्या सम्बन्ध है ? पुण्य, पाप, आश्रव-संवर, कर्मबन्ध आदि के क्या-क्या फल है ? जीव को नाना गतियों—योनियो में, नाना प्रकार के दुख-दुःखो की अनुभूति किन-किन कारणों से होती है ? जन्म-मरण से मुक्त होने का उपाय क्या है ? इन सबको जानने के लिए छद्मस्थ (अपूर्ण) अवस्था तक शास्त्र का आलम्बन अनिवार्य है।

प्रशमरति में शास्त्र का उद्देश्य एवं निर्वचन इस प्रकार किया गया है—जिनका मन रागद्वेष से उद्धत है, उन जीवों को यह सद्धर्म सम्यक प्रकार से अनुशासित (शिक्षित) करता है, और दुःख से बचाता है, इसलिए सत्पुरुष इसे शास्त्र कहते है।[2]

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शास्त्र का अर्थ बताते हुए कहा—जिसके द्वारा यथार्थरूप से सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का बोध हो, एवं आत्मा अनुशासित हो, वह शास्त्र है।[3]

जैन परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्य हरिभद्रसूरि ने शास्त्र का लाभ बताते हुए कहा—

जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके जल उसे उज्ज्वल बना देता है, उसी प्रकार शास्त्र भी मानव के अतःकरण रत्न में स्थित काम-क्रोधादि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र और निर्मल बना देता है।[4]

कौन-सा शास्त्र सच्चा है, कौन-सा नही ? इसका विवेक तो पहले

---

१ 'आगमचक्खू साहू।' —प्रवचनसार ३।३४

२ यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः॥ —प्रशमरति० श्लोक १८७

३ सासिज्जइ तेण तहिं वा नेयमाया व तो सत्थं।
—विशेषावश्यक भाष्य गा.१३८४

४ मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः॥ —योगबिन्दु २।६

से ही बता दिया गया है। सम्यक्श्रुत-मिथ्याश्रुत का निर्णय भी पहले बता दिया गया है। फिर भी जिसकी दृष्टि सत्यानुलक्ष्यी है, विवेक जागृत है, उसके लिए प्रत्येक शास्त्र सम्यक् हो सकता है, प्रकाश दे सकता है, किन्तु इसके विपरीत जिसकी बुद्धि हठाग्रही है, एकन्तवादी है, मिथ्या है, सासारिक भोगलक्ष्यी है, तीव्र कषायकलुषित है, उसके लिए तो सम्यक्शास्त्र भी मिथ्याशास्त्र हो सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे सम्यक्शास्त्र की एक कसौटी बताई गई है—

ज सोच्चा पडिवज्जति, तव खतिमहिंसय ।[1]

—जिसे सुनकर साधक की आत्मा प्रतिबुद्ध होती है वह तप, संयम, क्षमा और अहिंसा की साधना मे प्रवृत्त होता है वही शास्त्र सम्यक्शास्त्र है।

इस प्रकार सम्यक्शास्त्र के अनुसार प्रवृत्ति करने से, कार्य-अकार्य, हिताहित या स्व-पर का निर्णय करने से तथा हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्व का विवेक करके चलने से ही श्रुत सार्थक हो सकता है। इस प्रकार के श्रुतज्ञान क कार्यान्वयन द्वारा साधक श्रुतकेवली बन सकता है। किसी से शास्त्र का श्रवण न करके मतिज्ञान की पराकाष्ठा से भी साधक अपनी बौद्धिक प्रतिभा से 'असोच्चाकेवली बन सकता है। यह सब श्रुतज्ञान की महिमा है।

(३) अवधिज्ञान

इन्द्रियो की सहायता के बिना ही जिस ज्ञान से मर्यादापूर्वक, रूपी-पदार्थों को जाना जा सके, वह अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय (क्षयोपशमजन्य)। भवप्रत्यय देवो और नारको को जन्म से ही होता है मृत्यु तक चलता है। मनुष्यो और तिर्यञ्चो को तप आदि के कारण जो अवधिज्ञान होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमजनित है।

इन दोनो के अनुगामी-अननुगामी, हीयमान-वर्धमान, प्रतिपाती-अप्रतिपाती, छह प्रकार अथवा श्रेणियाँ है।[2] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारो की अपेक्षा से अवधिज्ञान की मर्यादा या सीमा मे न्यूनाधिकता होती है।

---

१ उत्तराध्ययन अ ३ गा ८

२ त समासओ छव्विह पण्णत्त, त जहा—१ आणुगामिय, २ अणाणुगामिय, ३ वड्ढमाणय, ४ हीयमाणय, ५ पडिवाइय ६ अप्पडिवाइय। —नन्दीसूत्र सू० १०

(४) मनःपर्यायज्ञान

जिससे संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जाना जा सके, वह मनःपर्याय या मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। विशिष्ट निर्मल आत्मा जब मन द्वारा किसी प्रकार की विचारणा करता है अथवा किसी प्रकार का चिन्तन करता है, तब चिन्तनप्रवर्तक मानसवर्गणा के विशिष्ट आकारों की रचना होती है। उन्हें शास्त्रीय भाषा में मन के पर्याय कहते हैं। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के ऐसे मन के पर्यायों का ज्ञान होना, मनःपर्यवज्ञान है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि मनोद्रव्य का साक्षात्कार करने में आत्मा को अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

मनःपर्यवज्ञान दो प्रकार का है—ऋजुमति और विपुलमति। मनोगत भावों को सामान्यरूप से जानना ऋजुमति और विशेषरूप से जानना विपुलमति है।

(५) केवलज्ञान

ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का सर्वांशतः नाश होने पर जो एक, निर्मल, परिपूर्ण, असाधारण और अनन्तज्ञान उत्पन्न होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

एक अर्थात्—अकेला—अन्य से रहित (केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान नहीं होते, मात्र केवलज्ञान ही होता है). निर्मल अर्थात् सर्वथा मल-अशुद्धि-रहित, परिपूर्ण (केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब जानने योग्य सर्वपदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है, अतः वह परिपूर्ण है), असाधारण (उसके सदृश दूसरा एक भी ज्ञान नहीं, अतः असाधारण है), और अनन्त (आने के पश्चात् जाता नहीं, इसलिए अन्तरहित) है।

इस ज्ञान की प्राप्ति होने से भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालों के सर्वपदार्थों के सभी पर्याय प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। आत्मा के ज्ञान की यह चरमसीमा है। इससे आगे कोई भी ज्ञान नहीं है।

अतः जब तक केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) प्राप्त न हो, तक तब सर्वज्ञत्व प्राप्त कराने वाले मतिश्रुतज्ञान का तथा अवधि और मनःपर्यवज्ञान का यथाशक्ति अभ्यास करना ही श्रुतधर्म का प्रधान उद्देश्य है। यही सम्यग्ज्ञान के रूप में श्रुतधर्म का विशिष्ट अर्थ है।॥ □

जैन तत्व कलिका
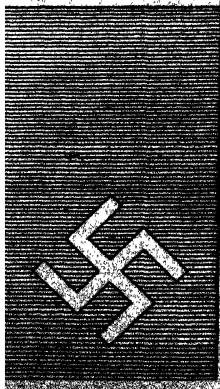
पंचम कलिका

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

[श्रुत धर्म के संदर्भ में]

व्यवहार सम्यग्दर्शन

निश्चय सम्यग्दर्शन

तत्व : स्वरूप और प्रकार

सात तत्व

नौ तत्व

जीव तत्व के भेद-प्रभेद

अजीव तत्व का विवेचन

आस्रव, संवर, निर्जरा तत्व

मोक्ष तत्व

सम्यग्दर्शन के आठ आचार

सम्यग्दर्शन-स्वरूप
(श्रुतधर्म)

यह पहले कहा जा चुका है कि कोई भी ज्ञान तभी सम्यक् बनता है, जब व्यक्ति की दृष्टि या दर्शन सम्यक् हो। इसीलिए सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का कारण सुशास्त्र भी तभी सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्श्रुत हो सकता है, जबकि सम्यग्दर्शन उससे पूर्व हो।

दूसरी दृष्टि से देखें तो सम्यग्दर्शन को मोक्ष का साधन बताया गया है। इसलिए मोक्ष आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण सम्यग्दर्शन भी आत्मा का धर्म है। जैसे ज्ञान आत्मा का निजी गुण है, वैसे दर्शन भी है। अतः जैसे सम्यग्ज्ञान का आराधन श्रुतधर्म कहलाता है, वैसे ही सम्यक्त्व का आराधन भी श्रुतधर्म है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण

सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में किया गया है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'[1]

अर्थात्— 'तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।'

परन्तु इस लक्षण से यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि तत्त्वभूत पदार्थ कौन से हैं? और वे ही क्यो तत्त्वभूत पदार्थ है? इसके अतिरिक्त एक शंका यह भी हो सकती है कि कोई व्यक्ति प्रखरबुद्धि का है, उसने शास्त्र या ग्रन्थ पढ़कर या सुन-रटकर ९ तत्त्वों को जान भी लिया, तथा उन तत्त्वों के भेद-प्रभेद, अर्थ, लक्षण, परिभाषाएँ आदि कण्ठस्थ भी कर चुका, उनके विषय में शंका-समाधान भी कर देता है, उक्त तत्त्वज्ञान की परीक्षा में भी वह उत्तीर्ण हो चुका है, तत्त्वों पर वह लम्बी-चौड़ी व्याख्या भी कर सकता है, अपने परम्परागत संस्कारो के करण वह अपने सम्प्रदाय के गुरु से तत्त्वभूत पदार्थों का स्वरूप समझ चुका है, वाणी से प्रकट भी करता है, ऐसी स्थिति में क्या वह व्यक्ति सम्यग्दर्शन-सम्पन्न माना जा सकता है?

---

१ तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू.२

इन दोनों शंकाओं में से प्रथम शंका का समाधान यह है कि मिथ्या-दृष्टि या अज्ञानी तत्त्वभूत पदार्थ चाहे जिनको बताते हों, अथवा अन्य दर्शन भी अपनी-अपनी परम्परानुसार तत्त्वभूत पदार्थ बताते हों,[1] परन्तु व्यवहार-सम्यग्दर्शन की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया है जिन-भाषित या जिनप्रज्ञप्त, तीर्थंकरोपदिष्ट तत्त्व ही तत्त्वभूत हैं,[2] अन्य नहीं।

वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने इन्ही पदार्थों को तत्त्वभूत इसलिए बताया है क्योंकि जीवतत्त्व ही सब में मुख्य तत्त्व है,[3] वही शेष तत्त्वो का केन्द्र है। शेष पदार्थ इसी जीवतत्त्व (आत्मा) के विकास एवं ह्रास में एवं शुद्धि-अशुद्धि में, विकृति-अविकृति में निमित्त-कारण है। जीव तत्त्व के अति-रिक्त शेष ८ तत्त्वभूत-पदार्थों में आत्मा की संसारवृद्धि और संसारह्रास के कारणभूत सभी पदार्थ समाविष्ट हो जाते है। अतः जिन भगवान् ने उन्ही पदार्थों को तत्त्वभूत बताना आवश्यक समझा जो आत्मा के चरम विकास के लिए साधक या बाधक हैं। तथा इन्हीं पदार्थों में कौन-से पदार्थ हेय, ज्ञेय और उपादेय है ? यह बताना भी आवश्यक था। इसी दृष्टि से जिनेन्द्र प्रभु ने जीव-अजीव को ज्ञेय, पाप, आश्रव और बन्ध, इन तीनों पदार्थों को हेय, संवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय तथा पुण्य को कथञ्चित् हेय, कथंचित् उपा-देय बताकर इनकी तत्त्वरूपता सिद्ध कर दी है।

सूत्रप्राभृत में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—जिनेन्द्र भगवान् ने जीव-अजीव आदि बहुविध पदार्थ सुतथ्य बताये हैं, उनमे से जो हेय हैं, उन्हें हेयरूप में और उपादेय को उपादेयरूप में यथातथ्य जानता-समझता है, वही सम्यग्दृष्टि है।[4]

निष्कर्ष यह है कि जिन भगवान् ने हेय, ज्ञेय, उपादेय, इन तीनो में से जो पदार्थ जैसा भी जिस रूप में अवस्थित है, उसका वैसा रूप बताकर जीवादि पदार्थों की तत्त्वरूपता स्पष्ट कर दी है।

---

१ जैसे कि वेदान्तदर्शन कहता है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' सांख्य और योग क्रमशः २५ और २६ (ईश्वर सहित) तत्त्व मानते हैं।

२ (क) 'जिणपण्णत्तं तत्तं' —आवश्यक सूत्र
(ख) 'रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु' —योगशास्त्र

३ उत्तमगुणाण धाम, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदा ॥

४ सुतत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ, सो हु सुद्दिट्ठी ॥ —सूत्रप्राभृत गा. ५

दूसरी शंका का समाधान यह है, कोई भी व्यक्ति तत्त्वज्ञान का चाहे कितना ही बड़ा विद्वान ही क्यों न हो, इन तत्त्वभूत पदार्थों पर उसकी श्रद्धा-रुचि तब तक सच्ची श्रद्धा नहीं मानी जा सकती, जब तक वह व्यक्ति उन तत्त्वभूत पदार्थों का स्वरूप और उनके अपने-अपने यथार्थ स्वभाव को गहराई से समझकर हृदयगम न कर ले अथवा उनमें से मुख्य जीवतत्त्व (आत्मा) को केन्द्र मानकर शेष सभी तत्त्वों को आत्मिक विकास-ह्रास की दृष्टि से जांच-परखकर उनके प्रति अपनी दृष्टि स्पष्ट न कर ले। इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति में इन तत्त्वभूत पदार्थों में से हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक करके हेय के त्याग और उपादेय को ग्रहण करने की बुद्धि न हो, तथा कषायमन्दता,[1] विषयासक्ति की न्यूनता, मोक्ष के प्रति तीव्र उत्सुकता, संसार के प्रति विरक्ति, प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा, सत्य के प्रति अथवा आत्मा-परमात्मा के दृढ आस्था न हो,[2] तब तक तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति उसकी श्रद्धा शब्दात्मक ही मानी जाएगी, आत्मानुभवात्मक नहीं। अन्तःकरण में जब अजीव, बन्ध और आश्रव में आकुलता तथा जीव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष में अनाकुलता (शान्ति) देखने की वृत्ति होगी, तभी तत्त्वभूत पदार्थों पर उसकी श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा जाएगा, और वह सम्यक्त्व भी तभी श्रुतधर्म का अंग माना जाएगा।

व्यवहार सम्यक्त्व के सबसे प्राचीन लक्षण में यही तथ्य स्पष्ट किया गया है—

जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव।।
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहिय।।

अर्थात्—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ही नौ तथ्य-तत्त्व (तत्त्वभूत पदार्थ) हैं। इन तत्त्वभूत (तथ्यस्वरूप) पदार्थों (भावों) के सद्भाव (अस्तित्व अथवा स्वभाव) के सम्बन्ध में जिनेन्द्र भगवान् द्वारा किये गये उपदेश (प्ररूपण) में जो भावपूर्वक (अन्तःकरण से) श्रद्धा है, उसे ही सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) कहा गया है।[3]

तात्पर्य यह कि जिस व्यक्ति को सिर्फ इतनी-सी श्रद्धा हो कि जिन-

---

१ 'जं सोच्चा पडिवज्जति तवं खतिमहिंसयं''''।' —उत्तराध्ययन अ ३, गा. ८

२ प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य, ये पाँच सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण हैं।

३ उत्तराध्ययन अ. २८, गा. १४-१५

भगवान् द्वारा बताये गए अमुक-अमुक पदार्थ तत्त्वभूत हैं, तो उसकी यह श्रद्धा आत्मलक्ष्यी नहीं है; अर्थात् वह जीवादि पदार्थों के लक्षण जानते हुए श्रद्धाशील नहीं है कि भगवान् ने जैसा-जैसा जिन तत्त्वभूत पदार्थों का स्वरूप बताया है वे वैसे ही स्वभाव के हैं। जैसे—आत्मा (जीव) के स्वभाव ज्ञान-दर्शन है, ये उसके निजी गुण है, आत्मा का स्वरूप इस प्रकार का है, अजीव या पुद्गलों के स्वभाव एव गुण भिन्न है। वे परभाव है। इन तत्त्वभूत पदार्थों में से अमुक-अमुक पदार्थ मेरे आत्महित में बाधक है या साधक हैं। ये तत्त्वभूत पदार्थ हेय है, ये ज्ञेय है, और ये उपादेय है। इस प्रकार स्वभाव के प्रति आत्मलक्ष्यी श्रद्धा के बिना कोरी श्रद्धा कृतकार्य नही हो सकती। अतः जब तत्त्व और उसके स्वभाव के निश्चय के प्रति आत्म-लक्ष्यी श्रद्धान होगा, तभी सम्यग्दर्शन होगा, और वही श्रुतधर्म कहलाएगा।

सम्यग्दर्शन में स्वानुभूति आवश्यक

देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और तत्त्वभूत पदार्थ आदि के प्रति श्रद्धानरूप जो व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है, वह भी तभी सार्थक और सफल हो सकता है, जब आत्मा के प्रति श्रद्धा या स्वानुभूति हो, तथा आत्मा के विषय में दृढ़ प्रतीति, रुचि या विश्वास हो।

जब श्रद्धा को आत्मा से अभिन्न बताया गया है, तब केवल देव, गुरु, शास्त्र या तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति श्रद्धा से काम नही चल सकता। इसीलिए पंचाध्यायी मे कहा गया है—"यदि श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि गुण स्वानुभूति सहित है तभी वे सम्यग्दर्शन के लक्षण (गुण) हो सकते है किन्तु स्वानुभूति (स्वरूपानुपलब्धि) के बिना श्रद्धा आदि गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण नही, लक्षणाभास ही है। स्वानुभूति (आत्मा के प्रति श्रद्धा-प्रतीति) के बिना जो श्रद्धा केवल शास्त्रो या गुरु आदि के उपदेश के श्रवण मात्र से होती है, वह तत्त्वार्थ के अनुकूल होते हुए भी वास्तव मे शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रहित होने से शुद्ध श्रद्धा नही कहला सकती।'[1]

वस्तुतः देखा जाए तो सबसे बड़ी और मूल श्रद्धा आत्मा पर श्रद्धा

---

१ स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणा।
स्वानुभूति बिनाऽऽभासा नाऽर्थाच्छ्रद्धादयो गुणा.॥
बिना स्वानुभूति तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत.।
तत्त्वार्थानुगताऽप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धित ॥
—पंचाध्यायी (उत्तरार्ध), श्लो. ४१५, ४२१

या विश्वास है। आत्मा की या आत्मस्वरूप की प्रतीति या विनिश्चय होने पर ही आश्रव एवं बन्ध को छोड़ा जाता है, संवर और निर्जरा की साधना की जा सकती है। आत्मस्वरूप पर या आत्मशक्तियों पर विश्वास नही जमा तो बन्धनो को तोड़कर मोक्ष के लिए पुरुषार्थ कैसे किया जाएगा ? अतः आत्मा पर यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ एवं दृढ़ रुचि, प्रतीति एवं विनिश्चिति, उपलब्धि, अथवा विश्वास ही निश्चयसम्यग्दर्शन है, इससे आत्मा की अमरता और शुद्धता का ज्ञान परिपक्व हो जाता है।

सभी अध्यात्मवादी दर्शनों ने आत्मा (जीव) को अन्य सभी तत्त्वो का राजा, प्रमुख या चक्रवर्ती कहा है। जीव (आत्मा) का वास्तविक बोध या अनुभव होने पर अजीव को पहचानना आसान हो जाता है; क्योंकि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। इसीलिए जीव के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से जीव से ही सम्बन्धित है, जीव की सत्ता के कारण ही उन सबकी सत्ता है। फलितार्थ यह है कि समग्र आत्मधर्म या अध्यात्मज्ञान का आधार यह जीव ही है।

इसीलिए जब निश्चयसम्यग्दर्शन (जिसमें कि आत्मा की अनुभूति, श्रद्धा और विनिश्चिति होनी अनिवार्य है,) से यह निश्चय हो जाता है कि मैं अजीव से भिन्न चेतन आत्मतत्व हूँ, तब आत्मा में किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जब जीव और अजीव, इन दोनों तत्त्वो के परमार्थ और स्वरूप को जानकर अजीव को छोड़ता और जीवतत्त्व में लय हो जाता है, तब वह आत्मधर्म —श्रुतधर्म का आराधक होता है। जिसके फलस्वरूप राग-द्वेष का क्षय करके अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है।

'पर' में स्व-बुद्धि तथा 'स्व' में पर-बुद्धि का रहना ही मिथ्यात्व है, जो बन्धकारक है; जबकि 'स्व' में स्व-बुद्धि और 'पर' में पर-बुद्धि का रहना ही भेद-विज्ञान है। यही निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है।

निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का समन्वय

यह बात अनुभवसिद्ध है कि जब तक आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध से जिन सात या नौ तत्त्वों की सृष्टि होती है, उनके तथा उनके उपदेष्टा देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति श्रद्धान नहीं होता, तब तक आत्मस्वरूप का विनिश्चय या अनुभव नहीं हो पाता, क्योंकि परम्परा से ये सभी एक दूसरी तरह से आत्मश्रद्धान के कारण हैं। जैसे—देवादि पर श्रद्धान बिना, उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों या पदार्थों पर श्रद्धान नहीं हो सकता, उनके

द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो या पदार्थों पर श्रद्धान हुए बिना आत्मा की ओर सम्मुखता, रुचि, श्रद्धा, उसकी पहिचान या विनिश्चिति उत्तरोत्तर नही हो सकती। इस दृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन, एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। अत श्रुतधर्म के सन्दर्भ मे आत्मश्रद्धान एव आत्म-ज्ञान के लिए देव गुरु धर्म शास्त्र और इनके द्वारा उपदिष्ट ७ या ६ तत्त्वो पर श्रद्धान और ज्ञान आवश्यक है।

सात और नौ तत्त्वो का रहस्य

जैनागमो मे ६ तत्त्वो का निर्देश किया गया है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो मे सात तत्त्वो का ही उल्लेख है, इस अन्तर के रहस्य का समझ लेना चाहिए। वास्तव मे शुभकर्मों का आगमन पुण्याश्रव और अशुभकर्मों का आगमन पापाश्रव है, तथा शुभकर्मों का बन्ध पुण्यबन्ध और अशुभकर्मों का बन्ध पापबन्ध है, इस दृष्टि से पुण्य और पाप इन दो तत्त्वो का अन्तर्भाव आश्रव या बन्ध मे हो जाता है। इस कारण तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो मे सात तत्त्वो[1] का ही निर्देश है। इन्ही को अतिसक्षेप मे कहना चाहे तो जीव और अजीव इन दो तत्त्वो मे समाविष्ट कर सकते है।

तत्त्वभूत पदार्थ सात ही क्यो ?

किसी भी कार्य की सफलता के लिए यथार्थत सात बातो का जानना और उन पर श्रद्धा करना आवश्यक है। इन्हे जाने या श्रद्धा किये बिना, उक्त महत्त्वपूर्ण कार्य मे सफलता तो दूर रही, वह कार्य प्रारम्भ ही न हो सकेगा। इसी प्रकार अगर इन सात तथ्यो (तत्त्वो) मे से सिर्फ किन्ही एक या दो मे ज्ञान एव श्रद्धान के अतिरिक्त शेष तथ्यो की परवाह न करके सम्य-ग्दर्शन के सन्दर्भ मे श्रुतधर्म की साधना प्रारम्भ कर दी जाएगी, तो आगे चलकर उक्त धर्मसाधक को असफलता निराशा तथा समय एव शक्ति के अपव्यय का ही सामना करना पडेगा।

दो व्यावहारिक उदाहरणो से इस बात को समझिए—

(१) एक व्यक्ति को किसी रासायनिक पदार्थ का कारखाना लगाना है, तो उसे निम्नोक्त तथ्यो पर विचार और निश्चय करना होगा—(१) मूल पदार्थ (Raw Material) क्या है ? (२) उसके सम्पर्क मे आकर विकृति (Impurities) पैदा करने वाले विजातीय पदार्थ कौन-से हैं ? (३) उनके मिश्रित होने का क्या कारण है ? (४) पदार्थ का मिश्रित स्वरूप क्या है ?

---

१ 'जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।' —तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू ४

(५) मिश्रण को रोकने एवं सावधानी रखने का उपाय क्या है ? (६) मिश्रित विजातीय पदार्थों के शोधन का उपाय तथा (७) शुद्ध पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

(२) एक रुग्ण व्यक्ति को रोग को सर्वथा निर्मूल करके पूर्ण स्वस्थ होना है, उसे भी इन ७ तथ्यों को जानकर उन पर श्रद्धा एवं रुचि करनी आवश्यक है। जैसे—(१) नीरोगी—स्वस्थ रहना मेरा मूल स्वभाव है। (२) परन्तु वर्तमान में मेरे स्वभाव के विरुद्ध कौन-सा रोग आ गया है ? (३) इस रोग का कारण, (४) रोग का निदान, (५) रोग को रोकने का उपाय—अपथ्यसेवन का निषेध; (६) पुराने रोग के समूल नाश के लिए उपाय—औषध सेवन; एवं (७) नीरोगी अवस्था का स्वरूप।

जिस प्रकार लौकिक कार्यों की सफलता के लिए ७ तथ्यों को जानना-मानना और श्रद्धा करना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा के अनन्तसुखरूप कार्य या अनन्त ज्ञानादि रूप पूर्णस्वरूप दशा—शुद्धदशा प्राप्त करने जैसे लोकोत्तर कार्य की सफलता के लिए भी पूर्वोक्त ७ तथ्यों (तत्त्वों) को जानना और उन पर श्रद्धा करना अनिवार्य है :—

(१) मैं जिसे पूर्ण आत्मिक सुख चाहिए, वह (जीव) क्या है ? (२) सम्पर्क में आने वाला विजातीय पदार्थ (अजीव) क्या है ? (३) दुःख और अशान्ति के आगमन (आश्रव) के कारण, (४) दुःख और अशान्ति का रूप क्या है ? (बन्ध) (५) नये (आने वाले) दुःखों को रोकने (संवर) का उपाय, (६) पूर्व दुःखों को नष्ट करने का उपाय और (७) अनन्त सुखमय दशा का स्वरूप क्या है ?

अध्यात्मजिज्ञासु के नौ प्रश्न : नौ तत्त्व

तीर्थंकर महर्षियों ने अध्यात्मजिज्ञासु के मन में स्वाभाविक रूप से उठने वाले ९ प्रश्नों के उत्तर के रूप में इन तत्त्वभूत ९ पदार्थों को प्रस्तुत किया है और इनका ज्ञान और इनके प्रति श्रद्धान आवश्यक बताया है। जैसे—सर्वप्रथम जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है—'मेरे आस-पास जो जगत् फैला हुआ दिखाई देता है, वह वास्तव में क्या है ?' इसी के उत्तर में आप्तपुरुषों ने 'जीव' और 'अजीव' ये दो तत्त्व प्रस्तुत किये। 'सुख-दुःख के अनुभव करने के कारण क्या-क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान के रूप में उन्होंने 'पुण्य' और 'पाप' नामक दो तत्त्व प्रस्तुत किये। क्या दुःख से सर्वथा मुक्ति मिलना सम्भव है ?' इस प्रश्न के उत्तर के रूप में उन्होंने 'मोक्ष' तत्त्व प्रस्तुत किया। क्योंकि मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों उद्देश्य दुःखनिवृत्ति और

आत्यन्तिक सुखप्राप्ति हो तो उसे मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाना चाहिए। तत्पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि 'यदि दुःख से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, तो उसके उपाय क्या है ?' इस प्रश्न का विस्तृत समाधान देने के लिए उन्होंने दो निषेधात्मक और दो विधेयात्मक प्रश्न और उनके क्रमशः चार उत्तर प्रस्तुत किये है। जैसे—नये दुःखों के आने के कारण और उन्हें रोकने के उपाय क्या है ? तथा पुराने दुःखो के क्या कारण है और उन्हें नष्ट करने के उपाय क्या है ? इन चारों प्रश्नों के उत्तर में वीतराग मनीषियो ने आस्रव और संवर तथा बन्ध और निर्जरा तत्त्व प्रस्तुत किये है।

इस प्रकार तीर्थंकर देवों ने नौ तत्त्वों का प्रतिपादन करके अध्यात्मजिज्ञासु के मन में उठने वाले सभी तात्त्विक प्रश्नों का समाधान किया है।

नौ तत्त्वों का क्रम

जैन शास्त्रों में नौ तत्त्वो का क्रम निम्न प्रकार से निर्धारित किया गया है—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बन्ध और (९) मोक्ष।

नौ तत्त्वों का यह क्रम नियत करने का प्रयोजन इस प्रकार है—

(१) **जीव**—सभी तत्त्वो को जानने-समझने वाला तथा ससार और मोक्ष विषयक सभी प्रवृत्तियाँ करने वाला जीव ही है। जीव के बिना अजीव तत्त्व अथवा पुण्यादि तत्त्व सम्भव ही नही हो सकते। अतः सर्वप्रथम जीव तत्त्व का निर्देश किया गया है।

(२) **अजीव**—जीव की गति, स्थिति, अवगाहन, वर्तना आदि सब अजीव तत्त्व की सहायता के बिना असम्भव है, इसलिए दूसरे क्रम में 'अजीव' तत्त्व का निर्देश किया गया है।

(३-४) **पुण्य-पाप**—जीव के सांसारिक सुख-दुःख के कारणभूत है—अजीव के एक विभाग—पुद्गल—के कर्मरूप विकार। वे ही पुण्य और पाप हैं। अतः तीसरा और चौथा तत्त्व बताया गया—पुण्य और पाप।

(५) **आस्रव**—पुण्य-पाप आस्रव के बिना नही हो सकते। अतः नये कर्मों के आगमनरूप आस्रव का निर्देश किया गया।

(६) **संवर**—आस्रव का प्रतिरोधी तत्त्व संवर है, जो कर्मों को आने से रोकता है। अतः आस्रव के अनन्तर संवर का निर्देश किया गया है।

(७) **निर्जरा**—जिस प्रकार नये कर्मों का आगमन संवर द्वारा रुकता है, उसी प्रकार पुराने कर्मों का क्षय निर्जरा से होता है। अतः सातवाँ निर्जरा तत्त्व बताया गया।

(८) **बन्ध**—निर्जरा का प्रतिपक्षी तत्त्व बन्ध है। अर्थात्—जिस प्रकार पुराने कर्म निर्जरा से झड़ जाते हैं, उसी प्रकार नये कर्मों का बन्ध भी होता जाता है। अतः आठवाँ बन्धतत्त्व प्रस्तुत किया गया।

(९) **मोक्ष**—जीव का कर्मों से जैसे सम्बन्ध होता है, वैसे उनसे सर्वथा छुटकारा भी एक दिन हो सकता है। सम्पूर्ण कर्मों से सर्वथा मुक्ति को ही मोक्षतत्त्व कहते है। इसलिए नौवाँ तथा अन्तिम मोक्षतत्त्व माना गया।

जीव प्रथम तत्त्व है और मोक्ष अन्तिम। इसका तात्पर्य यह है कि जीव मोक्ष प्राप्त कर सके, इसीलिए बीच के (मोक्ष में साधक-बाधक) सभी तत्त्वों का निरूपण हुआ है।

नौ तत्त्वों की विशेषता

भारतीय दर्शनों में कुछ ज्ञेयप्रधान है। वे मुख्यतया ज्ञेय की ही चर्चा करते हैं—जैसे सांख्य, वेदान्त, नैयायिक और वैशेषिक। नैयायिक और वैशेषिक ने अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए, मूलद्रव्य कितने हैं, कैसे हैं, और अन्य कौन-से पदार्थ उनसे सम्बन्धित है ? इत्यादि बातों की जानकारी करने के लिए कुछ बातो का निरूपण किया है। सांख्यदर्शन प्रकृति, पुरुष आदि २५ तत्त्वों का ज्ञान करने पर जोर देता है।[१] इसी प्रकार वेदान्तदर्शन भी जगत् के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की मीमांसा करके उसे जानने पर बल देता है। योगदर्शन और बौद्धदर्शन मुख्यतया हेय और उपादेय की ही चर्चा करते हैं। जैनदर्शन ने जैसे बन्ध, आस्रव, मोक्ष और निर्जरा, ये चार तत्त्व माने है, वैसे ही योगदर्शन ने हेय (दुःख), हेयहेतु (दुःख का कारण), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्ष का कारण), इस चतुर्व्यूहरूप तत्त्वों का, तथा बौद्धदर्शन ने दुःख, दुःख समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यों का निरूपण किया है।

परन्तु जिनप्रणीत दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि जगत् के मूलभूत तत्त्वों के जानने-मात्र से मुक्ति नहीं मिलती। उसके लिए महापुरुषों ने जो साधन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) बताये हैं, उनका भी अनुसरण करना चाहिए। अर्थात् क्रिया का भी अवलम्बन लेना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि केवल क्रिया से भी मुक्ति नहीं मिलती,

---

१ "पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥"

उसके लिए जगत् के जो मूलभूत तत्त्व बताए हैं, उनका ज्ञान और उन पर श्रद्धान भी करना आवश्यक है।[१] जिसे इन तत्त्वों का ज्ञान नहीं या श्रद्धा भी नहीं, वह मोक्ष साधक क्रिया भलीभाँति नही कर सकता।

इसके लिए जैन दार्शनिको ने रोगी का दृष्टान्त दिया है—

एक रोगी है। वह यह जानता है कि मुझे कौन-सा रोग हुआ है? और किन उपायों से मिट सकता है? परन्तु रोग मिटाने के लिए वह कोई उपाय या उपचार नही करता; तो उसका रोग नही मिट सकता। इसी प्रकार एक दूसरा रोगी है, उसे रोग हुआ है, इसलिए वह अनेक प्रकार के उपचार रोग-निवारणार्थ करता रहता है, लेकिन रोग कौन-सा है? उसका स्वरूप कौन-सा है? वह क्यों बढता है? किन उपायो से घट सकता है या मिट सकता है? इत्यादि कुछ नही जानता। बताइए, ऐसे रोगी का रोग कैसे मिट सकता? जैसे रोग से मुक्त होने के लिए रोग का निदान, रोग-निवारणोपायज्ञान एवं चिकित्सा तीनो आवश्यक है, वैसे ही भवभ्रमणरूप रोग से मुक्ति के लिए ज्ञान, दर्शन, (श्रद्धा) और क्रिया; तीनों आवश्यक हैं। इसी कारण नौ तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय तीनों प्रकार के तत्त्वों को स्थान दिया गया है।

नौ तत्त्वो में जीव और अजीव, ये दो ज्ञेयतत्त्व है, जिनसे समस्त लोक, विश्व या जगत् का ज्ञान हो सकता है। पाप, आस्रव और बन्ध, तीनो हेयतत्त्व है। मनुष्य को क्या छोडना चाहिए? अथवा क्या नही करना चाहिए?, यह इन तीन तत्त्वों से जाना जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीनो उपादेय तत्त्व है। इनसे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को क्या ग्रहण करना चाहिए? या कौन-सा कार्य करना चाहिए; पुण्य, वैसे तो सोने की बेड़ी के समान होने से हेय है, किन्तु आत्मगुणो के विकास की साधना में सहायक होने से कथञ्चित् उपादेय समझना चाहिए।

नौ तत्त्वों का स्वरूप

जीव-अजीव आदि ७ या ९ तत्त्वों पर यथार्थ ज्ञानयुक्त श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीव आदि

---

१ इहमेगे उ मन्नंति अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता ण सव्वदुक्खा विमुच्चए ॥
भणंता अकरेंता य बंध-मोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं ॥ —उत्तराध्ययन अ. ६, गा. ८-९

तत्त्वों का स्वरूप क्या है ? अतः इन तत्त्वों का स्वरूप क्रमशः संक्षेप में बताते हैं ।

(१) जीवतत्त्व

जीव का लक्षण : उपयोग, चेतना, प्राणधारण—जीव का व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ किया गया है, जो जीता है, प्राणधारण करता है, वह जीव है।[1] सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि से जीव का यह लक्षण ठीक है; क्योंकि जब तक प्राणी के शरीर में जीव रहता है, तब तक मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, पुण्य-पाप, शुभाशुभ आदि का व्यापार चलता रहता है, जिस समय जीव शरीर को छोड देता है, उसी समय से जीवन को समस्त क्रियाएँ अपने-आप बन्द हो जाती है।

निश्चयनय की दृष्टि से जीव निश्चय भाव-प्राण (ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य) से जीता है, और व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मवश अशुद्ध द्रव्य भाव-प्राण (५ इन्द्रिय, ३ बल, १ आयु और १ श्वासोश्वास) इन दस प्राणों से जीता है।

किन्तु जीव का यह अर्थ संसारी जीवों में ही घटित होता है, सिद्ध जीवों में नहीं। अतः जैनाचार्यों ने जीव का लक्षण किया—**'चेतना लक्षणो जीवः'** अर्थात्—जिसमें चेतना (चैतन्य अथवा चेतन) हो, वह जीव है। यह जीव का मुख्य लक्षण या गुण है, जो अजीव में नहीं पाया जाता। जीव ज्ञान-दर्शन का धारक होने से 'चेतन' कहलाता है। चेतनगुण के कारण ही जीव सुख-दुःख का संवेदन करता है। इसीलिए जीव का स्पष्ट लक्षण किया गया—**'उपयोगो लक्षणम्'** अर्थात्—जीव का लक्षण उपयोग है।[2] यह लक्षण संसारस्थ और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों में घटित होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि चेतना को जीव का लक्षण मानने की अपेक्षा शरीर का लक्षण माना जाय तो क्या आपत्ति है ? परन्तु उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। यदि चेतना को शरीर का लक्षण माना जाए तो मरणावस्था में जीव के शरीर में से निकल जाने के बाद भी शरीर चेतनायुक्त रहना चाहिए, किन्तु मरणावस्था में वह चेतनारहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त चेतना शरीर का लक्षण हो तो बड़े या मोटे शरीर में अधिक चेतना और अधिक ज्ञान होना चाहिए तथा दुबले-पतले शरीर में कम चेतना होनी चाहिए तथा ज्ञान की मात्रा भी कम होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं

---

१ जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः ।

२ (क) 'जीवो उवओगलक्खणो' (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. २ सू. ८

पाया जाता; प्रत्युत विशालकाय लम्बे-चौडे शरीर वाले प्राणियो में ज्ञान कम होता है। हाथी, ऊँट और बैल की अपेक्षा मनुष्य का शरीर छोटा होते हुए भी उसमें ज्ञान अधिक पाया जाता है। मनुष्यो में भी मोटे-ताजे दिखाई देने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा दुर्बल और कम लम्बे दिखाई देने वाले साधु-सन्तों और विद्वानों में अधिक ज्ञान होता है। अतः चेतना शरीर का लक्षण नही माना जा सकता, अपितु शरीर से भिन्न जीव या आत्मा का ही लक्षण है।

उपयोग शब्द जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—ज्ञान का स्फुरण, बोध-व्यापार या जानने की प्रवृत्ति। उपयोग दो प्रकार का होता है—निराकार और साकार। वस्तु का सामान्य बोध होना निराकार उपयोग है, जबकि विशेष-रूप से बोध होना साकार उपयोग है। इन दोनों को क्रमश दर्शन और ज्ञान कहते है। इनमें प्रधानता ज्ञान की ही है। जिज्ञासा हो सकती है कि यदि उपयोग ही जीव का लक्षण हो तो निगोद जैसी निम्नतम एवं सुषुप्त चेतना वाली अवस्था में क्या उपयोग होता है? इसका समाधान यह है कि निगोद जैसी निम्नतम अवस्था में भी जीव को अक्षर के अनन्तवें भाग जितना उपयोग अवश्य होता है। यदि इतना भी उपयोग न हो तो जीव और अजीव मे या चेतन और जड मे कोई भी अन्तर नही रहेगा। हाँ, इतना अवश्य है कि उपयोग तो प्रत्येक जीव में होता है, किन्तु वह उसकी अवस्था या शक्ति के विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, अर्थात्—उसमें तारतम्य बहुत होता है। निगोद के जीवों का उपयोग अत्यन्त मन्द होता है। उनसे विकसित चेतना वाले जीवों का उपयोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। सबसे अधिक और श्रेष्ठतम उपयोग केवलज्ञानी का होता है। उपयोग की इस न्यूनाधिकता का कारण जीव के साथ लगा हुआ कर्म का आवरण है। वह आवरण जितना अधिक गाढा होता है, उतना ही उपयोग कम होता है, और आवरण जितना अधिक शिथिल या सूक्ष्म होता है, उतना ही उपयोग अधिक होता है। निगोद के जीवों पर कर्म का आवरण बहुत ही गाढ होता है, अतः उनका उपयोग भी अतिमन्द होता है, और केवलज्ञानी के ज्ञानावरणीयादि कर्म का आवरण बिलकुल भी नही होता, अतः उनका उपयोग परिपूर्ण, सर्वश्रेष्ठ होता है।

जीव उपयोगवान् होता है, इसी से उसे सुख-दुःख का संवेदन होता है, जो यह सूचित करता है कि गाय, भैंस, हाथी, घोडे, बन्दर, मगर-मच्छ, मत्स्य, साँप, बिच्छू, कनखजूरे, कीड़े आदि जन्तुओ में जीव हैं। पृथ्वी, जल

अग्नि, वायु और वनस्पति में भी सुख-दुःख का संवेदन होता है, अतः इनमें भी जीव है।

प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति पर प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया कि वनस्पति में जीव है, उन्हें भी सुख-दुःख का संवेदन होता है।[1]

उसी प्रकार कृषि-वैज्ञानिक भी पृथ्वी में जीव मानते है और जीव सहित पृथ्वी को जीवित भूमि (Living Soil) कहते है। एक बूँद साफ और स्वच्छ जल में भी लाखों सूक्ष्म जीव देखे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, अग्नि—इन पांचों में भी जीव है।

सूखी, लकडी, काँच, कागज आदि में जीव नही है, क्योंकि इन्हें सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता, उनमें कोई बोध-व्यापार या उपयोग नही होता है।

जीव को प्राणी भी कहते है, क्योंकि वह प्राण धारण करता है। प्राण दो प्रकार का है—द्रव्यप्राण और भाव प्राण। द्रव्यप्राण के १० भेद हैं—पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल) श्वासोच्छ्वास और आयुष्य।

किसी भी निकृष्ट अवस्था में जीव के इनमें से चार प्राण अवश्य होते है। जीव की अवस्था ज्यो-ज्यों विकसित होती है, त्यों-त्यो उसमें प्राणो की संख्या में वृद्धि होती है और अन्त में वह दसो प्राणो को धारण करने वाला होता है।

भावप्राण चार होते हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य; ये प्रत्येक जीव में अवश्य होते है। निकृष्ट अवस्था में वे अव्यक्त और सामान्य मनुष्यों द्वारा अज्ञात होते हैं, परन्तु जीव की क्रमशः उन्नत अवस्था में वे व्यक्त होते जाते हैं और सामान्य मनुष्यों द्वारा भी ज्ञात होते है।

जो जीव सर्वकर्मों का क्षय कर देता है, उसकी देहधारण क्रिया का अन्त होने पर वह द्रव्यप्राणों को धारण नही करता। किन्तु भावप्राण तो उस समय भी अवश्य होते हैं। अतः प्राणधारण जीव की विशेषता है।

जीव का स्वरूप—निश्चयनय की दृष्टि से भगवती सूत्र में कहा गया है—

---

१ जैसे कि स्मृति में भी कहा है—
अन्तःप्रज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नरः॥

'जीवो अणाइ अनिधणो अविनासी अक्खओ धुवो निच्चं।'

अर्थात्—जीव अनादि है, अनिधन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है और नित्य है।

वास्तव में जीव (आत्मा) का स्वरूप तो ऐसा ही है, इसे स्पष्टरूप से समझ लेना आवश्यक है।

अनादि—कहने का आशय यह है कि वह किसी विशेष समय पर उत्पन्न नहीं हुआ; अमुक समय पर उसका जन्म नहीं हुआ। वह अजन्मा है, अज है।

यदि जीव को समय-विशेष पर उत्पन्न हुआ माना जायेगा तो प्रश्न होगा—वह कब हुआ ? कैसे हुआ ? किसने उत्पन्न किया ? इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होंगे, जिनमें अनवस्थादि दोष की संभावना तथा युक्ति-प्रमाण-विरुद्धता होने से वह तथारूप उत्पत्तिस्वभाव का सिद्ध नहीं होता।

यदि कहें कि 'देह के साथ ही जीव उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्ति का कारण पंचभूतों का संयोजन है', तब तो पंचभूतो के संयोजन से उत्पन्न होने वाले सभी जीवों का एक सरीखा ज्ञान, दर्शन, स्वभाव आदि होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। प्राणियो के ज्ञान, दर्शन और स्वभाव में न्यूनाधिकत्व और पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। फिर पाचो भूत जड है, चैतन्य-रहित हैं, उनसे चैतन्ययुक्त जीव की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः जीव को अनादि मानना ही उचित है। अनादि मानने पर ये सब शंकाएँ समाहित हो जाती है। निश्चयनय से जीव अनादि होने पर भी व्यवहारनय से जीव सुख-दुःखवेदनावश शुभाशुभ कर्म बांधता है और उनके फलस्वरूप नाना-गतियों और योनियो में, विविध पर्यायो में उत्पन्न होता है। पर्याय दृष्टि और एक गति से दूसरी गति में जाने की अपेक्षा उसकी आदि मानी जाती है।

जीव को **अनिधन** कहने का आशय यह है कि वह कभी भी मरता नहीं, अमर है। निश्चयनय की दृष्टि से यह कथन है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'अमुक जीव मर गया।' मर जाने का अर्थ इतना ही है कि उसने जिस देह को धारण किया था, उस देह से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया। आयुष्यकर्म की अवधि पूर्ण होने पर उसका इस देह से छुटकारा हुआ। अन्य गतियोनि में उसका जन्म हुआ। जीव की देह-परिवर्तन की इस क्रिया को मरण कहा जाता है, किन्तु वास्तव में यह जीव का विनाश नहीं है।

जीव को **अविनाशी** कहने का तात्पर्य है—शस्त्र उसका छेदन-भेदन

नहीं कर सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे भिगो नहीं सकता, वायु उसे सुखा नहीं सकता, चाहे जैसे शक्तिशाली यंत्रों या प्रचण्ड तीव्र रासायनिक प्रयोगों से जीव का विनाश नहीं हो सकता। देह अवश्य कटता, गलता, जलता, सूखता या नष्ट होता है, आत्मा नहीं।

जीव को **'अक्षय'** इस कारण कहा गया है कि उसमें कभी भी कुछ कमी नहीं होती। अनन्त भूतकाल में वह जितना था, उतना ही आज है, और जितना आज है उतना ही अनन्त भविष्यकाल में भी रहेगा। यदि जीव में जरा भी क्षीणता (कमी) होगी तो एक समय ऐसा आ सकता है, जब कि वह सर्वथा (पूर्णरूप से) क्षीण हो जाए। लेकिन जीव के अक्षय होने से ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती है, शरीर में अवश्य हानि-वृद्धि होती है, पर वह जीव की नहीं, शरीर की है—चैतन्याश्रित शरीर की है।

जीव को **'ध्रुव'** कहने का आशय भी यही है कि वह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्य के रूप में स्थायी रहता है, पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से वह कर्मवश नाना पर्यायें धारण करता है। कभी सिंह बना तो कभी हाथी, कभी मनुष्य बना तो कभी देव।

जीव को 'नित्य' कहने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य की अपेक्षा से उसका कभी अन्त नहीं होता, केवल पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उसका देहापेक्षया रूपान्तर होता रहता है, किन्तु यह परिवर्तन वस्तुतः जीव (आत्मा) का नहीं, जीव के आश्रित शरीर का है।

जीव **'असंख्यप्रदेशात्मक'** है। प्रदेश का अर्थ है—सूक्ष्मतम भाग। उपमा की भाषा में कहें तो जीव के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर हैं। वे सब प्रदेश शृंखला (सांकल) की कड़ियों की तरह परस्पर एक दूसरे में फँसे हुए हैं, इस कारण उनका एकत्व बना रहता है। आत्मा के खण्ड (टुकड़े) कदापि नहीं होते, वह सदैव **अखण्ड** बना रहता है।

संकोच-विकासशील—यद्यपि निश्चयदृष्टि से आत्मा (जीव) अक्रिय (क्रियारहित) है, किन्तु व्यवहारदृष्टि से वह शरीराश्रित होने से विविध क्रियाएँ मन-वचन-काया से करता है।[1]

शंका उठाई जा सकती है कि हाथी के शरीर में रहा हुआ आत्मा (जीव) हाथी का शरीर छोड़कर जब चींटी का शरीर धारण करता है, तब तो उसका खण्ड होता होगा, या वह क्रिया भी करता होगा?

---

१ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ —बृहद्‌द्रव्यसंग्रह अधि. १, गा. २

जैनदर्शन इस विषय में यह समाधान देता है कि जीव जिस प्रकार अखण्ड और अक्रिय है, उसी प्रकार प्रकाश की तरह सकोच-विकासशील भी है, तथा देह से सम्बन्ध होने के कारण क्रिया भी करता है। इसीलिए बड़े या छोटे कमरे में प्रकाश की तरह बडे या छोटे शरीर में उसकी अवगाहना के अनुसार व्याप्त होकर रहता है। हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव हाथी का शरीर छोडकर जब चीटी का शरीर धारण करता है तब वह संकुचित हो जाता है, और जब चीटी का शरीर छोड़कर वह हाथी का शरीर धारण करता है, तब वह विस्तृत हो जाता है। रबर को खीचकर लम्बा किया जाए तो विशेष सीमा तक ही लम्बा हो सकता है, उससे अधिक लम्बा करने पर वह टूट जाता है, लेकिन जीव चाहे जितना लम्बा-चौडा फैलने पर भी नही टूटता, खण्डित नही होता। अत. सकोच-विस्तार होने तथा खण्ड होने का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

इस बात को एक और दृष्टान्त से समझ लीजिए, मानवशिशु, अथवा पशु-शिशु जब जन्म लेता है तो उसका आकार बहुत छोटा होता है, बाद में बढ़ता जाता है। शरीर-वृद्धि के साथ-साथ ही जीव अपने प्रसरण गुण के कारण देहप्रमाण होता जाता है।

देहपरिमाण—जीव देहपरिमाण है, अर्थात्—जीव सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है, उससे बाहर व्याप्त होकर नही रहता। कई दार्शनिक जीव को देह से बाहर व्याप्त—अर्थात्—विश्व (ब्रह्माण्ड) व्यापी मानते हैं। परन्तु ऐसा नही है। यदि जीव को विश्वव्यापी माना जाए तो इतने जीवों के अवगाहन के लिए कई लोककाश चाहिए, जबकि लोककाश तो एक ही है। इस स्थिति में तो उसका अमुक शरीर के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रह सकेगा।

कई दार्शनिक (औपनिषदिक) कहते है— आत्मा (जीव) चावल या जौ के दाने के समान या रीठे जितना, अंगूठे जितना, अथवा एक बालिश्त (बीता) भर है आदि। अर्थात्—जीव देह से सूक्ष्म परिमाण वाला (छोटा) है। तब प्रतिप्रश्न, उठता है कि देह से सूक्ष्म जीव रहता कहां है? ऐसा कहें कि वह हृदय में या मस्तिष्क में रहता है, तब शंका होती है कि शरीर के बाकी के भाग में सुख-दुःख का संवेदन क्यो होता है? हाथ या पैर में सूई चुभाने पर दुःख का और चन्दनादि का लेप हाथ-पैर में करने पर सुख का संवेदन क्यों होता है?

आज के वैज्ञानिक अनुसंधानो से ये दार्शनिक अपने मत की पुष्टि

करने का प्रयास करते हैं, क्योंकि अधिकांश शरीर-वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि ज्ञानवाही तन्तु मस्तिष्क तक सूचना पहुँचाते हैं और तब मस्तिष्क सुख-दुःख का संवेदन करने के साथ-साथ प्रतिक्रिया करता है। यदि किसी ज्ञानवाही नाड़ी अथवा तन्तु को किसी औषधि से शून्य कर दिया जाय तो उसकी सवेदना नहीं होती। अतः आत्मा मस्तिष्क में स्थित है।

किन्तु वैज्ञानिकों का यह मत भ्रामक है, ज्ञानवाही तन्तु अथवा नाड़ी के संवेदनशून्य हो जाने में चेतनाहीनता या जीव का अभाव सिद्ध नहीं होता। सिर्फ इतनी सी बात है कि जीव की चेतना अव्यक्त हो जाती है। फिर औषधि का प्रभाव समाप्त होते ही जीव की चेतना ज्यों की त्यों व्यक्त हो जाती है।

अतः युक्ति और अनुभव से यह सिद्ध होता है कि जीव देह से अधिक परिमाण वाला या अल्प परिमाण वाला भी नहीं, किन्तु देह-परिमाण वाला है। हाँ केवली समुद्घात[1] के समय जीव के आत्मप्रदेश समग्र लोकव्यापी हो जाते है।

जीव (आत्मा) देहपरिमाण है, ऐसी मान्यता कई उपनिषदों में भी मिलती है। कोषीतकी उपनिषद् में कहा है—"जैसे छुरा अपने म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है, वैसे ही आत्मा शरीर में नख से शिखा तक व्याप्त है।" तैत्तिरीय उपनिषद् में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय बताया है जो देहपरिमाण मानने पर ही सम्भव हो सकता है।

अरूपी और अमूर्तिक—निश्चयनय की दृष्टि से वह इन्द्रियों से अगोचर, शुद्धबुद्धरूप तथा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शरहित, एक स्वभाव का धारक है; तथापि व्यवहारनय की दृष्टि से वह कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्तिक कर्मों के अधीन होने से शरीराश्रित की अपेक्षा से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त है।

क्रियारहित—यद्यपि निश्चयनय की दृष्टि से जीव क्रियारहित है, तथापि शरीराश्रित होने से वह सक्रिय है, मन, वचन और काया से व्यापार (प्रवृत्ति) करता है, तथा व्यवहारनय से कर्मों के कारण ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक्, चाहे जिस दिशा में गति कर सकता है।

ऊर्ध्वगतिशील—निश्चयनय से जीव ऊर्ध्वगमनशील है; क्योंकि उसमें

---

१ समुद्घात् एक विशेष क्रिया है, जिसका वर्णन अरिहंतदेव वर्णन मे किया जा चुका है। —संपादक

गुरुत्व नहीं होता, अतः जीव की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होने के कारण वह समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन करके एक समय में लोक के अग्रभाग—सिद्धशिला—पर पहुँच जाता है।

कर्त्ता और भोक्ता—चेतनागुण के कारण सांसारिक जीव सुख-दुःख का वेदन करता है, इसी से शुभाशुभ कर्मों का बन्धन प्राप्त करता है। अतः वह कर्मों का कर्त्ता है और इन कर्मों के शुभाशुभ फलों को वह भोगता है, इसलिए कर्मों का भोक्ता भी है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जीव को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता बताने पर सिद्ध जीवों में भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रसंग आएगा।

इस शंका का समाधान इस प्रकार है—व्यवहारनय की दृष्टि से सांसारिक जीव ही शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और उनके शुभाशुभ फलों का स्वयं भोक्ता है, किन्तु सिद्ध जीव जो पूर्ण रूप से कर्मरहित हो गये है, वह स्व-स्वभाव-रमणकर्ता हैं, तथा आत्मा में उत्पन्न सुखरूपी अमृत के भोक्ता है।

कई लोग जीव के कर्मों का प्रेरक तथा कर्मफलदाता ईश्वर को मानते हैं, किन्तु यह कथन युक्तिविरुद्ध है। जो ईश्वर स्वभाव से शुद्ध है, वह अशुद्ध कर्मों का प्रेरक कैसे हो सकता है ? यदि सुख-दुःख ईश्वर की प्रेरणा से ही जीवों को प्राप्त होते हों तो ईश्वर सभी जीवों को एकान्त सुख ही क्यों नहीं दे देता, दुःख क्यों देता है ? यदि कहें कि वह कर्मानुसार जीवों को सुख या दुःख देता है, तब तो कर्मों को ही सीधे फलदाता क्यों नहीं मान लेते ? ऐसी स्थिति में कर्म प्रेरक ईश्वर को न मानकर जीव को ही स्वयं कर्मकर्ता मानना पड़ेगा।

संसर्त्ता और परिनिर्वाता—जैनशास्त्रों का कथन है कि आत्मा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण कर्मबन्धन में फँसकर नाना गतियों—योनियों में—जन्ममरण रूप संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए उसे संसर्त्ता कहते हैं, किन्तु यदि जीव अपनी आत्मशक्तियों का विकास करे तो सभी कर्मों से रहित होकर जन्ममरण-रूप संसार से मुक्त—परिनिवृत्त हो सकता है और अपने में अन्तर्निहित किन्तु सुषुप्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र (सुख) और अनन्तवीर्य के भण्डार को प्रकट कर सकता है। इसी कारण जीव को परिनिर्वाता भी कहा है। ऐसा होने पर सामान्य आत्मा भी परमात्मा बन सकता है, यह जैन सिद्धान्तों का स्पष्ट उद्घोष है।[1]

---

१ यः कर्त्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥

जीवों की संख्या—इस लोक में जीवों की संख्या अनन्त है। वेदान्त-दर्शन का कहना है—'इस जगत् में सिर्फ एक ही आत्मा—एक ही ब्रह्म व्याप्त है,'[1] अनेक नहीं। यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। यदि संसार में एक ही ब्रह्म हो तो, सभी जीवों की प्रवृत्ति, सुख-दुःखानुभव की मात्रा, स्वभाव, वृत्ति आदि समान होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं दिखाई देता है। सभी जीवो की वृत्ति-प्रवृत्ति पृथक्-पृथक् है। सुख-दुःख का अनुभव भी सभी जीवों का समान मात्रा में नही होता। एक ही ब्रह्म सारे जगत् मे व्याप्त हो तो सभी जीवों की उन्नति-अवनति एक साथ होनी चाहिए; परन्तु देखा जाता है कि एक जीव उन्नति के शिखर पर आरूढ है, जबकि दूसरा अवनति के गर्त में गिर रहा है। यदि एक ही ब्रह्म के ये विविध अंश है, तो आपत्ति यह होगी कि जब तक सर्व अंश मुक्त नही होगा, तब तक किसी भी जीव की मुक्ति नही होगी, और ऐसी दशा में किसी भी व्यक्ति के लिए मुक्ति के लिए साधना करने का कोई अर्थ न होगा। एक ही आत्मा हो तो गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, सज्जन-दुर्जन आदि भेद भी कैसे सम्भव हो सकेंगे ?

जीव के भेद-प्रभेद—जीव के मुख्य दो भेद है—सिद्ध (मुक्त) और संसारो। जो जीव कृतकर्मों का फल भोगने के लिए संसरण–विविध गतियों—योनियो में जन्ममरण–परिभ्रमण करते है, वे संसारो है। जो जीव सर्वकर्मों से मुक्त हो कर सिद्धशिला पर विराजमान हैं, वे मुक्त कहलाते हैं। मुक्त जीव अनन्तज्ञान दर्शन-सुख-वीर्य से सम्पन्न है।

संसारी जीवों का एक सर्वमान्य लक्षण यह भी हो सकता है कि जिनमें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन चार संज्ञाओं का अस्तित्व हो, वे सभी संसारी जीव है।

सभी जीवों में, यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीवों में भी आहारसंज्ञा पाई जाती है। इच्छानुसार आहारादि पदार्थ मिलने, न मिलने पर उसकी वृद्धि-हानि होती है। जैव-वैज्ञानिकों ने अपने नवीन आविष्कारों से यंत्रों द्वारा वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी आहारादि संज्ञा सिद्ध कर दी है। भय-संज्ञा का अस्तित्व भी व्यक्त-अव्यक्त रूप में सभी प्राणियों में पाया जाता है। संसारी आत्माएँ मोहनीय कर्म के उदय से मैथुनसंज्ञा वाले होते ही हैं। ममता-मूर्च्छारूप परिग्रहसंज्ञा भी एक या दूसरे प्रकार से सभी प्राणियों में पाई जाती है।

---

१ 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'

संसारी जीवों के भेद अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं। मुख्य दो भेद हैं—१. स्थावर और २. त्रस। दुःख दूर करने और सुख प्राप्त करने की गति—चेष्टा जिसमें न दिखाई दे, वह स्थावर और दिखाई दे, वह त्रस है।

स्थावर के पांच भेद—१ पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तेजस्काय, ४. वायुकाय और ५. वनस्पतिकाय। पृथ्वी-मिट्टी ही जिनका शरीर है, वे पृथ्वीकाय। अप्—पानी ही जिनका शरीर है, वे अप्काय। तेजस्—अग्नि ही जिनका शरीर है, वे तेजस्काय। वायु—हवा ही जिनका शरीर है, वे वायुकाय। और वनस्पति ही जिनका शरीर है, वे वनस्पतिकाय कहलाते है। इन पाचों प्रकार के जीवों के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय होने से ये एकेन्द्रिय कहलाते है।

इन पाच स्थावरों के दो प्रकार है—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव सर्वलोक में व्याप्त है, परन्तु वे अति सूक्ष्म होने से चक्षुओं से अगोचर है। जबकि बादरपृथ्वीकाय आदि लोक के अमुक भाग मे रहे हुए है और वे पृथ्वी आदि शरीररूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते है।

वायु केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जानी जाती है।

वनस्पतिकाय के दो भेद है—**साधारण और प्रत्येक**। साधारण वनस्पति उसे कहते है, जहाँ अनन्त जीवो का एक शरीर हो, तथा प्रत्येक वनस्पति वह है, जिसके मूल, पत्ते, बीज, छाल, लकड़ी, फल, फूल आदि में प्रत्येक मे पृथक्-पृथक् स्वतंत्र एक जीव हो। **साधारण वनस्पति निगोद कहलाती है।** साधारण वनस्पति जीव एक ही शरीर में अनन्त रहते हुए भी परस्पर टकराते नहीं, न ही वे एक दूसरे से खण्डित होते है। प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व रहता है।

घर्षण, छेदन आदि प्रहार जिस पृथ्वी पर पड़े न हो, या सूर्य या अग्नि का ताप, प्राणियों का संचार आदि भी जिसमे न हुआ हो, जिसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श न बदले हो, वह पृथ्वी सचेतन (सचित्त) होती है, इसके विपरीत सूर्य या अग्नि का प्रकाश, ताप पड़ा हो, प्राणियों का संचार आदि या अमुक पदार्थों का मिश्रण होने से जिसके वर्णादि में परिवर्तन हो गया हो, अर्थात्—जो शस्त्रपरिणत हो गए हों, वे पृथ्वी, जल, वनस्पति, वायु और अग्नि के जीव च्युत हो जाते है, फलतः वह पृथ्वी आदि के जीव निकल जाने से वह अचित्त (अचेतन) हो जाते है।

त्रस जीवों के भेद-प्रभेद—त्रस जीवों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये चार भेद हैं। जिनमें स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रियां हों,

वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे—लट, गिडौला, अलसिया, शंख, जोंक आदि। जिनमें पूर्वोक्त दो इन्द्रियों के अतिरिक्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय और हो, वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे—चीटी, दीमक, मकोड़े, खटमल, कनखजूरा, जूँ, लीख, कुन्थुआ, वीरबहूटी आदि। चतुरिन्द्रिय जीव वे कहलाते है जिनके पूर्वोक्त तीन इन्द्रियों के अतिरिक्त चौथी चक्षुरिन्द्रिय हो। जैसे—टिड्डी, पतंगा, मक्खी, मच्छर, भौरा, डांस, कंसारी, मकडी आदि। जिनके पूर्वोक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त पाचवी श्रोत्रेन्द्रिय भी हो, वे पंचेन्द्रिय कहलाते है।

पचेन्द्रिय जीवो के मुख्यत चार प्रकार है—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। पचेन्द्रिय तिर्यञ्च में जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प ये पाचो आ जाते है। तिर्यंचो के आगे दो भेद और होते है—(१) संज्ञी और (२) असज्ञी। संज्ञी तिर्यंच मन सहित होते है, और असंज्ञी तिर्यंच मन रहित।

नारक से सात प्रकार के नरकों में उत्पन्न होने वाले जीवो का गणना होती है। सभी कर्मभूमि-अकर्मभूमि आदि क्षेत्रों में पैदा होने वाले मानव मनुष्य गति में परिगणित किये जाते है। देव से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चारो प्रकार के देवो का बोध होता है।

समस्त ससारी जीवो को चारो गतियो में विभक्त करें तो एकेन्द्रिय से लगाकर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय तक तिर्यंच कहलाते है, जिसके मुख्य ४८ भेद हैं। मनुष्यगति में उत्पन्न मनुष्यो के कुल ३०३ भेद होते है। देवगति मे उत्पन्न देवों के कुल १९८ भेद होते है। तथा नरकगति मे उत्पन्न नारको के कुल १४ भेद होते है। इस प्रकार **समस्त ससारी जीवों के मध्यम रूप से ५६३ भेद होते है।**

(२) अजीवतत्त्व

जीव का प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। अजीव में जीव के लक्षण नहीं पाए जाते। अजीव में उपयोग शक्ति नही होती। वह जड़-चेतनाहीन, अकर्त्ता, अभोक्ता है किन्तु वह भी अनादि-अनन्त और शाश्वत है। वह **सदैव निर्जीव रहने से अजीव कहलाता है। जैसे घड़ी आदि पदार्थ समय का ठीक-ठीक ज्ञान कराते हैं, परन्तु स्वयं वे उपयोगशून्य होते है।**

अजीवतत्त्व के भेद—अजीवतत्त्व पाँच प्रकार का है—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल और (५) पुद्‌गलास्तिकाय। **इन पाँचों में से चार अरूपी अजीव है और एक पुद्‌गलास्तिकाय रूपी द्रव्य है। क्योंकि वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त है। जितने भी निर्जीव पदार्थ दृष्टिगोचर होते है, वे सब पुद्‌गलात्मक हैं।**

इन सबके स्वरूप आदि का वर्णन आगे षटद्रव्यो के प्रकरण मे विस्तार से किया जाएगा।

(३) पुण्यतत्त्व

बहुत-से लोग कहते है—पुण्य पाप जैसा कुछ नही है, यह जगत स्वाभाविक रूप से विचित्र है अत भला-बुरा होता रहता है। किन्तु श्रुति युक्ति और अनुभूति से पुण्य-पाप सिद्ध होते है।

श्रुति-धर्मशास्त्रो मे पुण्य पाप का स्पष्ट प्रतिपादन है। धर्मशास्त्र एकस्वर से पुण्य के उपाजन और पाप के त्याग करने का उपदेश देते है। जगत का कोई भी प्रसिद्ध एव आस्तिकवादी धर्म ऐसा नही है जो पुण्य-पाप का विवेक न करता हो।

प्रत्यक्ष रूप से देखा जाय तो भी भले का फल भला और बुरे का फल बुरा दिखाई देता है, परन्तु भले का फल ,बुरा और बुरे का फल बुरा नहीं दीखता। आम बोने पर आम और नीम बोने पर नीम उत्पन्न होता है। परन्तु आम बोने से नीम या नीम बोने से आम नही पैदा होता। आमवृक्ष पर आम का फल ही पकता है, निम्बौली नही। तात्पर्य यह कि जगत् मे जो विचित्रता दिखाई देती है या अच्छा-बुरा होता है उसके पीछे भी एक निश्चित नियम है जिसे आध्यात्मिक क्षेत्र मे पुण्य-पाप का नियम कहते हैं।

अनुभूति—स्वानुभव से भी यह स्पष्ट है। कोई अच्छा काम करने पर मन मे सुख सन्तोष और आनन्द की प्रतीति होती है, जब कि बुरा काम करने पर मन मे असन्तोष, दु ख, ग्लानि या क्लेश होता है। ये दोनो प्रकार के अनुभव स्पष्ट ही पुण्य-पाप की प्रतीति कराते है, क्योकि पुण्य-पाप के वश ही मनुष्य सुख-दु खानुभव करते है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पुण्य और पाप दोनो स्वतन्त्र तत्त्व है। अर्थात्—उनमे से प्रत्येक का फल पृथक्-पृथक् भोगना पडता है, न कि दोनो की जोड-बाकी हो जाती है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति ने ६० प्रतिशत पुण्य किया और ४० प्रतिशत पाप किया हो तो ऐसा नही हो सकता ४० प्रतिशत पाप कम होने के बाद उसे २० प्रतिशत पुण्य का ही उपभोग करना पडे। उसे ६० प्रतिशत पुण्य का फल भी प्राप्त होगा और ४० प्रतिशत पाप का भी फल मिलेगा।

यह स्पष्टता इसलिए करनी आवश्यक है कि बहुत-से लोग मन में ऐसा सोचते हैं और कह भी दिया करते हैं—"हम भले ही थोड़ा-बहुत पाप

करते हों, साथ-साथ पुण्य भी करते हैं, उससे पाप धुल जाएगा और हमें पुण्य का ही फल मिलेगा।" परन्तु वीतराग मनीषियों ने स्पष्ट बताया कि यह मान्यता सरासर गलत है। जितना पाप करोगे, उसका उतना फल भोगना पडेगा। अतः पुण्य-पाप के स्वतन्त्र फलों को ध्यान में रखकर पुण्योपार्जन ही करो, पाप को छोड़ो।

कर्मसिद्धान्त के अनुसार शुभाशुभ भाव से शुभाशुभ कर्म का बन्धन होता है। वही क्रमशः पुण्य और पाप है। मन-वचन-काया की शुभ क्रियाओं द्वारा शुभ कर्मप्रकृतियों का संचय किया जाए और जब वे प्रकृतियाँ उदय में आएँ, तब जीव को उनके फलस्वरूप सुख मिलता है, अनुकूल अभीष्ट सामग्री या धर्म सामग्री प्राप्त होती है, सब प्रकार से सुखों का अनुभव होता है, उसी को पुण्य तत्त्व कहते है।

पुण्य का अभिप्राय—पुण्य शब्द का व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होता है—'पुनातीति पुण्यम्—परम्परा से जो आत्मा को पवित्र करे, वह पुण्य है। जैसे—पुण्य उपार्जन करने में पहले तो वस्तुओं पर से ममत्व छोड़ना पड़ता है, इच्छाओं को रोकना पडता है, गुणज्ञ होना पड़ता है। अपने व्यवहार को नम्र बनाना पडता है, आदतो को सुधारना पडता है, स्वार्थत्याग करके उदारता करनी पडती है, आत्मा को वश में करके मन, वचन, काया और इन्द्रियों को शुभकार्य में लगाना पडता है, दुःख-पीड़ितों के दुःख को अपना मानकर उसे दूर करने की भावना और तदनुसार प्रवृत्ति करनी पडती है। इसलिए पुण्य-उपार्जन करने में पहले तो कुछ कष्ट होता है, परन्तु उसके परिणामस्वरूप दीर्घकाल के लिए सुख प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से पुण्य आत्मा का शोधन करता है, मन-वचन-काय के योगो को पावन करता है।

पुण्य के दो भेद—पुण्य दो प्रकार का होता है—पुण्यानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पुण्य। जो पुण्य, पुण्य की परम्परा को चलाए, अर्थात्—जिस पुण्य को भोगते हुए नवीन पुण्य का बन्ध हो, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है, और इसके विपरीत यदि नवीन पाप का बन्ध हो, वह पापानुबन्धी पुण्य है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य को पूर्वपुण्य के प्रताप से सभी प्रकार के अभीष्ट सुख-साधन प्राप्त हों, फिर भी वह उनमें मोहमूढ़ न बनकर आत्महित के उद्देश्य से मोक्षाभिलाषा रखता हुआ धर्मक्रिया या धर्मकार्य करे तो पूर्व पुण्य भोगते समय उसके नये पुण्यों का बन्ध होता है। उसका वह पुण्य पुण्यानुबन्धी पुण्य कहलाता है। दूसरी ओर—एक व्यक्ति के पूर्वभव के पुण्य-फलस्वरूप सभी प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हुए हों, लेकिन वर्तमान में

वह मोहमूढ़, असदाचारी और अतिभोगी बनकर उसका उपभोग करे तो उससे उसको पाप का बन्ध होता है। इस प्रकार का पुण्य पापानुबन्धी पुण्य कहलाता है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य मार्गदर्शक-समान है और पापानुबन्धी पुण्य पुण्य-समृद्धि को लूटने वाले लुटेरे के समान है। यहाँ पुण्यानुबन्धी पुण्य ही कथंचित् उपादेय है।

पुण्यबन्ध के नौ[1] प्रकार—(१) **अन्नपुण्य**—पात्र को अन्नदान करने से, (२) **पानपुण्य**—पात्र को जलदान करने से (३) **लयनपुण्य**—पात्र को स्थान देने से, (४) **शयनपुण्य**—पात्र को शयनीय सामग्री देने से, (५) **वस्त्रपुण्य**—पात्र को वस्त्र दान करने से, (६) **मन पुण्य**—मन के शुभ संकल्प से या मन से दूसरों का हित चाहने से, (७) **वचनपुण्य**—वचन से गुणीजनों का कीर्तन करने से या हित, मित, तथ्य और पथ्य वचन बोलने से, (८) **कायपुण्य**—शरीर के शुभ व्यवहार से, या शरीर से दूसरों की सेवा करने से, परदुःखनिवारण करने से, जीवों को सुख-शान्ति पहुँचाने से, और (९) **नमस्कारपुण्य**—देव, गुरु आदि योग्य पात्र को नमस्कार करने से, सब के साथ विनम्र व्यवहार से।

कोई व्यक्ति पापी, दुराचारी आदि हो, किन्तु भूख रोग आदि से पीड़ित हो, भयभीत हो उसे करुणापात्र समझकर अनुकम्पा बुद्धि से उसे दान देने से क्षुधा मिटाने से भय दूर करने आदि में पापबन्ध नहीं, पुण्य-बन्ध होता है।

पुण्य-फल भोगने के ४२ प्रकार—नौ प्रकार से बाँधे हुए पुण्य ४२ प्रकार से भोगे जाते हैं—(१) सातावेदनीय, (२) उच्चगोत्र, (३) मनुष्यगति, (४) मनुष्यानुपूर्वी, (५) देवगति, (६) देवानुपूर्वी, (७) पंचेन्द्रियजाति, (८) औदारिक शरीर, (९) वैक्रियशरीर, (१०) आहारकशरीर, (११) तैजसशरीर, (१२) कार्मणशरीर, (१३) औदारिकशरीर के अंगोपांग, (१४) वैक्रियशरीर के अंगोपांग, (१५) आहारक शरीर के अंगोपांग, (१६) वज्रऋषभनाराच संहनन, (१७) समचतुरस्र संस्थान, (१८) शुभवर्ण, (१९) शुभगन्ध, (२०) शुभरस, (२१) शुभस्पर्श, (२२) अगुरुलघुत्व (एकदम भारी या एकदम हल्का शरीर न होना), (२३) पराघात नाम [दूसरों से पराजित न होना], (२४) उच्छ्वास [पूरा उच्छ्वास लेना], (२५) आतपनाम [प्रतापी होना], (२६) उद्योतनाम [तेजस्वी होना], (२७) शुभविहायोगति, (२८) शुभनिर्माणनाम, (२९) त्रसनाम

१ स्थानांगसूत्र, स्थान ९

(३०) बादरनाम, (३१) पर्याप्तनाम, (३२) प्रत्येकनाम, (३३) स्थिरनाम, (३४) शुभनाम, (३५) सुभगनाम, (३६) सुस्वरनाम, (३७) आदेयनाम, (३८) यशोकीर्तिनाम, (३९) देवायु, (४०) मनुष्यायु, (४१) तिर्यंचायु और (४२) तीर्थंकरनाम कर्म।[१]

पुण्य : उपादेय भी हेय भी—जिस प्रकार समुद्र में एक पार से दूसरे पार जाने के लिए नौका का सहारा लेना आवश्यक होता है और किनारे पहुँचकर नौका को छोड देना भी आवश्यक होता है, इसी प्रकार प्राथमिक भूमिका में संसारसमुद्र पार करने के लिए पुण्यरूपी नौका को अपनाना भी आवश्यक है और आत्मविकास की चरमसीमा पर पहुँचकर संसारसमुद्र के पार चले जाने पर पुण्यरूपी नौका को त्यागना आवश्यक है। अतः पुण्य प्राथमिक भूमिका मे उपादेय है और अन्तिम भूमिका में हेय।

(४) पापतत्त्व

पुण्यतत्त्व का विरोधी पाप है। जीव को दुःख भोगने में कारणभूत अशुभकर्म द्रव्यपाप कहलाता है और उस अशुभकर्म को उत्पन्न करने में कारणभूत अशुभ या मलिन परिणाम [अध्यवसाय] भावपाप कहलाता है। पाप का फल कटु होता है। पाप करना सरल है, परन्तु उसका फल भोगना अत्यन्त कठिन होता है। यह पाप कर्म का ही प्रभाव है कि जीव नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। पापकर्म के फलस्वरूप प्रिय वस्तुओ का वियोग और अप्रिय वस्तुओ का सयोग मिलता रहता है।[२]

पापकर्मबन्ध के १८ कारण—[१] **प्राणातिपात**—जीव हिंसा से, [२] **मृषावाद**—असत्य बोलने से, [३] **अदत्तादान**—चोरी से, [४] **मैथुन**—मैथुन-अब्रह्मचर्य-सेवन से, [५] **परिग्रह**—धन आदि पदार्थों के सग्रह और उन पर ममत्व रखने से, [६] **क्रोध**—क्रोध करने से, [७] **मान**—अहंकार या मद करने से, [८] **माया**—कपट [छल] करने से, [९] **लोभ**—लोभ, तृष्णा करने से, [१०] **राग**—सांसारिक पदार्थों पर राग—आसक्ति या मोह से, [११] **द्वेष**—पदार्थों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या घृणा करने से, [१२] **कलह**—क्लेश करने से, [१३] **अभ्याख्यान**—मिथ्यादोषारोपण से, [१४] **पैशुन्य**—चुगली करने से, [१५] **परपरिवाद**—परनिन्दा करने से, [१६] **रति**—भोगों में प्रीति, और **अरति**—संयम में अप्रीति से, [१७] **मायामृषा**—कपट सहित असत्याचरण—

१ नवतत्त्व-प्रकरण गाथा १५-१६

२ 'पातयति नरकादिदुर्गतौ इति पापम्।'

दम्भ करने से, और [१८] **मिथ्यादर्शनशल्य**—मिथ्यात्व से या असत्यमान्यता प्ररूपण से या पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानने—मानने से। यह एक प्रकार का शल्य है।

पाप के दो प्रकार- [१] **पापानुबन्धी पाप** जिस पाप को भोगते हुए नया पाप बंधता है, वह पापानुबन्धी पाप है और [२] **पुण्यानुबन्धी पाप**—जिस पाप को भोगते हुए पुण्योपार्जन होता है, उसे पुण्यानुबन्धी पाप कहते है। जैसे—कसाई, मछुए आदि जीव पूर्वभव के पापों के कारण इस भव में दरिद्रता, रोग आदि अनेक दुःख भोग रहे है और इसी पाप-फल को भोगते हुए अन्य नये-नये पापों का बन्ध कर रहे है, उनका यह पाप पापानुबन्धी पाप है। इसके विपरीत जो जीव पूर्वभव के पापवशात् इस भव में दारिद्र्य आदि दुःख भोगते हुए भी वे सत्संग आदि के कारण विवेकपूर्वक अनेक प्रकार का धर्मकृत्य करते हुए पुण्योपार्जन करते है। अतः उनका यह पाप पुण्यानुबन्धी पाप है।

अठारह पापों का फलभोग—पूर्वोक्त अठारह पापस्थानो का फल ८२ प्रकार से भोगना पडता है—[१-५] पांच ज्ञानावरणीय, [६-१०] पाच अन्तराय, [११-१५] पांच प्रकार की निद्रा, [१६-१९] चार दर्शनावरणीय, [२०] असातावेदनीय, [२१] नीचगोत्र, [२२] मिथ्यात्वमोहनीय, [२३] स्थावरनाम, [२४] सूक्ष्मनाम, [२५] अपर्याप्तनाम, [२६] साधारणनाम, [२७] अस्थिरनाम [२८] अशुभनाम, [२९] दुर्भगनाम, [३०] दुःस्वरनाम, [३१] अनादेयनाम, [३२] अयशोकीर्तिनाम, [३३] नरकगति, [३४] नरकायु, [३५] नरकानुपूर्वी, [३६-५१] अनन्तानुबन्धी आदि सोलहकषाय, [५२-६०] हास्यादि नौ नोकषाय [६१] तिर्यंचगति, [६२] तिर्यंचानुपूर्वी, [६३] एकेन्द्रियत्व, [६४] द्वीन्द्रियत्व [६५] त्रीन्द्रियत्व, (६६) चतुरिन्द्रियत्व, [६७] अशुभविहायोगति, [६८] उपघातनाम, [६९-७२] अशुभवर्णादि चार, (७३-७७) ऋषभनाराचादि पांच संहनन, [७८-८२] न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाच संस्थान।

इन ८२ प्रकारों से जीव पाप का फल भोगता है।[१]

पाप सर्वथा हेय है, वह आत्मा को कलुषित करता है।

(५) आस्रवतत्त्व

जिस क्रिया या प्रवृत्ति से जीव में कर्मों का स्राव—आगमन होता है, उसे आश्रव [आस्रव] कहते हैं।[२] अतः आस्रव कर्मों का प्रवेश-द्वार है। जैसे—

१ नवतत्त्वप्रकरण गा. १८-१९

२ (क) 'कायवाङ्मनःकर्मयोग स आस्रव।

(ख) सकषायाकषाययो साम्परायिकेर्यापथयोः। —तत्त्वार्थ० अ. ६ सू. १,५

तालाब में अगर पानी आने का नाला होता है तो उसके द्वारा पानी आता रहता है, वह बन्द नहीं होता; इसी प्रकार जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी नाले से जल का आना आस्रव है। जैसे—नौका में छिद्र के द्वारा पानी आता रहता है, उसी प्रकार आत्मा में मन-वचन-काया के योगों [प्रवृत्तियों] के संक्रमण से और क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषायों से कर्मों का आगमन होता रहता है।

शुभास्रव और अशुभास्रव—मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति यदि प्रशस्त भाव से हो तो शुभकर्मों का आगमन होता है, और अप्रशस्त भाव से हो तो अशुभ कर्मों का आगमन होता है। आत्मा में शुभकर्मों का आगमन करवाने वाला शुभास्रव-पुण्यास्रव है, और अशुभकर्मों का आगमन करवाने वाला पापास्रव—अशुभास्रव है।

आस्रव के दो प्रकार—जैनशास्त्रों में आस्रव से निष्पन्न कर्मबन्ध के दो भेद बताए गए हैं—साम्परायिक और ऐर्यापथिक। कषाययुक्त जीवों को कर्मों का जो बन्ध होता है, वह कर्म की स्थिति पैदा करने वाला साम्परायिक कर्मबन्ध होता है। उसमें संसार [जन्म-मरण] की वृद्धि होती है और कषायरहित वीतराग जीवों को जो कर्मों का बन्ध होता है, वह ऐर्यापथिक है।

ऐर्यापथिक बन्ध के आस्रव से कर्म अवश्य आते है, लेकिन प्रथम समय में वे जीव के साथ सम्बद्ध होते है, द्वितीय समय में ही छूट जाते है।

आस्रव के २० द्वार—[१] मिथ्यात्व, [२] अव्रत [पंचेन्द्रिय तथा मन को वश में न रखना, षट्कायिक जीवों की हिंसा से विरत न होना], [३] पांच प्रमाद, [४] चार कषाय, नौ नोकषाय, [५] योग [मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति], [६] प्राणातिपात, [७] मृषावाद, [८] अदत्तादान, [९] मैथुन, [१०] परिग्रह, [११-१५] पंचेन्द्रिय को अशुभकार्य में प्रवृत्त करना, [१६-१८] मनोबल, वचनबल और कायबल को अशुभकार्य में प्रवृत्त करना, [१९] वस्त्र-पात्रादि उपकरण को अयतना से ग्रहण करना—रखना, [२०] सुई, तृण आदि पदार्थ भी अयतना से लेना—रखना।

पच्चीस क्रियाएँ—कायिकी आदि पच्चीस क्रियाएँ भी आस्रव के तथा कर्मबन्ध के कारण हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष को इनसे बचने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए।

(६) संवरतत्त्व

जिन-जिन मार्गों से आस्रव आता हो, उनका निरोध करना, संवर

है।'[1] अर्थात्—जिन क्रियाओं से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध न हो सके, उन क्रियाओं को संवरतत्त्व कहते हैं। उदाहरणार्थ—कर्मरूपी जल आस्रव-रूपी छिद्रों से जीवरूपी तालाब में भर जाता है, यह जानकर व्रत, प्रत्याख्यान रूपी डाट लगाकर उन आस्रव-छिद्रों को बन्द कर देना संवर है।

संवर के २० भेद—[१] सम्यक्त्व, [२] विरति, [३] अप्रमाद, [४] कषायत्याग, [५] योग-स्थिरता, [६] जीवों पर दया करना, [७] सत्य बोलना, [८] अदत्तादान-विरमण, [९] ब्रह्मचर्य-पालन, [१०] ममत्वत्याग, [११-१५] पांचों इन्द्रियों को वश में करना, [१६-१८] मन-वचन-काय को वश में करना, [१९] भाण्डोपकरणों को यतनापूर्वक उठाना-रखना, [२०] सूई, तृणादि छोटी-छोटी वस्तुएँ भी यतनापूर्वक उठाना-रखना। इन बीस कारणों से संवर होता है।

संवर की सिद्धि—तत्त्वार्थसूत्रकार ने तथा नवतत्त्व प्रकरण ग्रन्थ में संवर की सिद्धि के ५७ प्रकार बताए हैं।[2] वे इस प्रकार हैं--[१-५] पांच समिति, [६-८] तीन गुप्ति, [९-१८] दशविध श्रमणधर्म, [१९-४०] बाईस परीषहों पर विजय, [४१-५२] बारह अनुप्रेक्षाएँ [भावनाएँ], [५३-५७] सामायिक आदि पांच चारित्र।

संवर के इन ५७ भेदों का आचरण करने से नये कर्मों का आगमन रुकता है; और आस्रवनिरोध होने से धीरे-धीरे आत्मा कर्मों से सर्वथा रहित होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

संवर के दो मुख्य प्रकार—द्रव्यसंवर और भावसंवर ये दो संवर के मुख्य प्रकार है। कर्मपुद्‌गलों के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्यसंवर है, तथा संसारवृद्धि में कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना अथवा आत्मा का शुद्धोपयोग एवं उससे युक्त समिति आदि भावसंवर है।

संवर के पांच प्रकार—संवर मोक्ष-प्राप्ति में कारणभूत है, वह पुण्य और पाप (शुभोपयोग और अशुभोपयोग) दोनों आस्रवों से आत्मा को हटा कर धर्म—शुद्धोपयोग में लगाता है। इस दृष्टि से उसके ५ भेद मुख्यतया बताये गये हैं—

---

१ आश्रव-निरोध संवर। —तत्त्वार्थसूत्र अ ९, सू.१

२ (क) स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः। —तत्त्वार्थ० अ ९, सू २

(ख) समिई-गुत्ति-परिसह-जइधम्मो-भावणा-चरित्ताणि।
पण-ति-दुवीस-दस-बारस-पंचभेएहि सगवन्ना॥ —नवतत्त्व प्र. गा. २५

(१) **सम्यक्त्व संवर**—अनादिकाल से जीव मिथ्यादर्शन से युक्त है, इसी कारण संसारचक्र में परिभ्रमण करता है। जब जीव को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो जाती है तो वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर निज-स्वरूप की ओर झुक जाता है। मिथ्यादर्शन के दूर हो जाने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से अज्ञान नष्ट हो जाता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से जीव के अन्तःकरण में संसार से निवृत्तिभाव तथा विषयों से विरक्तिभाव आ जाता है। पदार्थों के यथार्थस्वरूप को जानकर वह मोक्षपद प्राप्ति के लिए उत्सुक हो जाता है।

(२) **विरति [व्रत] संवर**—सम्यग्दर्शनयुक्त आत्मा पंचास्रव द्वारों को विरति से निरोध करने की चेष्टा करता है। वह यथाशक्ति देशविरतिरूप या सर्वविरतिरूप धर्म का अंगीकार कर लेता है, जिससे उसके नये कर्म आने के मार्ग रुक जाते हैं।

(३) **अप्रमाद संवर**—किसी व्रत, नियम, तप, जप, प्रत्याख्यान, संवर, सामायिक, पौषध आदि धर्माचरण करने में प्रमाद न करना अप्रमाद संवर है। क्योंकि प्रमाद भी संसार परिभ्रमण का मूल कारण है। अतः अप्रमत्त-भाव से क्रिया-प्रवृत्ति करने से आस्रव-निरोध हो जाता है।

(४) **अकषाय संवर**—क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों से बचना ही अकषाय-संवर है। जब चारों कषायों से जीव निवृत्त हो जाता है, तब उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(५) **अयोग संवर**—जिस समय केवलज्ञानी भगवान् आयुकर्म के शेष होने से तेरहवें गुणस्थान में होते हैं, तब वे मन-वचन-काया के योगों से युक्त होते हैं, किन्तु जब केवली भगवान् की आयु अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण शेष रहती है, तब वे चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर क्रमशः योगों का निरोध करके शीघ्र ही अयोगी अवस्था को प्राप्त होकर निर्वाणपद पा लेते हैं। आत्मा अयोगीभाव करके ही मोक्षारूढ़ हो सकता है, और अयोगीभाव प्राप्त होता है—योगों के पूर्णतया निरोध (संवर) से। यही अयोग संवर का अर्थ है।

(७) निर्जरातत्त्व

आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बद्ध कर्मों का स्खलित होना निर्जरा है। निर्जरा में कर्मों का एकदेश से क्षय होता है, सर्वथा नहीं। परन्तु निर्जरा की क्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेती है, तब आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित सर्वकर्मों का क्षय हो जाता है, और आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर

लेता है। वह सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, अनन्त आत्म-सुख का भोक्ता बनता है।

निर्जरा के दो प्रकार—कर्मों की यह निर्जरा दो प्रकार की होती है—**सकाम-निर्जरा और अकामनिर्जरा**। यहाँ काम शब्द उद्देश्य, आशय, इच्छा या अभिलाषा अर्थ में प्रयुक्त है।

आत्मशुद्धि की इच्छा से, उच्च आशय से किये जाने वाले बाह्यान्तर तप, परीषहसहन, उपसर्ग-विजय, अथवा आत्म-स्पर्शी उत्कृष्ट एवं कठोर धर्म-साधना से कर्मों का जो क्षय होता है, वह सकामनिर्जरा है। निरुपायता से, अनिच्छा से, विवशतापूर्वक या अज्ञानपूर्वक कष्ट सहने या मूढतापूर्वक तप करने से जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है। अथवा कर्मस्थिति का परिपाक होने से फलभोग के अनन्तर कर्मों का स्वतः झड जाना भी अकामनिर्जरा है। हाँ, कर्मफलभोग के समय यदि शान्ति, समभाव और धैर्य रखे, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान न करे तो नये कर्मों का बन्ध नहीं होता, अन्यथा पुराने कर्मों के क्षय होने के साथ-साथ नये अशुभ कर्म बन्ध जाते हैं।

इन दोनों में सकामनिर्जरा ही प्रशस्त और उपादेय है।

निर्जरा का उपाय—निर्जरा का प्रमुख उपाय तपश्चरण—शास्त्रोक्त विधिपूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या का आचरण करना है।[1] तपस्या के छह बाह्य और छह आभ्यन्तर भेद बताए हैं।

इनका विशेष विवेचन पहले किया जा चुका है।

(८) बन्धतत्त्व

आत्मा के साथ कर्मों का दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाना, तादात्म्य सम्बन्ध हो जाना बन्ध है। बन्ध के कारण जीव का स्वरूप मलिन हो जाता है, जिसके कारण उसे संसार में परिभ्रमण करना पडता है। कर्मों को कहीं से लेने जाना नहीं पडता। इस प्रकार के (कर्म) पुद्गल द्रव्य समग्र लोक में ठूँस-ठूँस कर भरे हैं। जैनशास्त्रों में इन्हें 'कर्मवर्गणा' कहा गया है। ये कर्मवर्गणा के पुद्गल राग-द्वेष-मोहरूप स्निग्धता के कारण आत्म-प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं, ओतप्रोत हो जाते हैं।[2]

कर्म के भेद—कर्म के मुख्य ८ भेद है—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शना-

---

१ तपसा निर्जरा च। —तत्त्वार्थसूत्र अ ९, सू ३

२ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः। —तत्त्वार्थ. ८, २

वरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु,, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। ये कर्मों की ८ मूल प्रकृतियाँ है। इनकी उत्तरप्रकृतियां १४८ है।

आत्मा अपने शुद्धरूप में अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है, अनन्त सुख [आनन्द] स्वरूप है, अनन्तवीर्य सम्पन्न है। परन्तु आत्मा का यह मूल स्वरूप एवं ये आत्मिक शक्तियाँ [ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की शक्तियाँ] कर्मों से आवृत—आच्छादित है। कर्म स्वतः जीव से नही चिपक जाते, किन्तु विविध कर्मों के बन्ध के कारण उत्पन्न होने पर वे कार्मण-स्कन्ध कर्मरूप बनकर जीव से सम्बद्ध होते है। यदि कर्म स्वतः जीव से संलग्न होते तो वह कदापि कर्मरहित नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ जीव है, वही कर्म रहे हुए है, तब तो वे इनके साथ लगते ही रहते।

कर्मबन्ध के कारण— यों देखा जाए तो कर्म के बीज मुख्य दो ही हैं— राग और द्वेष। किन्तु स्पष्टरूप से कर्मबन्ध के ५ कारण हैं—[१] मिथ्यात्व, [२] अविरति, [३] प्रमाद, [४] कषाय और [५] योग।

कर्मबन्ध के ४ प्रकार— कर्मों का बन्ध चार प्रकार का होता।[1]

(१) **प्रकृतिबन्ध**—आठ कर्मों की जो १४८ प्रकृतियाँ है, उनमें से कर्मों का विभिन्न स्वभाव [प्रकृति] निश्चित होना; अथवा कर्मपुद्गल जब आत्मा द्वारा ग्रहण किये जाते है, तब उनका विभिन्न प्रकार का स्वभाव उत्पन्न होना प्रकृतिबन्ध है। जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति ज्ञान को एवं दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति दर्शन को आच्छादित करने की होती है। जैसे—विभिन्न लड्डुओं का स्वभाव वात, पित्त या कफ-निवारण का होता है, वैसे ही विभिन्न कर्मों का स्वभाव आत्मा के विभिन्न गुणों पर आवरण डालना है।

(२) **स्थितिबन्ध**—आत्मा के साथ कर्मों के बंधे रहने की कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। विभिन्न कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति भिन्न-भिन्न है।

(३) **अनुभागबन्ध**—अनुभाग (अनुभाव) का अर्थ है—कर्म का तीव्र-मन्द शुभाशुभ रस। अर्थात् —प्रकृति [स्वभाव] बंधने [स्वभाव-निर्माण] के साथ ही उसमें तीव्र अतितीव्र, मध्यम या मन्दरूप से फल देने की शक्ति भी निर्मित हो जाती है। इस प्रकार की शक्ति या विशेषता को अनुभागबन्ध कहते है।

---

१ प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशास्तद्विधय:। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ८, सू. ४

(४) **प्रदेशबन्ध**—प्रदेश अर्थात् कर्मदलिकों के समूह का न्यूनाधिकरूप में जीव के साथ बँध जाना प्रदेशबन्ध है।

जीव के द्वारा ग्रहण किये जाने के पश्चात् भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाला कर्मपुद्गल समूह अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अमुक-अमुक परिमाण में विभक्त हो जाता है।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के कारण तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के कारण होते है।[1]

(९) मोक्षतत्त्व

मोक्ष, बन्ध का प्रतिपक्षी है। इसलिए बन्ध के कारणों का अभाव होकर निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मोक्ष है।[2] आठो कर्मों से बंधा हुआ भव्य जीव, कभी न कभी संवर और निर्जरा के द्वारा पूर्णरूप से कर्मबन्धन से छूटता ही है। जब आत्मा पूर्ण रूप से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, तब वह अपने शुद्ध स्वरूप मे आ जाता है, वही अवस्था मोक्ष या मुक्ति कहलाती है। कर्मरहित जीव की शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहते है। मोक्ष प्राप्त होने पर न तो नए कर्म बंधने की कोई संभावना रहती है, और न ही पूर्वबद्ध कोई कर्म सर्वथा क्षय होने से बचता है।

तात्पर्य यह है कि मुक्त अवस्था में जीव कर्मों से पूर्णतया निर्लेप हो जाता है।

मोक्ष प्राप्ति के कारण—मोक्ष प्राप्त करने के मुख्य तीन कारण - साधन है—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान, और (३) सम्यक्चारित्र। जैनशास्त्रों मे 'तप' को भी मोक्ष का एक अंग माना है।

इन चारो में से ज्ञान दर्शन सूर्य के प्रताप और प्रकाश की तरह मुक्तावस्था में भी सदैव रहते है, क्योंकि ये दोनो आत्मा के निजी गुण है तथा चारित्र और तप की आवश्यकता मोक्ष प्राप्त करने तक ही रहती है।

सर्वथा कर्मक्षय होने के बाद आत्मा शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अजर-अमर, निरंजन, निर्विकार, अनन्तचतुष्टयसम्पन्न होकर निजस्वरूप में निमग्न होकर शाश्वत सुख मे लीन रहता है।

---

१ पयइ सहावो वुत्तो, ठिईकालावधारण।
अणुभागो रसो णेओ, पएसो दलसंचओ॥ —नवतत्त्वप्रकरण गा. ३७

२ 'कृत्स्नकर्मक्षयोमोक्षः।' 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्।'
—तत्त्वार्थ. अ. १०, सू. २, ३

मोक्षपद की प्राप्ति मनुष्य ही कर सकते हैं।

नौ तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान

इन नौ तत्त्वों का जिस रूप में सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरों ने हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप या स्वरूप बताया है, उस रूप में जानकर इन तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है, जो श्रुतधर्म का प्रमुख अंग है।

सम्यग्दर्शन के विकास एवं दृढ़ता के लिए आठ आचार

पूर्वोक्त तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को विकसित करने एवं उस पर दृढ़ रहने के लिए निम्नोक्त आठ गुणों की आवश्यकता है—(१) निःशंकता, (२) निष्कांक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टित्व, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

ये आठ दर्शनाचार हैं। इस अष्टसूत्री दर्शनाचार के क्रियान्वित करने से श्रुतधर्म का सम्यक्त्व के रूप में शुद्ध आचरण होता है। इनमें से प्रथम चार आचार सम्यक्त्व का विकास करने वाले आन्तरिक गुण है, और अन्तिम चार आचार बाह्यगुण हैं।

(१) **निःशंकता**—धर्म, सिद्धान्त या तत्त्वभूत पदार्थ के विषय में निःशंक बनना, दृढ़ विश्वास रखना कि जिनेन्द्र भगवान् ने जिस तत्त्व का जो वस्तु-स्वरूप बताया है, वह वैसा ही है। जो धर्म या तत्त्व विषयक शंका रखता है, वह ध्येय तक नहीं पहुँच सकता, न हो श्रुतधर्म पर दृढ़ रह सकता है।

(२) **निष्कांक्षता**—जिनप्रज्ञप्त सम्यक् धर्म, सिद्धान्त या तत्त्व के अतिरिक्त अन्य धर्मों आदि की आकांक्षा न करना, अपने धर्म तथा तत्त्व पर अचल अटल रहकर निष्कामभाव से सत्प्रवृत्ति करते रहना सम्यक्त्व की दृढ़ता के लिए आवश्यक है। बात-बात में अन्य धर्म या तत्त्व के विषय में वागाडम्बर देखकर उसमे न फंसना श्रुतधर्म का आचार है।

(३) **निर्विचिकित्सा**—सम्यक् वीतराग प्ररूपित धर्म के फल के विषय में सन्देह करना या सम्यग्ज्ञानी के आचार-विचार के प्रति घृणा न करना निर्विचिकित्सा है। इस गुण से श्रुतधर्मपालन में दृढता आती है।

(४) **अमूढ़दृष्टित्व**—देवमूढता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता, लोकमूढ़ता तथा अन्धविश्वास, कुरूढ़ि आदि में न फंसना वरन् विवेकबुद्धिपूर्वक धर्म का आचरण करना तत्त्वभूत पदार्थों पर विश्वास रखना सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए अनिवार्य है। अमूढ़दृष्टि ही श्रुतधर्म का शुद्धरूप में पालन कर सकता है।

(५) **उपबृहण**—जो श्रुतधर्म-चारित्रधर्म पर दृढ़तापूर्वक चल रहे हैं, उन्हें प्रोत्साहन देना, धर्म की अवहेलना हो रही हो तो दूर करना, जिनप्रणीत तत्त्वो को लोगो के गले उतारना उपबृहण है। यह गुण भी सम्यक्त्व और श्रुतधर्म के प्रसार-प्रचार के लिए आवश्यक है।

(६) **स्थिरीकरण**—कोई व्यक्ति श्रुत-चारित्रधर्म से किसी कारणवश भ्रष्ट या च्युत हो रहा है या भय या प्रलोभन के कारण धर्म से फिसल रहा हो तो उसे धर्म पर दृढ करना, प्रलोभन से बचाना, यथायोग्य सहायता देना भी श्रुतधर्म की वृद्धि करना है।

(७) **वात्सल्य**—जगत् के जीवो, विशेषत साधर्मिको के प्रति वात्सल्य-भाव रखना, अहर्निश बन्धुभाव मे वृद्धि करना, समय-समय पर उनसे धर्म, तत्त्व या सिद्धान्तो के विषय मे आत्मीयतापूर्वक चर्चा-विचारणा करना भी श्रुतधर्म के विकास के लिए आवश्यक है।

(८) **प्रभावना**—प्रत्येक समुचित उपाय द्वारा धर्म का उद्धार, प्रचार-प्रसार करना, प्रभाव बढाना प्रभावना है। जो श्रुतधर्म को पल्लवित-पुष्पित करने के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के रूप मे श्रुतधर्म को जीवन मे चरितार्थ करने से आध्यात्मिक विकास एव आत्मविशुद्धि हो सकती है। □

जैन तत्व कलिका

छठी कलिका

सम्यग् दर्शन के सन्दर्भ में :—

आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद

आस्तिक-नास्तिक-परिभाषा

आत्म-अस्तित्व मीमासा

आत्मा का स्वरूप—विविध विचार बिन्दु

लोकवाद एक समीक्षा—

लोक-स्वरूप आकार एव विस्तार

लोक कर्तृत्व-मीमासा

कर्मवाद एक मीमासा—

कर्मवाद एव अन्य दर्शन तथा वाद

अदृष्टवाद प्रकृतिवाद, भूतवाद मायावाद

कालवाद, स्वभाववाद, पुरुषार्थवाद आदि

कर्म-स्वरूप

कर्म की प्रकृतिया

मोक्षवाद :

मोक्षप्राप्ति के साधन :

ध्यान-स्वरूप

मोक्ष का शास्वतत्व

गुणस्थान क्रम

सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ मे—
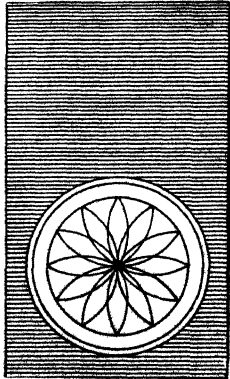
आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद

श्रुतधर्म के परिप्रेक्ष्य मे जब हम 'सम्यग्दर्शन' का विचार करते है तो उसके लक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्त्वभूत जिनोक्त पदार्थों या देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा होना अनिवार्य है। किन्तु इतने भर से ही सम्यग्दर्शन परिपुष्ट, सुदृढ और परिपक्व नही हो जाता। उसके लिए सम्यग्दर्शन के शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये जो पाँच लक्षण बताए है, उनमे से अन्तिम लक्षण—आस्तिक्य का होना अनिवार्य है। आस्तिकता के बिना तत्त्वभूत पदार्थों के प्रति या देव-गुरु-धर्म के प्रति कोरी श्रद्धा आगे चलकर गड़बडा सकती है। इसलिए सम्यग्दर्शन की नीव मजबूत बनाने हेतु आस्तिक्य का होना आवश्यक है तभी श्रुतधर्म सम्यक् रूप से जीवन में क्रियान्वित हो सकता है। अतः इस कलिका में हम आस्तिक्य के सम्बन्ध में जैनदर्शन की दृष्टि से विस्तृत चर्चा करेंगे।

यदि आस्तिक्य का अर्थ केवल जिनोक्त तत्त्व के प्रति या देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा-आस्था रखना इतना ही किया जाये तो सम्यग्दर्शन और आस्तिक्य में कोई अन्तर नही रह जाता। अतः आस्तिक्य का अर्थ कुछ और होना चाहिए।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार आस्तिक और नास्तिक का निर्वचन इस प्रकार है—

अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः

इसका स्पष्टार्थ—आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, परलोक, पुण्य-पापकर्म एवं मोक्ष आदि का अस्तित्व है, ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह आस्तिक है, और इन विषयों में जिसकी नास्तित्वबुद्धि है, वह नास्तिक है।

इस दृष्टि से आस्तिक के भाव—विचार को आस्तिक्य कहा जा सकता है। अतः आस्तिक्य का स्पष्टार्थ हुआ—आत्मा आदि परोक्ष, किन्तु आगमप्रमाण-सिद्ध पदार्थों का स्वीकार करना।

आचारांग सूत्र में आस्तिक के जीवन-प्रासाद को चार सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़ा बताया गया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

'से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।'[1]

अर्थात्—जो (आस्तिक) आत्मवादी होगा, वह लोकवादी अवश्य होगा, और जो लोकवादी होगा, वह कर्मवादी होगा और जो कर्मवादी होगा, वह क्रियावादी अवश्य होगा।

चारों वाद परस्पर सम्बद्ध

निष्कर्ष यह है कि आस्तिक्य का महल चार सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़ा है—(१) आत्मवाद, (२) लोकवाद, (३) कर्मवाद और (४) क्रियावाद। ये चारों वाद एक दूसरे से शृंखला की तरह जुड़े हुए हैं। जिसमें आस्तिक्य होगा, उसमें ये चारों वाद अवश्य होंगे।

इन चारों वादों के यथार्थ स्वरूप के विषय में सर्वज्ञ वीतराग-जिनेश्वरदेव ने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार से उनके अस्तित्व एवं स्वरूप के विषय में आस्था रखना ही आस्तिक्य है।

इन चारों वादों के अस्तित्व एवं यथार्थस्वरूप से इन्कार करने वाले या विपरीत रूप में मानने वाले नास्तिक हैं। आस्तिक्य के साथ ये चारों वाद परस्पर कैसे और किस प्रकार जुड़े हुए हैं, इस पर विचार करना आवश्यक है। आत्मवाद आस्तिक्य वृक्ष का मूल है, जबकि लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद है क्रमशः—स्कन्ध, शाखा और फल।

क्रियावाद-अक्रियावाद

सर्वप्रथम क्रियावाद से प्रारम्भ करना उचित होगा; क्योंकि जो क्रियावादी होगा, वह पूर्व-पूर्व वादों के प्रति अवश्य ही आस्थाशील होगा।

इस विश्व के प्रमुख दार्शनिकों में दो प्रकार के विचार-प्रवाह प्रचलित हुए—क्रियावाद और अक्रियावाद। आत्म-परमात्मा, परलोक (स्वर्ग-नरक), कर्म (पुण्य-पाप) एवं मोक्ष पर विश्वास करने वाले क्रियावादी और इन पर विश्वास नहीं करने वाले 'अक्रियावादी' कहलाए।

क्रियावादी कहते हैं—आत्मा है, वह ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से सम्पन्न है। वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, अनुमान और आगम से भी सिद्ध है, योगी-प्रत्यक्ष तो है ही। वह परिणामीनित्य है, अपने कर्मों का कर्ता है, उनके फल का भोक्ता है, वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है, और मुक्ति का उपाय या मार्ग भी है।

---

१ आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ. १, सू. ५

आत्मवाद सम्बन्धी विचार

अत क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व मे सन्देह मत करो। वह अमूर्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नही है। वह नित्य है, किन्तु स्वकृत मिथ्यात्व, अज्ञान, रागद्वेषादि दोषो के कारण हुए कर्मबन्ध के फलस्वरूप नाना गतियो एव योनिया मे परिभ्रमण करता है। अत मनुष्य, तिर्यंच आदि नाना पर्यायो मे परिणत होने के कारण वह अनित्य भी है।

इसके विपरीत अक्रियावादियो का कथन है कि इस जगत् मे पृथ्वी, जल, वायु अग्नि और आकाश, ये पाँच महाभूत ही तत्त्व है। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होता है। भूतो का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है। अत आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष नही, उसे कैसे माना जा सकता है, आत्मा इन्द्रियो और मन से प्रत्यक्ष नही है फिर हम उसे क्या कर माने ? अत जिस प्रकार अरणि की लकडी से अग्नि, तिलो से तेल और दूध से घृत उत्पन्न होता है, वैसे ही पचभुतात्मक शरीर से जीव (चैतन्य) उत्पन्न होता है, शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नही रहती।'

लोकवाद विषयक विचार

क्रियावादी आत्मवाद के साथ-साथ लोकवाद को मानते हुए कहते है— 'अनन्तकाल तक विविध गतियो और योनियो मे परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य जन्म मिला है।[2] यदि इस जीवन को व्यर्थ गँवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के पश्चात् भी मनुष्यजन्म मिलना सुलभ नही है। कर्मों के विपाक अत्यन्त दारुण दुखदायक होते हैं। अत समझो, इसे क्यों नही समझते हो ? ऐसा सद्‌बोध सुविवेक बार-बार नही मिलता। जो रात्रियाँ बीत गई है, वे पुन लौट कर नही आती, और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है।[3] अत जब तक वृद्धावस्था न सताए, रोग घेरा न डाले

---

१ (क) पृथिव्यादिभूत सहत्या यथा देहादिसम्भव ।
मदशक्ति सुरागेभ्यो, यत्तद्वच्चिदात्मनि ॥
—षड्दर्शनसमुच्चय, श्लो० ८४

(ख) पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीर विषयेन्द्रिय संज्ञा तेभ्यश्चैतन्यम् । —तत्त्वोपप्लव शा० भाष्य

२ कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ
जीवा सोहिमणुपत्ता आययति मणुस्सय ॥ —उत्तरा अ ३ गा ७

३ सबुज्झह, कि न बुज्झह ! संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमति राइओ णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥
—सूत्रकृतांग, श्रु १, अ २, उ १, सू ८९

इन्द्रियाँ शक्तिहीन न बने, तब तक धर्माचरण कर लो।'[1] अन्यथा, मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ सुथरे राजमार्ग को छोडकर ऊबड-खाबड मार्ग से जाने वाला गाडीवान रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।"[2]

जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस लौट कर नही आता। जो अधर्म करता है, उसके रात-दिन निष्फल होते है। किन्तु धर्म-निष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते है। अत धर्माचरण करने मे एक क्षण भी प्रमाद न करो।[3]

इस प्रकार क्रियावादी वर्ग ने सयमपूर्वक जीवन बिताने, धर्माचरण मे प्रमाद न करने दुर्लभ मनुष्य-जन्म को व्यर्थ न खोने का उपदेश दिया।

इसके विरुद्ध अक्रियावादी वर्ग ने आत्मा, परलोक आदि आस्तिक-तत्त्वो से इन्कार करते हुए कहा— जब आत्मा ही नही है, अथवा यही सारी लीला समाप्त हो जाने वाली है इससे आगे कुछ नही है, यह जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, इतना ही लोक है। प्रिये! खाओ, पीओ और मौज उडाओ, चिन्ता करने जैसी कोई बात नही है। जो कुछ कर लोगी वही तुम्हारा है। मृत्यु के बाद कुछ भी आना-जाना नही है।'[4] जब तक जीओ, सुख से जीओ। कर्ज करके भी घी पीओ। यह शरीर यहाँ भस्म हो जाने के बाद पुनरागमन कहाँ है।'[5]

---

१ जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायति, ताव धम्म समायरे॥ —दशवैकालिक अ ८ गा ३५

२ जहा सागडिओ जाण, सम हिच्चा महापह।
विसम मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गम्मि सोयइ॥

एव धम्म विउक्कम्म, अहम्म पडिवज्जिया।
बाले मुच्चुमुह पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई॥ —उत्तरा० अ ५ गा १४-१५

३ (क) जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ।
अहम कुणमाणस्स अफला जति राईओ॥

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ।
धम्म च कुणमाणस्स सफला जति राईओ॥

(ख) 'समय गोयम! मा पमायए।

४ (क) एतावानेव लोकोऽय (पुरुषो), यावानिन्द्रियगोचर।
भद्रे! वृकपद पश्य यद्वदन्त्यबहुश्रुता॥ —आचार्य बृहस्पति

(ख) पिब खाद च चारुलोचने! यदतीत वरगात्रि! न ते।

५ यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत॥ —आचार्य बृहस्पति

क्रियावादियो ने कहा—"मनोरम कामभोग किम्पाकफल के समान मनुष्य के लिए मारक हैं। इनमे फँसकर अपना इहलोक-परलोक मत बिगाडो। कष्टो को समभावपूर्वक सहने से कर्मक्षय होता है, निर्जरा—आत्मशुद्धि होती है। देह से दु खो को समभावपूर्वक सहना महाफल है।

अक्रियावादी इस पर बौखला जाते हैं और जो कुछ कहते हैं, उनकी मान्यता का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र मे इन शब्दा मे आता है—"यह सबसे बडी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखो को छोडकर अदृष्ट सुखो को पाने की दौड मे लगे हैं। कामभोग हाथ मे आए हुए हैं, वे प्रत्यक्ष हैं, जो भविष्य के सुख है, वे तो परोक्ष हैं, दीर्घकाल के पश्चात् मिलने वाले हैं। परलोक किसने जाना-देखा है ? कौन जानता है—परलोक है या नही ?[1] जनसमूह का एक बडा भाग सासारिक सुखो का उपभोग करने में व्यस्त है फिर हम ही क्या उपभोग न करें। जनता को परलोक के सब्जबाग दिखाकर प्राप्त सुखा से विमुख कर देना कौन-सी तत्त्वज्ञता है ? अत हमारी दृष्टि मे यह अतात्त्विक है।"

कर्मवाद सम्बन्धी मान्यताएँ—क्रियावादियो की विचारधारा लोकवाद से कर्मवाद की ओर बढी, उन्होने कहा—प्राणी जो भी अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना पडता है। शुभकर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ मिलता है। परलोक मे कर्ता (कर्मकर्ता) के साथ ही कर्म जाता है। जीव अपने पाप-पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक मे उत्पन्न होते है। पुण्य-पाप दोनो का क्षय होने पर असीम-सुखमय मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2]

क्रियावादियो की विचारधारा के फलस्वरूप भव्यजनता मे धर्मरुचि, तप-त्याग की वृत्ति जागृत हुई। अल्प-इच्छा, अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह का महत्त्व बढा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपासना करने वाला व्यक्ति महान् एव आदरणीय समझा जाने लगा।

---

१ हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥६॥
न मे दिट्ठे परे लोए चक्खु दिट्ठा इमा रई ॥३॥ —उत्तरा० अ० ५

२ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवति ॥
सफले कल्लाण पावए पच्चायति जीवा।
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥ —उत्तरा० ४।३

अक्रियावादी वर्ग ने इसके विपरीत प्ररूपणा की—सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता, न ही शुभकर्मों के शुभ और अशुभकर्मों के अशुभ फल होते हैं। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न ही नही होता।[1]

फलतः लोगों में भोगवाद की प्रबल इच्छा उठी, वे महारम्भ, महापरिग्रह में ग्रस्त रहने लगे। क्रियावाद का अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही रहा। वह दुष्कर्मफल की चिन्ता छोडकर त्रस-स्थावर जीवो की बेखटके निरर्थक हिंसा करने लगा। अन्य पापकर्म भी नि.संकोच करने लगा।

अनुभव बताता है कि प्राणघातक रोग, विपत्ति या मृत्यु के समय बडे-बडे नास्तिक काँपने लगते है। कभी-कभी वे नास्तिकता को तिलांजलि देकर आस्तिक भी बन जाते है। प्रायः अक्रियावादी लोगों को अन्तिम समय में यह संशय होने लगता है कि मैंने कई बार सुना है कि नरक है, जहाँ पापकर्मी, क्रूरकर्मी दुराचारी एवं अत्याचारी लोगो को उनके किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप नरक में प्रगाढ वेदना सहनी पड़ती है।[2] कही यह सच तो नही है? सचमुच यह सत्य हो तो मेरी बहुत दुर्दशा होगी।

इस प्रकार क्रियावादी जहाँ आत्मवाद, कर्मवाद और लोकवाद की पृष्ठभूमि पर अपना जीवन सुधारता है, शुभ कार्य करता है, धर्माचरण भी करता है, वहाँ अक्रियावादी आत्मा परलोक और कर्मवाद से विमुख होकर अपना जीवन बिगाडता है, पापकर्म करता है।

इन दोनो विचारधाराओ का परिणाम हमारे सामने है। इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नही बनता, अपितु व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन पर भी इन विचारधाराओ का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पडता है। समग्र जीवन के शुभाशुभ निर्माण में इन दोनों विचारधाराओ का बहुत बडा हाथ रहा है।

अब हम आस्तिक्य के लिए अनिवार्य क्रियावाद के मूलस्रोत—आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद पर क्रमशः विचार करते हैं।

आत्मवाद : एक समीक्षा

किसी भी अतीन्द्रिय वस्तु के अस्तित्व के विषय में निर्णय करते समय

---

१ णो सुच्चिण्णा कम्मा सुच्चिण्णा फला भवति।
णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवति।
अफले कल्लाणपावए णो पच्चायति जीवा ॥—दशाश्रुतस्कन्ध ६६ से उद्धृत

२ 'कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेणमूढे विप्परियासमुवेइ मोहेण गब्भं मरणाति एति।' —आचारांग श्रु. १ अ. ५, उ १ सू ४८६-४८७

साधक-बाधक प्रमाणों को देखना आवश्यक होता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष है उसके विषय मे किसी को सन्देह नहीं होता। परोक्ष वस्तु के विषय में साधारण आदमी का ज्ञान जो भी पढ-सुनकर होता है वह साधक-बाधक तर्कों की कसौटी पर कसा हुआ होता है। यदि साधक प्रमाण प्रबल होते है तो वह परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है और बाधक प्रमाण बलवान् हो तो वह उसके अस्तित्व से इन्कार कर देता है।

परोक्ष होने पर भी आत्मा का अस्तित्व है

आत्मा प्रत्यक्ष होता तो किसी को शका करने का अवकाश न रहता किन्तु वह परोक्ष है अनीन्द्रिय है अमूर्त है। इन्द्रियाँ सिर्फ स्पर्श-रस-गन्ध-रूपात्मक मूर्त पदार्थ को ही जान सकती है। मन इन्द्रियो का अनुगामी है। वह इन्द्रियो द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपो को जानता है व उनके विषय मे चिन्तन मनन करता है। मूर्त के माध्यम मे वह अमूर्त वस्तुओ को भी जानता है।

आत्मा शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श से रहित है वह अमूर्त है, अरूपी सत्ता है।[1] अमूर्त होने के कारण वह इन्द्रियो और मन के द्वारा न जाना जाए[2] इससे उसके अस्तित्व पर कोई आँच नही आती। इन्द्रियो द्वारा अरूपी आकाश को कब कौन जान सका है ? फिर भी आकाश का अस्तित्व माना जाता है। अरूपी की बात जाने दें अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ जो रूपी हैं, वे भी इन्द्रियो से नही जाने जा सकते फिर भी उनके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता।

एकमात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को मानने से ससार का कोई व्यवहार नही चल सकता। इन्द्रियप्रत्यक्षवादी ने अपने पूर्वजो को नही देखा, इस कारण वह उनके अस्तित्व से कैसे इन्कार कर सकता है ? यही क्यो, दीवार के पीछे या सूक्ष्म अतिदूर (विप्रकृष्ट) और व्यवहित वस्तु को इन्द्रियाँ नही देख-सुन सकती फिर भी उसे मानना पडता है।

आत्मा के अस्तित्व में साधक तर्क

आत्मा प्रत्यक्ष न होने पर भी, भारतीय दर्शनो मे आत्मा पर बहुत अधिक मनन-चिन्तन हुआ है। यदि यह कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान और महत्वपूर्ण अग है। यहाँ अनात्म-

---

१ आचारागसूत्र श्रु १ अ ५ उ ६, सू ५६३-५६६

२ "नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।"
—उत्तरा० अ १४ गा १९

वादी भी रहे हैं, किन्तु उनकी संख्या नगण्य रही है; फिर भी उन्होंने आत्मा के विरोध में अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। आत्मवादियों द्वारा दिये गये उनके विपक्ष में आत्मा के साधक प्रमाण इतने अकाट्य है कि अनात्मवादियों को उनके आगे निरुत्तर होना पड़ता है। आत्मा के विषय में साधक तर्कों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) **स्वसंवेदन**—रूपी पदार्थों की तरह, अरूपी आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दीखता, किन्तु स्वानुभवप्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। मैं हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा अनुभव (संवेदन) शरीर को नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर पंचभूतों से बना हुआ जड पदार्थ है। यदि शरीर को ही आत्मा मान लिया जाए या पंचभूतों से चैतन्योत्पत्ति मानी जाए जैसा कि तज्जीव-तच्छरीरवादी या भूतचैतन्यवादी कहते हैं, तब तो मृत शरीर को भी सजीव और ज्ञान (चेतना) के प्रकाश वाला मानना पड़ेगा, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इच्छा, अनुभूति आदि गुण मृतक शरीर में नहीं होते।[1]

(२) **उपादान कारण**—इस युक्ति के अनुसार यह सिद्ध होता है कि चैतन्य, इच्छा, अनुभूति आदि गुणों का उपादान शरीर नहीं, किन्तु कोई दूसरा ही तत्त्व है, और वह आत्मा ही है। जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह वस्तु उसी रूप में परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते। शरीर पृथ्वी आदि भूतसमूहों का बना हुआ होने से जड़-अचेतन है। जैसे घट, पट आदि जड़ पदार्थों में ज्ञान, इच्छा आदि गुणो का अस्तित्व नहीं है, वैसे ही जड़ शरीर भी ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का उपादान रूप आधार नहीं हो सकता।

(३) **अत्यन्ताभाव**—शास्त्रकार के शब्दों में न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा, कि जीव अजीव बन जाए अथवा अजीव जीव बन जाए। चेतन और अचेतन दोनों में परस्पर एक दूसरे का अत्यन्ताभाव है।

(४) **ज्ञेय और ज्ञाता का भिन्नत्व**—ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा, ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रियाँ ग्रहण करने के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य (ज्ञेय) हैं। जैसे—लोहार संडासी से लोहपिण्ड को पकड़ता है। इसमें लोहपिण्ड ग्राह्य है, संडासी ग्रहण करने का साधन है और लोहार

---

१ देखिये—सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. १, उ. १।७-८ में भूतचैतन्यवाद एवं तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख।

बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१२ में भी भूतचैतन्यवाद का उल्लेख करते हुए कहा है—'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति।

ग्राहक है। ये तीनो भिन्न-भिन्न हैं। यदि लोहार (ग्राहक) न हो तो संडासी लोहपिण्ड को ग्रहण नहीं कर सकती, उसी प्रकार आत्मा न हो तो, इन्द्रियाँ या मन अपने ग्राह्य (ज्ञेय) विषय को ग्रहण नही कर सकते। अत आत्मा नामक ग्राहक (ज्ञाता) का स्वतंत्र अस्तित्व है।

(५) **साधक और साधन का पृथक्त्व**—शरीर मे पांच इन्द्रियाँ हैं, इनको साधन बनाने वाला आत्मा (साधक) इन्द्रियो से भिन्न है। पाँचों इन्द्रियों से आत्मा रूप रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श ग्रहण करता है। जैसे—दीपक से देखा जाता है, परन्तु दीपक और देखने वाला दोनो पृथक-पृथक् हैं, इसी प्रकार इन्द्रियसमूह और विषयो का ग्रहण करने वाला, ये दोनो पृथक्-पृथक् हैं। साधनभूत इन्द्रियाँ आत्मा (साधक) के अभाव में विषयो को ग्रहण नहीं कर सकती। मृत शरीर मे इन्द्रियो का अस्तित्व होने पर भी मृतक व्यक्ति को उनसे किसी प्रकार का ज्ञान नही होता। इससे यह सिद्ध होता है कि साधनभूत इन्द्रियाँ और उनसे ज्ञान प्राप्त करने वाला आत्मा दोनो पृथक्-पृथक है। आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व है।

(६) **स्मरणकर्त्ता आत्मा है**—इन्द्रियो के नष्ट हो जाने पर भी उनके अस्तित्वकाल मे उनके द्वारा देखे सुने और जाने हुए विषयो का स्मरण होता है। जैसे—कान से कोई वस्तु सुनी या आँख से कोई वस्तु देखी, किन्तु सयोग-वश कान का पर्दा फट जाने पर या नेत्र-ज्योति नष्ट हो जाने पर भी पूर्वश्रुत और दृष्ट वस्तु की स्मृति हो जाती है। उनका स्मरण करने वाली इन्द्रियाँ तो हो नही सकती, अत इनसे पृथक् चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है। आत्मा के अभाव मे इन्द्रियाँ और मन दोनो निष्क्रिय हैं, अत दोनो के ज्ञान और स्मरण का मूल स्रोत आत्मा है।

(७) **संकलनात्मक ज्ञान का ज्ञाता**—इन्द्रियो का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नही जान सकती। अमुक वस्तु को मैंने स्पर्श किया, उसकी आवाज सुनी, उसको देखा, उसकी सुगन्ध ली, उसका रसास्वादन किया, इस प्रकार एक साथ सभी विषयों का संकलनात्मक ज्ञान किसी एक इन्द्रिय को नही हो सकता। सभी इन्द्रियो के विषयो के संकलनात्मक ज्ञान का ज्ञाता पांचो इन्द्रियो से भिन्न और कोई है, और वह आत्मा ही है। जैसे—पापड खाते समय स्पर्श, रूप, शब्द, रस और गन्ध इन पांचो का एक साथ अकेला अनुभव करने वाला आत्मा है, इन्द्रियाँ नही, क्योकि वह आँख नहीं हो सकती, आँख का काम केवल देखने का ही है, स्पर्श आदि का नहीं। स्पर्शेन्द्रिय भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कार्य

केवल छूने का है, न ही अन्य कोई नाक, कान या जीभ ही हो सकती है, उनका कार्य अपने-अपने विषय को ग्रहण करना है। अतः सिद्ध होता है कि वस्तु को देखने, छूने, सूँघने, सुनने और चखने वाला, जो एक है, वह इन्द्रियों से भिन्न आत्मा ही है।

(८) **पूर्वसंस्कार एवं जन्म की स्मृति**—शरीर एवं इन्द्रियाँ यहाँ नष्ट हो जाने पर भी दूसरे क्षेत्र में जन्म लेते ही बालक माता का स्तनपान करता है, किसी-किसी बालक को पूर्वजन्म का भी स्मरण रहता है। किसी-किसी बालक को तो पिछले तीन-चार जन्मों तक की घटनाएँ भी याद आ जाती हैं। वर्तमान में ऐसी कई सच्ची घटनाएँ समाचारपत्रों में आती है। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वसंस्कार एवं पूर्वजन्म का स्मरण करने वाला आत्मा ही है।

(९) **सत्प्रतिपक्ष**—जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व होता है, उसके अस्तित्व को अवश्य ही तार्किक समर्थन मिलता है। 'अचेतन' चेतन का प्रतिपक्षी है। यदि चेतना की सत्ता न होती तो 'न चेतन'– अचेतन इस प्रकार का अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नही हो सकता था। अतः चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(१०) **बाधक प्रमाण का अभाव**—आत्मवादियों का कहना है कि आत्मा है, क्योंकि उसके अस्तित्व का खण्डन करने वाला कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है।

(११) **सत् का निषेध**—असत् का निषेध नही होता। जिसका निषेध होता है, वह वस्तु अवश्य ही अस्तित्व में होती है। अतः यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता। निषेध चार प्रकार का होता है—(१) संयोग निषेध, (२) समवाय निषेध, (३) सामान्य निषेध और (४) विशेष निषेध। अतः आत्मा नही है, इसमें आत्मा का निषेध नहीं, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले संयोग आदि का निषेध है। चारों के क्रमशः उदाहरण –(१) आत्मा शरीर नहीं है, (२) आत्मा अचेतन नहीं होता, (३) ऐसा आत्मा और कोई नहीं है, (४) आत्मा जीव के शरीर से बड़ा नहीं होता। इन चारों प्रकार के निषेधों में आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं है।

(१२) **संशय ही आत्मसिद्धि का कारण**—जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ'; वही आत्मा (जीव) है। चेतन को ही अपने अस्तित्व के विषय में संशय हो सकता है, विकल्प उठ सकता है, अचेतन को कभी नहीं। यह है या नहीं ? ऐसी ईहा या विकल्प चेतन को ही होता है।

(१३) **गुण द्वारा गुणी का ग्रहण**—चैतन्य गुण है और चेतना गुणी। चैतन्यगुण उसके कार्यों द्वारा प्रत्यक्ष है, किन्तु चेतन (आत्मा) प्रत्यक्ष नहीं है। जैसे—विद्युत द्वारा आँखों से प्रत्यक्ष नही दिखाई देती, किन्तु प्रकाश आदि उसके गुण प्रत्यक्ष दीखते हैं, उन प्रत्यक्ष गुण या कर्मों से परोक्ष बिजली का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है, इसी प्रकार प्रत्यक्ष चैतन्य गुण या उसके कार्यों से परोक्ष चेतन (आत्मा) का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

(१४) **विशेष गुण द्वारा स्वतन्त्र अस्तित्व बोध**—किसी भी पदार्थ का अस्तित्व उसके विशिष्ट असाधारण गुण द्वारा भी सिद्ध होता है। आत्मा में चैतन्य नामक विशिष्ट—असाधारण गुण है, जो किसी भी दूसरे पदार्थ में व्याप्त नहीं है। इसलिए आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

(१५) **द्रव्य की त्रैकालिकता**—जो पहले-पीछे नही होता, वह मध्य (वर्तमान) मे भी नही हो सकता। आत्मा यदि पहले-पीछे न होता तो वर्तमान में भी नही हो सकता था, किन्तु ऐसी बात नहीं है। आत्मा (जीव) एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह पहले था, पीछे भी रहेगा, तो वर्तमान में भी है, ऐसा सिद्ध होता है।

(१६) **विचित्रताओं के कारणभूत कर्म से आत्मा की सिद्धि**—संसार में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई विद्वान् तो कोई मूर्ख, कोई धनिक तो कोई निर्धन, इस प्रकार की असंख्य विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। ये विचित्रताएँ किसी न किसी कारण से ही हो सकती हैं। वह कारण है—कर्म। और कर्म का कोई न कोई नियामक या कर्ता अवश्य होना चाहिए। कर्मों का नियामक या प्रयोजक अथवा कर्त्ता चैतन्यशील आत्मा के सिवाय और कोई नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा को सुख-दुःख देने वाला या धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख बनाने वाला कर्मपुञ्ज आत्मा के साथ प्रवाहरूप से अनादिकाल से संयुक्त है। अतः कर्म के अस्तित्व के आधार पर उन कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता या क्षयकर्त्ता, आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इसलिए स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगमप्रमाणों तथा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के वचनों से, युक्ति और तर्क से चर्मचक्षुओं से अगोचर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा का अस्तित्व मानने मात्र से ही जैनदर्शन, उस व्यक्ति को आत्मवादी स्वीकार नहीं करता। आत्मवादी होने के लिए आत्मा का स्वरूप विषयक अज्ञान और मिथ्यात्व दूर होकर उसके जिनोक्त यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान होना भी आवश्यक है।

आत्मा के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद हैं। यहाँ उन सबका विस्तृत वर्णन करने और निराकरण करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ उसकी झांकी प्रस्तुत करके जैनदर्शनसम्मत आत्मा के स्वरूप का संक्षिप्त प्रतिपादन हो यथेष्ट है।

शरीरमय आत्मा—चार्वाकदर्शन पंचभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानता था, जिसका उल्लेख औपनिषदिक, जैन एवं बौद्ध साहित्य में आता है। अर्थात्—पंचभूतोत्पन्न चैतन्यमय शरीर ही आत्मा है, जो यहीं समाप्त हो जाता है। दीग्घनिकाय में चार भूतों (धातुओं) से पुरुष (आत्मा) की उत्पत्ति मानने वाले अजितकेशकम्बली का मन्तव्य दिया गया है।[1] जैन-बौद्ध उपनिषद्-साहित्य में तज्जीव-तच्छरीरवाद (जो जीव है, वही शरीर है, आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है, इस प्रकार के मत) का भी उल्लेख मिलता है।[2]

जैनागम राजप्रश्नीयसूत्र में तथा बौद्धसाहित्य के दीग्घनिकाय ग्रन्थ के एक विभाग—'पायासीसुत्त' में राजा पायासी या पएसी (प्रदेशी) का उल्लेख मिलता है, जो जीव और शरीर को पृथक् नहीं मानता था।[3] उपनिषदों में आत्मा को अन्नमय कहा है, वह भी शरीर का ही द्योतक है। छान्दोग्य उपनिषद में प्रजापति ब्रह्मा के पास आत्म विषयक जिज्ञासा लेकर वैरोचन और इन्द्र के आगमन का उल्लेख है। प्रजापति ने सम्पूर्ण शरीर को ही आत्मा मानने के मन्तव्य का समर्थन किया।[4]

प्राणमय आत्मा—इन्द्र को इस समाधान से सन्तोष नहीं हुआ, उसके मन में अन्तःस्फुरणा हुई कि निद्रावस्था में इन्द्रियाँ और मन भी अपना-

---

१ (क) सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. १ उ १, सू. ७, (ख) ब्रह्मजालसुत्त (ग) श्वेताश्वतर उप १।२, (घ) बृहदारण्यक, २।४।१२, (ङ) विशेषावश्यकभाष्य गा. १५५३, (च) न्यायमजरी पृ ४७२, (छ) दीग्घनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त (ज) दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइए त्ति आहिए। —सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. १।१६

२ (क) इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए। —सूत्रकृ. २।१।६
(ख) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा ३०
(ग) विशेषावश्यक भाष्य—वायुभूति की शका
(घ) मज्झिमनिकाय—चूलमालुंक्यसुत्त

३ (क) रायप्पसेणीसुत्तं —प्रदेशीराजा का अधिकार
(ख) दीग्घनिकाय—पायासीसुत्तं

४ (क) तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।२ (ख) छांदोग्योपनिषद् ८।६

अपना कार्य छोड देते हैं, तब प्राण-श्वासोच्छ्वास चलता रहता है। मृत्यु के बाद श्वासोच्छ्वास नही प्रतीत होता। अत प्राण ही आत्मा है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया— इस विश्व में जो कुछ भी है, प्राण है।' बृहदारण्यक मे 'प्राणो को देवो का देव' कहा गया है।

शरीर मे इन्द्रियो का स्थान प्रमुख होने तथा उनके प्रत्यक्ष होने से कुछ दार्शनिक इन्द्रियो को आत्मा मानते थे। साख्यदर्शन के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने सांख्यसम्मत वैकृतिकबन्ध के अनुसार इन्द्रियो को पुरुष मानने का उल्लेख किया है। बृहदारण्यक मे बताया गया कि मृत्यु के समय सभी इन्द्रियो के थक जाने पर भी प्राण प्रबल रहता है। इन्द्रियाँ प्राण का रूप धारण कर लेती हैं। अत इन्द्रियो को भी प्राण कहते हैं।'

मनोमय आत्मा—इससे भी आगे बढकर कुछ दार्शनिको ने मन को आत्मा माना। नि सन्देह इन्द्रियो और प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। परन्तु मन भौतिक है या अभौतिक? इस विषय में दार्शनिको में मतैक्य नहीं रहा। नैयायिक और वैशेषिक मन को अणुरूप तथा पृथ्वी आदि भूतो से विलक्षण मानते है। साख्यदर्शन मानता है कि भूतो की उत्पत्ति से पूर्व ही प्रकृतिज अहकार से मन उत्पन्न होता है। बौद्धों ने मन को विज्ञान का समानान्तर कारण माना है। न्यायदर्शनकार ने मन को आत्मा माना है। देह से भिन्न आत्मा मनोमय ही सिद्ध होता है क्योंकि मन सर्वग्राही है। आत्मा मनोमय ही है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे कहा गया है—'अन्योऽन्तरात्मा मनोमय—अर्थात् —आत्मा मनोमय ही है।' बृहदारण्यक मे 'मन को परमब्रह्म सम्राट्' छान्दोग्योपनिषद् मे 'ब्रह्म' तथा तेजोबिन्दु उपनिषद् मे मन को ही सम्पूर्ण जगत् का रूप बताया गया है।[2]

विज्ञानमय प्रज्ञानमय आत्मा—चिन्तको का चिन्तन जब मन से आगे

---

१ (क) तैत्तिरीय० २।२।३ (ख) कोषीतकी उपनिषद् ३।२
(ग) छान्दोग्य० ३।१५।४ (घ) बृहदारण्यक० १।५।२१
(ङ) साख्यकारिका ४४

२ (क) न्यायसूत्र ३।२।६१ (ख) वैशेषिकसूत्र ७।१।२३
(ग) षण्णामनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन। —अभिधर्मकोष १।१७
(घ) तैत्तिरीय० २।३ (ङ) बृहदारण्यक० १।५।३
(च) छान्दोग्य० ७।३।१ (छ) तेजोबिन्दु उपनिषद् ५।९८।१०४

बढ़ा तो उन्होंने 'प्रज्ञा', 'प्रज्ञान', या 'विज्ञान' को आत्मा कहा। उनका तर्क यह था कि प्रज्ञा के अभाव में मन और इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। अतः प्रज्ञा ही महत्त्वपूर्ण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा कहा है। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञा, प्रज्ञान और विज्ञान को एकार्थक माना गया है।

जब आत्मा को 'विज्ञान' की संज्ञा मिली, तब आत्मविषयक चिन्तन के क्षेत्र में नई क्रान्ति हुई। कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया—इन्द्रियों के विषयों का या मन का ज्ञान आवश्यक नहीं, किन्तु इन्द्रियविषयों के ज्ञाता तथा मनन करने वाले—प्रज्ञात्मा का ज्ञान करना चाहिए।[1]

कठोपनिषद् में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तत्त्वों की गणना करते हुए कहा गया—इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि (महत्तत्व) और महत्तत्त्व से अव्यक्त प्रकृति एवं प्रकृति से पुरुष उत्तरोत्तर उच्च है।[2]

आनन्दमय आत्मा—विज्ञानमय आत्मा मानने पर भी आत्मा को किसी चेतन पदार्थ का धर्म न मानकर अचेतन पदार्थ का धर्म माना गया। यद्यपि विज्ञानात्मा तक के चिन्तन से आत्मा पूर्णतः चेतनस्वरूप सिद्ध हो गया था, किन्तु आनन्द की पराकाष्ठा आत्मा में है, इसलिए आनन्दमय आत्मा की कल्पना की गई।[3]

चिदात्मा—यद्यपि जैनागम में भी निश्चय दृष्टि से कहा गया कि जो आत्मा है, वह विज्ञान है और जो विज्ञान है, वह आत्मा है। किन्तु विज्ञान के अतिरिक्त आत्मा के अन्य गुणों का भी समावेश करने हेतु जैनदर्शन ने आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना। उपनिषद् के विभिन्न ऋषियों ने अन्नमय से लेकर आनन्दमय तक जो चिन्तन प्रस्तुत किया, उसमें आत्मा के विभिन्न आवरणों को ही आत्मा समझा गया। आत्मा के मूलस्वरूप की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। चिन्तन के चरण आगे बढ़े तो ऋषियों ने कहा—'शरीर आत्मा का रथ है उसको चलाने वाला वास्तविक रथी तो आत्मा है।'

कुछ उपनिषद्कारों ने आत्मा को प्राण से तथा इन्द्रिय और मन से

---

१ (क) कौषीतकी उपनिषद् ३।६।७ (ख) तैत्तिरीय० २।४
(ग) ऐतेरेय० ३।२, ३।३ (घ) कौषीतकी० ३।८

२ कठोपनिषद् १।३।१०।११

३ (क) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्—तैत्तिरीय० २।६
(ख) कठोपनिषद् १।३।१०।११

पृथक् माना और कहा कि आत्मा के अभाव में इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि कुछ भी नही कर सकते। किन्तु कुछ ऋषियो ने विज्ञानमय और आनन्दमय से भी अलग ब्रह्म की कल्पना की। ब्रह्म को ही आत्मा माना, इसे ही सर्वभूतों में गूढ़ात्मा माना।[1]

परन्तु चिन्तन इतना आगे बढने पर भी चिन्तक गड़बड़ा गए। वे कहने लगे—विज्ञानात्मा स्वतः प्रकाशित नहीं है, पर-पुरुष (चेतन) आत्मा स्वयं-प्रकाशी है, जबकि जैन दर्शन ने आत्मा को स्वय प्रकाशक माना है।[2]

बृहदारण्यक मे आत्मा को सर्वान्तरात्मा का रूप बताते हुए कहा—साक्षात् है, अपरोक्ष है, वही प्राण को ग्रहण करने वाला, आँख से देखने वाला, कानो से सुनने वाला, मन से विचार करने वाला, वही ज्ञान का जानने वाला है। वही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है। वह नित्य चिन्मात्ररूप है, सर्वप्रकाशरूप है, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है।[3]

इस प्रकार विभिन्न चिन्तको ने आत्मा के नैश्चयिक स्वरूप का तो कथन किया, किन्तु उसका जो व्यावहारिक स्वरूप था, उसकी बिलकुल उपेक्षा कर दी। जबकि जैनदर्शन ने निश्चय और व्यवहार अर्थात्—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों दृष्टियों से आत्मा के सर्वांगीण स्वरूप का विचार प्रस्तुत किया।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप इस प्रकार है—

जीव स्वरूपतः अनादिनिधन (न आदि और न अन्तवाला), अविनाशी और अक्षय है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से उसका स्वरूप कभी नष्ट नही होता, तीनो कालो में एक-सा रहता है, इसलिए वह नित्य है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपो में परिणत होता रहता है, अतः अनित्य है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं, तब भी वह सोना ही रहता है। केवल नाम और रूप में अन्तर पड जाता है, वैसे ही चार गतियों और चौरासी लक्ष जीवयोनियो में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती है, नाम और रूप बदलते हैं, किन्तु जीवद्रव्य सदैव बना रहता है।

जैसे दिन में सूर्य यहाँ प्रकाश करता है, तब दृष्टिगोचर होता है, रात्रि में अन्य क्षेत्र में चला जाता है, तब उसका प्रकाश दृष्टिगोचर नही

१ 'सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।' —माण्डूक्य० २

२ बृहदारण्यक ४।३।६-९

३ बृहदारण्यक ३।७।२२

होता, वैसे ही वर्तमान शरीर में रहा हुआ जीव दिखाई देता है, किन्तु उसे छोड़कर दूसरे शरीर मे चला जाता है, तब दिखाई नही देता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही ससारी दशा में जीव और शरीर एक-से प्रतीत होते हैं, परन्तु जैसे—पिजड़े से पक्षी, म्यान से तलवार, घड़े से शक्कर अलग है, वैसे ही वास्तव में जीव शरीर से अलग है।

शरीर के अनुसार जीव का संकोच और विस्तार होता है। जो जीव आज हाथी के विराट्काय शरीर में होता है, वही कुन्थु के शरीर मे भी उत्पन्न हो जाता है। मगर संकोच और विस्तार, इन दोनो अवस्थाओ मे जीव की प्रदेशसंख्या समान ही रहती है, न्यूनाधिक नही होती।

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे जीव भी तीनों कालो में अनादि और अविनाशी है।

जैसे आकाश अमूर्त है, फिर भी अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही आत्मा अमूर्त है, और वह विज्ञानगुण से जाना जाता है।[1]

जैसे आकाश तीनो कालों मे अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैस ही जीव भी तीनो कालो मे अविनाशी और अवस्थित है।

जैसे पृथ्वी सभी द्रव्यो का आधार है, वैसे ही जीव भी ज्ञान आदि गुणो का आधार है।

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नही दीखता, फिर भी वह घ्राण (नाक) के द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी ज्ञानगुण के द्वारा उसका ग्रहण होता है।

भेरी, मृदंग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उन शब्दो का रूप नही दीखता, वैसे ही जीव भी नही दीखता, तथापि ज्ञान-गुण द्वारा उसका ग्रहण होता है।

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच प्रविष्ट हो जाने पर उसकी आकृति और चेष्टाओ द्वारा जान लिया जाता है, कि यह पुरुष पिशाचग्रस्त है, वैसे ही शरीर में रहा हुआ जीव हास्य, नृत्य, सुख-दुःख बोल-चाल आदि विविध चेष्टाओ द्वारा जाना जाता है।

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है, और स्वयं उसका फल भोगता है।

---

१ प्रमाणनयतत्त्वालोक, रत्नाकरावतारिका टीका

जैसे खाया हुआ आहार स्वत सप्त धातु के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मयोग्य पुद्गल अपने आप कर्मरूप मे परिणत हो जाते है।

जैसे सोने और मिट्टी का सयोग (साहचर्य) भी अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का सयोग भी अनादि है। किन्तु जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही सवर, तपस्या आदि उपायो के द्वारा जीव भी कर्मों से पृथक् हो जाता है।

जीव जिस प्रकार का आचार-विचार और व्यवहार करता है, वैसे ही सस्कार उसमे पडते जाते हैं, और उस सस्कार को धारण करने वाला एक सूक्ष्म पौद्गलिक शरीर भी निर्मित होता जाता है, जो देहान्तर धारण करते समय भी साथ ही रहता है।[1]

लोक मे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ सूक्ष्म या स्थूल-शरीर जीवो का अस्तित्व न हो।[2]

सम्पूर्ण जीवराशि मे सहज योग्यता एक-सी है किन्तु प्रत्येक जीव का विकास एक समान नही होता, वह उसके पुरुषार्थ एव अन्य निमित्तो के बलाबल पर निर्भर है।

जीव अनेकानेक शक्तियो का पु ज है। उसमे मुख्य शक्तियाँ ये हैं—ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति और संकल्पशक्ति।[3]

यद्यपि जीव अमूर्त्त है, तथापि अपने द्वारा संचित मूर्त शरीर के योग से तब तक मूर्त्त जैसा बन जाता है, जब तक शरीर का अस्तित्व रहता है।

जैसे मुर्गी और अण्डे की परम्परा में पौर्वापर्य नही है, वैसे ही जीव और कर्म की परम्परा मे पौर्वापर्य नही है। दोनो अनादि काल से साथ-साथ है।[4]

संक्षेप में, जैनदृष्टि से—आत्मा चैतन्यस्वरूप, नित्य स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ भी विभिन्न अवस्थाओ में परिणत होने वाला (परिणामी), कर्त्ता और भोक्ता, अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियों से शुभाशुभ कर्मो

---

१ तत्त्वार्थसूत्र २।२६
२ उत्तराध्ययन अ ३६ 'सुहुमा सव्वलोयम्मि'
३ उत्तराध्ययन २८।११
४ भगवतीसूत्र १।२८८-२९५

का संचय करने और उनका फल भोगने वाला, स्वदेहपरिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक), किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्धदर्शन में आत्मा का स्वरूप

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वास्तविक नहीं, काल्पनिक संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण में उत्पन्न और विनष्ट होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिकतत्त्व—काया) के संघात से ही संसार व्यवहार चल सकता है, इनसे परे किसी आत्मतत्त्व को मानने की आवश्यकता नहीं।

इसका कारण बुद्ध द्वारा यह बताया जाता है कि यदि मैं कहूँ कि आत्मा है, तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं और यह कहूँ कि आत्मा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। अतः दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ। अव्याकृत कह देता हूँ।[1]

बुद्ध ने आत्मा क्या है? कहाँ से आया है? कहाँ जाएगा? आदि प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाला है।

नैयायिक आत्मा को नित्य और विभु मानते हैं, तथा इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान—ये उसके लिंग हैं, जिनसे हम आत्मा का अस्तित्व जानते हैं।[2]

सांख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य, निष्क्रिय, अमूर्त[3], चेतन, भोगी, सर्वव्यापक, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म मानते हैं। वे आत्मा (पुरुष) को कर्त्ता नहीं, केवल फलभोक्ता मानते हैं। वे कर्तृत्व शक्ति प्रकृति में मानते हैं।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को ब्रह्म (आत्मा) कहते हैं। उनके मतानुसार स्वभावतः आत्मा एक ही है, वही देहादि उपाधियों के कारण प्रत्येक[4] प्राणी में स्थित है।

---

१ अस्तीति शाश्वतग्राही नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षण.॥ —माध्यमिक कारिका १८।१०

२ न्यायसूत्र

३ अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्य सर्वगतोऽक्रिय।
अकर्ता निर्गुण, सूक्ष्म, आत्मा कापिलदर्शने॥

४ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

रामानुजीय आत्मा को अनन्त तथा एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं।

वैशेषिक सुखदु:खादि समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी और व्यवस्था की दृष्टि[1] से अनेकात्मवादी हैं।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु, व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है तथा विस्तृत रूप से नेति-नेति कह-कहकर अव्यक्त बताया है आदि।[2]

सक्षेप मे कहे तो आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न दर्शनो का मूल अभिप्राय इस प्रकार प्रतीत होता है—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नही, चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय-वैशेषिक—आत्मा स्थायी है किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नही है गाढनिद्रा मे वह चेतनाहीन हो जाता है।

वैशेषिक—मोक्ष मे आत्मा के गुण नष्ट हो जाने से, चेतना भी नष्ट हो जाती है।

सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि-अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है, प्रकृति का विवर्त है।

मीमांसक—आत्मा मे अवस्थाकृत भेद होता है, तथापि वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिणामी नित्य है, चैतन्यस्वरूप है, उसकी चेतना किसी भी अवस्था मे सर्वथा लुप्त नही होती। मोक्ष मे चेतना की अनावृत अवस्था व सतत प्रवृत्ति होती हैं, जबकि ससार की आवृतदशा मे चेतना को प्रवृत्त करना पडता है। जीवतत्त्व के प्रकरण मे इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

उपनिषदों मे आत्मा अन्नमय, प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय क्रमश मानी गई है।

अत आत्मवादी को आत्मा का अस्तित्व मानने के साथ-साथ आत्मा का जिनोक्त स्वरूप स्पष्टतया जानना और उस पर हार्दिक श्रद्धा रखना अनिवार्य है। तभी उसकी आस्तिकता की नींव मजबूत हो सकती है। □

---

१ वैशेषिक सूत्र ३।२।१६-२० व्यवस्थातो नाना।

२ (क) ईशोपनिषद्—इशावास्यमिद सर्वं, (ख) गीता २।१५

(ग) तैत्तिरीय० २।४ (घ) बृहदारण्यक० ४।५।१५ स एस नेति नेति।

(ङ) 'अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीर्घमलोहित" सबाह्यम्।'

—बृहदारण्यक० ३।८।८

लोकवाद : एक समीक्षा

जो आत्मवादी होता है, वह लोक-परलोक को अर्थात्—स्वर्ग, नरक तथा तिर्यञ्च और मनुष्यलोक को तो मानता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त वह लोक की सस्थिति, लोक में रहे हुए द्रव्यों के प्रति अपना दृष्टिकोण, अपना धर्म, आत्मगुणों वृद्धि के लिए लोक[1], का अवलम्बन लेने की मर्यादा, त्याग, तप इत्यादि बातो का भी गहराई से बिचार करता है। साथ ही लोकवादी यह भी विचार करता है कि नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देवलोक में उत्पन्न होने, जन्म-मरण करने के क्या-क्या कारण हैं ? मुझे अपने जीवन में कौन-से कार्य करने चाहिए, जिन से मुझे लोकगत गमनागमन से छुटकारा मिले, लोकावलम्बन न लेना पड़े, तथा जिस-जिस लोक के प्राणियो से मुझे सहयोग लेना पडा है, या पडता है, उनके उक्त ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ? इत्यादि समग्र चिन्तन करके लोकवादी तदनुरूप अपना आचार-विचार या व्यवहार करता है।

इसी सन्दर्भ में लोक से सम्बन्धित यथार्थ जानकारी भी आवश्यक है कि यह लोक, जो हमें इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, इतना ही है ? या इसके ऊपर-नीचे भी कुछ है ? अथवा इसके आगे भी कुछ है ? लोक की सीमा कहाँ से कहाँ तक है ? उसका आदि-अन्त है या नही ? है तो कब से, कब तक है ? यह लोक किस पर व्यवस्थित है ? इसके मूल में क्या है ? इस लोक का कोई कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता है या नही ? इसका संस्थापक-व्यवस्थापक कोई है या नहीं ? इसका विकास कैसे हुआ ? इस लोक में कौन-कौन से मुख्य द्रव्य है ? वे क्या-क्या कार्य करते हैं ? इस लोक से भिन्न कोई दूसरा लोक भी है या नहीं ? इत्यादि अनेकों प्रश्न हैं, जिनको यथावस्थित रूप से जानना आवश्यक है।

---

१ 'धम्मस्स णं चरमाणस्स पचठाणा निस्सिया पण्णत्ता, तं जहा—छकाया, गणे, राया, गाहावाई, सरीरं।'—धर्माचरण करने वालो को पाच वस्तुओ का आलम्बन लेना पड़ता है, वे इस प्रकार—षटकाय, गण, राजा (शासक), गृहपति और शरीर।

—स्था० स्थान ५

लोक का यथार्थ ज्ञान आत्मा से सम्बन्धित है क्योंकि लोकस्थित जीव और अजीव के गुण-धर्मों को जान लेने पर ही मुमुक्षु आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का यथार्थ आचरण एव व्यवहार कर सकता है।

लोक क्या है ?

आम जनता मे प्रचलित 'विश्व' या 'जगत्' के लिए जैनदर्शन में 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लोक का व्युत्पत्तिजनक अर्थ है—'जो अवलोकन किया—देखा जाता है वह लोक है।'[1] किन्तु यह लोक की बहुत ही स्थूल परिभाषा है।

श्रमण भगवान महावीर के युग मे लोक के सम्बन्ध मे पूर्वोक्त प्रश्नो पर गहराई से चर्चा चलती थी। विभिन्न दर्शनो और धर्मों के प्रवर्त्तको ने इन प्रश्नो का समाधान विविध रूप से किया है। आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यो की खोज मे सतत प्रयत्नशील है। तथागत बुद्ध लोक सम्बन्धी इन प्रश्नो को अव्याकृत[2] कहकर टालने का प्रयास करते थे, परन्तु भगवान् महावीर ने लोकवाद को आस्तिक्ता की आधारशिला तथा श्रुतधर्म का अग मानकर लोक सम्बन्धो सभी प्रश्नो का यथार्थ समाधान किया है।

भगवान् महावीर से उनके पट्टधर शिष्य गणधर गौतम ने जब पूछा कि 'भते! लोक किस प्रकार का है?' तब उन्होंने विभिन्न अपेक्षाओं से लोक के सम्बन्ध मे समाधान दिया—'गौतम! लोक चार प्रकार का बताया गया है—(१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक और (४) भावलोक।[3]

---

१ जे लोक्कइ से लोए— लोक्यते—विलोक्यते प्रमाणेन स लोको लोकशब्दवाच्यो भवतीति। —भगवतीसूत्र मूलवृत्ति श० ५ अ ९ सू २२५

२ तथागत बुद्ध ने १० प्रश्नो को अव्याकृत कहा—(१) लोक शाश्वत है? (२) अलोक अशाश्वत है? (३) लोक अन्तवान है? (४) लोक अनन्त है? (५) जीव और शरीर एक है? (६) जीव और शरीर भिन्न है? (७) मरने के बाद तथागत होते है? (८) मरने के बाद तथागत नही होते? (९) मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नही भी होते? (१०) मरने के बाद तथागत न होते है और न नहीं होते? —मज्झिमनिकाय चूलमालुक्यसुत्त ६३

३ (क) कतिविहे ण भते लोए पण्णत्ते?
गोयमा! चउव्विहे लोए पण्णते तंजहा—दव्वलोए खेत्तलोए काललोए भावलोए। —भगवतीसूत्र ११।१०।४२०

(ख) प्रस्तुयतेऽथ प्रकृतं स्वरूपं लोकगोचर।
द्रव्यत: क्षेत्रत: कालभावतस्तच्चतुर्विधम्॥ —लोकप्रकाश २।२

इसे हम चतुष्पक्षात्मक विश्वसिद्धान्त कह सकते हैं। द्रव्यलोक क्या है? कितने प्रकार है? द्रव्यलोक में हमारा क्या और कितना स्थान एवं दायित्व है? इस विषय में विस्तृत चर्चा हम 'अस्तिकाय धर्म' के सन्दर्भ में करेंगे। यहाँ क्षेत्रलोक और काललोक के सम्बन्ध में प्रतिपादन करेंगे। क्योंकि लोक-सम्बन्धी जितनी भी चर्चाएँ विभिन्न दार्शनिकों, पौराणिकों या धर्मप्रवर्त्तकों द्वारा हुई हैं, वे प्रायः क्षेत्रलोक और काललोक के सम्बन्ध में हुई हैं।

क्षेत्रलोक और काललोक

क्षेत्रलोक से तात्पर्य है—लोक कितने क्षेत्र या प्रदेश को घेरे हुए है? कहाँ से कहाँ तक लोकक्षेत्र की सीमा है? यह लोक किस पर टिका हुआ है? क्षेत्रलोक को किसी ने बनाया है, अथवा कोई उसका स्रष्टा, विधाता, धर्ता-हर्ता है? या यह स्वाभाविक ही है? काललोक से मतलब है—इस लोक की काल सीमा कितनी है? कब से कब तक रहेगा? लोक का आदि-अन्त है या नहीं?

हम वीतरागप्ररूपित शास्त्र की दृष्टि से इन प्रश्नों पर क्रमशः चर्चा करेंगे।

प्रायः सभी धर्मों और दर्शनों ने लोक के सम्बन्ध में चर्चा की है। नास्तिकों ने केवल इस प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक को ही माना है,[1] ऊर्ध्वलोक और अधोलोक को नहीं। परन्तु वैदिक और पौराणिक लोगों ने तीन लोक माने है। हम जहाँ रहते है, वह मध्यलोक है, उससे ऊपर ऊर्ध्वलोक है और नीचे अधोलोक है।

द्रव्यलोक की दृष्टि से जैनदर्शनसम्मत लोक की दो परिभाषाएँ मिलती है—(१) जहाँ धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों की सहस्थिति हो, और (२) जहाँ जीव और अजीव की सहस्थिति हो।[2]

एक बात निश्चित है कि लोक अलोक के बिना हो नहीं सकता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई लगाव नहीं, क्योंकि वह

---

१ 'एतावानेव लोकोऽयं यावान इन्द्रियगोचरः।' —चार्वाकदर्शन

२ (क) धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ —उत्तरा० २८।७

(ख) जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोगे से वियाहिए ॥ उत्तरा० ३६।२

सिर्फ आकाश ही आकाश है। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीवद्रव्य का वहाँ अभाव है।

लोक-अलोक की सीमा

लोक और अलोक की सीमा निर्धारण करने वाले स्थिर शाश्वत और व्यापक दो तत्त्व हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये अखण्ड आकाश को दो भागों में विभाजित करते है। ये दोनों जहाँ तक हैं वहाँ तक लोक है, और जहाँ इन दोनों का अभाव है, वहाँ अलोक है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अभाव में जीवों और पुद्गलों को गति और स्थिति में सहायता नहीं मिलती। इसलिए जीव और पुद्गल लोक में हैं, अलोक में नहीं।

लोक-अलोक का परिमाण

जैनदृष्टि से लोक ससीम है और अलोक असीम है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है, और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश।

लोक की सीमा के सम्बन्ध में विविध दार्शनिकों और पौराणिकों के निश्चित एवं यथार्थ उत्तर नहीं मिलते। गीताकार कहते हैं—'ब्रह्मलोक तक लोक है।'[1] इसी प्रकार पौराणिकों ने भी लोक की कुछ सीमाएँ बताई हैं।

भगवतीसूत्र में आर्यस्कन्दक के द्वारा लोक की सीमा के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भगवान् महावीर ने कहा—लोक, द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है, क्योंकि वह संख्या से एक है। क्षेत्र की दृष्टि से भी लोक सान्त है, क्योंकि सकल आकाश में से कुछ ही भाग लोक है और वह भी सीमित है, क्योंकि धर्म-अधर्म जो गति-स्थिति में सहायक है, वे लोकप्रमाण ही हैं, आगे नहीं। लोक की परिधि असंख्य योजन—कोड़ाकोडी की है, इसलिए क्षेत्र लोक भी सान्त है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो। लोक पहले था, वर्तमान में है, और भविष्य में भी सदा रहेगा। इसलिए काललोक भी अनन्त है। इसी प्रकार भाव अर्थात्—पर्यायों की दृष्टि से लोक अनन्त है, क्योंकि लोकद्रव्य की पर्यायें—लोक में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्यायें अनन्त हैं तथा बादर स्कन्धों की गुरुलघुपर्यायें, सूक्ष्म स्कन्धों और अमूर्त द्रव्यों की अगुरुलघु पर्यायें भी अनन्त हैं। इसलिए भाव-लोक भी अनन्त है।[2]

---

१ आब्रह्म भुवनाल्लोकाः। —भगवद्गीता अ. ८, श्लो. १६

२ भगवतीसूत्र २।१।९०

महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने भी क्षेत्र-लोक की सीमा इसी से मिलती-जुलती मानी है—"लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर जा नही सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है, जो गति मे सहायक होती है।"

लोक का संस्थान (आकार)

लोक का आकार सुप्रतिष्ठक—संस्थान बताया है। अर्थात्—वह नीचे विस्तृत मध्य मे सकीर्ण और ऊपर मृदगाकार है। तीन शरावो (सकोरो) मे से एक शराव औधा रखा जाए दूसरा सीधा और तीसरा उसी के ऊपर औधा रखा जाए तो जो आकृति बनती है वही आकृति (त्रिशराव-सम्पुटाकृति) लोक की है। अलोक का आकार मध्य मे पोल वाले गोले के जैसा है।[1]

अलोक का कोई भी विभाग नही है वह एकाकार है। लोकाकाश तीन भागो मे विभक्त है—ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक।[2] तीनो लोको की कुल लम्बाई १४ रज्जू है जिसमे से सात रज्जू से कुछ कम ऊर्ध्वलोक है मध्यलोक १८०० योजनपरिमाण है और अधोलोक सात रज्जू मे कुछ अधिक है।

लोक को इन तीन विभागो मे विभक्त कर देने के कारण उन तीनो की पृथक्-पृथक आकृतियाँ बनती है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कही पर फैले हुए और कही सकुचित है। ऊर्ध्वलोक मे धर्म-अधर्मास्तिकाय विस्तृत हो चले गए है। इस कारण ऊर्ध्वलोक का आकार मृदग-सदृश है, और मध्यलोक मे वे कृश हैं इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान है। नीचे की ओर फिर वे विस्तृत होते चले गए है। इसलिए अधोलोक का आकार औधे शराव के जैसा बनता है। यह लोकाकाश की ऊँचाई हुई। उसकी मोटाई सात रज्जू की है।[3]

लोक कितना बड़ा है ?

लोक की मोटाई भगवान् महावीर ने एक रूपक द्वारा समझाई है—

१ किं संठिए णं भंते लोए पण्णत्ते ? गोयमा ! सुपइट्ठगसंठिए लोए पण्णत्ते तंजहा—हेट्ठाविच्छिण्णे उप्पिमज्झे संखित्तविसाले अहे पलियंकसंठिए मज्झे वरवइरविग्गहिते उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिए।' —भगवती० ७।१।२६०

२ भगवतीसूत्र ११।१०

३ भगवतीसूत्र ११।६१

मान लो, एक देव मेरुपर्वत की चूलिका पर खड़ा है, जो एक लाख योजन की ऊँचाई पर है। नीचे चारो दिशाओ मे चार दिक्कुमारियाँ हाथ मे बलिपिण्ड लिए खड़ी है। वे बहिर्मुखी होकर एक साथ उस बलिपिण्ड को फेंकती है। देव उन चारो बलिपिण्डो को पृथ्वी पर गिरने से पूर्व ही हाथ से पकड लेता है और तत्काल दौडता है। ऐसी दिव्य शीघ्रगति से लोक का अन्त पाने के लिए ६ देव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नीची इन छहो दिशाओ मे चले। ठीक इसी समय एक श्रेष्ठी के घर मे एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र पैदा हुआ। उसकी आयु समाप्त हुई। उसके पश्चात् हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार की परम्परा से सात पीढियाँ समाप्त हो गई है। उनके नाम-गोत्र भी मिट गए। तथापि वे देव तब तक चलते रहे फिर भी लोक का अन्त न पा सके। यह ठीक है कि उन शीघ्रगामी देवो ने लोक का अधिक भाग तय कर लिया, परन्तु जो भाग शेष रहा वह असख्यातवाँ भाग है। इससे यह समझा जा सकता है कि लोक का आयतन कितना बडा है।'[1]

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड अस्सी लाख प्रकाश वर्ष माना है।[2]

लोक के आयतन को पूर्वोक्त रूपक द्वारा समझने के पश्चात् भी गौतम स्वामी की जिज्ञासा पूर्ण रूप से शान्त न हुई। भन्ते! यह लोक कितना बडा है?' गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान महावीर ने कहा— गौतम! यह लोक बहुत बडा है। यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण तथा ऊर्ध्व और अधो दिशाओ मे असंख्यात योजन कोटाकोटी लम्बा चौडा है।[3]

ऊर्ध्वलोक-परिचय

मध्यलोक से ९०० योजन ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। उसमें देवो का निवास है। इसलिए उसे देवलोक या स्वर्गलोक कहते हैं।

---

१ भगवतीसूत्र १२।१०।४२१ वृत्ति

२ एक प्रकाशवर्ष उस दूरी को कहते हैं, जो प्रकाश की किरण १८६००० मील प्रति सैकण्ड के हिसाब से चलकर एक वर्ष मे तय करती है। —सपादक

३ के महालए णं भंते! लोए पण्णत्ते? गोयमा! महति महालए लोए पण्णत्ते, पुरत्थिमे ण असंखेज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ दाहिणेणं असंखिज्जाओ एव पच्चत्थिमेणवि एव उत्तरेण वि एवं उड्ढंपि अहे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं। —भगवतीसूत्र, १२।७।४५७

देव चार प्रकार के होते हैं—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इस ऊर्ध्वलोक में कल्पोपपन्न और कल्पातीत, यों दो प्रकार के वैमानिकदेव ही रहते हैं। जिन देवलोकों में इन्द्र, सामानिक आदि पद होते हैं वे कल्प के नाम से प्रसिद्ध हैं। कल्पों (बारह देवलोकों) में उत्पन्न देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं, और कल्पों (बारह देवलोकों) से ऊपर के (नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानवर्ती) देव कल्पातीत कहलाते है। कल्पातीत देवों में किसी प्रकार की असमानता नहीं होती। वे सभी इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। किसी कारणवश मनुष्यलोक में आने का प्रसंग उपस्थित होने पर कल्पोपपन्न देव ही आते हैं, कल्पातीत नही। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है।

इससे बारह योजन ऊपर सिद्धशिला है, जो ४५ लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुनी है। मध्यभाग में इसकी मोटाई आठ योजन है, जो क्रमशः किनारों की ओर पतली होती हुई अन्त में मक्खी की पांख से भी अधिक पतली हो गई है। इसका आकार खोले हुए छत्र के समान है। शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान स्वभावतः श्वेत, निर्मल, कल्याणकर एवं स्वर्णमयी होने से इसे 'सीता' भी कहते हैं। 'ईषत् प्राग्भारा' नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इससे एक योजन प्रमाण ऊपर वाले क्षेत्र को 'लोकान्तभाग' भी कहते है। उत्तराध्ययन में इस लोकान्त को 'लोकाग्र' भी कहा है; क्योंकि वह लोक का अन्त या सिरा है, इसके पश्चात् लोक की सीमा समाप्त हो जाती है।[1] इस योजन प्रमाण लोकान्त भाग के ऊपरी कोस के छठे भाग में मुक्त (सिद्ध) आत्माओं का निवास है।

मध्यलोक का परिचय

मध्यलोक को तिर्यक्लोक या मनुष्यलोक भी कहा है।[2] यह १८०० योजन प्रमाण है। इस लोक के मध्य में जंबूद्वीप है और उसे घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र है। ये सभी परस्पर एक दूसरे को वलय (चूड़ी) के आकार में घेरे हुए हैं। इसमें प्रायः पशुओं और वाणव्यन्तर देवो के स्थान हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढाई द्वीपों में ही मनुष्यों का निवास है।[3] मनुष्यों के साथ-साथ तिर्यञ्चों का भी इसमें निवास है। अढाई द्वीप को 'समयक्षेत्र' भी

---

१ उत्तराध्ययन, ३६।५६ से ६२ तक

२ उत्तराध्ययन ३६।५०, ५४

३ 'प्राक् मानुषोत्तरान्मनुष्याः' —तत्त्वार्थ० ३।३५

कहते हैं।[1] इन अढाई द्वीपों की रचना एक सरीखी है। अन्तर केवल इतना ही है कि इनका क्षेत्र क्रमशः दुगुना-दुगुना होता गया है। पुष्करद्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत आ जाने से मनुष्यक्षेत्र में आधा पुष्करद्वीप ही गिना गया है।

जम्बूद्वीप मे सात मुख्य क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत।[2] विदेह क्षेत्र में दो अन्य प्रमुख भाग हैं—देवकुरु और उत्तरकुरु। धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप में इन सभी क्षेत्रों की दुगुनी-दुगुनी संख्या है। ये सभी क्षेत्र तीन भागों में विभक्त हैं—कर्मभूमि, अकर्म-भूमि और अन्तरद्वीप।[3]

कर्मभूमिक क्षेत्र वे हैं, जहाँ मानव कृषि, वाणिज्य, शिल्पकला आदि कर्मों (पुरुषार्थ) के द्वारा जीवन यापन करते हैं। कर्मभूमिक क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट पुण्यात्मा और निम्नातिनिम्न पापात्मा दोनों प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं।

कर्मभूमिक क्षेत्र १५ हैं—५ भरत हैं, जिनमें से जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध-द्वीप में दो हैं। इसी तरह ५ ऐरावत हैं—जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्धद्वीप में दो; तथा महाविदेह भी पाँच हैं—एक जम्बूद्वीप में, दो धातकीखण्ड में और दो पुष्करार्द्ध-द्वीप में हैं। यों अढाई द्वीपों में कर्मभूमि के सब क्षेत्र पन्द्रह हैं।

अकर्मभूमिक क्षेत्र वे हैं, जहाँ कृषि आदि कर्म किये बिना, अनायास ही भोगोपभोग की सामग्री मिल जाती है; जीवननिर्वाह के लिए कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। यहाँ भोगों—भोग्यसामग्री की प्रचुरता होने से यह भोगभूमि भी कहलाती है। जम्बूद्वीप में एक हैमवत, एक हरिवर्ष, एक रम्यकवर्ष, एक हैरण्यवत, एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु, यों छह भोगभूमिक क्षेत्र हैं। धातकीखण्ड और पुष्करार्द्धद्वीप में इनके प्रत्येक के दो-दो क्षेत्र होने से दोनों द्वीपों में बारह-बारह क्षेत्र हैं। यों सब मिलाकर अकर्मभूमि के ३० क्षेत्र होते हैं।

अन्तरद्वीप—कर्मभूमि और अकर्मभूमि के अतिरिक्त जो समुद्र के मध्यवर्ती द्वीप बच जाते हैं, वे अन्तरद्वीप कहलाते हैं। जम्बूद्वीप के चारों

---

१ उत्तराध्ययन ३६।७

२ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि। —तत्त्वार्थसूत्र ३।१०

३ उत्तराध्ययन ३६।१९५-१९६

और विस्तृत लवणसमुद्र में हिमवान् पर्वत की दाढाओ पर अट्ठाइस अन्तरद्वीप है; जो सात चतुष्को में विद्यमान है। इनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

प्रथम चतुष्क—एकोरुक आभाषिक, लागूलिक, वैमाणिक।
द्वितीय चतुष्क—हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण और शष्कुलीकर्ण।
तृतीय चतुष्क—आदर्शमुख, मेषमुख, हयमुख और गजमुख।
चतुर्थ चतुष्क—अश्वमुख हस्तिमुख सिंहमुख और व्याघ्रमुख।
पंचम चतुष्क—अश्वकर्ण सिंहकर्ण गजकर्ण और कर्णप्रावरण।
षष्ठ चतुष्क—उल्कामुख विद्युन्मुख जिह्वामुख और मेघमुख।
सप्तम चतुष्क—घनदन्त, गूढदन्त, श्रेष्ठदन्त और शुद्धदन्त।

इसी प्रकार शिखरीपर्वत की दाढाओ पर भी इन्ही नाम के २८ अन्तर द्वीप है। यो सब मिलाकर ५६ अन्तरद्वीप होते है। इन अन्तरद्वीपो मे मनुष्यो का निवास है।

आधुनिक विज्ञान ने जितने भूखण्ड का अन्वेषण किया है, वह तो केवल कर्मभूमि के जम्बूद्वीपस्थित भरतक्षेत्र का छोटा-सा ही भाग है। मध्यलोक तो अकर्मभूमिक और अन्तरद्वीप के क्षेत्रो को मिलाने पर बहुत ही विशाल है, फिर भी ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल अत्यल्प ही माना जायगा।

ज्योतिष्क देवलोक—मध्यलोकवर्ती जम्बूद्वीप के सुदर्शनमेरु के समीप की समतलभूमि से ७६० योजन ऊपर तारामण्डल है, जहाँ आधा कोस लम्बे-चौडे और पाव कोस ऊँचे तारा विमान है।

तारामण्डल से १० योजन पर ऊपर एक योजन के ६१ भाग मे से ४८ भाग लम्बा-चौडा और २४ भाग ऊँचा, अकरत्नमय सूर्यदेव का विमान है।

सूर्यदेव के विमान से ८० योजन ऊपर एक योजन के ६१ भाग मे से ५६ भाग लम्बा-चौडा और २८ भाग ऊँचा स्फटिकरत्नमय चन्द्रमा का विमान है।

चन्द्रविमान से ४ योजन ऊपर नक्षत्र माला है। इनके रत्नमय पचरंगे विमान एक-एक कोस के लम्बे-चौडे और आधे कोस के ऊँचे है।

नक्षत्रमाला से ४ योजन ऊपर ग्रहमाला है। ग्रहों के विमान पंचवर्णी रत्नमय हैं। ये दो कोस लम्बे-चौडे और एक कोस ऊँचे हैं।

ग्रहमाला से चार योजन की ऊँचाई पर हरितरत्नमय बुध का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर स्फटिकरत्नमय शुक्र का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर पीतरत्नमय बृहस्पति का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर रक्तरत्नमय मंगल का तारा है। इससे तीन योजन ऊपर जाम्बूनदमय शनि का तारा है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र मध्यलोक मे ही है, और समतल भूमि से ७९० योजन की ऊँचाई से आरम्भ होकर ९०० योजन तक अर्थात् ११० योजन मे स्थित है। ज्योतिष्क देवों के विमान जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से ११२१ याजन दूर चारो ओर घूमते रहते है।

अधोलोक परिचय

मध्य लोक से नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमें सात नरक पृथ्वियाँ है जा रत्नप्रभा आदि सात नामो से विश्रुत हैं। इनमे नारक जीव रहते हैं। इन सातो भूमियो की लम्बाई-चौड़ाई एक-सी नही है। नीचे-नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर को भूमियो से उत्तरोत्तर अधिक लम्बी-चौडी हैं। ये भूमियाँ एक दूसरो के नीचे हैं, किन्तु परस्पर सटी हुई नही है। बीच-बीच मे अन्तराल (खाली जगह) है। इस अन्तराल में घनोदधि, घनवात और आकाश है। अधोलोक को सात भूमियो के नाम इस प्रकार है—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पकप्रभा धूमप्रभा तम प्रभा और तमस्तम प्रभा। इनके नाम के साथ जो प्रभा शब्द जुड़ा हुआ है वह इनके रग को अभिव्यक्त करता है।[1]

सात नरक पृथ्वियो की मोटाई इस प्रकार है—

रत्नप्रभापृथ्वी के तीन काण्ड हैं—पहला रत्नबहुल खरकाण्ड है, जिसकी ऊपर से नीचे तक की मोटाई १६००० योजन है। उसके नीचे दूसरा काण्ड पकबहुल है जिसकी मोटाई ८०००० योजन है और उसके नीचे तृतीय काण्ड जलबहुल है, जिसकी मोटाई ८४००० योजन है। इस प्रकार तीनों काण्डो की कुल मिलाकर मोटाई १,८०००० योजन है।

इसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर बीच मे १७८००० योजन का अन्तराल है, जिसमे १३ पाथड़े, और १२ अन्तर हैं। बीच के १० अन्तरो में असुरकुमार आदि इस प्रकार के भवनपतिदेव रहते हैं। प्रत्येक पाथड़े के मध्य मे एक हजार योजन की पोलार है, जिसमे तीस

1 रत्नशर्करा-बालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः पृथुतराः। तासु नरकाः। —तत्त्वार्थ० अ० ३, सूत्र १-२

लाख नारकावास हैं। दूसरी नरक पृथ्वी की मोटाई १,३२००० योजन है। तीसरी नरकपृथ्वी की मोटाई १,२८००० योजन है। चतुर्थ नरकभूमि की मोटाई १,२०००० योजन है; पांचवीं नरकभूमि की मोटाई १,१८००० योजन है, छठी नरकभूमि की मोटाई १,१६००० योजन है और सातवीं नरकपृथ्वी की मोटाई १,०८००० योजन है। सातों नरकों के नीचे जो घनोदधि है, उसकी मोटाई भी विभिन्न प्रमाणों में है।[1]

रत्नप्रभा आदि की जितनी-जितनी मोटाई बताई गई है, उस-उस के ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में नारकावास है।

इन सातो नरकभूमियो मे रहने वाले जीव नारक कहलाते है। ज्यों-ज्यों नीचे की नरकभूमियों में जाते है, त्यों-त्यों नारक जीवों में कुरूपता, भयंकरता, बेडौलपन आदि विकार बढ़ते जाते है।

नरकभूमियों में तीन प्रकार की वेदनाएँ प्रधानरूप से नारकों को होती हैं—(१) परमाधार्मिक असुरों (नरकपालों) द्वारा दी जाने वाली वेदनाएँ, (२) क्षेत्रकृत—अर्थात्—नरक की भूमियाँ अत्यन्त खून और रस्सी से लथपथ कीचड़ वाली अत्यन्त ठण्डी या अत्यन्त गर्म होती है, इत्यादि कारणों से होने वाली वेदनाएँ। (३) नारकी जीवों द्वारा परस्पर एक दूसरे को पहुँचाई जाने वाली वेदनाएँ।

परमाधार्मिक असुर (देव) तीसरे नरक तक ही जाते है। उनका स्वभाव अत्यन्त क्रूर होता है। वे सदैव पापकर्म में रत रहते हैं, दूसरों को कष्ट देने में उन्हें आनन्दानुभव होता है। नारकों को वे अत्यन्त कष्ट देते हैं। वे उन्हें गर्मागर्म शीशा पिलाते हैं, गाड़ियो में जोतते है, अतिभार लादते हैं, गर्म लोहस्तम्भ का स्पर्श करवाते हैं और कांटेदार झाड़ियों पर चढ़ने-उतरने को बाध्य करते है।

आगे की चार नरकभूमियों में दो ही प्रकार की वेदनाएँ होती हैं। परन्तु पहली से सातवीं नरकभूमि तक उत्तरोत्तर अधिकाधिक वेदना होती है। वे मन ही मन संक्लेश पाते रहते हैं। एक दूसरे को देखते ही उनमें क्रोधाग्नि भड़क उठती है। पूर्वजीवन के वैर का स्मरण करके एक दूसरे पर क्रूरतापूर्वक झपट पड़ते हैं।[2] वे अपने ही द्वारा बनाये हुए शस्त्रास्त्रों, या

---

१ सर्वार्थसिद्धि ३।१

२ नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेह वेदना विक्रियाः। परस्परोदीरितदुःखाः। संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः। —तत्त्वार्थ० ३।३-४-५

हाथ-पैरो, दातो आदि से एक दूसरे को क्षत-विक्षत कर डालते हैं। उनका शरीर वैक्रिय होता है। वह पारे के समान पूर्ववत् जुड जाता है। नारको की अकाल मृत्यु नही होती। जिसका जितना आयुष्य है, उसे पूरा करके ही वे इस शरीर से छुटकारा पा सकते है।

सक्षेप मे इस प्रकार की क्षेत्रलोक की दृष्टि से तीनो लोको की रचना है।

अलोकाकाश—इस लोक की सीमा के चारो ओर असीम अलोकाकाश है।

काललोक

विश्व काल की दृष्टि से

यह पहले बताया जा चुका है विश्व (लोक) द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से शाश्वत है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से यह परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है। क्योकि विश्व षड्द्रव्यात्मक माना गया है, षड्द्रव्यो मे होने वाले *परिणमन से विश्व को अशाश्वत भी मानना चाहिए।* इसी कारण यह परिणामी-नित्य माना गया है।

तात्पर्य यह है कि विश्व षड्द्रव्यो का समूहमात्र है। अत विश्व की शाश्वतता-अशाश्वतता को समझने के लिए षड्द्रव्यो की शाश्वतता-अशाश्वतता का विश्लेषण समझना आवश्यक है। छहो ही द्रव्य कब, कैसे किससे अस्तित्व मे आए ? इन प्रश्नो का समाधान 'अनादि' अस्तित्व के मानने से ही हो सकता है। जो दार्शनिक द्रव्यो को 'सादि' मानते हैं, उनके लिए ये (पूर्वोक्त प्रश्नात्मक) समस्याएँ बनी रहती हैं। किन्तु जो द्रव्यो के अस्तित्व को अनादि मानते है उनके लिए ये प्रश्न उठते ही नही। फिर द्रव्यो के अस्तित्व को सादि मानने पर असत् से सत् की उत्पत्ति माननी पडती है, जो कार्यकारणवाद[1] के साथ संगत नही होती, क्योकि उपादान-कारण यदि असत् होता है तो कार्य सत् नही हो सकता। इसीलिए उपादान की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नही मानते। अत द्रव्यो का अस्तित्व अनादि सिद्ध हो जाता है।[2]

यद्यपि षड्द्रव्यो मे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्यो मे स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। इस परिणमन के कारण ही ये द्रव्य शाश्वतकाल तक अपने अस्तित्व को बनाए रखते है। अत परिणामी-

---

१ जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व भा० १, पृ० ४१८

२ वही, भाग २, पृ० ८१

नित्यत्ववाद इन द्रव्यों के अस्तित्व को अनादि अनन्त सिद्ध कर देता है। जब छहों द्रव्य अस्तित्व की दृष्टि से अनादि-अनन्त सिद्ध हो जाते हैं तो विश्व की शाश्वतता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

यही कारण है कि स्थानांगसूत्र में पंचास्तिकाय को ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य बताकर समग्र लोक को भी स्वतः ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य बताया है। दूसरे शब्दों में, यह विश्व भूतकाल में विद्यमान था, वर्तमानकाल में विद्यमान है, और भविष्य में भी विद्यमान रहेगा। वह न तो कभी बनाया गया, न कभी विनाश को प्राप्त होगा।[1] अतः काल की दृष्टि से लोक आदिरहित और अन्तरहित है।

जब भगवान् महावीर से उनके विनीत शिष्य रोहगुप्त द्वारा पूछा गया—"भगवन् ! पहले लोक हुआ और फिर अलोक हुआ ? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक हुआ ?" तब भगवान् ने समाधान किया—"रोह ! लोक और अलोक ये दोनों पहले से है और पीछे भी रहेंगे। अनादिकाल से हैं, और अनन्तकाल तक रहेंगे। दोनों शाश्वतभाव है, अनानुपूर्वी है। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का) क्रम नहीं है।[2]

विश्व किसी के द्वारा निर्मित या अनिर्मित

प्राचीनकाल में वैदिक युग भारत में मनुष्यों का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक था। वह प्रकृति को ही 'देव' मानता था। उस वर्ग का कथन था कि यह विश्व देव द्वारा बीज की तरह बोया गया (किसी स्त्री में वीर्य डाला गया); अथवा देव द्वारा रक्षित या कृत विश्व है और उससे मनुष्य या दूसरे प्राणी आदि हुए, इसके प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् आदि में मिलते है।

कोई प्रजापति ब्रह्मा द्वारा विश्व की रचना मानते है। इसके प्रमाण भी उपनिषदों में मिलते हैं।[3]

---

१ (क) स्थानांगसूत्र ५-३-४४१, (ख) लोकप्रकाश २-३
(ग) कालओ, धुवे, णितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, णिच्चे।
—स्थानांग ५।३।४४१

२ (क) भगवतीसूत्र १।६, १२।७, ७।१, २।१
(ख) स च अनादि-निधनः न केनाऽपि पुरुष विशेषेणकृतो, न हृतो....।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह वृत्ति, गा० २०, पृ० ५१

३ (क) सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० १, अ० १, उ० ३, गा० ६४-६९ (क्रमशः)

वैदिक पुराणो में ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना का रोचक वर्णन भी है। कोई स्वयम्भू या विष्णु को जगत् का रचयिता मानते हैं।

उस युग मे ईश्वर कर्तृत्ववादी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक।

वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्म) को जगत् का उपादान कारण एव निमित्त कारण मानते है। बृहदारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् मे इसके प्रमाण मिलते है। ब्रह्मसूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ईश्वर से ही माना गया है।

नैयायिक इस चराचर सृष्टि का निर्माणकर्ता और सहारकर्ता महेश्वर को मानते हैं। वैशेषिक भी लगभग इसी प्रकार ईश्वर को जगत्कर्ता सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, स्वाधीन और सर्वशक्तिमान मानते हैं।[1]

साख्यमतवादी प्रधान (प्रकृति) को जगत् का कर्ता मानते है।

कई लोग जगत् की माया, यमराज द्वारा रचित मानते हैं।

(ख) छान्दोग्योपनिषद्, खण्ड १२ से १८, अ० ५

(ग) ऐतरेयोपनिषद् प्रथम खण्ड

(घ) हिरण्यगर्भ समवर्तताऽग्रे, स ऐक्षत,…… तत्तेजोऽसृजत।

—छान्दोग्य, खण्ड २, श्लोक ३

(ङ) ॐ ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता।……

—मुण्डक० खण्ड १, श्लोक १

(च) सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय …सर्वमसृजत —तैत्तिरीय० अनुवाक् ६

(छ) प्रजाकामो वै प्रजापति … प्रजा करिष्ये।

—प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, श्लोक ४६

(ज) स वै नैव रेमे, तस्मादेकामी……तत सृष्टिरभवत्।

—बृहदारण्यक ब्रा ४, सू ३-४

१ (क) आसीदिद तमोभूत……मिला पुन सर्वबीजानाम्। —वैदिकपुराण

(ख) सूत्रकृताग शीलांक वृत्ति, पत्राक ४२,

(ग) ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव………तदेतद्ब्रह्म क्षत्रिय-विट्-शूद्रः।

—बृहदा० अ० १ ब्रा० ४

(घ) यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।

—तैत्तिरीय० ३, भृगुवल्ली

(ङ) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैव अमूर्त च —बृहदा० ३।२, ब्रा० ३।१

(च) जन्माद्यस्य यत —ब्रह्मसूत्र १।१।१

प्राचीन काल में एक मत अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानता था। उसकी मान्यतानुसार जगत् की उत्पत्ति की प्रक्रिया बहुत ही विचित्र है।[1]

ये सब जगत् कर्तृत्ववादी अपने-अपने मत को सिद्ध करने के लिए विभिन्न तर्क प्रस्तुत करते है।

उनके मुख्य-मुख्य तर्क ये हैं—

(१) प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है। इस विशाल विश्व रूप कार्य का भी कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। यह विचित्र जगत किसी न किसी कुशल, सर्वशक्तिमान, बुद्धिमान कर्ता द्वारा रचित होना चाहिए। वह कुशल, शक्तिमान, बुद्धिमान जगत्कर्ता देव, ब्रह्मा, स्वयम्भू, विष्णु, महेश्वर, ईश्वर या प्रकृति आदि अवश्य है।

(२) ये विशाल भूखण्ड, किसके कुशल एव सशक्त हाथो की कृति है? ये उत्तुंग शिखर वाले पर्वत किसके द्वारा रचित हैं? यह आकाश किसके कौशल का परिचय दे रहा है? ये असंख्य तारे, नक्षत्र आदि किसके कर्तृत्व से सम्पन्न है? इस चमकते हुए सूर्य और शान्ति बरसाते हुए चन्द्र का निर्माता कौन है? ये उत्तुंग तरंगो से उछलते-गरजते हुए समुद्र किसकी कृति है? प्रकृति के कण-कण के भाग्य विधाता मनुष्य का स्रष्टा कौन है? किसने इन सबका व्यवस्थित आयोजन किया है? कौन इन सबको धारण किये हुए है।[2]

इन सब प्रश्नो का समाधान जैनदर्शन ने दिया है कि जगत् का बनाने वाला ब्रह्मा आदि कोई भी कर्ता दृष्टिगोचर नही है। निरंजन-निराकार अमूर्त ईश्वर तो जगत् जैसे मूर्त पदार्थ को नहीं बना सकता। यदि कहें कि ईश्वर ने जगत् की स्थिति बिगड़ती देखकर दया करके जगत् में अवतार लिया और सृष्टि की रचना की।[3] परन्तु यह बात भी न्यायसंगत नही लगती, क्योंकि प्रश्न होता है—यदि ईश्वर ने जगत् को बनाया है तो किस उपादान सामग्री से बनाया? कोई भी कुम्हार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता। यदि कहें कि ईश्वर ने अपने आप से ही जगत् की रचना की है, वह स्वयं ही नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव या पर्वत, भूखण्ड, समुद्र आदि

---

१ मनुस्मृति अ० १

२ कर्तास्ति कश्चिद् जगत् सचैक: स सर्वग: स स्ववश: स नित्य।—स्याद्वादमंजरी
कार्यायोजनधृत्यादे —न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तत्त्वदीपिका

३ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत? —गीता ४।७

रूप विश्व हुआ है तब प्रश्न होता है—उसे ईश्वर रूप छोडकर जगत् रूप धारण करके जन्म-मरण के प्रपच मे—संसार के कीचड में पड़ने की क्यो आवश्यकता पड़ी। रागद्वेषमुक्त ईश्वर को पुन रागद्वेषयुक्त बनना जगत् को विषम बनाना, चोर डाकू हत्यारे आदि पैदा करके जगत् को पापियो से भरना, सर्वशक्तिमान होते हुए भी चोरी, जारी, लूटपाट, भ्रष्टाचार इत्यादि न रोक सकना ये सब आक्षेप ईश्वर पर आते है।

इन्ही सब दृष्टियो से भगवद्गीताकार ने स्पष्ट कह दिया—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥[1]

अर्थात—ईश्वर या कोई भी शक्ति लोक की रचना नही करता, और न ही किसी के कर्मों का सृजन करता है। तथा (जगत् के जीवो को) कर्मफल का सयोग भी ईश्वर नही कराता। यह लोक तो स्वभावत प्रवृत्त हो (चल) रहा है।

जैनदर्शन ने तो पहले से ही स्पष्ट कह दिया—यह विश्व किसी भी सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा रचित नही है। यह अनादि काल से स्वय स्वभाव से ही इसी रूप मे आ रहा है। पुद्गलादि द्रव्यो का परिणमन स्वत होता रहता है। जीवो को अपने-अपने कर्मानुसार स्वय फल मिलता है, जो उन्हे भोगना ही पडता है। अगर ईश्वर को जगत् (जगद्वर्ती जीव-अजीव) का कर्ता माना जाएगा तो जीवो का स्वयं कर्तृत्व नही रहेगा। शुभाशुभ कर्म भी ईश्वर ही कराएगा कर्मों से मुक्ति भी ईश्वर ही दिलाएगा और उन कर्मों का फल भी ईश्वर ही भोगवाएगा। फिर क्या जरूरत है किसो को महाव्रत-अणुव्रत आदि पालन करने की ? तप-जप करने की भी क्या आवश्यकता है ? ईश्वर को प्रसन्न कर देने से ही वह बेडा पार कर देगा।

जैनदर्शन ईश्वर को मानता अवश्य है लेकिन उसे जगत् का कर्ता-धर्ता-सहर्ता मानने को वह कतई तैयार नही। दूसरे शब्दो मे, जैनदर्शन अकर्तृत्ववादी है।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर को विश्व का कर्ता-धर्ता माना जाएगा तो सर्वप्रथम ये ज्वलन्त प्रश्न खडे होगे कि ईश्वर ने विश्व को क्यो कब, किसलिए बनाया ? ये प्रश्न इतने दूरगामी हैं कि इन प्रश्नो मे से प्रति-प्रश्न, अनवस्था, उपादानहानि आदि कई दोष उत्पन्न होगे।

---

१ भगवद्गीता ५।१४

जगत् किसी के द्वारा कृत मानते हो, उसकी आदि और अन्त मानना होगा जो उपादानादि कार्यकारणभाव के सिद्धान्तविरुद्ध होगा। इसीलिए जैनदर्शन विश्व को किसी के द्वारा किया हुआ और सादि-सान्त नहीं मान कर स्वाभाविक एवं अनादि-अनन्त मानता है।

विश्व-स्थिति के मूलसूत्र

स्थानागसूत्र मे इसी सन्दर्भ मे विश्वस्थिति की आधारभूत दस बातें बताई गई हैं—

(१) **पुनर्जन्म**—संसारी जीव मर कर बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) **कर्मबन्ध**—संसारी जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बाँधते हैं।

(३) **मोहनीय कर्मबन्ध**—संसारी जीव सदैव प्रवाहरूप से अनादिकाल से सतत मोहनीयकर्म बाँधते है।

(४) **जीव अजीव का अत्यन्ताभाव**—ऐसा न तो कभी हुआ है, न सम्भव है और न ही भविष्य मे होगा कि जीव अजीव हो जाए या अजीव जीव हो जाए।

(५) **त्रस-स्थावर-अविच्छेद**—ऐसा न तो कभी हुआ है, न वर्तमान मे होता है और न ही भविष्य मे होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएँ अथवा सभी स्थावरजीव त्रस हो जाएँ या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएँ।

(६) **लोकालोक पृथक्त्व**—ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न ही भविष्य में होगा कि लोक अलोक हो जाए।

(७) **लोकालोक अन्योन्याऽप्रवेश**—ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न ही भविष्य में कभी होगा कि लोक अलोक में प्रविष्ट हो जाए या अलोक लोक में प्रविष्ट हो जाए।

(८) **लोक और जीवों का आधार-आधेय-सम्बन्ध**—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव है, और जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) **लोकमर्यादा**—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र लोक है और जितना क्षेत्र लोक है, उतने क्षेत्र में ही जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) **अलोकगति-कारणभाव**—लोक के समस्त अन्तिम भागो में आबद्ध पार्श्व—स्पष्ट पुद्गल है। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं

वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित-सुश्लिष्ट नहीं होते। अतः जीव लोक के बाहर अलोक में गति नहीं कर सकते।[1]

लोक की संस्थिति

इस लोक (सृष्टि या जगत्) की स्थिति के विषय में कई मतभेद चले आ रहे हैं। कई पौराणिक कहते हैं कि यह सृष्टि (पृथ्वी) गाय के सींग पर टिकी हुई है। कई इसे शेषनाग के फन पर टिकी हुई मानते हैं। वैष्णव लोग विष्णु के आधार पर विश्व मानते हैं—**जगदाधार विष्णुपदं**। कई अन्य प्रकार की कल्पना करते हैं। परन्तु यह सब कल्पनाएँ युक्तिसंगत नहीं हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य का एक संवाद आता है जो इस विषय से सम्बन्धित है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"यह विश्व जल के आधार पर है किन्तु जल किसके आधार पर है ?"

"गार्गी ! वायु के।"

'वायु किसके आधार पर है ?"

अन्तरिक्ष के, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक के गन्धर्वलोक आदित्यलोक के, आदित्यलोक चन्द्रलोक के चन्द्रलोक नक्षत्रलोक के नक्षत्रलोक देवलोक के, देवलोक इन्द्रलोक के, इन्द्रलोक प्रजापति-लोक के और प्रजापतिलोक ब्रह्म-लोक के आधार पर अवस्थित है।

गार्गी ने पूछा— ब्रह्मलोक किसके आधार पर स्थित है, ऋषिवर !'

याज्ञवल्क्य—यह अतिप्रश्न है गार्गी ! तू इस प्रकार के प्रश्न मत कर, अन्यथा तेरा सिर कटकर गिर पड़ेगा।[2]

परन्तु जैनशास्त्रों में इस प्रकार की बात नहीं है। भगवान् महावीर से जो भी प्रश्न पूछा गया है उसका उन्होंने स्पष्ट एवं अनेकान्त—सापेक्ष दृष्टि से उत्तर दिया है। भगवती-सूत्र में इस विषय में भगवान् महावीर और गौतम स्वामी का संवाद अंकित है। वह पूछा गया है—भंते ! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है ? उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम ! लोक-स्थिति आठ प्रकार की है—(१) वायु आकाश पर टिकी हुई है (२) समुद्र वायु पर टिका हुआ है, (३) पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है, (४) त्रस-स्थावर पृथ्वी पर टिके हुए हैं, (५) अजीव जीव के आश्रित है, (६) सकर्म जीव कर्म

---

१ स्थानांगसूत्र स्था० १०।१

२ बृहदारण्यक उपनिषद् ३।६।१

के आश्रित है, (७) अजीव जीवों द्वारा संगृहीत है, और (८) जीव कर्म-संगृहीत हैं।[1]

इससे स्पष्ट है कि विश्व के आधारभूत आकाश, वायु, जल और पृथ्वी, ये चार अंग हैं, जिनके आधार पर विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था निर्मित हुई है। संसारी जीव और पुद्गल (जड) दोनों आधार-आधेय भाव एवं संग्राह्य-संग्राहकभाव से रहे हुए है। जीव आधार है, शरीर उसका आधेय है। कर्म संसारी जीव का आधार है, और संसारी जीवकर्म का आधेय है। कर्मबद्ध जीव ही शरीरयुक्त होता है। गमनागमन, भाषण, चिन्तन-मनन आदि सभी क्रियाएँ कर्मबद्ध जीव की होती है।

आस्तिक्य का आधार लोकवाद

प्रस्तुत लोकवाद का जिनोक्त दृष्टि से ज्ञान तथा मनन-चिन्तन करने पर एक बात स्पष्ट होती है कि लोक के विषय में स्पष्ट ज्ञान न होने से श्रुतधर्म-चारित्रधर्म का आराधक व्यक्ति स्वयं कर्तृत्व के पुरुषार्थ से भटक-कर ईश्वर, ब्रह्मा, देव या किसी अदृश्य शक्ति के हाथ का खिलौना बन सकता है। फिर पूर्वजन्मकृत कर्मों को काटने के लिए धर्माचरण मे पुरुषार्थ न करके ऐसी ही किसी अदृश्य शक्ति का आश्रित बन जाता है। उसकी कृपा की आकांक्षा करने लगता है। अपने पुरुषार्थ से हीन हो जाता है।

जबकि सत्य यह कि लोक (सृष्टि या विश्व) की स्थिति कर्मों के कारण होती है, कर्म करने वाला जीव स्वयं है, वह कर्मवश ही पूर्वोक्त तीनो लोको में भ्रमण करता है। लोक का स्वरूप क्या है? उसमें मेरा क्या स्थान है? इत्यादि विचार करके वह लोकवाद से प्रेरणा लेता है कि मुझे लोक में भ्रमण न करके लोकाग्र में स्थिर होने का अहर्निश पुरुषार्थ करना चाहिए।

मध्यलोक में मनुष्यभव में कर्मभूमिक मनुष्य क्षेत्र में ही रत्नत्रयरूप धर्माचरण का पुरुषार्थ हो सकता है; अन्य लोकों में नहीं। जिस लोक में अतीव भौतिक सुख है, वहाँ भी मोक्षविषयक पुरुषार्थ नहीं हो सकता और न अत्यन्त दुःखयुक्त लोक (अधोलोक) में ही यह पुरुषार्थ हो सकता है। मध्यलोक में क्षेत्रकृत, व्यक्तिगत या परकृत वेदना अधोलोक की अपेक्षा बहुत ही थोड़ी है, उतनी वेदना में से ही मनुष्य अपना आलस्य और प्रमाद दूर

---

१ भगवतीसूत्र १।६

करके जुट सके तो समभावपूर्वक वेदनाएँ सहकर उनके मूल—कर्मों के समूह को काट सकता है और मोक्षपद प्राप्त कर सकता है। इसीलिए लोकवाद को आस्तिक्य का आधार माना गया है।

इहलोक के अतिरिक्त भी परलोक (ऊर्ध्वलोक-अधोलोक) को मानने से पुनर्जन्म कर्मों के फलस्वरूप चार गति और ८४ लक्ष योनियों मे परिभ्रमण के कारणो पर अनायास ही चिन्तन का स्रोत फूटता है, जिससे आत्मविकास और आत्मधर्म के प्रति साधक की आस्था दृढ़ होती है। □

कर्मवाद : एक मीमांसा

कर्मवाद : आस्तिक्य की सुदृढ़ आधारशिला

आत्मवाद और लोकवाद के साथ कर्मवाद का अटूट सम्बन्ध है। जिसे आत्मा की शक्ति का भान हो जाता है, वह लोक का स्वरूप जानकर लोक में रहता हुआ भी निर्लेप रह सकता है, अजीवो के साथ तथा उनके पड़ौस में रहता हुआ भी उनके प्रति राग-द्वेष या इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग के समय आर्त्तध्यान नहीं करता, क्योकि वह जानता है कि जीव (आत्मा) और कर्मों का संयोग (साहचर्य) सोने और मिट्टी के संयोग की तरह प्रवाह-रूप से अनादि होते हुए भी जैसे सोना अग्नि आदि के द्वारा मिट्टी से पृथक् हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी तप, संयम, संवर, निर्जरा आदि उपायो से कर्म से पृथक् हो सकता है।' इसी कारण कर्मवाद आस्तिक्य की एक सुदृढ आधारशिला है।

हम क्या है ? (आत्मवाद), हम कहाँ-कहाँ से आते है और कहाँ-कहाँ चले जाते हैं (लोकवाद) तथा हमें क्या करना है, क्या नही ? (कर्मवाद) तथा हम विकृति से प्रकृति में, परभाव या विभाव दशा से स्वभाव दशा में किसके माध्यम से आ सकते हैं ? (क्रियावाद)—इन सब बातों का ज्ञान जिनोक्त शास्त्रों से प्राप्त करके हम श्रुतधर्म की सांगोपांग आराधना कर सकते हैं।

संसार की विविधताओं का कारण : कर्म

यदि सभी जीव स्वभाव से समान है, मुक्त आत्मा के समान ही सबकी आत्मा शुद्ध हैं, तब फिर संसार में इतनी विविधता और विचित्रता क्यों ? एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो में, तथा पंचेद्रियों में भी नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार प्रकारों के भी प्रत्येक के असंख्य-असंख्य प्रकार हैं। एक मनुष्यजाति को ही ले लें, उसमें भी १४ लाख योनियाँ हैं और उनमें भी आकृति, प्रकृति, सुख-दुःख, विकास-अविकास आदि के भेद से करोड़ों प्रकार के मनुष्य हैं। इतनी विषमता, विविधता और विचित्रताओं का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अगर

आत्मा नित्य है तो वह जन्मता-मरता क्यो है? विविध गतियो-योनियो में क्यो भटकता है? अगर आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो अज्ञानान्धकार में क्यों भटकता है? यदि वह अमूर्त है तो विभिन्न मूर्त शरीरो मे क्यो बद्ध है?[1]

इन सब प्रश्नों का समाधान यह है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो वही है किन्तु विश्व में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप और स्वतन्त्र आत्मा को विवश बनाकर नाना प्रकार के नाच नचा रही है। वही शक्ति जीवो को चार गतियो और चौरासी लाख योनियो मे भटका रही है। उसी शक्ति के कारण ससार मे इतनी विविधता विचित्रता, विरूपता और विषमताएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। उस शक्ति को जैनदर्शन 'कर्म' कहता है। वेदान्तदर्शन मे उसे माया या अविद्या सांख्यदर्शन मे प्रकृति वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट या संस्कार किन्हीं दर्शनो मे वासना, आशय, धर्माधर्म या अपूर्व आदि कहा गया है। कुछ धर्म या दर्शन उसे कर्म मानते है। किन्तु जैनदर्शन मे कर्म का जैसा सागोपाग तर्कसगत, अत्यन्त सूक्ष्म, व्यवस्थित एव विस्तार से विवेचन मिलता है, वैसा अन्यत्र नही मिलता है। जैनदर्शन मे कर्मवाद पर बहुत ही गहराई से चिन्तन-मननपूर्वक विपुल साहित्य लिखा गया है।[2]

कर्मवाद एवं अन्य वाद

यद्यपि जैनदर्शन के अतिरिक्त वैदिक एवं बौद्ध धर्मग्रन्थो में भी कर्म-सम्बन्धी विचार मिलते हैं। किन्तु उनमे कर्म और कर्मफल (यथाकर्म तथा-फल) का सामान्य निर्देश मात्र मिलता है।

अदृष्टवाद

न्यायदर्शन मे उसे अदृष्ट कहा गया है। अच्छे-बुरे कर्मों का संस्कार आत्मा पर पडता है वही अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा के साथ तब तक रहता है,

---

१ (क) 'कम्मुणा उवाही जायइ' —आचारांग १।३।१

(ख) एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मण। —पचाध्यायी २।५०

(ग) कम्मओ णं भंते! जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।

हंता गोयमा! कम्मओ ण जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।' —भगवती १२।१२०

२ कर्मग्रन्थ, कम्मपयडी, शतक पंचसंग्रह सप्ततिका आदि श्वेताम्बराचार्यकृत ग्रन्थ तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (षट्खण्डागम), कषायप्राभृत आदि दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थ सुप्रसिद्ध माने जाते हैं।

जब तक उसका फल नहीं मिल जाता। अदृष्ट का फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। उसका कारण यह बताया गया है कि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएँ।

किन्तु जगत्कर्ता (जगत् की विचित्रताओ का कर्ता), धर्ता, संहर्ता ईश्वर को मान लेने पर आत्मा की स्वतन्त्र कर्तृत्वशक्ति दब जाती है। ईश्वर के हाथ में कर्मफल की सत्ता देने पर तो जीव को शुभकर्म करने या कर्मों का क्षय करने का कोई प्रोत्साहन एवं स्वातंत्र्य नही मिल सकता।

प्रकृतिवाद

सांख्यदर्शन कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का 'प्रकृति' (प्रधान तत्त्व) पर संस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से कर्मों के फल मिलते है ? किन्तु यह कल्पना भी युक्तिसंगत नहीं है। इससे अचेतन प्रकृति को कर्म और कर्मफल को मानकर आत्मा को सर्वथा अकर्ता बताया गया है, किन्तु भ्रान्तिवश उसे भोक्ता माना गया है, जो कि सर्वथा असंगत है। जो कर्ता नही, वह भोक्ता कैसे ? इस प्रकार 'प्रकृति' कर्मवाद का स्थान नही ले सकता।

वेदान्त का मायावाद

यह भी कर्मवाद की पूर्ति नहीं कर पाता। क्योकि माया का संसर्ग रहते हुए भी आत्मा को तो शुद्ध, कूटस्थ नित्य, एक स्वभाव माना गया है। अतः माया तो केवल निष्क्रिय ही सिद्ध होती है।

बौद्धदर्शन का चित्तगत वासनावाद

बौद्धों ने कर्म को चित्तगत वासना माना है, वही सुख-दुःख का कारण बनती है। किन्तु एकान्त क्षणिकवाद के कारण आत्मा में कर्मकर्तृत्व-भोक्तृत्व की व्यवस्था घटित नहीं हो सकती।

भूतवाद

पंचभूतों से चेतन-अचेतन सभी पदार्थों की उत्पत्ति मानने वाले भूतवादियों के मत में पंचभौतिक शरीर ही आत्मा है, जो यहीं समाप्त हो जाता है। आत्मवाद एवं लोकवाद (पुनर्जन्म) को न मानने के कारण जगत की विचित्रताओं, विषमताओं आदि का यथार्थ समाधान पंचभूतवादियों के पास नही है।

पुरुषवाद

इसके अनुसार सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता और संहर्ता पुरुष-विशेष—ईश्वर है। उसकी ज्ञानादि शक्तियाँ प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं

होतीं। जड़-चेतन द्रव्यों के पारस्परिक संयोजन में ईश्वर निमित्तकारण है। वही विश्व का नियामक है। इसके मतानुसार जीव की स्वतन्त्र कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्ति नहीं है। अतः यहाँ कर्मवाद ईश्वरकर्तृत्व के कारण निष्फल और निरर्थक हो जाता है।

कालादि एकान्तिक पंचकारणवाद

कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद और पुरुषार्थवाद—ये पांचों अपने-अपने मत को कर्म के स्थान में प्रस्तुत करते हैं और जगत् की विचित्रताओं या विषमताओं का कारण काल आदि को बताते हैं।

(१) **कालवाद** के समर्थकों का मत है कि विश्व की सभी वस्तुएँ सृष्टिगत प्राणियों के सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि सबका आधार काल है। काल के कारण ही सारी घटनाएँ होती हैं। किन्तु कालवाद प्राणी को काल के भरोसे रखकर उसके पुरुषार्थ को पंगु बना देता है। काल के भरोसे बैठा रहकर मनुष्य धर्मध्यान, रत्नत्रय साधना आदि में पुरुषार्थ नहीं कर पाता। अतः कालवाद कर्मवाद का स्थान नहीं ले सकता।[1]

(२) **स्वभाववाद** को भी बहुत-से विचारक कर्मवाद का स्थानापन्न मानते हैं। उनका कहना है कि जगत् में जो कुछ भी विचित्रता है, वह स्वभाव के कारण है। काँटों का नुकीलापन, पशु-पक्षियों की विचित्रता आदि सभी स्वभाव के कारण हैं। स्वभाव के बिना मूंग नहीं पक सकते, भले ही काल आदि क्यों न हों। शास्त्रवार्तासमुच्चय में स्वभाववाद का पक्ष-स्थापन करते हुए लिखा है—किसी भी प्राणी का माता के गर्भ में प्रवेश, बाल्यावस्था, शुभाशुभ अनुभवों की प्राप्ति आदि बातें स्वभाव के बिना घटित नहीं हो सकतीं। स्वभाव ही समस्त घटनाओं का कारण है। स्वभाववादी विश्व की विचित्रता का नियामक किसी को नहीं मानता।

परन्तु कर्मक्षय करने का, धर्माचरण का एवं रत्नत्रय साधना का पुरुषार्थ स्वभावाश्रित रहने पर नहीं हो सकता। अतः स्वभाववाद कर्मवाद का कार्य पूर्णरूप से नहीं कर सकता।[2]

---

१ (क) अथर्ववेद १९।५३-५४.
  (ख) कालेन सर्वं लभते मनुष्य.···· —महाभारत शान्तिपर्व २५।३२
  (ग) शास्त्रवार्तासमुच्चय १६५-१६८

२ (क) श्वेताश्वतरोपनिषद् १।८ (ख) भगवद्गीता ५।१४
  (ग) महाभारत शान्तिपर्व २५।१६ (घ) शास्त्रवार्तासमुच्चय १६९-१७२

(३) **नियतिवाद**—बहुत से दार्शनिक एवं धर्मप्रवर्तक नियतिवाद के भी समर्थक थे। उनका कथन है कि संसार में जो कुछ होना होता है, वही होता है, उसमें किंचित् भी अन्तर नही पड़ता। संसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। बौद्धपिटको, जैनागमो एवं श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में भी नियतिवाद के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने नियतिवाद का स्वरूप बताते हुए लिखा है—जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से, जिस रूप में उत्पन्न होना होता है, वह वस्तु उस समय, उसी कारण से, उसी रूप में अवश्य उत्पन्न होती है।

सामञ्ञफलसुत्त मे मंखलीगोशालक (आजीवक) के नियतिवाद का वर्णन करते हुए बताया है कि प्राणियो की अपवित्रता और शुद्धता का कोई भी कारण नही है, वे बिना ही कारण अपवित्र होते है और अकारण ही शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ भी नही होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि कुछ भी नही है, जो कुछ भी परिवर्तन होता है, वह नियति के कारण ही होता है। नियति के अभाव मे कोई भी कार्य ससार में नही हो सकता।[1] भले ही काल, स्वभाव आदि अन्य कारण उपस्थित हो। परन्तु एकान्त नियतिवाद भी पुरुषार्थ का घातक है। इसके भरोसे रहकर मानव भाग्यवादी बन जाता है। अतः कर्मवाद को मानना ही श्रेयस्कर है।

(४) **यदृच्छावाद**—यदृच्छावादियो का मन्तव्य है कि किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। बिना ही निमित्त के अकस्मात् किसी कार्य या घटना का हो जाना यदृच्छा है। यदृच्छा का अर्थ अकस्मात् या 'अनिमित्त' है।

यदृच्छावाद, अकस्मात्वाद, अकारणवाद, अहेतुवाद और अनिमित्त-वाद आदि सब एकार्थक है।

यदृच्छावाद का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद्, महाभारत शान्तिपर्व तथा न्यायसूत्र आदि ग्रन्थो मे मिलता है।[2]

---

१ (क) सूत्रकृतांग २।१।१२, २।६ (ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५
(ग) उपासकदशांग अ० ६-७, (घ) दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त
(ङ) शास्त्रवार्त्तासमुच्चय (हरिभद्रसूरि) १७४

२ (क) न्यायभाष्य ३।२।१ (ख) न्यायसूत्र ४।१।२२
(ग) श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२ (घ) महाभारत शान्तिपर्व ३३।२२
(ङ) न्यायभाष्य (पं० फणिभूषणकृत अनुवाद) ४।१।२४

यदृच्छावाद युक्तिविरुद्ध है। उसके भरोसे रहकर मानव पुरुषार्थहीन हो जाता है। यदृच्छावाद कारण-कार्यवाद का भी विरोधी है, जो दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं हो सकता है।

(५) **दैववाद**—केवल पूर्वकृत कर्मों के भरोसे बैठे रहना और किसी प्रकार का पुरुषार्थ न करना दैववाद है। इसे भाग्यवाद भी कह सकते हैं। इच्छा स्वातंत्र्य को इसमे कोई अवकाश नही है। इसमें सम्पूर्ण घटनाचक्र परतन्त्रता के आधार पर चलता है। मनुष्य भाग्य के हाथ का खिलौना बनकर जीता है। उसे नि सहाय होकर अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पडता है। फलभोग के समय वह किंचित् भी परिवर्तन नहीं कर सकता। जिस कर्म का जिस रूप मे फल भोगना नियत है, उस कर्म का उसी रूप मे फल भोगना पडता है।

दैववाद और नियतिवाद मे अन्तर यह है कि दैववाद मे कर्म की सत्ता पर विश्वास रहता है, जबकि नियतिवाद कर्म के अस्तित्व को ही नही मानता। दोना मे पराधीनता है। दैववाद मे पराधीनता कर्मों के कारण है नियतिवाद मे बिना किसी कारण के है। दैववादी कर्मक्षय करने या शुभकर्म करने का कोई पुरुषार्थ नही कर सकता। इसलिए कर्मवाद का स्थान वह नही ले सकता।[1]

(६) **पुरुषार्थवाद**—अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति पुरुषार्थ पर निर्भर है। अगर शुद्ध और यथार्थ पुरुषार्थ किया जाए तो अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है। पुरुषार्थ ही सब कुछ है। भाग्य या दैव नाम की कोई अलग वस्तु नही है। पूर्व पुरुषार्थ ही भाग्य या दैव है। यह पुरुषार्थवाद का स्वरूप है। पुरुषार्थवाद का आधार इच्छा स्वातन्त्र्य है।

जैनदर्शनसम्मत पंचकारण समवायवाद

कर्मवाद के समर्थक विचारको ने इन सब वादो का कर्मवाद के साथ समन्वय करते हुए पंचकारण समवायवाद' प्रस्तुत किया है। जैनदर्शन का मन्तव्य है कि जैसे किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवल एक कारण पर नही अपितु अनेक कारणो पर निर्भर है, वैसे ही कर्म के साथ-साथ काल, स्वभाव, नियति, दैव और पुरुषार्थ भी विश्ववैचित्र्य या विश्ववैषम्य के कारणों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं।

---

१ (क) आप्त-मीमांसा, कारिका ८८-८९

(ख) 'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।' —हितोपदेश

उदाहरणार्थ—कृषक कृषिकर्म में तभी सफल मनोरथ होता है, जब पंचकारण—समवाय अनुकूल हो। जैसे—पहले तो खेत में बीज बोने का ठीक समय हो, तत्पश्चात् उस बीज का अंकुरित होने का स्वभाव हो, क्योंकि जला हुआ बीज होगा तो उसका अंकुरित होने का स्वभाव न होने से समय पर बोने पर भी अंकुरित नही होगा, फिर स्वभावानुसार नियति (होनहार—खेत में अन्न उत्पन्न होने की), तत्पश्चात कृषक का शुभकर्मोदय होना चाहिए ताकि निर्विघ्नतापूर्वक खेती हो जाए; तदनन्तर उसकी सफलता पुरुषार्थ पर निर्भर है। पुरुषार्थ नही होगा तो ये चारो कारण होने पर भी कृषिकार्य सिद्ध नहीं होगा।

अतः विश्व की विविधता या विषमता का मुख्य कारण तो कर्म है, और काल आदि उसके सहकारी कारण है।

कर्म को मुख्य कारण मानने से छद्मस्थ व्यक्ति को अभीष्ट दिशा मे स्वयं सत्पुरुषार्थ करने का अवकाश रहता है। जन-जन के मन में आत्मबल, आत्मविश्वास और आत्मपुरुषार्थ-भाव पैदा होता है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य हरिभद्र कहते है—काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म (दैव या भाग्य) और पुरुषार्थ, इन पांचो कारणो में से किसी एक को ही एकान्तरूप से कारण माना जाए और शेष कारणो की उपेक्षा की जाए, यही मिथ्यात्व है, और इन्ही पांच कारणो का समवाय कार्य निष्पत्ति में निमित्त माना जाए, यही सम्यक्त्व है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् मे भी पाँचो कारणों का संयोग, कार्य या सुख-दुःख की निष्पत्ति में कारण बताया गया है।

भगवद्‌गीता में प्रत्येक कार्य के पाच कारण इस प्रकार बताए गए है—अधिष्ठान (देश-काल), कर्ता, कारण (विविध साधन), विविध पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ (क्रियाएँ) और पांचवाँ दैव। मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो भी अच्छा-बुरा कर्म (कार्य) करता है, उसके ये पांच कारण होते हैं। ऐसा होने पर भी जो अकेले स्वयं को ही कर्मों का कर्ता मानता है, वह अकृतबुद्धि (अज्ञानी) यथार्थ नहीं समझता।[1]

---

१ (क) कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारे णेगंता।
मिच्छत्तं त चेव उ समासओ हुंति सम्मत्तं ॥
—सन्मतितर्क प्रकरण ३।५३

(ख) शास्त्रवार्त्तासमुच्चय १६१-१६२

(क्रमशः)

कर्मवाद की उपयोगिता

कर्मवाद को माने बिना जन्म-जन्मान्तर, तथा इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। संसारी आत्माओं की विभिन्नता, विचित्रता और विषमता के कारण का समाधान भी कर्मवाद ही कर सकता है, और कोई नहीं। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ, गतियों-योनियां, पुनर्जन्म-घटनाओं के तथा एक ही माता के उदर से एक साथ पैदा होने वाले दो युगल बालकों के स्वभाव, सुख-दुःख तथा अन्य विसदृशताओ के क्या कारण हैं? गर्भस्थ शिशु को बिना शुभाशुभकर्म किये अनुकूल-प्रतिकूल फल-प्राप्ति, क्यो? अनपढ़ माता-पिता को प्रतिभाशाली पुत्र और शिक्षित माता-पिता मूर्ख पुत्र आदि विषमता क्यो? एक छात्रावास में एक सरीखी सब व्यवस्था, सुविधा एव परिस्थिति होने पर भी छात्रो की बौद्धिक क्षमता आदि में न्यूनाधिकता क्यों? इत्यादि ज्वलन्त प्रश्नों का यथोचित समाधान कर्मवाद को माने बिना नही हो सकता।

किसी भी विघ्न, संकट या विपत्ति आने पर साधारण मानव घबराकर, किंकर्त्तव्यविमूढ होकर प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़ बैठता है, उसके पुरुषार्थ और साहस को निराशा और मूढ़ता दबा देती है। ऐसे समय में आशा और स्फूर्ति का संचार करने वाला, साहस और आत्मबल प्रदान करने वाला, बुद्धि को सन्तुलित और स्थिर करने वाला, उन्नति-पथ पर चढ़ने के लिए अनुपम साहस भरने वाला, तथा उपस्थित विघ्नादि के मूल कारण क्या ये निमित्त है या मेरा उत्पादन है? इस पर चिन्तन की प्रेरणा देने वाला गुरु कर्मवाद ही है।

अपनी वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए अपनी आत्मशुद्धि करके कर्मों से मुक्ति की प्रेरणा देने वाला, कर्मवाद ही है।

सूत्रकृतांग के इस कथन से कर्मवाद पर विश्वास करने की प्रेरणा मिलती है कि जैसा मैंने पहले कर्म किया था। वैसा ही फल मेरे सामने दुःख के रूप में, आ गया है।[१]

(ग) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
सयोग एषा न स्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।
—श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२

(घ) भगवद्गीता अ० १८।१४-१५

१ 'जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।' —सूत्रकृतांग

इस प्रकार कर्मवाद पर विश्वास से सुख-दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते। कर्मवाद पर विश्वास से व्यक्ति को ऐसी निश्चिन्तता हो जाती है, कि 'मेरे जैसे पूर्वकर्म होंगे, तदनुसार फल मिलने में कोई सन्देह नही है। कर्मों का ऋण तो मुझे देर-सबेर चुकाना ही पड़ेगा, फिर मन में ग्लानि न करके समभावपूर्वक ही इन्हें भोग लूँ ताकि नये कर्मों का बन्ध न हो और पुराने कर्मों का क्षय हो जाए।' कर्मवाद पर विश्वास से कार्य में सफलता एवं हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। प्रतिकूलता के समय निमित्तों को कोसने की अपेक्षा शान्तभाव से स्थिर रहने की अथवा केवल मेरे पर ही नहीं, बड़े-बड़ो पर विपत्तियाँ आई है, इसलिए क्यो घबराऊँ, इस प्रकार की सान्त्वनाभरी प्रेरणा कर्मवाद से मिलती है।

दूसरे शब्दो में—कर्मवाद का सन्देश दुःखों की ज्वालाओं से दग्ध मनुष्यो के घावो पर मरहम-पट्टी का काम करता है, उनके अशान्त हृदयो को शान्ति पहुँचाता है; दुःख और निराशा के गर्त में पडे हुए मानव को आशा के विशाल भवन में पहुँचा देता है। कर्मवाद से लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है। इससे वर्तमान में दुःख सहन करने की क्षमता बढती है, और भविष्य में जोवन को पवित्र बनाने की प्रेरणा मिलती है।

कर्मवाद से यह भी प्रेरणा मिलती है कि आत्मा को जन्म-मरणरूप संसारचक्र में घुमाने के कारणभूत कर्म से अगर छुटकारा पाना हो तो कर्मों को आत्मा से अलग करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। कर्मवादी स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अथवा विभिन्न प्रकार के दुःखों, समस्याओं, विघ्नो और संकटो से छुटकारा पाने अथवा पूर्वकृत अशुभ कर्मों को यथासम्भव शुभ में परिणत करने के लिए या वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए किसी देवी-देव, अदृश्य शक्ति या ईश्वर आदि के सामने नहीं गिड़गिड़ाता, भीख भी नही माँगता और न उन पर निर्भर हो रहता है। वह स्वयं स्वतन्त्र सत्पुरुषार्थ द्वारा कर्मों से मुक्त हो सकता है या अशुभ को शुभ में यथासम्भव बदल सकता है।

कर्मवादी का यह दृढ़ विश्वास होता है कि आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्ति या ईश्वर की शक्ति या इच्छा के हाथों की कठपुतली नहीं है। वह कर्म करने में, कर्मों को काटने में स्वतन्त्र है। कर्मवादी की दृढ आस्था होती है विकास की चरमसीमा को प्राप्त व्यक्ति—परमात्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त होता है। यद्यपि सभी आत्माओं में उनके जैसी शक्ति विद्यमान है, किन्तु हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत—अविकसित हैं। उनका विकास

आत्मबल द्वारा कर्मों के आवरण को दूर करके किया जा सकता है, और परमात्मा बना जा सकता है।

साधारण अज्ञ मानव जहाँ जीवन की विघ्न-बाधाओं और विपत्तियों से घबराकर धर्म-कर्म को भूल बैठता है, रोने-चिल्लाने लगता है, श्वान-वृत्तिवश बाह्य कारणों को कोसकर या अपने संकट का दायित्व उन निमित्तों पर डालकर उनसे लड़ता-झगड़ता है। इसके विपरीत कर्मवादी सिंहवृत्ति से सोचता है कि वृक्ष के मूल कारण—बीज तरह दुःख या संकट का बीज स्वकृतकर्म है, पृथ्वी-पानी-वायु आदि बाह्य निमित्तों की तरह, ये तो केवल बाह्य निमित्त हैं। अतः वह अपने संकट या दुःख के लिए दूसरों को दोषी नहीं ठहराता। बल्कि अपने अशुभकर्मों का फल मानकर उन्हें समभावपूर्वक सहता है।

कितनी उपयोगिता है, व्यावहारिक एवं परमार्थ दृष्टि से कर्म-वाद की।

कर्मवाद के अन्तर्गत कर्म क्या है? आत्मा के साथ वे कैसे बँधते है? उनके कौन-कौन-से कारण है, किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है? कर्म कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक आत्मा के साथ लगे रहते है? आत्मा से सम्बद्ध होकर भी कर्म कितने काल तक फल नहीं देते? विपाक का नियत समय बदल सकता है या नहीं? यदि बदल सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं? आत्मा कर्म का कर्ता और भोक्ता क्यों और किस तरह हैं? आत्मा जब विकासोन्मुख होकर परमात्मभाव प्रकट करने को उत्सुक होता है, तब कर्मों के साथ किस प्रकार जूझता है? समर्थ आत्मा आगे बढ़ते है हुए कर्मपर्वतों को कैसे चूर-चूर कर डालता है? पूर्ण विकास के समीप पहुँचे हुए आत्मा को भी उपशान्त हुए कर्म किस प्रकार पुनः दबा देते हैं? कर्म बलवान् हैं या आत्मा? ऐसे अनेकानेक प्रश्न आते हैं, कर्मवादी जिनका युक्तिसंगत समाधान कर्मवाद से पा लेता है और जीवन-पथ में आने वाली उलझनों को भली-भाँति सुलझा लेता है। यही कर्मवाद की विशेषता है।

कर्मवादी मानव कर्म करते समय अत्यन्त सावधान रहता है, वह आत्मा पर से कर्मों का आवरण दूर करने के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहता है।

आइए, कर्मवाद से सम्बन्धित इन और ऐसे सभी प्रश्नों पर विचार कर लें।

कर्म शब्द : विभिन्न अर्थों में

सामान्य लोगों में विभिन्न व्यवसायो, कार्यों या व्यवहारों के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि क्रियाओ के लिए भी कर्म शब्द का प्रयोग होता है। नैयायिकों ने उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण आदि सांकेतिक कर्मों के लिए कर्म शब्द का व्यवहार किया है। पौराणिक लोग व्रत, आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, कर्मकाण्डी मीमासक यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्डो के अर्थ में और स्मार्त विद्वान् चार आश्रमो और चार वर्णों के नियत या विहित कर्म रूप अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग करते है। कुछ दार्शनिक संस्कार, आशय, अदृष्ट, वासना आदि अर्थों मे कर्म शब्द का प्रयोग करते है। वैयाकरण कर्म उसे मानते है, जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है।

परन्तु जैनदर्शन में कर्म शब्द इन सबसे विलक्षण एवं विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो मनोविज्ञान सम्मत भी है। कर्मशब्द का लक्षण इस प्रकार है--

कीरइ जीएण हेऊहि जेणं तु भण्णए कम्म।[1]

"जीव की अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक शुभाशुभ क्रिया द्वारा या मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन कारणों से प्रेरित होकर रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से चुम्बक की तरह आकृष्ट आत्मा, जो करता है, वह कर्म कहलाता है।"

स्पष्ट शब्दो मे—पुद्गलद्रव्य की अनेक वर्गणाओ (जातियो) में से जो **कार्मणवर्गणा**[2] है, वही कर्मद्रव्य है। कार्मणवर्गणा समग्र लोक में सूक्ष्मरज के रूप में व्याप्त है। वे ही सूक्ष्म रजकण मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के द्वारा आकृष्ट होकर जब जीव के साथ जुड जाते है, तब कर्म कहलाने लगते हैं। सरल शब्दों में कहें तो—आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने वाले पुद्गल कर्म हैं।

---

१ (क) कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गा० १
(ख) परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ।। —प्रवचनसार

२ प्रत्येक कर्म के अनन्त-अनन्त परमाणु होते हैं। इतना ही नही, जीव के असंख्यात आत्म-प्रदेशों पर कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणुओं का समूह जमा हुआ है। उन्हें कर्मवर्गणा कहते है।

मूर्त्त कर्मों का अमूर्त्त आत्मा के साथ बन्ध कैसे

प्रश्न होता है, कर्म पुद्गलरूप होने से मूर्त्त—रूपी हैं, और आत्मा अमूर्त्तिक—अरूपी है। फिर अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे हो सकता है ? जैसे—वायु और अग्नि दोनो मूर्त्त द्रव्य हैं, इनका अमूर्त्त आकाश पर कोई प्रभाव नही पड़ता, इसी प्रकार मूर्त्त कर्म का भी अमूर्त्त आत्मा पर कोई प्रभाव नही पड़ना चाहिए। परन्तु यहाँ कर्मों का आत्मा पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखने में आता है।

इसका समाधान कर्ममर्मज्ञ आचार्य यो करते हैं कि मूर्त्त द्रव्य अमूर्त्त द्रव्य को प्रभावित कर ही नहीं सकता, ऐसा एकान्त सिद्धान्त नही है। जैसे—ज्ञान आत्मा का गुण होने से अमूर्त्त है, मदिरा और विष आदि पदार्थ रूपी होने से मूर्त्त होते है। जब मनुष्य मदिरापान कर लेता है तो उसका ज्ञानगुण मदिराजन्य प्रभाव से प्रभावित होता प्रत्यक्ष देखा जाता है। जैसे मूर्त्त मदिरा अमूर्त्त ज्ञानगुण को प्रभावित कर देती है। इसी तरह मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा को अपने फल से प्रभावित कर देते है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। अनेकान्त की दृष्टि से आत्मा अमूर्त्त भी है और मूर्त्त भी। कर्मप्रवाह अनादिकालीन होने से संसारी जीव अनादि काल से कर्मपरमाणुओं से आबद्ध चला आ रहा है और वे कर्मपरमाणु स्वर्ण पर लगे मैल की भाँति आत्मा को आच्छादित किये हुए है। इस कारण आत्मा सर्वथा अमूर्त्त ही नहीं है। कर्मसम्बद्ध होने के कारण वह कथंचित् मूर्त्त भी है। फलतः मूर्त्त कर्म का मूर्त्त आत्मा को प्रभावित कर देना अस्वाभाविक नहीं है।[1] संसारी आत्मा के प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनादिकाल से अनन्तानन्त कर्मवर्गणा के पुद्गल कार्मणशरीर के रूप में सदा चिपके रहते है। वास्तव में कर्मपुद्गलो के अस्तित्व में ही नये कर्मों का ग्रहण होता है। कर्मों से पूर्ण रूप से मुक्त सिद्ध भगवान् के कार्मण शरीर नहीं है। अतः उनके कर्मों का बन्ध भी नहीं होता।

कर्म और आत्मा का संयोग कब से, कैसे ?

जैनदर्शन निश्चयदृष्टि से आत्मा को शुद्ध मानता है। जब आत्मा

---

१ जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियय।
जीवे सुहंदुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।
मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो गाहिदत्त तेहिं उग्गहदि॥ —पंचास्तिकाय १४१-१४२

शुद्ध है, तो उस पर कर्म-कालिमा कैसे लग सकती थी ? यदि शुद्ध आत्मा पर भी कर्ममल लगे तब तो सिद्ध परमात्मा पर भी वह लग सकता है ? परन्तु ऐसा नही है। तब प्रश्न उठता है कि आत्मा को कर्म कैसे लगे ? कब लगे ? बिना कुछ किये ही कर्म ओर आत्मा का सयोग कब से और कैसे हुआ ? यदि विशुद्ध आत्मा के अकारण ही कर्म-मैल लगने लगेगा तब तो इधर कर्म-मैल को धोकर आत्मा को शुद्ध करने हेतु तप, जप सयम, धर्म आदि की साधना की जाएगी, उधर से कर्म-रज चिपटती जाएगी। फिर तो कर्म और आत्मा का यह सिलसिला चलता हा रहेगा।

जैनसिद्धान्तमर्मज्ञो ने ऐसी स्थिति मे, कर्म पहले है या आत्मा ? कर्म आत्मा के कब से लगे ? इत्यादि उठने वाले प्रश्नो पर तर्कसगत विचार किया है। उनका दृढ आर स्पष्ट मन्तव्य है कि कर्म और आत्मा इन दोनो मे पहले-पीछे का प्रश्न हो नही उठता। 'मुर्गी पहले है या अण्डा ?' इन दोनो मे जैसे पहले-पीछे का प्रश्न नही उठता वैसे ही कर्म और आत्मा इन दोनो मे भी पहले-पीछे का कोई प्रश्न नही है। आत्मा को पहले-पीछे मानने पर आत्मा भी उत्पन्न-विनष्ट होने वाला पदार्थ हा जाएगा। किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को नित्य, शाश्वत माना हे। इसी प्रकार कर्म का पहले मानने पर उसका अस्तित्व आत्मा के किए बिना सिद्ध होगा, जो असम्भव है। आत्मा को प्रथम मानने पर प्रश्न उठेगा, शुद्ध आत्मा पर कर्म कैसे लगे ? अत कर्मसिद्धान्तमर्मज्ञो ने आत्मा और कर्म को तथा आत्मा एव कर्म के सम्बन्ध को भी अनादि माना है।[1]

फिर प्रश्न उठता है कि यदि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि है तो वह टूटेगा कैसे ? अनादिकालीन वस्तु और उसके अनादि सम्बन्ध का तो कभी नाश नही हो सकता। इस प्रश्न का समाधान यह किया गया है— कि व्यक्तिरूप से कोई एक कर्म अनादि नही है, किन्तु प्रवाहरूप से, समष्टि की दृष्टि से कर्म अनादि है। पुराने कर्म अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से अलग होते जाते है और नये-नये कर्म बँधते जाते है। पुराने कर्मों का आत्मा से अलग होने का नाम 'निर्जरा' है और नये कर्मों के बँध जाने का नाम 'बन्ध' है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के साथ किसी एक कर्मविशेष का सयोग

---

१ यथाऽनादि स जीवात्मा यथाऽनादिश्च पुद्गल।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादि स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणो ॥ —पचाध्यायी २।३५

अनादिकालीन नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न कर्मों के संयोग का प्रवाह अनादि-कालीन है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-अनन्त नहीं है। जो सम्बन्ध अनादि-अनन्त होता है, उसे तोड़ा नही जा सकता; मगर जो सम्बन्ध अनादि हो उसे तो तोड़ा भी जा सकता है। जैसे सोने और मिट्टी का सम्बन्ध[1] अनादि होने पर भी मिट्टी मिले स्वर्ण को आग में तपाने-गलाने पर मिट्टी से सोने का सम्बन्ध टूट जाता है, स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। वैसे ही आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी तप, त्याग, संयम की साधना से उसे तोड़ा जा सकता है।[2] तात्पर्य यह है कि दूध और घी या सोने और मिट्टी का अनादि सम्बन्ध प्रयत्नविशेष से तोड़ा जाता है, वैसे ही कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध भी रत्नत्रय मे पुरुषार्थ-विशेष से तोड़ा जा सकता है। निष्कर्ष यह है—बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल (कर्म) अभिन्न हैं, किन्तु लक्षण की अपेक्षा से भिन्न है।

बलवान कौन : कर्म या आत्मा ?

आत्मा अनन्त शक्तिमान् है, परन्तु आत्मा के साथ जब कर्म बँध जाते है, तब कर्मों का वशवर्ती आत्मा नाना-गतियों—योनियों में चक्कर लगाता है, नाना दुःख-सुख भोगता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि कर्म और आत्मा, इन दोनों में कौन बलवान् है और कौन निर्बल ? दोनो के द्वन्द्व में आत्मा विजयी होता या कर्म ?

इसका समाधान यह है कि बाह्य दृष्टि से देखने पर तो कर्म की शक्ति प्रबल प्रतीत होती है, लेकिन अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा की शक्ति ही प्रबल प्रतीत होगी। लोहा पानी से कठोर मालूम होता है, लेकिन कठोर लोहे के साथ पानी का बराबर संयोग उसे जंग लगाकर धीरे-धीरे काट डालता है। इसी प्रकार कर्मशक्ति आत्मशक्ति से प्रबल प्रतीत होने भी आत्मा के द्वारा उग्र तप, त्याग, वैराग्य और संयम की तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना से प्रबल हुई आत्मशक्ति कर्मशक्ति को परास्त कर देती है। आत्मा की प्रबलशक्ति के आगे कर्मशक्ति टिक नहीं सकती। अगर कर्मशक्ति पर आत्मशक्ति की जीत न मानी जाए तब तो तप-त्याग आदि की साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

---

१ द्वयोरनादि सम्बन्धः कनकोपलसन्निभ ।

२ खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥ — उत्तराध्ययन २५।४५

कर्मों पर आत्मा की विजय तभी होती है, जब जीव को अपनी आत्मशक्ति का पूर्ण भान हो, आत्मा में यह विवेक जाग उठे कि यह सब कर्मजाल मेरी अपनी अज्ञान-मोहजन्य भूलों से फैला हुआ है। अगर मैं आत्मबल और साहस बटोरकर इन कर्मों के साथ जूझ पड़ूँ तो इनके छिन्न-भिन्न होते देर नहीं लगेगी। परन्तु आत्मा चैतन्यशक्ति का धारक होते हुए भी पर-पदार्थों का उपभोग करता हुआ राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है तो इस रागद्वेष की वृत्ति के कारण जड़कर्म आत्मा पर हावी हो जाते है। वे आत्मा को विकारी बनाकर पराधीन कर देते है।

कर्म के दो प्रकार

बन्ध की अपेक्षा से कर्म के दो प्रकार है--द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म कर्मवर्गणाओ का सूक्ष्म विकार है, और भावकर्म स्वयं आत्मा के रागद्वेषात्मक परिणाम है। द्रव्यकर्म से भावकर्म की और भावकर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म जब अपना फल देते हैं, तब आत्मा के भावकर्म—रागद्वेषात्मक परिणाम उत्पन्न होते है। उन परिणामो से पुनः द्रव्यकर्म बँध जाते है। बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की तरह इनका उत्पत्तिक्रम अनादिकाल से चला आ रहा है।[1]

कर्मों का कर्ता कौन, भोक्ता कौन ?

कर्मकर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के विषय मे दार्शनिकों के दो मुख्य मत है--(१) कर्म करने और फल भोगने में जीव स्वतन्त्र नहीं, ईश्वर या अदृश्य शक्ति के अधीन है, (२) मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, परन्तु पूर्वकृत अशुभ कर्म के अशुभ फलभोग के निराकरण या उससे बचने के लिए देवी-देवों के समक्ष यज्ञ या स्तुति करके उन्हें प्रसन्न करना, ताकि अशुभफल से बच सके।

परन्तु इन दोनो युक्तिविरुद्ध मन्तव्यो से आत्मा की स्वतन्त्र कर्तृत्व-शक्ति का ह्रास होता है, फलतः कर्मक्षय करने के लिए तप-त्याग आदि साधना में पुरुषार्थ न करके वे विभिन्न देवी-देव या अदृश्य शक्ति के आगे प्रार्थना या मिन्नते करते है। परन्तु देवी-देव या अदृश्य ईश्वर क्या किसी जीव के शुभ-अशुभ कर्मों को बदल सकते हैं? क्या अशुभकर्मकर्ता को

---

१ जीवपरिपाकहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्मनिमित्त जीवो वि तहेव परिणमइ ॥ —प्रवचनसार वृत्ति पृ० ४५५

अशुभफलभोग से बचा सकते ? यदि ऐसा हो जाय तो संसार की सम्पूर्ण व्यवस्था ही भंग हो जाय। अतः यह निश्चित है कि अपने किये कर्मों का फल आत्मा को स्वयं ही भोगना पड़ता है।

एक बात और है—जैनदर्शन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से किसी पदार्थ का निर्णय करता है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो आत्मा ही कर्मों का कर्ता माना जाता है, क्योंकि व्यवहार में आत्मा का कर्तृत्व प्रकट है। किन्तु व्यवहार में आत्मा कर्मों का कर्ता तभी माना जा सकता है, जब वह कषाय और योग के वश में हो। जब आत्मा अकषायी और अयोगी हो जाता है, तब कर्मों की अपेक्षा से आत्मा अकर्ता माना जाता है। अर्थात्- कर्मों का कर्ता[1] कषायात्मा और योगात्मा है, न कि द्रव्यात्मा। द्रव्यात्मा— सिद्ध-मुक्त आत्मा तो अपने स्वभाव का कर्ता है, परभाव (कर्म आदि) का कर्ता नहीं। अगर शुद्ध आत्मा को कर्म का कर्ता माना जाएगा तो सिद्ध भगवान् का आत्मा भी कर्म का कर्ता होने लगेगा, जबकि सिद्धान्तानुसार जब जीव कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है, तब वह किसी भी प्रकार से कर्मों का कर्ता—उत्पादक नहीं हो सकता। और उस स्थिति में न अकेला कर्मपुद्गल ही कर्ता हो सकता है, क्योंकि वह स्वयं जड है।

अतः जीव और कर्म-पुद्गल का जब तक संयोग-सम्बन्ध रहता है, तभी तक जीव को व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मों का कर्ता कहा जा सकता है।

आत्मा कर्ता है या कर्म कर्ता है ? इस प्रश्न के उत्तर में व्यवहारनय के अनुसार तो आत्मा ही कर्म का कर्ता सिद्ध होता है, किन्तु निश्चयनयानुसार कर्म ही कर्म का कर्ता सिद्ध होता है। यदि सब प्रकार से आत्मा को ही कर्ता माना जाएगा तो उसका परगुणकर्ता स्वभाव नित्य एवं शाश्वत सिद्ध हो जाएगा। परगुणकर्ता स्वभाव नित्य सिद्ध हो जाने पर सिद्ध-आत्माओं को भी कर्मकर्ता मानना पड़ेगा। यदि ऐसा ही माना जाएगा तो आत्मा के साथ कर्मों का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध हो जाएगा। फिर कोई भी आत्मा कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकेगा। परन्तु ऐसा मानना सिद्धान्त-विरुद्ध है।

अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मप्रदेशों के साथ जब तक पुद्गल-कर्मों का सम्बन्ध है, तभी तक आत्मा में कर्म आते हैं, कर्मों से आत्मप्रदेशों

---

१ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। —उत्तरा०

के सर्वथा पृथक् होते ही फिर आत्मा में कर्म नही आ सकते। अतः जैन-दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मों का कर्ता और भोक्ता स्वयं आत्मा ही है। स्वकृतकर्मों के अनुसार ही जीव को कर्मफल मिलता है, जिसे उसे अवश्य भोगना पड़ता है। सूत्रकृतांगसूत्र, उत्तराध्ययन आदि आगमों में तथा वेदान्त दर्शन आदि में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

जीव कर्माधीन या कर्म जीवाधीन ?

पूर्वोक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न होता है—क्या जीव कर्मों के अधीन है ? या कर्म जीव के अधीन है ? इसका समाधान अनेकान्तदृष्टि से दिया जाता है।

एक दृष्टि से आत्मा जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्मों का क्षय करने, आते हुए कर्मों को रोकने, अशुभ कर्मों को शुभ में परिणत करने, तथा दीर्घकालीन स्थिति वाले कर्मों को अल्पकालीन स्थिति वाले बनाने में स्वतन्त्र है।

तात्पर्य यह है कि काल आदि लब्धियों की अनुकूलता हो, तथा अशुभ कर्म का निकाचित बन्ध न हुआ हो तो जीव कर्मों को पछाड भी सकता है, तथा निकाचित बन्ध हो तो भी अशुभफल भोगते समय रागद्वेष-कषायादि न करके समभाव, सहिष्णुता, शान्ति और धैर्य तो वे कर्म भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। उस आत्मा पर हावी नही हो सकते। इस दृष्टि से कर्म का कर्ता जैसे आत्मा है, वैसे भोक्ता भी वही है। कर्म करना भी उसके अधीन है, फल भोगना भी है। एक के बदले दूसरा कर्मफल नहीं भोग सकता, न ही कर्मफलस्वरूप आने वाले सुख-दुःख को कोई बांट सकता है।[1]

दूसरी दृष्टि से देखें तो रागद्वेष से अधिक लिप्त आत्मा कर्मफल भोगते समय परतन्त्र (कर्माधीन) हो जाता है। जैसे व्यक्ति वृक्ष पर स्वतन्त्रता से चढ़ जाता है, परन्तु प्रमादवश गिरते समय वह सम्भल नहीं पाता,

---

१ (क) सव्वे सयकम्म कप्पिया। 'सकम्मुणा विप्परियासमुवेइ। 'सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं।' 'एगो सयं पच्चणु होइ दुक्खे।'
—सूत्र कृ० १।२।३।१८, १।७।११, १।२।१।४, १ ५।२।२२

(ख) कत्तारमेवाणुजाइ कम्मं। —उत्तरा० १३।२३

(ग) वेदान्तदर्शन—'स्वय कर्म करोत्यात्मा'

परतन्त्र हो जाता है; अथवा विष या मद्य का सेवन करते समय तो व्यक्ति स्वतन्त्र होता है किन्तु मूर्च्छित एवं उन्मत्त हो जाने पर परतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार निकाचित कर्मों का फल भोगते समय जीव कर्माधीन (परतन्त्र) हो जाता है। कभी-कभी कर्मों की बहुलता से जीव दब जाता है।

अतः दोनो दृष्टियो से विचार करके यही मानना उचित है कि कहीं जीव कर्माधीन है और कहीं कर्म जीवाधीन है।

वस्तुतः फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार का है—**सोपक्रम, निरुपक्रम।** जो कर्म प्रयत्न करने पर शान्त हो जाए, वह सोपक्रमरूप कर्म है, और जो प्रयत्न करने पर भी नही टलता, बन्ध के अनुसार ही फल देता है, वह निरूपक्रमरूप कर्म है। इन्हें ही क्रमशः **दलिककर्म और निकाचितकर्म** कहा जा सकता है। इन दोनो प्रकार के कर्मों की अपेक्षा पूर्वोक्त दोनों तथ्य फलित होते है--प्रयत्न करने पर कर्म जीव के अधीन हो सकते हैं, अन्यथा जीव कर्माधीन हो जाता है।[1]

कर्म-बन्ध के हेतु और प्रकार

पहले कहा जा चुका है कि जीव के राग-द्वेषादि परिणामों के निमित्त से आकृष्ट होकर द्रव्यकर्म आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह घुल-मिल जाते हैं, बँध जाते है। इस प्रकार प्रवाहरूप से संसारी जीव अनादिकाल से अनन्त-अनन्त बन्धनो में बँधे चले आ रहे हैं। ये शरीर, धन, ऐश्वर्य, परिवार आदि सब उसी शुभाशुभ कर्मबन्ध के परिणाम हैं।

कई लोग यह शंका उठाया करते हैं कि शरीर, मकान, धन, परिवार आदि सब बन्धन है; क्या सचमुच ये बन्धन हैं? क्या ये आत्मा को बाँधते हैं? अथवा केवल कर्म ही आत्मा को बाँधते है?

इसका समाधान शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है—कर्म के दो रूप है - **कर्म और नोकर्म।** नोकर्म यानी ईषत्—(छोटा) कर्म। नोकर्म कर्म के फल के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जैसे—शरीर, परिवार, धन, साधन आदि सब नोकर्म हैं। प्रज्ञापनासूत्र में नोकर्म को कर्मविपाक की सहायक सामग्री बताया गया है।

नोकर्म भी दो प्रकार होते है—**बद्धनोकर्म और अबद्धनोकर्म।** जो दूध-

---

१ (क) विशेषावश्यकभाष्य वृ० १, ३ (ख) गणधरवाद २।२५,
(ग) विपाकसूत्र अ० ३, सू० २० टीका।

पानी की तरह एक दूसरे के साथ परस्पर मिले या बँधे हुए हैं, वे बद्धनोकर्म हैं। जैसे—जीव जब तक मुक्त नहीं हो जाता तब तक संसारीदशा में प्रत्येक भव में, यहाँ तक कि विग्रहगति में भी (तैजस-कार्मण के रूप में) शरीर आत्मा के साथ निरन्तर लगा ही रहता है। अतः शरीर बद्धनोकर्म है। किन्तु मकान, धन आदि हर समय, हर क्षेत्र में आत्मा के साथ निश्चितरूप से नहीं रहते। इसलिए वे अबद्ध-नोकर्म है।

अतः जैनदर्शन मानता है कि नोकर्म, चाहे बद्ध हो या अबद्ध अपने आप में आत्मा के लिए बन्धनकर्ता नही होते। किन्तु इन्ही को सुख-दुःखरूप या इन पर राग-द्वेष करने से ये कर्मबन्ध के कारण बनते है। इसीलिए शास्त्र में राग-द्वेष को ही कर्मबन्ध का बीज बताया गया है।

निष्कर्ष यह है कि बन्धन और मुक्ति की क्षमता पदार्थों में नही होती, वह तो आत्मा की परिणति (भाव) में ही होती है। आत्मा की शुद्ध परिणति बन्धनरूप नही, अशुद्ध परिणति ही बन्धनकारक होती है।

आत्मा के साथ स्वयं अपने आप कर्म नही बँधता। तब वह कैसे बन्धरूप होता है ? इस सम्बन्ध में जैनदर्शन कहता है— समग्र लोक में कार्मणवर्गणा के पुद्गल व्याप्त है। वे पुद्गल अपने आप मे कर्म नही है, किन्तु उनमें कर्म होने की योग्यता है। ज्यो ही प्राणी के अन्तर् में राग या द्वेष के भाव उठते है त्यों ही वे आत्मक्षेत्रावगाही कार्मणवर्गणा के पुद्गल कर्मरूप में परिणत हो जाते है और कार्मण नाम के सूक्ष्म शरीर के माध्यम से आत्मा के साथ बद्ध हो जाते है। जब तक आत्मा में मोहकर्म का उदय और राग-द्वेषरूप वैभाविक परिणति रहती है, तब तक प्रति समय कर्मबन्ध होता है; फिर फल भोग। फलभोग के समय राग-द्वेषादि विभाव जागे तो फिर कर्मबन्ध, फिर फलभोग, यह कर्मचक्र अनादिकाल से चला आरहा है।

कर्मबन्ध के मुख्य कारण राग-द्वेष है।[1] तत्त्वार्थसूत्र[2] में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच कर्मबन्ध के कारण बताए गए हैं। संक्षेप में, कषाय और योग इन दो कारणों में इन्हें समाविष्ट कर सकते हैं।

एक शब्द में कहना चाहें तो क्रिया से कर्म होते या आते है। आत्मा की शुभाशुभ वृत्तियाँ, मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ (योग) अथवा चेष्टाएँ

---

१ 'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।' —उत्तरा० ३२।७

२ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१

क्रिया है। वस्तुतः क्रिया से कर्मों का आगमन (आस्रव) होता है, बन्ध नहीं। बन्ध (आत्म-प्रदेशों के साथ) तभी होता है, जब योगों (क्रियाओं) के साथ कषाय या राग-द्वेषात्मक परिणाम होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो राग-द्वेषात्मक क्रिया से कर्मबन्धन होता है।

विशेषावश्यकभाष्य में एक रूपक द्वारा बताया गया है कि जिस व्यक्ति के परिणामो में राग-द्वेष या कषायभाव की स्निग्धता (चिकनाहट) होगी, वही कर्मरज चिपकेगी, कर्मबन्ध होगा; जिसके परिणामो में राग-द्वेष या कषायभाव की स्निग्धता नहीं होगी, वहाँ कर्मरज नहीं चिपकेगी, कर्म-बन्ध नहीं होगा।

बन्ध के प्रकार—शास्त्रों में द्रव्यकर्मबन्ध का क्रमशः चार भेदों में वर्गीकरण किया गया है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभाग (अनुभाव) बन्ध और (४) प्रदेशबन्ध।

इन चारों का स्वरूप बन्धतत्त्व के प्रकरण में बताया गया है। बन्ध के चारो प्रकार एक साथ ही होते है। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग है। आत्म-प्रदेशों के कर्मपुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से प्रदेशबन्ध सर्वप्रथम है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, कालमर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध, ये दोनों बन्ध जीव के योगो से होने वाले स्पन्दन एवं प्रवृत्ति से होते है, जबकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध प्रवृत्ति के साथ कषायात्मक परिणामो से होते है।

बन्ध के समय आत्मा और कर्म का संयोग या कर्म का व्यवस्थाकरण होता है। ग्रहण के समय कर्मपुद्गल अविभक्त होते हैं, ग्रहण के पश्चात् जब वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत होते है, तब प्रदेशबन्ध (एकीभाव-व्यवस्थाकरण) होता है।[1]

कर्म की मूल प्रकृतियाँ और उनके कार्य

कर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणु कार्यभेद के अनुसार ८ भागों में विभक्त होते है। इसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। इसके द्वारा कर्मों के विभिन्न स्वभावों का निर्माण होता है। कम की मूल प्रकृतियाँ आठ है—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म और, (८) अन्तराय।

---

१ प्रकृतिस्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः। —तत्त्वार्थ० अ० ८।४

जब कोई कर्म किया जाता है तो उस कर्म के परमाणु आठ भागों में विभक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार मुँह में भोजन का एक कौर डालने पर वह शरीरगत सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार एक कर्म के करने पर वह मूलप्रकृतियो या उनकी उत्तरप्रकृतियो के रूप में परिणत हो जाता है। इन आठ मूलप्रकृतियो मे से चार मूलप्रकृतियाँ (कर्मपुद्गल वर्गणाएँ) घात्य या घातिक कहलाती है और चार अघात्य या अघातिक।

घात्यकर्म वे कहलाते है; जो चेतना—आत्मगुण और आत्मशक्ति के आवरक, विकारक और प्रतिरोधक है। चार घात्यकर्म ये है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय।

चेतना के दो रूप है—ज्ञान (जानना या वस्तुस्वरूप का विमर्श करना) और दर्शन (साक्षात् करना या वस्तु का स्वरूप ग्रहण करना)। ज्ञान और दर्शन के आवरक कर्म (कर्मपुद्गल) क्रमश: ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहलाते है।

आत्मा को विकृत बनाने वाले कर्म की संज्ञा मोहनीय है और आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाला कर्म अन्तराय है। इन चारों घात्य कर्मों का लक्षण इस प्रकार है—

(१) **ज्ञानावरणीयकर्म**—शुद्ध आत्मा सर्वज्ञत्वगुण-युक्त है। परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के सर्वज्ञत्वगुण को आवृत—अच्छादित कर देता है। संक्षेप में, जो आत्मा की ज्ञानशक्ति का निरोध करता है वह ज्ञाना-वरणीय कर्म है।

(२) **दर्शनावरणीयकर्म**—सर्वज्ञत्वगुण की तरह शुद्ध आत्मा का सर्व-दर्शित्व गुण भी है किन्तु दर्शनावरणीयकर्म आत्मा के उक्त गुण को आच्छादित कर देता है। संक्षेप में, जो आत्मा की दर्शनशक्ति को आच्छादित कर देता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है।

(३) **मोहनीयकर्म**—जिस कर्म के प्रभाव से आत्मा अपने सम्यग्भाव या स्व-स्वरूप को भूलकर केवल मिथ्या (विपरीत) भाव या परभाव में ही निमग्न रहे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

मदिरा पीकर उन्मत्त बना हुआ मनुष्य यथार्थ वस्तुस्वरूप का चिन्तन, कथन और व्यवहार (प्रवृत्ति) नही कर सकता, वैसे ही मोहनीय कर्म के वशीभूत जीव सम्यग्दर्शन, सम्यक्चिन्तन एवं सम्यक्आचरण से

विमुख होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याचिन्तन एवं मिथ्या-आचरण में प्रवृत्त रहता है। इनके व्यक्त और अव्यक्त, ये दो-दो रूप हैं।

(४) **अन्तरायकर्म**—जिस कर्म के कारण आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (पुरुषार्थ) की शक्ति में विघ्न-बाधाएँ या रुकावटें आएँ, पदार्थ पास में होते हुए भी उनका भोग, उपभोग तथा दान न दिया जा सके, या जिन पदार्थों के मिलने की आशा हो, वे न मिल सकें, उसका नाम अन्तरायकर्म है।

अघात्यकर्म (अघातीकर्म) वे कहलाते हैं, जो आत्मा के निजगुणों या आत्म-शक्तियों को आघात न पहुँचा सकें, प्रतिरोध न कर सकें, किन्तु विशेषतः शरीर या इस जन्म से सम्बन्धित हों।

घात्यकर्मों के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं। इनके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिकरूप में प्रकट होता है, पूर्णक्षय से पूर्णरूप में। अघात्यकर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते है। ये चार है—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। ये शुभकर्म इष्टसंयोग के और अशुभकर्म अनिष्टसंयोग के निमित्त बनते है। इन दोनों का संगम ही संसार है। शुभकर्म पुण्य के द्योतक है, अशुभ पाप के। पुण्य सुख-सुविधा आदि का निमित्त बन सकता है, लेकिन उससे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। मुक्ति पुण्य-पाप दोनो के क्षय से होती है। चारो अघात्य कर्मों के लक्षण इस प्रकार है—

(१) **वेदनीयकर्म**—जिस कर्म के प्रभाव से आत्मा निजानन्द को भूलकर केवल सांसारिक सुखरूप (पुण्य) या दुःखरूप (पाप) फल को भोगता है, पुण्य-पाप के फलों का अनुभव करता है, उसे वेदनीय कहते हैं। वेदनीय कर्म के दो प्रकार है—सातावेदनीय और असातावेदनीय। ये क्रमशः सांसारिक सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते है। इनका क्षय हो जाने पर आत्मा का अव्याबाध गुण प्रगट हो जाता है।

(२) **नामकर्म**—जिसके प्रभाव से जीव शुभ या अशुभ शरीर की रचना, प्रभाव आदि प्राप्त करता है, उसे नामकर्म कहते है। इसके मुख्य दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। शुभनाम के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेय-वचन, यशस्वी और प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला होता है और अशुभनाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इन दोनों के क्षय होने पर आत्मा अपने अमूर्तिक (स्व) भाव में स्थित हो जाता है।

(३) **गोत्रकर्म**—जिस कर्म के द्वारा जाति, कुल आदि की उच्चता-

निम्नता प्रतीत होती है, उसे गोत्रकर्म कहते है। गोत्रकर्म के भी दो प्रकार है—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। ये क्रमशः उच्चता-नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते है। इनके क्षय से आत्मा अगुरुलघु (पूर्ण सम) बन जाता है।

(४) आयुष्यकर्म—इस कर्म द्वारा आत्मा चारो गतियों में स्थिति करता है, अमुक काल तक टिका रहता है। इसके भी दो प्रकार हैं—शुभायु और अशुभायु। वैसे चार गतियों में से मनुष्यायु और देवायु, ये दो शुभ है, तिर्यञ्चायु और नरकायु ये दो अशुभ है। ये क्रमशः सुखी जीवन और दुःखी जीवन के निमित्त बनते है। इनके क्षय से आत्मा अजर-अमर और अजन्मा बनता है।

ये चारों अघात्य कर्म भवोपग्राही है। इनका वियोग मुक्ति के समय एक साथ होता है।

आठों कर्मों का बन्ध कब ?

जीव आयुष्यकर्म अपनी आयु के दो-तिहाई भाग बीत जाने पर बाधते है। अतः आयुष्यकर्म के सिवाय शेष सातो ही कर्म प्रतिसमय निरन्तर बांधे जाते है। देव और नारक अपनी छह मास आयु शेष रहती है, तभी परलोक का आयुष्य बाँधते है। मनुष्यो और तिर्यञ्चो की आयु के सोपक्रम और निरुपक्रम आदि अनेक भेद है। परन्तु यह निर्विवाद है कि आयुष्यकर्म के बांधे बिना कोई भी जीव परलोक की यात्रा नही कर सकता अर्थात् मृत्यु से पहले अगले भव का आयुष्य अवश्य बँध जाता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया और कारण

कर्म आत्मा का गुण नही है। जो जिसका गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं हो सकता। कर्म आत्मा के लिए आवरण, पारतंत्र्य, दुःख के हेतु और गुणो विघातक है। आत्मा में अनन्तवीर्य (सामर्थ्य) होता है, जिसे लब्धिवीर्य (शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य) कहते है, उसका आवरक, विघातक, निरोधक या पारतन्त्र्यप्रापक कर्म तब बनता है, जब आत्मा के साथ शरीर हो। आत्मा और शरीर, इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होता है, उसे करणवीर्य कहते है। जिसे हम क्रियात्मक शक्ति कहते हैं। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक गूढ चैतन्य प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता है। फिर इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएँ मिलकर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती है। क्रियात्मक शक्ति-जनित कम्पन

द्वारा आत्मा और कर्मपरमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहते है। आस्रव के द्वारा बाहरी कर्म पौद्‌गलिक धाराएँ शरीर में आती है। फिर आत्मा के साथ सम्पृक्त कर्मयोग्य परमाणु कर्मरूप में परिणत होते हैं, जिसे बन्ध कहते है, वह आता है। कर्मपरमाणुओं के आत्मा से वियोग को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के द्वारा कर्मपुद्‌गल-धाराएँ फिर शरीर के बाहर चली जाती है। इस प्रकार कर्मपुद्‌गल-परमाणुओं के शरीर मे आने और पुनः चले जाने के बीच की दशा को बन्ध कहा जाता है। शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियाशक्ति (करणवीर्य) के प्रवाह है जो निरन्तर रहते है। इन दोनो में कोई न कोई एक परिणाम तो प्रति समय अवश्य ही रहता है। शुभपरिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्मपरमाणुओं का आकर्षण होता है।

बन्ध के नियम

अकर्म के कर्म का बन्ध नही होता। पूर्वकर्म से बद्ध जीव ही नये कर्मों का बन्ध करता है। मोहकर्म के उदय से जीव रागद्वेष से परिणत होता है, तभी अशुभकर्मों का बन्ध करता है। मोहरहित प्रवृत्ति करते समय जीव शरीरनामकर्म के उदय से शुभकर्म का बन्ध करता है। पहले बन्धा हुआ ही बन्धता है, अबद्ध नहीं; या नये सिरे से नही। यदि यह नियम न हो तो मुक्त (अबद्ध) जीव भी कर्मबन्ध से बँध जाएँगे।[1]

कर्मबंध कैसे, किस क्रम से ?

भगवतीसूत्र में एक संवाद श्री गौतम स्वामी और भगवान् महावीर का है जो इस प्रकार है—श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते है—भन्ते ! जीव आठ कर्मप्रकृतियो को कैसे बांधता है ?

भगवान्—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से जीव दर्शनावरणीय कर्म का (तीव्र) बन्ध करता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोहनीय का तीव्र अध्यवसाय (बन्ध) होता है तथा दर्शनमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जीव मिथ्यात्व को अपनाता है अतः मिथ्यात्व के उदय से जीव आठों ही प्रकार की कर्म प्रकृतियों को बांधता है।[2]

---

१ प्रज्ञापना, पद २३।१।२९२

२ कहं णं भंते ! जीवा अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ ?
गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएण दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ,
(क्रमशः)

इस सूत्रपाठ से सिद्ध है कि जब आत्मा आठों कर्मों की प्रकृतियों को बांधने लगता है, तब सर्वप्रथम ज्ञानावरणकर्म का उदय होता है। तत्पश्चात् वह यथाक्रम से आठों कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध कर लेता है।

आठों कर्मों के बन्ध के कारण

पहले समुच्चयरूप में कर्मबन्ध के कारण बताए गए थे। अब आठों ही कर्मों के पृथक्-पृथक् बन्ध के कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है। भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ९ में इस विषय में विस्तृत चर्चा है। भगवान महावीर से गणधर गौतम ने प्रश्न किये हैं; भगवान ने उनका समाधान किया है। जिसका सार इस प्रकार है—

ज्ञानावरणीयकर्मबन्ध के कारण—आठों कर्मों में सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है। मुख्यतया अज्ञान के कारण ही ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारणों का विश्लेषण करते हुए ६ कारण बताएँ है—

(१) ज्ञान अथवा ज्ञानी के प्रति प्रतिकूलता से, या इनका विरोध करने से।

(२) ज्ञान या ज्ञानी (श्रुतज्ञान या श्रुतगुरु) का नाम या स्वरूप छिपाने से अर्थात्—मेरी अपेक्षा उसकी महत्ता या कीर्ति बढ़ जाएगी, इस कुविचार से सीखे हुए श्रुतज्ञान का या श्रुतज्ञानी गुरु का नाम न बतलाना।

(३) श्रुतज्ञान पढ़ने वालों के मार्ग में रोड़े अटकाने से, विघ्न डालने से।

(४) ज्ञान या ज्ञानी पुरुषों से द्वेष करने से।

(५) ज्ञान अथवा ज्ञानी पुरुषों की निन्दा-आशातना करने से, तथा

(६) ज्ञान अथवा ज्ञानवान् आत्माओं के सम्बन्ध में दोष, विसंवाद (दोष प्रकट) करने से या उनके साथ विवाद करने से। जैसे—ज्ञान पढ़ने से लोग शिथिलाचारी बन जाते है, संसार के सब झगड़ों के मूल ये ज्ञानी हैं, अतः श्रुतज्ञान का अभ्यास न करना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की भावना रखना भी ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का कारण है।

दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं नियच्छइ, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छइ; मिच्छत्तेण उदिण्णेणं गोयमा ! एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ। —प्रज्ञापना सूत्र पद २३, उ० १

इन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है और मनुष्य ज्ञान —सम्यग्ज्ञान से वंचित रहता है।

दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण—दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के भी ६ कारण माने गये हैं। मुख्य कारण तो दर्शनावरणीय-कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म का उदय है, किन्तु विस्तृत रूप से समझने के लिए ६ कारण बताए गए हैं। यथा—

(१) दर्शन या दर्शनवान् के प्रति प्रतिकूलता (मत्सरता या ईर्ष्या) से।

(२) दर्शन या दर्शनवान् के नाम या स्वरूप का अपलाप करने—छिपाने से।

(३) दर्शनाभ्यास में अन्तराय डालने से।

(४) दर्शन और दर्शनवान् के प्रति द्वेष रखने से।

(५) दर्शन या दर्शनवान् की आशातना-अवज्ञा करने से, और

(६) दर्शन और दर्शनवान् के साथ विसंवाद (व्यर्थ का विवाद) करने से। इन कारणो से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख को प्राप्ति होती है, वह सातावेदनीय कर्म है। सातावेदनीय कर्मबन्ध के शास्त्रकारों ने १० कारण बताए है, यथा -

(१) प्राणों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवो) की अनुकम्पा करने से।

(२) भूतो (वनस्पतिकायिक जीवों) की अनुकम्पा करने से।

(३) जीवों (पंचेन्द्रिय प्राणियो) की अनुकम्पा करने से।

(४) सत्त्वों (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के जीवो) की अनुकम्पा करने से।

(५) उक्त सभी प्रकार के जीवों को दुःख न देने से।

(६) उक्त जीवों में शोक (चिन्ता या दीनता) पैदा न करने से।

(७) उन्हें नहीं झूराने (रुलाने या विलाप कराने) से।

(८) उन्हें अश्रुपात न कराने या वेदना न देने से।

(९) उन्हें न पीटने से और

(१०) उन्हें किसी प्रकार का परिताप न पहुँचाने से।

इन दस कारणो से जीव सातावेदनीय कर्म बांधता है। तात्पर्य यह है कि सातावेदनीय कर्म प्राणियों को सुख-शान्ति देने से बांधा जाता है, जिसके फलस्वरूप जीव संसार में लौकिक सुख का अनुभव करता है।

असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण—जिस प्रकार जीवों को सुख देने से सातावेदनीय कर्मबन्ध होता है, ठीक इसके विपरीत असातावेदनीय कर्म का बन्ध जीवों को दुःखी, पीड़ित करने से होता है। असातावेदनीय कर्मबन्ध के भी दस प्रकार हैं, यथा—

(१-४) प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की अनुकम्पा न करने से।

(५) दूसरों को दुःख देने से।

(६) दूसरों को शोक कराने से।

(७) दूसरों को झुराने-कलपाने से।

(८) दूसरों से अश्रुपात कराने और पीड़ा देने से।

(९) दूसरों को मारने-पीटने से, और

(१०) दूसरों को सन्ताप देने से। इन दस कारणों से जीव असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

मोहनीय कर्मबन्ध के कारण—जिस कर्म के उदय से आत्मा अपने स्वरूप के भान से, धर्ममार्ग से एवं सम्यक्त्व से विमुख रहे, सदैव पौद्गलिक सुख-भोगों की वाछा करता रहे, विभाव परिणति में रत रहे, ऐसे मोहोत्पादक मोहनीय कर्म का बन्ध निम्नलिखित कारणों से होता है—

(१) तीव्र क्रोध से, (२) तीव्र मान से, (३) तीव्र माया से, (४) तीव्र लोभ से, (५) तीव्र दर्शनमोहनीय से और (६) तीव्र चारित्रमोहनीय से।

इन छह कारणों से जीव को मोहनीयकार्मण शरीर प्रयोग बन्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि तीव्रतापूर्ण चारों कषाय, दर्शन तथा चारित्र में मूढ़ होने से मोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता है, जिसका कटु फल जीव को उक्त प्रकार से भोगना पड़ता है। वह सद्धर्माचरण, सम्यग्दर्शन एवं त्याग, तप, व्रत-प्रत्याख्यान से सदैव विमुख रहकर उत्कट भोगलिप्सु बना रहता है। लौकिक एवं पारलौकिक स्वर्गादि के सुख की वांछा करता रहता है।

नरकायुष्यकर्मबन्ध का कारण—वैसे तो जिन-जिन कुकृत्यों या पापों से जीव को नरकायुष्यकर्म के बन्ध के बताए गए हैं, उनका सेवन करने से नरकायु का बन्ध होता है। परन्तु विशेषरूप से नरकायुष्यकर्मबन्ध के चार कारण हैं—

(१) महारम्भ (महाहिंसा) करने से, (२) महापरिग्रह की लालसा से, (३) मांसाहार या मृतक-भक्षण से और (४) पंचेन्द्रिय जीवों के वध से जीव

नरक के कार्मण शरीर को उपार्जित करता है। अर्थात्—इन चार कारणों से जोव को मरकर नरक में उत्पन्न होना पड़ता है।[1]

तिर्यञ्चायुष्यकर्मबन्ध के कारण—जिन-जिन कुकृत्यों से जोव तिर्यञ्चायु कर्म को बांधता है, वे नाना प्रकार की छल, दम्भ, कपट आदि क्रियाएँ है। यथा—(१) परवंचन (ठगने) की बुद्धि से, वंचन (धोखा देने) चेष्टाओं से, (२) माया को छिपाने से—कपट क्रिया करने से, (३) झूठ बोलने से, (४) झूठा तौल-नाप करने से, जीव को तिर्यञ्चयोनिक-आयुष्यकार्मणशरीर का बन्ध होता है।[2]

मनुष्यायुकर्म बन्ध के कारण—जिनके कारण जीव मनुष्यगति में मनुष्य बनकर जीता है, उस मनुष्यायु-कर्म-बन्ध के चार कारण है—(१) प्रकृति-भद्रता (सरलस्वभाव) से, (२) प्रकृति की विनीतता से (विनीत स्वभाव वाला होने से), (३) दयावान होने से और (४) मत्सर-ईर्ष्याभाव न रखने से।[3]

देवायुष्यकर्म बन्ध के कारण—जिन कारणो से जीव देवायु का बन्ध करता है, वे चार कारण हैं—(१) रागपूर्वक साधुधर्म के पालन से (२) गृहस्थ-धर्म के पालन से, (३) अकामनिर्जरा से तथा (४) बालतप (अज्ञानपूर्वक काय-क्लेशादि तप) करने से। इन चार कारणो से जीव देवता का आयुष्यकर्म बांधता है।

शुभनामकर्म बन्ध के कारण—नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म। शुभनामकर्म का बन्ध चार कारणों से होता है—(१) काया की ऋजुता (शरीर द्वारा किसी के साथ छल न करने) से, (२) भाव की ऋजुता (मन में छलपकट का भाव न रखने) से, (३) भाषा की ऋजुता

---

१ नेरयाउय कम्मासरीरप्पयोग बधे णं भंते ! पुच्छा ?
गोयमा ! महारम्भयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाहारेण पचेंदियवहेण नेरइयाउय-कम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउयकम्मसरीर जावप्पयोग बंधे।

२ तिरिक्खजोणियाउय कम्मासरीरप्पयोग पुच्छा ?
गोयमा ? माइल्लियाए, नियडिल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुलकूडमाणेणं तिरि-क्खजोणियाउय कम्मासरीर जावप्पयोगबंध। —भगवतीसूत्र श० ८, उ० ६

३ मणुस्सआउयकम्मासरीर पुच्छा ?
गोयमा ! पगइभद्दयाए, पगइ विणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए मणुस्सा-उयकम्मा जावप्पयोग बंधे। —भगवतीसूत्र श० ८, उ० ६

(छलकपटयुक्त भाषा न बोलने) से, और (४) अविसवादनयोग (मन-वचन-काया के योगो में एकरूपता—अवक्रता धारणा करने) से।

तात्पर्य यह है कि मन, वचन, काया को सरलता धारण करने से आत्मा शुभनामकर्म का उपार्जन कर लेता है, जिसके प्रभाव से शरीरादि की सुन्दरता, अंगसौष्ठव आदि के अतिरिक्त यशोकीर्ति आदि की प्राप्ति होती है।

अशुभनामकर्मबन्ध के कारण—अशुभनामकर्म के बन्ध के चार कारण है। यथा—(१) काया की वक्रता से, (२) भावों की वक्रता से (३) भाषा की वक्रता से और (४) योगों के विसंवादन (अनेकरूपत्व) से अशुभनाम-कर्म का बन्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि शुभनाम कर्मबन्ध के जो कारण है, उनसे विपरीत कारण अशुभनामकर्म के है। इसके फलस्वरूप जीव को कुरूप शरीर, अपयश आदि की प्राप्ति होती है।

उच्चगोत्रकर्म-बन्ध के कारण—सामान्यतया उच्चगोत्रकर्म का उपार्जन तभी होता है, जब जीव किसी भी पदार्थ (ज्ञान, तप, सुख-साधन, ऐश्वर्य, जाति, कुल आदि) मिलने पर मद-गर्व न करे। विशेषतया उच्चगोत्रकर्म (कार्मणशरीर) का बन्ध ८ कारणो से होता है यथा—(१) जातिमद न करने से, (२) कुलमद न करने से, (३) बलमद न करने से, (४) रूपमद न करने से, (५) तपोमद न करने से, (६) श्रुत (शास्त्रज्ञान का) मद न करने से, (७) लाभ का मद न करने, और (८) ऐश्वर्यमद न करने से।

नीचगोत्रकर्म-बन्ध के कारण—जिन कारणो से उच्चगोत्रकर्म का बन्ध होता है, ठीक उनके विपरीत कारणों से नीच गोत्रकर्म का बन्ध माना गया है। अर्थात्—नीच गोत्रकर्म-बन्ध के भी ८ कारण है—यथा—(१) जातिमद करने से, (२) कुलमद करने से, (३) बलमद करने से, (४) रूपमद करने से, (५) तपोमद करने से, (६) श्रुतमद करने से, (७) लाभमद करने से और (८) ऐश्वर्यमद करने से।

इस सूत्रपाठ का फलितार्थ यह है कि जिस पदार्थ का मद किया जाता है, वही पदार्थ उस जीव को मिलना दुर्लभ है।

अन्तरायकर्मबन्ध के कारण—जिस कर्म उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति न हो सके तथा मन में विचार किया हुआ कार्य पूरा न हो सके उसमें विघ्न उपस्थित हो जाए, उसका नाम अन्तरायकर्म है। अन्तराय-कर्मबन्ध के पाँच कारण है—

(१) **दानान्तराय**—(दान देने में विघ्न डालने) (२) **लाभान्तराय** (किसी को लाभ मिलता हो, उसमें विघ्न उपस्थित करने) से, (३) **भोगान्तराय** (भोग्य वस्तु को भोगने में विघ्न डालने) से, (४) उपभोगान्तराय (बार-बार भोगने योग्य वस्तु के उपभोग में अन्तराय डालने) से, और (५) **वीर्यान्तराय** (किसी के शुभकार्य विषयक पुरुषार्थ में विघ्न उपस्थित करने) से।

पूर्वोक्त दानादि पांच प्रकार के कार्यों में विघ्न उपस्थित करके सत्-कार्य न होने देने से जीव अन्तराय कर्म बांध लेता है, जिसे दो प्रकार से भोगा जाता है—एक तो जो प्रिय पदार्थ अपने पास हो, उनका वियोग हो जाना, दूसरे—जिन पदार्थों की प्राप्ति की आशा हो, उनकी प्राप्ति न होना। ये दो बातें हों तो समझ लेना चाहिए कि अन्तरायकर्म उदय में आ रहा है।

इन आठों कर्मप्रकृतियों के बन्ध के विभिन्न कारणों को समझ लेने पर कर्मवादी कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहने का प्रयत्न करता है।

आठ कर्मों के क्रम का रहस्य

ज्ञान और दर्शन के बिना जीव का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग (ज्ञान-दर्शनमय) है। ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही शास्त्रादि विषयक समग्र प्रवृत्ति होती है, लब्धियाँ भी ज्ञानोपयोग वाले को ही प्राप्त हो सकती है, मुक्त होते समय भी जीव ज्ञानोपयोग वाला होता है। अतः ज्ञान की प्रधानता होने से सर्वप्रथम ज्ञान का आवरक—ज्ञानावरणीय कर्म रखा गया। तत्पश्चात् रखा गया दर्शन का आवरक—दर्शनावरणीयकर्म। ये दोनों कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख-दुःखरूप वेदनीयकर्म में निमित्त होते हैं। जैसे—गाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म को भोगता हुआ जीव सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान करने में स्वयं को असमर्थ पाकर खिन्न होता है, जबकि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशय की प्रबलता वाला जीव अपनी बुद्धि से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुओं का ज्ञान करके हर्षानुभव करता है। इसी पकार प्रगाढ़ दर्शनावरणीय कर्म का उदय होने पर जीव जन्मान्ध होकर दुःख भोगता है, तथा उक्त कर्म के क्षयोपशम की प्रबलता होने पर जीव निर्मल स्वस्थ चक्षुओं तथा अन्य इन्द्रियों से वस्तुओं को यथार्थरूप में देखता हुआ हर्षानुभव करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के पश्चात् वेदनीय कर्म कहा गया है।

वेदनीय इष्टवस्तुओं के संयोग में सुख तथा अनिष्टवस्तुओं के संयोग

में दुःख उत्पन्न करता है, इससे संसारी जीव के राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है और राग-द्वेष मोहनीयकर्म के कारण है। इसलिए वेदनीय-कर्म के बाद मोहनीय कर्म का क्रम रखा गया।

मोहनीयकर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारम्भ-महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरकादि गतियों की आयु बाँधते है। अतः मोहनीकर्म के बाद आयुष्य-कर्म का कथन किया गया है।

नरकादि आयुकर्म का उदय होने पर अवश्य ही नरकगति आदि नामकर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। अतः आयुकर्म के बाद नामकर्म रखा गया है।

नामकर्म का उदय होने पर जीव उच्च या नीच गोत्र में से किसी एक गोत्र कर्म का अवश्य ही भोग करता है। इसलिए नामकर्म के बाद गोत्रकर्म का कथन किया गया है।

गोत्रकर्म का उदय होने पर उच्चकुलोत्पन्न जीव के दान, लाभ आदि से सम्बन्धित अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है, एवं नीचकुलोत्पन्न जीव के इन सबका उदय होता है। इसलिए गोत्रकर्म के बाद अन्तरायकर्म को स्थान दिया गया।

आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ

आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ १४८ या १५८ होती है। वे इस प्रकार है—(१) ज्ञानावरणीयकर्म की ५, (२) दर्शनावरणीय कर्म की ६, (३) वेदनीयकर्म की २, (४) मोहनीयकर्म की २८, (५) आयुष्यकर्म की ४, (६) नामकर्म की ६३ अथवा १०३, (७) गोत्रकर्म की २, और (८) अन्तरायकर्म की ५। इनका विशेष विवेचन कर्मग्रन्थ आदि ग्रन्थों से समझ लेना चाहिए। वहाँ इनके विषय में गहन विचार किया गया है।[1]

कर्मों की स्थिति

आत्मप्रदेशों के साथ जब कार्मणवर्गणाओं का सम्बन्ध होता है, तब तत्क्षण कर्म की स्थिति (कालमर्यादा) का निर्माण हो जाता है। वह स्थिति जीवों के परिणामों की तीव्रता-मन्दता की तरतमता के अनुसार अनेक प्रकार की होती है, किन्तु नाना जीवापेक्षा शास्त्रों में कर्मों की स्थिति दो प्रकार की बताई गई है—जघन्य (लघुतम) और उत्कृष्ट (अधिकतम) स्थिति।[2]

---

१ (क) प्रज्ञापना पद २३।२, (ख) कर्मग्रन्थ भा० १

२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३३, गा० १९ से २३
(ख) तत्त्वार्थ० अ० ८ सू० १५ से २१ तक

आठ कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—

क्रम	कर्म	जघन्यस्थिति	उत्कृष्टस्थिति
१.	ज्ञानावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम
२.	दर्शनावरणीय	,, ,,	३० कोटाकोटि सागरोपम
३	वेदनीयकर्म	१२ मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम
४.	मोहनीयकर्म	अन्तर्मुहूर्त	७० कोटाकोटि सागरोपम
५.	आयुष्यकर्म	,,	३३ सागरोपम
६	नामकर्म	आठ मुहूर्त	२० कोटाकोटि सागरोपम
७	गोत्रकर्म	,, ,,	२० कोटाकोटि सागरोपम
८	अन्तरायकर्म	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम

कर्मों का फलविपाक

कर्म अचेतन है, वे जीव को नियमित फल कैसे दे सकते हैं ? इसी प्रश्न के आधार ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने ईश्वर को कर्मफल का नियन्ता बताया; परन्तु जैनदर्शन कर्मफल का नियंता ईश्वर को नहीं मानता, उसका कारण हम पहले बता चुके है। जीवात्मा के सम्बन्ध से कर्मपरमाणुओं में एक विशिष्ट परिणाम होता है, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक प्रदान में समर्थ होकर जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है।

सच्चे माने में तो आत्मा अपने किये का फल अपने आप भोगता है। कर्मपरमाणु उसमें सहकारी बन जाते है। जब आत्मप्रदेशों के साथ कार्मण-वर्गणाओं का सम्बन्ध होता है, तब आत्मा का जैसा भी तीव्रमन्दादि या शुभाशुभ अध्यवसाय (रस या अनुभाग) होता है, तदनुसार उनमें शुभ-अशुभ तीव्रतम-तीव्रतर-तीव्र, मध्यम, मन्द-मन्दतर, या मन्दतम फल देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उसे ही अनुभाव या अनुभाग कहते हैं।

जैसे– विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पाकर उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही सेवन करने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। फल देने का यह सामर्थ्य ही विपाक या अनुभाव है।[1] उसका निर्माण ही अनुभाव (अनुभाग या रस) बन्ध है। अनुभाव (विपाक) समय आने पर ही फल देता है। परन्तु वह फल देता है, उस-उस कर्म के

१ विपाकोऽनुभावः ।' 'स यथानाम ।' —तत्त्वार्थ० अ० ८, सू०२४-२५

स्वभाव (मूलकर्म प्रकृति) के अनुसार ही, अन्य कर्म के स्वभावानुसार नहीं। इस सम्बन्ध में भगवतीसूत्र में वर्णित भगवान् महावीर और कालोदायी परिव्राजक का संवाद द्रष्टव्य है।

एकदा राजगृही में गुणशीलक चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर से कालोदायी अनगार ने पूछा---

भगवन् ! जीवो के द्वारा किये हुए पापकर्म उन्हें पापफल-विपाक से युक्त करते हैं ?

भगवान्—हाँ, करते हैं।

कालोदायी—भगवन् ! जीवो के पापकर्म उन्हें पापफल से सयुक्त कैसे करते हैं ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाकशुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनो से युक्त अति सुन्दर भोजन विष मिश्रित करके खाता है। वह भोजन उसे आपातभद्र (खाते समय अच्छा) लगता है, किन्तु बाद में ज्यो-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यो-त्यो वह दुरूप (विकृत) और दुर्गन्धरूप को पाकर शरीर के सब अवयवों को बिगाडता हुआ महाशव (मृतक) की तरह मृत कर देता है। (वह परिणामभद्र नही होता) इसी प्रकार हे कालोदायी ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पापकर्म) आपातभद्र होते है, किन्तु बाद मे वह परिणमन करता हुआ दुरूप, दुर्गन्ध से युक्त होकर जीवों को सब प्रकार से दुःखित (शारीरिक-मानसिक दुःखो से पीडित) करते है। हे कालोदायी ! इसी प्रकार जीवों के द्वारा कृत पाप-कर्म उन्हें पापफलविपाक से युक्त करते है।[1]

फिर कालोदायी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! जीवो के द्वारा कृत कल्याण कर्म क्या उन्हे कल्याण-फल-विपाक से युक्त करते है ?

भगवान्—हाँ, कालोदायी करते है।

कालोदायी—भगवन् ! कल्याणकर्म जीवो को कैसे कल्याणफल से युक्त कर देते हैं ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (पवित्र एवं परिपक्व), अठारह व्यंजनों से युक्त भोजन औषधमिश्रित करके खाता है। उसे वह भोजन आपातभद्र (प्रारम्भ में अच्छा) नहीं लगता;

१ भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक १०, सू० २२२

किन्तु बाद में ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों (औषध के कारण उस पुरुष का रोग मिट जाने से) उससे सुरूपता, सुवर्णता यावत् सुखानुभूति होती है, वह भोजन दुःखरूप में परिणत नहीं होता है। इसी प्रकार हे कालोदायी! प्राणातिपातविरत यावत् मिथ्यादर्शन शल्यविरत जीवों को आपातभद्र नहीं लगती किन्तु बाद में जब उन शुभकर्मों का फल उपलब्ध होता है, तब आत्मा सब प्रकार से सुखों का अनुभव करता है। इसी प्रकार हे कालोदायी! जीवों के कल्याणकर्म उन्हें कल्याणफलविपाक से युक्त कर देते हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि औषधमिश्रित भोजन करना पहले तो मन के प्रतिकूल लगता है, किन्तु पीछे वह भोजन सुखप्रद हो जाता है। ठीक उसी प्रकार हिंसादि से विरतिरूप शुभकर्म करने में अत्यन्त कठिन प्रतीत होते हैं, किन्तु जब वे फल देते है, तब परमसुखप्रद हो जाते हैं, इसलिए कल्याणकर्म आपातभद्र नहीं, किन्तु परिणामभद्र है।

अत कर्मों का फल शुभाशुभ भोजन की तरह स्वतः ही आत्मा को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए कर्मों का फलविपाक (अनुभाव) भी एक प्रकार का नहीं होता, मुख्यतः शुभ और अशुभ दो प्रकार के रस (अनुभाग) के अनुसार निर्मित होते है।

अध्यवसायों की तरतमता को जैनदर्शन में लेश्या कहा है। ये लेश्याएँ ६ है—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्म एव (६) शुक्ललेश्या। अध्यवसायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार शरीर में से प्रवाहित हुए एक प्रकार के पुद्गलों में इन लेश्याओं के रंग की झलक पड़ती है। इनमें से प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ है और अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ है। लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का वर्णन भी शास्त्रों में गहराई से किया गया है।[2]

आठ कर्मों के अनुभाव (फलविपाक) इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणीयकर्म के दस अनुभाव—(१) श्रोत्रावरण, (२) श्रोत्र-विज्ञानावरण, (३) नेत्रावरण, (४) नेत्रविज्ञानावरण, (५) घ्राणावरण, (६) घ्राणविज्ञानावरण, (७) रसावरण, (८) रसविज्ञानावरण, (९) स्पर्शावरण, (१०) स्पर्शविज्ञानावरण।

---

१. भगवती शतक ७, उद्देशक १०, सू० २२३-२२६

२. विशेष विवरण के लिए देखिए - उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ३४ (सम्पूर्ण)

दर्शनावरणीय के नौ अनुभाव—(१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानर्द्धि, (६) चक्षुदर्शनावरण, (७) अचक्षुदर्शनावरण, (८) अवधिदर्शनावरण और (६) केवलदर्शनावरण।

सातावेदनीय के आठ अनुभाव—(१-५) मनोज्ञ शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्श, (६) मन सुखता, (७) वचनसुखता, (८) कायसुखता।

असातावेदनीय के आठ अनुभाव—सातावेदनीय के अनुभावों से बिलकुल विपरीत अनुभाव असातावेदनीय के है।

मोहनीयकर्म के पांच अनुभाव—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्ववेदनीय, (३) सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय, (४) कषायवेदनीय, (५) नोकषायवेदनीय।

आयुकर्म के चार अनुभाव—(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु।

शुभनामकर्म के चौदह अनुभाव—(१-५) इष्टशब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श (६-७) इष्टगति-स्थिति, (८) लावण्य, (६) यशःकीर्ति, (१०) उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकारपराक्रम, (११) इष्टस्वरता, (१२) कान्तस्वरता, (१३) प्रियस्वरता और (१४) मनोज्ञस्वरता।

अशुभनामकर्म के चौदह अनुभाव—शुभनामकर्म के १४ अनुभावों से ठीक विपरीत १४ अनुभाव अशुभनामकर्म के हैं। यथा अनिष्ट शब्दादि।

उच्च-गोत्रकर्म के आठ अनुभाव—जाति-कुल-बल-रूप-तपः-श्रुत-लाभ-ऐश्वर्य-विशिष्टता।

नीच गोत्रकर्म के आठ अनुभाव—ये पूर्वोक्त आठ के विपरीत जाति-कुल-बल-रूप-तपः-श्रुत-लाभ-ऐश्वर्यविहीनता है।

अन्तराय के पांच अनुभाव—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

कर्मों की दस अवस्थाएँ

कर्मों की १० अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) बन्ध, (२) उद्वर्त्तना, (३) अपवर्त्तना, (४) सत्ता, (५) उदय, (६) उदीरणा, (७) संक्रमण, (८) (८) उपशम, (६) निधत्ति और (१०) निकाचना।

इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है—

(१) बन्ध—मिथ्यात्वादि आस्रवों के निमित्त से जीव के असंख्य प्रदेशों में हलचल पैदा होने से जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उस क्षेत्र में विद्यमान

जो अनन्तानन्त कर्मयोग्यपुद्गल आत्मा के प्रदेशों के साथ बँध जाते हैं चिपक जाते हैं, उसी का नाम बन्ध है।[1]

(२-३) **उद्वर्त्तना-अपवर्त्तना**—स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उद्वर्त्तना और घटने को अपवर्त्तना कहते है। कर्मों का बन्ध होने के पश्चात् ये दोनों क्रियाएँ होती हैं। अशुभकर्म बांधने के बाद जीव की भावना यदि और अधिक कलुषित हो जाए तो पहले बँधे हुए अशुभकर्मों की स्थिति बढ़ जाती है तथा फल देने की शक्ति भी तीव्र हो जाती है, इस क्रिया का नाम **उद्वर्त्तना** है, और अशुभ कर्म बँधने के बाद जीव यदि पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त-ग्रहण आदि क्रियाएँ कर लेता है, तो पूर्वबद्ध अशुभ-कर्मों की स्थिति भी घट जाती है और फल देने की शक्ति भी मन्द हो जाती है। इस क्रिया को **अपवर्त्तना** कहते है। इन दोनों क्रियाओं के कारण कोई कर्म शीघ्र और तीव्र फल देता है, और कोई देर से तथा मन्द फल देता है।

(४) **सत्ता**—बँधे हुए कर्म तत्काल फल नही देते। कुछ समय बाद उनका विपाक (परिपाक) होता है। अतः कर्म अपना फल न देकर जब तक आत्मा के साथ अस्तित्वरूप में रहते है, उस दशा को '**सत्ता**' कहते है। सत्ता में रहे हुए कर्म जीव के परिणामों को किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं करते।

(५) **उदय**—विपाक (फलदान) का समय आने पर कर्म जब अपना शुभाशुभ फल देने लगता है, तब वह उसका उदय माना जाता है। उदय-काल को कर्मनिषेककाल भी कहते है। उदय यदि शुभकर्म का हो तो जीव के सभी पासे सीधे पड़ने लगते है, उसे सुख की प्राप्ति होती है और अशुभ-कर्म का उदय हो तो सब कुछ उलटा होने लगता है। वह आपत्ति-विपत्तियो से घिर जाता है, उसे कष्ट, पीड़ा, शोक की अनुभूति होती है।

उदय दो प्रकार का होता है—**विपाकोदय** और **प्रदेशोदय**। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, वह **विपाकोदय** (फलोदय) और जो कर्म उदय में आकर भी बिना फल दिये नष्ट हो जाता है, वह **प्रदेशोदय** कहलाता है।

---

१ (क) बन्ध के प्रकार आदि के विषय मे पहले 'बन्धतत्त्व' के प्रसंग में वर्णन किया जा चुका है

(ख) दस अवस्थाओं का वर्णन देखें, भगवती १।१२

(६) **उदीरणा**—जो कर्मदलिक भविष्य में उदय में आने वाले हैं, उन्हें विशिष्ट प्रयत्न तप, परीषहसहन, (विशिष्ट त्याग एवं ध्यान आदि) से खींचकर उदय में आए हुए कर्मदलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। उदीरणा में लम्बे समय के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों को तत्काल उदय में लाकर भोग लिया जाता है।

(७) **संक्रमण**—जिस प्रयत्न-विशेष से कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त करता है उस प्रयत्नविशेष को संक्रमण कहते हैं। संक्रमण चार प्रकार का है—(१) प्रकृतिसंक्रमण, (२) स्थिति-संक्रमण, (३) अनुभागसंक्रमण और (४) प्रदेशसंक्रमण।[1]

कर्मों की मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। साथ ही आयुकर्म की चारों उत्तरप्रकृतियों में भी संक्रमण नहीं हो सकता, जैसे—देवायु का संक्रमण मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु में नहीं हो सकता।

उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण—ये चारों 'उदय' में नहीं आए हुए कर्मदलिकों के ही होते हैं, उदयावलिका में प्रविष्ट (उदयावस्था को प्राप्त) कर्मदलिकों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता।

(८) **उपशम**—कर्मों की सर्वथा अनुदय-अवस्था को उपशम कहते हैं। इसमें प्रदेशोदय या विपाकोदय दोनों ही नहीं रहते। उपशम अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण हो सकते है, लेकिन उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना ये चार करण नहीं होते। उपशम केवल मोहनीयकर्म का होता है, दूसरे किसी भी कर्म का नहीं।[2]

(९) **निधत्ति**—आग में तपाकर निकाली हुई सूइयों के पारस्परिक सम्बन्ध के समान पूर्वबद्ध कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ परस्पर मिल जाना निधत्ति है। इसमें उद्वर्तना-अपवर्तना, दो करण हो सकते हैं, उदीरणा और संक्रमण आदि करण नहीं हो सकते।

(१०) **निकाचना**—आग में तपाकर निकाली हुई सूइयों को घन (हथौड़े) से कूटने पर जैसे वे एकाकार हो जाती है उसी प्रकार कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ अत्यन्त प्रगाढ सम्बन्ध हो जाने को निकाचना या

---

१ कर्मग्रन्थ भा० २, गा० १ की व्याख्या

२ अनुयोगद्वार सू० १२६

निकाचितबन्ध कहते हैं। इसमें उद्वर्त्तना-अपवर्त्तना, उदीरणा आदि कोई भी करण नही हो सकता।

उदय और सत्ता इन दो को छोड़कर कर्मों की बन्ध आदि ८ अवस्थाएँ करण कहलाती है। करण का अर्थ अध्यवसाय का बल या वीर्य (प्रयत्न) विशेष है। क्योंकि इन क्रियाओं को करते समय जीव को विशेष प्रयत्न करना होता है।[1]

---

१ कर्मप्रकृति गा० २

मोक्षवाद : कर्मों से सर्वथा मुक्ति

आत्मवाद आदि का लक्ष्य : मोक्ष-प्राप्ति

कर्मवाद को मानने का फल यह नहीं कि व्यक्ति इसको जानकर ही रह जाय और कर्मों के जाल में ही फँसा रहे अथवा शुभ कर्मों (पुण्य) से छुटकारा न पाए, बल्कि कर्मविज्ञान को भलीभांति जानकर वह शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त होने का प्रयत्न करे अथवा कर्म-शास्त्र का सम्यक्ज्ञान होने पर वह कर्मों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शनयुक्त होकर सम्यक्चारित्र की आराधना करे। इसलिए आत्मवाद आदि चारों वादों का अन्तिम लक्ष्य मोक्षवाद है।

पहले बताया जा चुका है कि जीव रत्नत्रय की साधना से सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा एक दिन शुभ तथा अशुभ सभी कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। इसी अवस्था को निर्वाण या मोक्ष कहते हैं।[1]

एक बार बँधे हुए कर्म का कभी न कभी तो क्षय होता ही है, पर उस कर्म का बन्धन पुनः सम्भव हो अथवा वैसा कोई कर्म अभी शेष हो, ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो गया है। आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्म अथवा नवीन कर्म के बाँधने की योग्यता का पूर्णतया अभाव।

जब तक आस्रवद्वार खुला रहेगा, तब तक कर्म-प्रवाह भी आता रहेगा। जीव पूर्वबद्ध कर्मों का विपाक भोगकर आत्मप्रदेशों से अलग करता है, साथ ही नये कर्मों को भी राग-द्वेषवश बाँधता रहता है। यानी कर्म-परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्मपरमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। अतः बद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम आस्रवों का निरोध करके नये आते हुए कर्मों को रोकना—संवर की साधना करना आवश्यक है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आस्रव हैं और

---

१ नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्तरा० २८।२

सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुद्धोपयोग, ये पांच संवर है। इस प्रकार पंचास्रवों का निरोध करके पंचसंवर रूप साधना में जब साधक प्रवृत्त होता है, तब वह नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता, कर्मबन्ध की परम्परा को रोक देता है।

दूसरी ओर पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने के लिए निर्जरा की साधना भी आवश्यक है। निर्जरा के लिए सबसे प्रधान साधन आत्मलक्ष्यी बाह्य-आभ्यन्तर तप है। जिस प्रकार सोने पर लगे हुए मैल को दूर करने के लिए उसे अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता है। वैसे ही तप की अग्नि द्वारा आत्मा पर लगे कर्ममल को जलाकर नष्ट किया जाता है। कहा भी है—तपःसाधना से करोड़ों भवों के संचित पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा (कर्मक्षय) की जाती है।[1]

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

शास्त्र में तप के साथ-साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मोक्ष-प्राप्ति के साधन बताये गए है।[2] परन्तु यहाँ निश्चय दृष्टि से पर-पदार्थों (भावों) में आसक्त न होने, तथा परभावों में जाने से आत्मा को रोकने का नाम सम्यक्तप है, जिसमें ज्ञान-दर्शन और चारित्र का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः यहाँ पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करने के लिए तप को ही ग्रहण किया गया है।

तपस्या के भेद और ध्यान साधना

तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के अनशन आदि ६ भेद हैं, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये भेद ६ है। इन सबके विषय में हम पहले विवेचन कर चुके है। यहाँ ध्यान के विषय में कुछ प्रकाश डाला जाएगा; क्योंकि ध्यान से चित्त एकाग्र होता है और एकाग्रचित्त होने से तथा आत्मा के परभावों से निवृत्त एवं अनासक्त होने से कर्मों की निर्जरा शीघ्र की जा सकती है।

ध्यान के भेद-प्रभेद

शास्त्रकारों ने चार प्रकार का ध्यान बतलाया है—(१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

१ भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई। —उत्तरा० ३०।६

२ नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झइ। —उत्तरा० २८।३५

इन चारो में से पहले के दो ध्यानों से निवृत्त होना है, तथा पिछले दो ध्यानो में प्रवृत्त होना है। पहले के दो ध्यान अशुभ है, जबकि पिछले दो ध्यान शुभ है।

आर्तध्यान शोक, चिन्ता आदि से होता है। वह चार प्रकार का होता है—(१) **इष्टवियोगज**—इष्ट स्त्री-पुत्र-धनादि के वियोग पर शोक करना, (२) **अनिष्टसंयोगज**—अनिष्ट-दुःखदायी पदार्थों या जीवो का संयोग होने पर शोक करना, (३) **पीड़ा चिन्तवन**—रोग आदि की पीडा होने पर दुःखी होना—विलाप करना, (४) **निदान**—आगामी सुख-भोगों की तीव्र इच्छा रखना।

रौद्रध्यान हिंसा आदि भयंकर पापो के चिन्तन से होता है। वह भी चार प्रकार का है—(१) **हिंसानन्द**—हिंसा करने-कराने मे तथा हिंसाकाण्ड सुनकर आनन्द मानना, (२) **मृषानन्द**—असत्य बोलने, बुलाने या बोला हुआ जानकर आनन्द मानना। (३) **चौर्यानन्द**—चोरी करने-कराने मे या चोरी हुई सुनकर आनन्द मानना। (४) **परिग्रहानन्द**—परिग्रह बढाने-बढ़वाने में तथा बढ़ता हुआ देखकर हर्ष मानना।

धर्मध्यान—आत्मकल्याणरूप वह ध्यान, जिसमे एकाग्रचित्त होकर धर्मरूप या कल्याणरूप चिन्तन किया जाए, धर्मध्यान है। यह भी चार प्रकार का है—(१) **आज्ञाविचय**—जिनेन्द्र की आज्ञानुसार आगम के तत्त्वो या सिद्धान्तो का विचार करना, (२) **अपायविचय**—अपने एवं अन्य जीवो के अज्ञान, कर्म, या रागद्वेषादि दोषों के स्वरूप का और इन्हें दूर करने के उपाय का चिन्तन करना, (३) **विपाकविचय**—स्वयं को तथा अन्य जीवो को सुखी या दुःखी देखकर कर्मविपाक (फल) विषयक चिन्तन करना (४) **संस्थानविचय**—इस लोक के या आत्मा के आकार या स्वरूप का मनोयोगपूर्वक विचार करना।[१]

संस्थानविचय—धर्मध्यान के चार उत्तर भेद है—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत ध्यान।

---

१ (क) 'आर्त्त-रौद्र-धर्म-शुक्लानि।' परे मोक्षहेतू।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।२९-३०

(ख) आर्तममनोज्ञाना सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः। वेदनायाश्च।

(ग) विपरीतं मनोज्ञानाम्। निदान च। हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो.। आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।३१-३७

पिण्डस्थ ध्यान—ध्यान करने वाला मन, वचन एवं काया शुद्ध करके एकान्त स्थान में जाकर पद्मासन, खड्गासन या सिद्धासन अथवा पर्यंकासन आदि किसी आसन से बैठकर अपने पिण्ड या शरीर में विराजित आत्मा का ध्यान करता है, इसी का नाम पिण्डस्थ ध्यान है।

इसकी पांच धारणाएँ हैं।

(१) **पार्थिवी धारणा**—इस मध्यलोक को क्षीरसमुद्र के समान निर्मल देखकर उसके मध्य में एक लाख योजन व्यास वाले जम्बूद्वीप के सदृश तपे हुए सोने के रंग के एक हजार पखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करे। इस कमल की कर्णिका सुमेरुपर्वत के समान पीत रंग की एवं ऊँची है, ऐसा विचार करे। फिर इस पर्वत पर स्थित पाण्डुकवन में पाण्डुकशिला पर एक स्फटिकमणिमय सिंहासन का चिन्तन करे, और अन्तश्चक्षु से देखे कि मैं इसी सिंहासन पर अपने कर्मों का क्षय करने के लिए ध्यानस्थ बैठा हूँ। इतना ध्यान बार-बार करके जमाए और अभ्यास करे। जब इसका अभ्यास हो जाए तब दूसरी धारणा का मनन करे।

(२) **आग्नेयी धारणा**—उसी स्फटिक सिंहासनस्थ होकर ध्यान करने वाला यह सोचे कि मेरी नाभि के स्थान में ऊपर की ओर मुख किये १६ पंखुडियोवाला एक विकसित श्वेतकमल है। उसके प्रत्येक पत्र पर पीले रंग से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' ये सोलह स्वर क्रमशः लिखे हुए है। बीच में पीले रंग से 'र्ह्' लिखा है। इसी कमल पर हृदयस्थान में आठ पत्र के औधे खिले हुए उडते काले रंग (धूएँ के से रंग) के एक कमल का चिन्तन करे, इसके प्रत्येक पत्र पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मों को लिखा देखे। यह कमल अष्ट कर्मों का प्रतीक है।

तत्पश्चात साधक ऐसा चिन्तन करे कि प्रथम कमल के 'र्ह्' अक्षर की रेफ से प्रथम धुँआ निकला, फिर अग्निशिखा निकली और अग्नि शिखा आगे बढ़कर दूसरे कमल को जला रही है। वह अग्निशिखा जलाती हुई उसके मस्तक पर आ गई। फिर वह अग्निशिखा शरीर के दोनों ओर रेखारूप में आकर नीचे दोनों कोनों से मिल गई और फिर त्रिकोण रूप हो गई। इस त्रिकोण की तीनों रेखाओं पर अग्निमय (अग्नि के बीजाक्षर) र र र र र र र अक्षरों को स्फुरायमान देखे तथा इसके तीनों कोनो में बाहर की ओर अग्निमय स्वस्तिक का चिन्तन करे। भीतर तीनों कोनों में अग्निमय 'ॐर्' लिखे हुए देखे। यह मण्डल भीतर से आठ कर्मों को और बाहर से शरीर

को जलाकर भस्म बना देता है और फिर धीरे-धीरे शान्त हो रहा है। अग्निशिखा, जहाँ से उठी थी, वहीं समा गई है। इस प्रकार का चिन्तन करना आग्नेयी धारणा है।

(३) **मारुति धारणा**—दूसरी धारणा का अभ्यास होने के पश्चात् साधक यह सोचे कि मेरे चारों ओर पवनमण्डल घूमकर पूर्वोक्त राख को उड़ा रहा है। उस मण्डल में सब ओर 'स्वाय' लिखा है।

(४) **वारुणी धारणा**—तीसरी धारणा का अभ्यास होने के पश्चात् यह विचार करे कि आकाश में काले-काले मेघ मण्डरा रहे है और पानी बरस रहा है। यह पानी मेरी आत्मा पर लगे हुए कर्म-मैल को धोकर उसे (आत्मा को) स्वच्छ-शुद्ध कर रहा है। जलमण्डल पर सब ओर प प प प प लिखा हुआ है।

(५) **तत्त्वरूपवती धारणा**—चौथी धारणा का भलीभांति अभ्यास हो जाने पर स्वयं को समस्त कर्मरहित शुद्ध सिद्धसम अमूर्तिक स्फटिकवत् निर्मल आत्मा के रूप मे देखता रहे। यह तत्त्वरूपवती धारणा है।

इन पाँचो धारणाओं का उद्देश्य चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास तथा ध्यान मे स्थिरता लाना है।

यह पिण्डस्थ धर्मध्यान का स्वरूप है।

पदस्थध्यान—किसी पद (शब्दसमूह) को लेकर उस पर एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना पदस्थ ध्यान है।

साधक अपनी इच्छानुसार एक या अनेक पदों को विराजमान करके ध्यान कर सकता है। जैसे—हृदयस्थान में आठ पंखडियों के एक श्वेतकमल का चिन्तन करके उसके ८ पत्रों पर क्रमशः ये आठ पद पीले रंग के अंकित करे। यथा—(१) णमो अरहंताणं, (२) णमो सिद्धाणं, (३) णमो आयरियाणं, (४) णमो उवज्झायाणं, (५) णमो लोए सव्वसाहूणं, (६) सम्यग्दर्शनाय नमः (७) सम्यग्ज्ञानाय नमः (८) सम्यक्चारित्राय नमः।

साथ ही प्रत्येक पद पर रुकता हुआ उसके अर्थ का विचार करता रहे। अथवा अपने हृदय पर या मस्तक पर अथवा दोनों भौहों के बीच में या नाभि में 'ह्रीँ' 'अर्हं' अथवा 'ॐ' को चमकते हुए सूर्यसम देखे तथा उन पर अरहन्त एवं सिद्ध के स्वरूप का विचार करे; इत्यादि।

यह ध्यान एक से लेकर अनेक अक्षरों के मंत्रों का किया जा सकता है।

रूपस्थ ध्यान—किसी महापुरुष के रूप (प्रतिकृति-आकृति) का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। जैसे—ध्याता अपने चित्त में यह चिन्तन

करे कि मैं समवसरण में विराजमान साक्षात् तीर्थंकर भगवान् को अन्तरिक्ष ध्यानमय परमवीतरागरूप में देख रहा हूँ। सिंहासन पर भगवान् छत्र, चामर आदि आठ महाप्रातिहार्य सहित विराजमान हैं। समवसरण में १२ परिषद् हैं, जिनमें देव, देवी, मनुष्य, पशु, पक्षी, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि बैठे हैं। भगवान् की धर्मदेशना (उपदेश) हो रही है।

रूपातीत ध्यान—इस ध्यान में ध्याता अपने आपको शुद्ध स्फटिकमय सिद्ध भगवान् की आत्मा के समान विचार कर परमशुद्ध निर्विकल्पस्वरूप आत्मा का ध्यान करता है।

शुक्लध्यान - धर्मध्यान का अभ्यास करते हुए साधक जब सातवें गुण-स्थान से आठवें गुणस्थान में आता है, तब शुक्लध्यान को अपनाता है।

शुक्लध्यान के मुख्यतया चार भेद हैं[1]—(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार (२) एकत्ववितर्क-निर्विचार, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और (४) व्युपरतक्रिया-निवृत्ति (समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति)।

इन चारों में से पहले दो शुक्लध्यानों का आश्रय प्रायः एक है, अर्थात्—दोनों का प्रारम्भ प्रायः पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसमें माषतुष आदि जैसे साधक अपवाद माने जा सकते हैं कि उन्हें बिना पूर्वज्ञान के ही शुक्लध्यान की प्राप्ति हो गई थी। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि ऐसा कोई कठोर नियम नहीं है कि पूर्वज्ञानी के ही शुक्लध्यान का प्रारम्भ हो; पर इतना निश्चित है कि केवलज्ञान की प्राप्ति शुक्लध्यान के बल पर ही होती है।

प्रारम्भ के ये दोनों ध्यान वितर्क (श्रुतज्ञान) सहित है। दोनों में वितर्क का साम्य होने पर भी वैषम्य यह है कि पहले में पृथक्त्व (भेद) है, जबकि दूसरे में एकत्व (अभेद) है।

पृथक्त्ववितर्कसविचार—जब ध्याता पूर्वधर हो, तब वह पूर्वगत श्रुत के आधार पर और पूर्वधर न हो तो अपने में (शुद्धात्मा में लीन) सम्भावित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ में या आत्मरूप चेतन में—एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि विविध नयों द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है।

---

१ 'पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवृत्तीनि।'

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।४१

यथासम्भव श्रुतज्ञान के आधार पर वह किसी एक द्रव्यरूप अर्थ से पर्यायरूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्यायरूप अर्थ पर या एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य द्रव्यरूप अर्थ पर चिन्तन करता है। इस प्रकार उसका चिन्तन अर्थ से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चलता रहता है। इसी तरह मन, वचन, काया इन तीनों योगों का आलम्बन भी बदलता रहता है। शब्द, अर्थ और ध्येय पदार्थ भी पलटता रहता है।

अतः जिस ध्यान मे श्रुतज्ञान (वितर्क) का अवलम्बन लेकर एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, या अर्थ पर से शब्द पर या शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग से दूसरे योग पर संक्रमण (संचार) किया जाता है, उसे पृथक्त्ववितर्कसविचार शुक्लध्यान कहते है।

यह आठवें से ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान तक ही होता है।

एकत्व-वितर्क-निर्विचार—पूर्वोक्त कथन के विपरीत जब ध्याता अपने में सम्भाव्य श्रुतज्ञान (वितर्क) के आधार पर किसी एक ही पर्यायरूप पदार्थ पर, तीनों योगों में से किसी एक योग पर या किसी एक ही शब्द पर एकत्व (अभेद) प्रधान चिन्तन में अपना उपयोग स्थिर कर लेता है, शब्द या अर्थ के चिन्तन का एवं विभिन्न योगो में संक्रमण का परिवर्तन नही करता, उसका वह ध्यान एकत्ववितर्क निर्विचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान है।

यह ध्यान १२वे गुणस्थान में होता है।[1]

उक्त दोनो शुक्लध्यानो में से पहले भेदप्रधान शुक्लध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेद (एकत्व) प्रधान शुक्लध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

इन दोनों शुक्लध्यानों में सम्पूर्ण जगत् के भिन्न-भिन्न विषयो में भटकते हुए मन को किसी भी एक विषय पर केन्द्रित करके स्थिर किया जाता है। उपर्युक्त क्रम से दोनों प्रकार के ध्यानों से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है। चंचलता मिट जाने से मन निष्प्रकम्प वन जाता है। फलतः ज्ञान के समस्त आवरणो का विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती—जब सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध के क्रम में अन्त में सूक्ष्मशरीरयोग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते हैं, तब वह सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यह ध्यान १३वें गुणस्थान के अन्त

१ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः, परे केवलिनः। —तत्त्वार्थ० अ० ९ सू०३९-४०

में होता है, जबकि सर्वज्ञ-अरिहन्त का काययोग अतिसूक्ष्म रह जाता है, श्वासोच्छ्वास के समान सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है। इस ध्यान में पतन की सम्भावना नहीं है।

समुच्छिन्न (व्युपरत) क्रियानिवृत्ति जब शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश मन-वचन-काया, तीनों योगों के निरोध से सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं। इस प्रकार का ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान कहलाता है। यह ध्यान १४वें गुणस्थान में होता है, जिसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया नहीं होती। यह स्थिति बाद में नष्ट भी नहीं होती। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से समस्त आस्रव और बन्ध के निरोधपूर्वक शेष कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसमें आत्मा निश्चल, अयोगी—निष्प्रकम्प होकर कर्मों के सभी बंधनों को काट कर परमात्मा या सिद्धमुक्त बन जाता है।[1]

तीसरा और चौथा शुक्लध्यान केवली भगवान् के ही होता है। इन दोनों ध्यानों में किसी प्रकार का श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता।

यह चार प्रकार का शुक्लध्यान क्रमशः तीन योग वाले, किसी एक योग वाले, काययोग वाले और अयोगी को होता है।[2]

मुक्ति की प्रक्रिया : अधिकाधिक निर्जरा

मुक्ति या मोक्ष[3] का अर्थ सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक क्षय बताया गया था। उसकी प्रक्रिया क्रमशः इस प्रकार है—

वास्तव में, कर्मसम्बन्ध के मुख्य साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्मपरमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं, तीव्र फल भी देते हैं। किन्तु कषाय के मन्द होते ही कर्मों की स्थिति भी अल्प हो जाती है और फलप्रदानशक्ति भी मन्द हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मन्द होती जाती है, जैसे-वैसे कर्म-निर्जरा अधिक होती जाती है, पुण्यबन्ध भी शिथिल होता जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में

---

१. ध्यान का विशेष स्वरूप जानने के लिए हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र, शुभचन्द्राचार्य का ज्ञानार्णव, ध्यानशतक आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

२. त्र्येककाययोगायोगानाम्। —तत्त्वार्थ० अ० ९ सू० ४२

३. कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः। —तत्त्वार्थ० अ० १०।३

सम्यग्दृष्टि से लेकर जिन—अवस्था तक उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्येयगुणी निर्जरा बताई है। सम्यग्दृष्टि से श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी-वियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन तक, ये दस स्थान क्रमशः असंख्यातगुणी निर्जरा वाले हैं।[1]

वस्तुतः सर्वकर्मबन्धनों का क्षय ही मोक्ष है। कर्मों का अंशतः क्षय निर्जरा है। दोनों के लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट है कि मोक्ष का पूर्वगामी अंग निर्जरा है। विशिष्ट मोक्षाभिमुखता है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक दस विभागों में विभक्त है, जिनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर विभाग में परिणामविशुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। परिणामविशुद्धि धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्रक्रिया से होती है और परिणामविशुद्धि जितनी अधिक होती है, उतनी-उतनी विशेष कर्मनिर्जरा भी होती है। अतः प्रथम-प्रथम अवस्था में होने वाली कर्मनिर्जरा की अपेक्षा आगे-आगे की अवस्था में कर्मनिर्जरा असंख्यातगुनी बढ़ती जाती है। सबसे अधिक निर्जरा सर्वज्ञ जिन भगवान् की होती है।

कषायों का लगभग नाश तो दसवें गुणस्थान में ही हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान में मोह उपशान्त हो जाता है। बारहवें में वह क्षीण हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में वीतराग केवली के योग के निमित्त से दो समय की स्थिति का सिर्फ सातावेदनीय कर्मप्रकृति का बन्ध होता है। प्रथम समय में कर्मपरमाणु आत्मा के साथ सम्बन्ध करते हैं, दूसरे समय में भोग लिये जाते हैं और तीसरे समय में कर्म उनसे बिछुड़ जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में मन-वचन-काया की सभी प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं, इसलिए वहाँ नये कर्म का बन्ध नहीं होता, केवल पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है। अबन्ध दशा में आत्मा शेष कर्मों को सर्वथा क्षय करके मुक्त हो हो जाता है।

मुक्त-आत्मा पुनः कर्ममल लिप्त नहीं होता

जिस महान् आत्मा ने कर्मों का आत्यन्तिक नाश कर दिया है, वह पुनः कर्ममल से लिप्त नहीं होता; वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। जब आत्मा एक बार पूर्ण रूप से कर्मों से विमुक्त हो जाता है, फिर वह कभी कर्मबद्ध नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में कर्मबन्ध के कारणों का सर्वथा

---

१ सम्यग्दृष्टि-श्रावक - विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोह-जिना. क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। —तत्त्वार्थ० अ० ९।४७

अभाव हो जाता है। जैसे—बीज के जल जाने पर उसमें पुनः अंकुरित होने (उत्पादन) शक्ति नहीं रहती इसी तरह कर्मरूपी बीज सर्वथा जल जाने पर संसाररूपी अंकुर की भी उत्पत्ति नहीं होती।[1] इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि जो आत्मा कभी कर्मों से बँधा हो, वह एक दिन उनसे मुक्त भी हो सकता है।

मुक्तावस्था का सुख और सांसारिक सुख

मुक्त आत्माएँ मोक्ष में अनन्त आत्मिक सुखों में लीन हो जाती है। मुक्तावस्था में कर्मों की कोई उपाधि न रहने से शरीर, इन्द्रिय एवं मन का वहाँ सर्वथा अभाव हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि एवं वेदना से छुटकारा पाकर सदैव अनन्त आत्मिक सुखों में रमण करता है[2] जो निर्बन्धन निरुपाधिक विषयों से अतीत सुख है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि भूत-भविष्यत्-वर्तमान, इन तीनों काल के दिव्य सुखों को एकत्रित करके उन्हें अनन्त बार गुणा करने पर जो राशि आती है, उससे भी मोक्ष के सुख अधिक हैं।[3] संक्षेप में मोक्षसुख अक्षय, अव्यय, अव्याबाध, अनुपमेय एवं अनिर्वचनीय है।

बहुत-से तत्त्व से अनभिज्ञ लोग शंका करते है कि मोक्ष में तो कुछ भी सुख नही है। वहाँ मन बहलाने का कोई साधन नही है। आमोद-प्रमोद के साधन भी नही हैं। बाग, बंगला तथा अन्य सुखसामग्री भी नहीं, अतः वहाँ क्या सुख हो सकता है?

इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि संसार में जिस अभीष्ट वस्तु के न मिलने से दुःख माना जाता है, वह दुःख मोक्ष में नहीं है। क्योंकि सर्वदुःखों के कारण कर्म ही हैं। मुक्तात्माएँ तो कर्मकलंक से सर्वथा रहित हैं। उन्हे कर्मजन्य वैषयिक सुख या दुःख हो ही नहीं सकता। संसारी मनुष्य पांचों इन्द्रियो के विषयों की तृप्ति में सुख मानता है, किन्तु वे सुख कितने क्षणिक, पराधीन एवं वियोग में दुःखकारक हैं? यह अनुभव तो सभी को होता है। अतः शुभकर्मजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं है, वे दुःख का बीज बोने वाले हैं, अतः उनका भी क्षय करके आत्मा कर्ममुक्त होकर अनन्त,

---

१ दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥ —तत्त्वार्थभाष्य कारिका ८

२ औपपातिकसूत्र सिद्धाधिकार १३

३ उत्तरा० २३।८१

स्वाधीन आत्मिक सुख प्राप्त कर लेता है। मोक्ष में खाना-पीना, खेलना-कूदना, नहाना-धोना आदि शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्धित सुख नहीं हैं, क्योंकि मुक्त आत्माएँ अशरीरी है। शरीर न होने से उनमें शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है[1], फिर भी वे जन्म-मरणादि दुःखों के अत्यन्ताभाव रूप अनन्त आनन्द का अनुभव कर रही है। ऐसे मुक्तात्मा अपने निर्मल चिद्रूप में सदैव आनन्दित है। कर्ममुक्त शुद्धदशा का जो सुख है, वही पारमार्थिक सुख है।

मोक्ष का शाश्वतत्व

कई लोग यह शंका करते है कि कर्मबद्ध आत्मा जब कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, तो उसका मोक्ष हो जाता है, इसलिए यो कहना चाहिए कि मोक्ष की भी उत्पत्ति होती है, क्योंकि उसकी आदि है। और जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका एक दिन विनाश भी होता है। अतः मोक्ष की उत्पत्ति होने से उसका भी अन्त होना चाहिए। इस प्रकार मोक्ष शाश्वत सिद्ध नही हो सकता। तथा जो आत्मा मोक्ष में जाता है, वह भी कुछ समय वहाँ रहकर पुनः ससार में आजाएगा।

इसका समाधान यह है कि मोक्ष कोई उत्पन्न होने वाली वस्तु नही है। केवल कर्मबन्ध से छूट जाना अथवा कर्मों का आत्मा पर से हट जाना ही आत्मा का मोक्ष है। इससे आत्मा में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, जिससे उसके अन्त की कल्पना करनी पड़े। जिस प्रकार बादल हट जाने से जाज्वल्यमान सूर्य प्रकाशित हो जाता है, इसी प्रकार कर्मों के आवरण हट जाने से आत्मा के सब गुण प्रकाशित हो जाते है। दूसरे शब्दों में, आत्मा अपने मूल ज्योतिर्मय चित्स्वरूप में पूर्ण प्रकाशित (आत्मस्वरूप लाभ) हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है।[2]

मुक्त आत्मा का पुनरागमन नहीं होता

सर्वथा निर्मल मुक्त आत्मा पुनः कर्म से बद्ध नहीं होता, इसी कारण उसका संसार में पुनरावर्त्तन (पुनः आगमन) नहीं होता।[3] जब सिद्ध

---

१ आचारांग श्रु० १, अ० ५।६

२ (क) आत्मलाभं विदुर्मोक्षं, जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावो, नाऽप्यचैतन्यं, न चैतन्यमनर्थकम् ।—सिद्धिविनिश्चय पृ० ३८४

(ख) मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति, न ग्रामान्तरमेव च ।
अज्ञानहृदय ग्रन्थिनाशो, मोक्ष इति स्मृत ।। —शिवगीता १३।३२

३ अपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं सपत्ताणं । शक्रस्तव (नमोत्थुणं) पाठ

आत्मा कर्मपुद्गलों से सर्वथा रहित स्वगुणों में विराजमान हैं, तब वे स्थिति-युक्त कैसे हो सकते हैं। कर्मबद्ध आत्माएँ ही स्थितियुक्त होती है, सर्वथा कर्म-मुक्तात्माएँ नहीं। व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति दुष्कर्मों के कारण कारागृह में जाते है, उनकी तो स्थिति सजा की अवधि बांधी जाती है, किन्तु जब कोई कारावास की सजा की अवधि पूरी हो जाने के पश्चात् मुक्त कर दिया जाता है, तब फिर उसके लिए राजकीय पत्र (गजट) में ऐसा नहीं लिखा जाता कि अमुक व्यक्ति को कारागृह से मुक्त किया गया, उसे अमुक समय बाद पुनः कारागृह में डाला जाएगा। अतः मुक्तात्मा का पुनः संसार में आगमन युक्तिसंगत नही है।

उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थो में भी इसी अपुनरागमन सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।[1]

जो लोग मोक्ष का रहस्य नही समझते है, वे मोक्ष से वापस संसार में लौटने की युक्तिविरुद्ध बात कहते है। वास्तव में, ऐसे लोग स्वर्ग को ही मोक्ष समझते है। ब्रह्मलोक, बैकुण्ठ, गोलोक आदि मोक्ष की कोटि में नहीं, स्वर्ग की कोटि में ही आ सकते है। कर्मकाण्डी मीमांसकों ने तथा ईसाई धर्म एवं इस्लामधर्म आदि के प्रवर्त्तकों ने स्वर्ग, Heaven, जन्नत आदि को ही विकास की अन्तिम मंजिल माना।

मुक्ति से पुनरागमन के पक्षधर एक और विचित्र तर्क देते हैं कि यदि मुक्त आत्माएँ पुनः ससार में लौटकर नही आएँगी तो संसार खाली हो जाएगा, संसार में जीवो का अस्तित्व ही नही रहेगा, क्योंकि संसार से इतने जीव मुक्ति में चले जाएँगे, अर्थात्—उनका व्यय हो जाएगा, तब यों व्यय होते-होते एक दिन संसार से जीवों का सर्वथा व्यय (रिक्त) हो जाएगा।

किन्तु उनका यह तर्क निर्मूल है। आत्मा (जीव) अनन्त है। जो अनन्त है, उसका कदापि अन्त नही आ सकता। यदि अनन्त का भी अन्त माना जाएगा, तब तो उसे अनन्त कहना ही निरर्थक है।

ईश्वरकर्तृत्ववादियो की मान्यता है कि ईश्वर ने अनन्त बार सृष्टि का उत्पादन किया, अनन्त बार सृष्टि का प्रलय किया तथा भविष्य में भी वह अनन्त बार सृष्टि रचना करेगा और अनन्त बार सृष्टि का प्रलय भी करेगा।

---

१ (क) 'न स पुनरावर्तते, न पुनरावर्तते।' —छान्दोग्योपनिषद्

(ख) यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

—भगवद्गीता, अ० ८ श्लो० २१

हम पूछते है कि अनन्त-अनन्त बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय करने में ईश्वर की शक्ति का अन्त हुआ या नहीं ? इस पर उनका कहना है कि 'ईश्वर अनन्तशक्तिमान है, उसकी शक्ति का कभी अन्त नहीं हो सकता, न ह्रास हो सकता है।' तो हमारा कहना है कि इसी प्रकार जीव भी अनन्त हैं। संसार में से कितने ही जीव मुक्ति में चले जाएँ फिर भी उनका अन्त नही आ सकता। ईश्वर की अनन्तशक्ति जैसे किसी भी काल में न्यून नहीं होती उसी प्रकार अनन्त आत्माएँ किसी भी काल में संसार-चक्र से बाहर नहीं हो सकतीं। संसार को अनादि अनन्त मानने पर भी समग्र संसार कभी मुक्त नही हो सका, तो फिर भविष्य में इसका अन्त होने की सम्भावना कैसे की जा सकती है ?

अतः मुक्त आत्माओं की अपुनरावृत्ति की मान्यता ही युक्तिसंगत सिद्ध होती है।

मोक्ष में आत्मगुणों का नाश नहीं

मोक्ष में आत्मा के सभी निजगुण शुद्ध एवं पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान रहते है। वैशेषिक आदि कुछ दार्शनिक मोक्ष में सभी आत्मगुणों का सर्वथा उच्छेद मानते है,[1] यह यथमपि युक्तिसंगत नहीं है। कर्मजन्य इच्छा-द्वेषादि अवस्थाओ के सिवाय यदि आत्मा अपने बुद्धि-ज्ञान गुण से भी रहित हो जाएगा, तब तो चेतनारहित जड़—पदार्थवत् हो जाएगा। फिर तो जड़ पदार्थ और मुक्त आत्मा में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। किन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। सत्य तथ्य यह है कि मोक्ष में सभी आत्मगुण अपने असली स्वरूप में विद्यमान रहते है।

मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगति कैसे ?

जीव जब सब कर्मों से रहित हो जाता है, तब वह तत्काल गति करता है, स्थिर नहीं रहता। वह गति ऊँची और लोक के अन्त तक ही होती है, उससे ऊपर नहीं।

प्रश्न होता है कि कर्म अथवा शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना कर्ममुक्त अमूर्त जीव गति कैसे करता है ? उसकी गति ऊर्ध्व ही क्यों होती है ?

इन प्रश्नो के समाधान इस प्रकार है—

१ बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-संस्काराणां नवानामात्मगुणानां उच्छेदः मोक्षः।
—वैशेषिकदर्शन

जीवद्रव्य का स्वभाव पुद्गलद्रव्य की भांति गतिशील है। अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभावतः अधोगतिशील है और जीव ऊर्ध्वगतिशील। परन्तु जीव अन्य प्रतिबन्धकद्रव्य के संग या बन्धन के कारण गति नहीं करता अथवा नीचो या तिरछी दिशा में गति करता है। ऐसा प्रतिबन्धक द्रव्य कर्म है। कर्म-संग छूटने पर और उसके बन्धन टूटने पर कोई प्रतिबन्धक तो रहता नहीं, अतः मुक्त आत्मा को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का अवसर मिलता है। यहाँ पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है, मुक्त जीव के ऊर्ध्वगति करने में। पूर्व प्रयोग का अर्थ है—पूर्वबद्ध कर्म छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग (आवेश)। जैसे—कुम्हार का चाक डण्डे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले से प्राप्त वेग के कारण[1] घूमता रहता है, वैसे ही कर्ममुक्त जीव भी पूर्वकर्म से प्राप्त आवेश के कारण स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है।

भगवती सूत्र (शतक ७ उद्देशक १) में भगवान् महावीर और गौतम स्वामी का इस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर अंकित है। श्री गौतमस्वामी द्वारा अकर्मक (कर्ममुक्त) जीवों की गति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर श्री भगवान् ने कहा—अकर्मक जीवों की भी (ऊर्ध्व) गति मानी जाती है, उसके निम्नोक्त ६ कारण है—(१) कर्मों का संग छूटने से, (२) मोह के दूर होने से—राग रहित होने से, (३) गति-परिणाम (स्वभाव) से, (४) कर्मबन्धन के छेदन से, (५) कर्मरूपी ईंधन के अभाव से, और (६) पूर्वप्रयोग से। इन कारणो से अकर्मक जीवों की गति जानी जाती है।

इन्हीं कारणों को दृष्टान्त देकर भगवान् समझाते हैं—

जैसे कोई व्यक्ति छिद्ररहित एवं वायु आदि से अनुपहत सूखे तुम्बे को क्रमशः परिकर्म (संस्कारित) करता हुआ उस पर दर्भ और कुशा लपेटता है, फिर आठ बार मिट्टी का लेप लगाता है, बार-बार धूप में सुखाता है। जब तुम्बा सब प्रकार सूख जाता है, तब उसे अथाह और अतरणीय (जो तैर कर पार न किया जा सके) जल में डालता है। ऐसी स्थिति में मिट्टी के आठ लेपों से भारी बना हुआ वह तुम्बा पानी के तल को पार करके ठेठ नीचे धरती के तल पर जाकर ठहर जाता है। किन्तु वही तुम्बा मिट्टी के लेप उतर जाने से जैसे ऊपर को उठ आता है, उसी प्रकार कर्मों का

१ (क) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्।

(ख) पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः।

—तत्त्वार्थ० अ० १०।५-६

गाढ़ा लेप आत्मा पर से सर्वथा उतर जाने से, कर्मों का संग न रहने से, नीराग (निर्लेप) होने से, आत्मा के स्वाभाविक गति (ऊर्ध्वगमन)-परिणाम से अकर्मक (कर्ममुक्त) जीवों की भी गति (ऊर्ध्वगमन) मानी जाती है।

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार बन्धनों एवं लेपों से रहित होकर तुम्बा जल के ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्ममुक्त आत्मा भी कर्मबन्धनों एवं कर्मलेपों से सर्वथा रहित होकर ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्रभाग में विराजमान हो जाता है।

इसके पश्चात् बन्धन-छेदन से कर्ममुक्त की गति के विषय में प्रश्नोत्तर है—

गौतम—भन्ते ! बन्धन-छेदन से कर्मरहित जीवों की गति किस प्रकार जानी जाती है ?

भगवान्—गौतम ! जैसे—कलाई की फली, मूंग की फली, या उड़द की फली को अथवा एरण्ड के फल को धूप में सुखाने पर उक्त फली के या एरण्डफल के टूटने ही उसका बीज एकदम छिटक कर ऊपर की ओर उछलता है। ठीक उसी प्रकार कर्मबन्धन के टूटते ही कर्ममुक्त जीव शरीर को छोड़कर एकदम ऊर्ध्वगमन करता है।

सारांश यह है कि जैसे एरण्ड आदि के सूखे फल से बीज बन्धनरहित होकर एकदम ऊपर को उछलता है, उसी प्रकार कर्ममुक्त जीव भी कर्मबन्धन से रहित होते ही ऊर्ध्वगति करता है।

इसके पश्चात् कर्मरूपी ईंधन से रहित होने से जीवों की ऊर्ध्वगति के विषय में गौतम द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा—गौतम ! जिस प्रकार धुँआ ईंधन से विप्रमुक्त (ईंधन का अभाव) होते ही स्वाभाविक रूप से बिना किसी व्याघात (रुकावट) के ऊर्ध्वगमन करता है, ठीक इसी प्रकार कर्मरूप ईंधन न मिलने से कर्ममुक्त जीव भी स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगमन करते है।

पूर्वप्रयोग से कर्ममुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति के विषय में प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा—गौतम ! जैसे—धनुष से तीर छूटते ही वह लक्ष्याभिमुख होकर बिना किसी रुकावट के गति करता है, उसी प्रकार कर्मों का संग छूटने से, रागरहित (निर्लेप) हो जाने से, यावत् पूर्वप्रयोग-वश अकर्म—(कर्ममुक्त) जीवों का ऊर्ध्वगमन माना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जितने बल से जिस दिशा में धनुष-बाण चलाने

वाला तीर चलता है, तीर छूटते ही वह उसी लक्ष्य की दिशा में उतने ही वेगपूर्वक गति करता है, इसी प्रकार जब आत्मा तीनों योगों का सर्वथा निरोध करके शरीर से पृथक् होता है, तब वह शरीर से छूटते ही स्वाभाविक रूप से सीधा ऊर्ध्वगमन करता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि कर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा लोकाग्रभाग—पर्यन्त जाकर वहाँ सादि-अनन्तपद वाले होकर सिद्धशिला[1] पर विराजमान हो जाते हैं।

मोक्षप्राप्ति किसको ?

पहले बताया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की जो आराधना करता है, वही संसार से मुक्ति पा सकता है। भगवद्‌गीता में बताया गया है कि जो मान-मोह से रहित है, आसक्ति दोष पर विजयी हो चुके है, सदा अध्यात्मभाव मे स्थित है, कामनाओं से निवृत्त है और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त है, मोहमुक्त है, वे ज्ञानी अव्ययपद—मोक्ष को प्राप्त होते हैं।[2]

इसी लक्षण को जैनदर्शन में सक्षेप से कहा गया है कि जो समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करते है अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यथार्थ साधना करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते है, चाहे फिर वे किसी भी धर्म, जाति, लिंग, देश, वेष आदि के हो। इसी बात को लक्ष्य करके तीर्थसिद्ध आदि १५ प्रकार से सिद्ध-मुक्त होने का जैनागमों में उल्लेख है।[3]

मोक्षप्राप्ति के प्रथम चार दुर्लभ अंग

मोक्षप्राप्ति के लिए प्राथमिक चार दुर्लभ अंगों का होना आवश्यक है। वे चार परम अंग ये हैं—(१) सर्वप्रथम मनुष्यत्व, (२) फिर धर्मशास्त्रों का श्रवण, (३) देव, गुरु, धर्म, और शास्त्र पर श्रद्धा और (४) अहिंसा, सत्य आदि संयम और तप आदि धर्माचरण में पराक्रम—अभ्यास।

---

१ सिद्धशिला का वर्णन 'सिद्ध भगवान्' के वर्णन मे कर चुके हैं। —स०

२ निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्॥
—भगवद्‌गीता अ० १५।५

३ तीर्थसिद्धा' आदि १५ प्रकार से सिद्ध होने का विस्तृत वर्णन सिद्धाधिकार में कर चुके है। —स०

मोक्ष प्राप्ति कब होती है ?

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्मक्षय और पुरुषार्थ, इन पांच कारणों का समवाय—सम्मिलन होने पर भव्य मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति होती है। भव्य जीव काल (समय) आने पर ही मोक्ष पाते है। काल के साथ 'स्वभाव' की आवश्यकता है। यदि सिर्फ काल से ही मोक्ष मिल जाए तो अभव्य जीवों को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए किन्तु नहीं मिलता, क्योंकि उनमें मुक्त होने का स्वभाव नहीं है। काल और स्वभाव के साथ नियति (भवितव्यता) भी मोक्षप्राप्ति में परम कारण है, अन्यथा सारे भव्य जीव एक साथ मुक्त हो जाने चाहिए, किन्तु नहीं होते। जिन्हें काल, स्वभाव के साथ नियति का योग प्राप्त होता है, वे ही मुक्त होते है। काल, स्वभाव और नियति का योग होने पर भी अनुकूल पुरुषार्थ की आवश्यकता है। राजा श्रेणिक त्याग-प्रत्याख्यानरूप पुरुषार्थ न कर सके, इस कारण मुक्त न हो सके। इन चारों का योग होने पर भी पूर्वकृत कर्मों का सर्वथा क्षय होना होना आवश्यक है। कुछ कर्म शेष रहने के कारण शालिभद्र मुनि मोक्ष नहीं पा सके।[1]

मोक्षप्राप्ति कहाँ से होती है ?

मोक्षप्राप्ति केवल मनुष्यगति से हो सकती है, देव, तिर्यञ्च एवं नरकगति से नहीं। जितना बड़ा मनुष्यलोक है, उतना ही बड़ा मुक्तिस्थान-सिद्धशिला है।[2] यो तो ग्राम, नगर, पर्वत, नदी, समुद्र आदि किसी भी स्थान से मनुष्य मुक्त हो सकता है, वहाँ से सीधी आकाशश्रेणी द्वारा गमन करता हुआ सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्रभाग मे जाकर स्थित हो जाता है। मुक्तियोग्य क्षेत्र १५ हैं—पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह।

एक सिद्धावगाहना में अनन्त सिद्ध

सिद्धशिला जैसे छोटे-से स्थान में जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनन्त सिद्धों के प्रदेश परस्पर एक रूप होकर उसी प्रकार रहे हुए हैं; जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में हजारों दीपको का प्रकाश परस्पर एकरूप होकर रहता है। लेकिन एकरूप होते हुए भी जिस प्रकार प्रत्येक दीपक के प्रकाश का पृथक अस्तित्व भी रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक सिद्ध जीव के आत्म प्रदेशों

---

१ सन्मतितर्क प्रकरण, तृतीयकाण्ड, भा० ५, गा० ५३, पृ० ७१०

२ प्रज्ञापना, पद २

का भी पृथक् अस्तित्व रहता है। जिस प्रकार एक पुरुष के अन्तःकरण में नाना प्रकार की भाषाओं की आकृतियाँ परस्पर एकरूप होकर रहती हैं, उसी प्रकार मुक्तात्माएँ भी परस्पर आत्मप्रदेशों से सम्मिलित होकर विराजमान हैं।[1]

कर्ममुक्त आत्माओं को अष्टगुणों की उपलब्धि

आठ कर्मों के क्षय होने से सिद्धों-मुक्तात्माओं को ८ विशिष्ट आत्मिक-गुणों की उपलब्धि होती है। ज्ञानावरणीय के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन, वेदनीयकर्म के क्षय से अव्याबाध सुख, मोहनीयकर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, आयुष्य कर्म के क्षय से अक्षयस्थिति (अटल अवगाहना), नामकर्म के क्षय से अरूपीपन (अमूर्त्तता), गोत्रकर्म के क्षय से अगुरुलघुत्व और अन्तराय कर्म से क्षय से अनन्तवीर्य (शक्ति) प्राप्त होता है।

इन्हीं आठ कर्मों की ३१ प्रकृतियों के क्षय से सिद्धों में ३१ गुण प्रकट होते हैं। इसी प्रकार ५ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श से तथा शरीर, संग (आसक्ति), पुनर्जन्म, स्त्रीत्व, पुरुषत्व एवं नपुंसकत्व इन ६ से रहित होने से सिद्ध भगवान् निरुपाधिक (३१ उपाधियों से रहित) कहलाते है, ये भी उनके ३१ गुण हैं।

कर्ममुक्त होने वाले साधकों की चार मुख्य श्रेणियाँ

प्रथम श्रेणी के साधको के कर्म का भार अल्प होता है। उनका साधना काल दीर्घ हो सकता है, परन्तु उन्हें न तो असह्य कष्ट सहने पड़ते है, न ही कठोर तप करना आवश्यक होता है, वे सहज जीवन बिताते हुए मुक्त होते हैं। यथा—भरत चक्रवर्ती।

द्वितीय श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव करते हुए सहजभाव से मुक्त होते हैं। यथा—मरुदेवी माता।

तृतीय श्रेणी के साधकों का कर्मभार अधिक होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है किन्तु वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव करके मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के साधकों में गजकुमार मुनि का नाम उल्लेखनीय है।

---

१ (क) "जत्थ एगो सिद्धो तत्थ अणंत भवक्खयविप्पमुक्का अण्णोण्णसमोगाढा पुट्ठा सव्वे लोगंते।" —प्रज्ञापना पद २

(ख) एक माहिं अनेक राजे, अनेक माहि एकक।

चतुर्थ श्रेणी के साधकों का कर्मभार अत्यधिक होता है। उनका साधनाकाल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं। इस श्रेणी के साधकों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

मोक्षप्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकासक्रम

मोक्ष का अर्थ है—आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता। यह पूर्णता एकाएक प्राप्त नहीं हो जाती। अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ जीव धीरे-धीरे आत्मिक उन्नति करके पूर्ण अवस्था तक पहुँचता है। आत्मविकास के उस मार्ग में जीव क्रमिक विकास की जिन-जिन अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उन्हे '**गुणस्थान**' कहा जाता है। गुणों—आत्मशक्तियों के स्थानों—आत्मा की क्रमिक विकासावस्थाओं—क्रमिक विशुद्धिस्थानों को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान १४ है—

(१) **मिथ्यादृष्टि गुणस्थान**—सर्वज्ञभाषित तत्त्वों से विपरीत दृष्टि (विचारधारा) वाला जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान वाला जीव विपरीत श्रद्धा होते हुए भी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि गुणों में श्रद्धा रखता है, उन्हें उत्तम मानता है। किन्तु उसकी तत्त्वश्रद्धा तथा आत्मश्रद्धा सम्यक् न होने से उसमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थान माना गया है।

(२) **सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**--जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाला है, लेकिन अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है। जब तक यह जीव मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता, तब तक वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि है, उसकी इस अवस्था का नाम सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।

(३) **सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान**—अन्य तत्त्वों पर शुद्धश्रद्धा रखता हुआ भी जीव मिश्रमोहनीयकर्मोदय से किसी एक तत्त्व या तत्त्वांश पर सन्देहयुक्त रहता है। उसकी इस शंकाशील अवस्था का नाम सम्यक्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) गुणस्थान है।

(४) **अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—सावद्यकार्यों का त्याग करना विरति है। चारित्र और व्रत इसी के नाम हैं। जो जीव सम्यग्दर्शन को धारण करके भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, उसे अविरत-सम्यग्दृष्टि कहते है। उसकी यह अवस्था **अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान** है।

(५) देशविरति (श्रावक) गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव सावद्यकार्यों से सर्वथा विरत न होकर एकदेश अथवा आंशिक रूप से विरत होते हैं, अणुव्रत या बारह व्रत तथा कोई श्रावक की ११ प्रतिमा ग्रहण करते हैं, वे देशविरतिगुणस्थान के धारक होते हैं।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान—जिन जीवों के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता, केवल संज्वलन कषाय का उदय रहता है, वे जीव तीन-करण तीन योग से सावद्ययोगों का त्याग करके संयत (साधु) बनते हैं। उनके अत्यागभावरूप अविरति का तो सर्वथा अभाव हो गया है, किन्तु आत्मवर्ती-अनुत्साहरूप प्रमाद विद्यमान रहने से वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। उनकी इस स्थिति का नाम प्रमत्तसंयत गुणस्थान है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—प्रमत्तसंयत श्रमण जब ज्ञान-ध्यान, त्याग, तप, प्रत्याख्यान, संयम, समिति-गुप्ति, महाव्रतपालन आदि में उत्साहपूर्वक संलग्न एवं तल्लीन रहते हैं तब उनके आत्मप्रदेशों में प्रमाद बिलकुल नहीं रहता, तब वे अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं। उनकी संयमसाधना की यह स्थिति अप्रमत्तसंयत गुणस्थान है।

(८) निवृत्तिबादर गुणस्थान—जिस गुणस्थान में अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चतुष्करूपी बादरकषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्तबादर गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं, (१) उपशम श्रेणी और (२) क्षपक श्रेणी। उपशमश्रेणी वाला मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँ से वह नीचे के गुणस्थानों में गिर जाता है किन्तु क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाकर अप्रतिपाती हो जाता है। आठवें गुणस्थान में जीव ५ क्रियाओं को कार्यान्वित करता है—(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणी, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्वकरण।

(९) अनिवृत्तिबादरगुणस्थान—इसमें अनन्तानुबन्धी आदि कषायों के तीन चौक तो उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, किन्तु संज्वलन कषाय के चौक की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए इसे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान के स्वामी दो प्रकार के जीव होते हैं—(१) चारित्र-मोह के उपशमक और (२) क्षपक।

(१०) **सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान**—यहाँ संज्वलन क्रोध, मान और माया का तो उपशमन या क्षय हो जाता है, किन्तु संज्वलन लोभ (सम्पराय) के सूक्ष्म खण्डों (दलिकों) का उदय रहता है। इस स्थिति को सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान के स्वामी भी पूर्वोक्त दोनों प्रकार के है।

(११) **उपशान्तमोह गुणस्थान**—उपशमश्रेणी वाला जीव मोहकर्म की सभी प्रकृतियों का उपशम करके जिस स्वरूपविशेष को प्राप्त होता है, उसे उपशान्तमोह गुणस्थान कहते हैं।

(१२) **क्षीणमोह गुणस्थान**—क्षपक श्रेणी वाला जीव मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्रमशः सर्वथा क्षय करके जिस अवस्थाविशेष को प्राप्त होता है उसे क्षीणमोह गणस्थान कहते हैं। कषाय और राग के क्षीण होने पर भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीन घातिकर्म शेष रह जाते हैं किन्तु इस गुणस्थान के अन्तिम समय में वह इन तीन घातीकर्मों का भी नाश कर देते है और तेरहवें गुणस्थान में चढ़ जाता है।

(१३) **सयोगीकेवली गुणस्थान**—मोहनीयकर्म का क्षय करके जीव इस गुणस्थान में आता है, और केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त होता है। इस अवस्था में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय ये चारों आस्रव नहीं रहते। केवल योग का आस्रव रहता है। इसलिए इसे सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं।

(१४) **अयोगीकेवली गुणस्थान**—जब केवली भागवान् के आयुकर्म के क्षय होने का समय आता है, तब वे योगों का निरोध करके इस गुणस्थान में प्रवेश करते है। योगरहित दशा होने से इस अवस्था को अयोगी-केवली गुणस्थान कहते है।

अयोगीकेवली शैलेशीकरण को प्राप्त करके उसके अन्तिम समय में वेदनीयादि चार भवोपग्राही (संसार में बांध कर रखने वाले) कर्मों को खपा देते है। अघाती चार कर्मों का क्षय होते ही ऋजुगति से एक समय में सीधे ऊपर की ओर सिद्धक्षेत्र (मुक्तिस्थान) में चले जाते है। वहीं लोकाग्र भाग मे ठहर जाते हैं, एवं सदा शाश्वत सुखों का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार आत्मवाद से लेकर मोक्षवाद तक का सम्यग् बोध प्राप्त करके, पूर्ण आस्तिक्य की आधारशिला सुदृढ़ बनाकर जीव अपने अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। □

जैन तत्व कलिका
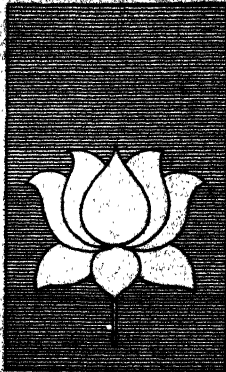
सप्तम कलिका

अस्तिकाय अर्थ - स्वरूप

अस्तिकाय का अर्थ
षट् द्रव्यों का लक्षण
धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय
आकाशास्तिकाय
[illegible]
कालद्रव्य
जीवास्तिकाय
पुद्गलास्तिकाय स्वरूप

अस्तिकायधर्म-स्वरूप

जैनदर्शन अस्तिवादी है। वह विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व मानता है। जो वस्तु वास्तव में है, उससे इन्कार करना, जैन दर्शन को इष्ट नहीं है। परन्तु इतने मात्र से ही आस्तिक्य सिद्ध नहीं हो जाता। अस्तित्व की दृष्टि से सभी पदार्थ समान हैं, किन्तु मूल्यनिर्णय की दृष्टि चेतना से सम्बद्ध है। वस्तु का अस्तित्व तो स्वयजात होता है, उससे कोई इन्कार करे तो उसका कोई अर्थ नहीं; किन्तु उसका मूल्यांकन करना ही तत्त्वज्ञों का कार्य है। जैसे—'दही सफेद है', इसे कोई जाने या न जाने, किन्तु वही उपयोगी है या अनुपयोगी ? किस समय, कितना उपयोगी है ? कितना अनुपयोगी है ? इसका मूल्यनिर्णय चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। जो पदार्थ साधारण आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष नही होते, उनके अस्तित्व एवं मूल्य का निर्णय परम चेतना से—विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञानियों द्वारा[1] किया जाना है।

मूल्यनिर्णय व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। अतीन्द्रिय वस्तु का अस्तित्व-निर्णय एवं मूल्यनिर्णय इन्द्रियों के द्वारा नही हो सकता। उसके लिए आप्त वीतराग-सर्वज्ञों की दृष्टि ही मान्य एवं विश्वसनीय होती है। छद्मस्थ पुरुषो की दृष्टि वस्तुतत्त्व का पूर्णतया यथार्थ निर्णय करने में सक्षम नही होती।

वीतराग-सर्वज्ञ-आप्तपुरुषो ने विश्व के सभी पदार्थों का छह भागो में वर्गीकरण किया और कहा कि समग्र विश्व षड्द्रव्यात्मक है। यद्यपि जीव (चेतन) और अजीव (जड़) इन दो तत्त्वों में सारा विश्व आ जाता है[2], किन्तु पृथक्-पृथक् गुणधर्मों की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व बताया गया। पिछले प्रकरण में लोकवाद के सन्दर्भ में बताया गया था कि 'यह लोक षड्द्रव्यात्मक है।[3] धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और

१. अवधिज्ञानी या मनःपर्यवज्ञानी द्वारा नही, अपितु केवलज्ञानियों द्वारा।

२. जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए। —उत्तरा० ३६।२

३. धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गा० ७

जीव—ये षट् द्रव्य हैं। प्रत्यक्षदर्शी जिनेन्द्रों ने इन षट्द्रव्यों को लोक कहा है। लोक का अस्तित्व बताने के साथ-साथ आप्त सर्वज्ञ पुरुषों ने लोक के अन्तर्गत छह द्रव्यों का सह-अस्तित्व बताया।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सर्वज्ञों ने, समग्र लोक में जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबका वर्गीकरण छह भागों में किया। अस्तित्व-निर्णय के साथ-साथ मूल्य का निर्णय भी उन्होंने दिया। अर्थात्—इन छह द्रव्यों के गुणधर्म, उपयोगिता, आत्मा के लिए कौन-सा द्रव्य हेय, ज्ञेय या उपादेय है? इसका विवेक भी बताया है। आचार्यों ने इनके अस्तित्व का युक्ति से भी निर्णय किया है।

काल को औपचारिक रूप से (श्वेताम्बर परम्परा में) द्रव्य माना गया है, वस्तुवृत्या नही। इसी कारण काल को छोडकर शेष पाँच द्रव्यो को 'अस्तिकाय' कहा गया है। कालद्रव्य के प्रदेश नही होते; इस कारण उसे अस्तिकाय नही कहा गया। इसी दृष्टि से कही-कही लोक के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् ने लोक को 'पंचास्तिकाय रूप' बताया है।[1]

अस्तिकाय की परिभाषा

अस्ति का अर्थ है—प्रदेश और काय का अर्थ है—उनकी राशि-समूह।[2] अर्थात्—प्रदेशों का समूह अस्तिकाय कहलाता है। प्रदेश का अर्थ है—द्रव्य का निरंश अवयव। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशो का विघटन नहीं होता। इसलिए ये अविभागी (निरंश) द्रव्य है। ये अवयवी इसलिए है कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो ये असंख्य होते है।

पुद्गल यों तो विभागी द्रव्य है, किन्तु उसका शुद्ध रूप परमाणु है, जो अविभागी है। परमाणुओं में संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अतः उनके स्कन्ध बनते हैं तथा उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी अपेक्षा से पुदगल द्रव्य विभागी है। वह धर्म आदि द्रव्यों की तरह एकव्यक्तिक नहीं, किन्तु अनन्तव्यक्तिक है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशों का होता है। द्व्यणक

---

१ किमियं भंते ! लोए त्ति पवुच्चइ ?
गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस ण एवत्तिए लोए त्ति पवुच्चइ, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए। —भगवती, १३।४।४८१

२. अस्तयः प्रदेशास्तेषा कायो—राशिरस्तिकायः। —स्थानांग, स्थान १० वृत्ति

स्कन्ध द्विप्रदेशी से यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है। जीव भी अनन्तव्यक्तिक है; किन्तु प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी है।

काल के न तो प्रदेश है, न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश न होने से, उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नही उठता। काल के अतीत समय विनष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए काल स्वयं वर्तमान एक समय का है। इसलिए उसके स्कन्ध नहीं बनते। एक समय का होने से उसका तिर्यक्प्रचय नहीं होता। इन दोनों के अभाव के कारण भी काल को अस्तिकाय में नहीं माना है।

निष्कर्ष यह है कि जो द्रव्य सप्रदेशी है, उसे अस्तिकाय कहते हैं।

अस्तिकायधर्म

अस्तिकाय के साथ धर्म-शब्द जुड जाने से इस शब्द के चार अर्थ विभिन्न अपेक्षाओं से प्रतिफलित होते हैं।

प्रथम अर्थ—पंच-अस्तिकायो का जो धर्म है अर्थात्—स्वभाव, गुण या धर्म है, वह अस्तिकायधर्म है।

द्वितीय अर्थ—अस्तिकायरूप धर्म—धर्मास्तिकाय है, वह अस्तिकाय-धर्म है, क्योंकि वह जीव और पुद्गल को गतिपर्याय में सहायक बनता है—धारण करता है, इसलिए वह अस्तिकायधर्म कहलाता है। भगवती सूत्र में नाम के साधर्म्य से धर्म और धर्मास्तिकाय को पर्यायवाची माना है। इस कारण वृत्तिकार ने भी यहाँ धर्मास्तिकाय को ही अस्तिकायधर्म में धर्म के रूप में प्रस्तुत किया है।[1] धर्मास्तिकाय को धर्म का सहधर्मी बताने का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मास्तिकाय गति-सहायक द्रव्य है। इसलिए कर्मक्षय करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता अपेक्षित है। सम्भव है, इस अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को सदृश गिना हो।

तृतीय अर्थ—इस जगत् में मूल पदार्थ दो हैं, दोनों के विस्तार का नाम विश्व है। इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व—अनादि-अनन्त है। अस्ति शब्द सत् शब्द से निष्पन्न हुआ है। सत् का अर्थ है—जो तीनों काल में विद्यमान रहे।[2] अतः उक्त दोनों द्रव्य, निश्चय से त्रिकाल स्थायी होने से,

---

१. 'अस्तयः—प्रदेशास्तेषां कायो—राशिरस्तिकायः, धर्मो—गतिपर्याये जीव-पुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकायधर्मः। —स्थानांग, १० स्थान वृत्ति

२ 'कालत्रये तिष्ठतीति सत्'

अस्तिकाय हैं, इन दोनों का जो धर्म (अनादि-स्वभाव) है, वह अस्तिकाय-धर्म है।

चतुर्थ अर्थ—अस्तित्व (निश्चय दृष्टि से त्रिकाल स्थायित्व) की दृष्टि से सर्वज्ञ-आप्तपुरुषों ने समग्र लोक में जिन षड्द्रव्यों के अस्तित्व का निर्णय किया है, वे अस्तिकाय है; तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की दृष्टि से इन षड्द्रव्यों का जो मूल्यनिर्णय किया है, वह इनका धर्म है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा यह है कि धर्मसाधक, सर्वज्ञ वीतराग पुरुषों ने लोक में जिन छह पदार्थों—द्रव्यों की पृथक्-पृथक् सत्ता (अस्तित्व) बताई है, तथा जिस रूप में उनके गुण-धर्मों का तथा उपयोगिता का जो मूल्यनिर्णय किया है, उसे उस रूप में जाने और माने तथा जिन षड्द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थों का लोक में अस्तित्व बताया है तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल, इनमें से कौन-सा द्रव्य अध्यात्म-साधना में कितना उपयोगी है, कितना उपादेय है, कितना और कब हेय है ? आत्मा के साथ उस उस द्रव्य का क्या, कैसा और कितना सम्बन्ध है ? आत्मसाधना की दृष्टि से किस पदार्थ का कैसे और कितना उपयोग करना है ? किस-किस द्रव्य का कौन-सा धर्म है, वह कितना अभीष्ट है, कितना अनिष्ट ? इसका विवेक और श्रद्धान करना ही अस्तिकाय-धर्म का आचरण है।

यों तो वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेय-मात्र सत्य है। सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक होता है, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी शिव तभी हो सकता है, जब उसका मूल्यनिर्णय परमार्थ दृष्टि से—आत्म-विकास की अपेक्षा से हो। उसका सौन्दर्य भी आत्मविकास की दृष्टि से आंका जाए। जैसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दात्मक पुद्गल बाह्य दृष्टि से तो हेय माने जाते है किन्तु साधक को आहार, स्थान, वस्त्र, पात्र, पुस्तक, शास्त्रश्रवण, शरीर, इन्द्रियाँ आदि का पुद्गल रूप में संयम निर्वाह के लिए ग्रहण करना अभीष्ट है। अतः वह कथञ्चित् उपादेय है।[1]

व्यवहारदृष्टिपरक असंयमी व्यक्ति की दृष्टि में पौद्गलिक भोग-विलास उच्च जीवन स्तर के लिए उपयोगी हैं, किन्तु संयमी अध्यात्मसाधक की दृष्टि में सभी गीत-गान विलाप मात्र है, सभी नाटक विडम्बनाएँ हैं, सभी आभूषण भार रूप हैं और काम-भोग दुःखावह हैं।[2] इसलिए अस्तिकाय-

---

१. जं पि वत्थं व पायं वा कबलं पायपुछणं।
त पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥ —दशवै० ६।२०

२. सव्वं विलविंयं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥ —उत्तरा० १३।१६

धर्म सम्यग्दृष्टि के लिए तभी धर्माचरणरूप हो सकता है, जब वह शुद्ध अध्यात्म दृष्टि से षट् द्रव्यों का मूल्यनिर्णय करे। निश्चय दृष्टि से कोई भी द्रव्य अपने-आप में प्रिय (इष्ट) या अप्रिय (अनिष्ट) नहीं है, किन्तु उस वस्तु के (ग्राहक) मूल्यनिर्णय करने वाले की दृष्टि पर निर्भर है कि वह व्यवहार में किस वस्तु को इष्ट या अनिष्ट मानता है।[1] यदि व्यक्ति अशुद्ध दशा में है तो उसके द्वारा किया गया वस्तु मूल्यनिर्णय भी अशुद्ध होगा और यदि व्यक्ति शुद्ध दशा में है तो उसके द्वारा वस्तु का किया गया मूल्यनिर्णय शुद्ध (पारमार्थिक दृष्टि से) होगा। इसीलिए छद्मस्थ के निर्णय और केवली के निर्णय में अन्तर है। फिर भी छद्मस्थ यदि सम्यग्दृष्टि है तो वह केवली आप्तपुरुष द्वारा किये गए वस्तु मूल्यनिर्णय में निहित दृष्टिकोण या रहस्य को समझकर उस तत्त्वनिर्णय को श्रद्धापूर्वक अपना लेता है।

भगवान् महावीर द्वारा अस्तिकायधर्म को दश प्रकार के धर्मों में बताने का यही रहस्य प्रतीत होता है। इस कलिका में हम क्रमशः छह द्रव्यों के अस्तित्व-निर्णय, वस्तुत्व-निर्णय तथा इनके मूल्यनिर्णय का भी प्रतिपादन जिनोक्त दृष्टि से करेंगे।

वास्तविकतावाद और उपयोगितावाद

पदार्थों या द्रव्यों के अस्तित्व के बारे में विचार करना वास्तविकतावाद या अस्तित्ववाद है। अस्तित्व की दृष्टि से मुख्यतया दो पदार्थ—जीव और अजीव (चेतन और अचेतन) या ६ द्रव्य हैं।

उपयोगिता के दो रूप हैं—जागतिक और आध्यात्मिक। षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व (लोक) के सहज प्रवर्तन—संचलन या सहज नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह ज्ञान हमें इससे मिलता है। षड्द्रव्यों की उपयोगिता और उपकारकता का विचार हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. गति विश्व-व्यवस्था के लिए आवश्यक है। गति का हेतु या उपकारक 'धर्मास्तिकाय' नामक द्रव्य है।

२. स्थिति भी विश्व-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्मास्तिकाय' नामक द्रव्य है।

---

१. न रम्यं नारम्यं प्रकृति गुणतो वस्तु किमपि।
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्॥

३. आधार या अवकाश भी विश्व की स्थिति के लिए जरूरी है। आधार या अवकाश का हेतु या उपकारक 'आकाशास्तिकाय' नामक द्रव्य है।

४. 'परिवर्तन' के बिना विश्व का कार्य या व्यवहार नहीं चल सकता। अतः परिवर्तन अनिवार्य है। उसका हेतु या उपकारक द्रव्य 'काल' है।

५-६. विश्व में मूर्त्त एवं जड़ पदार्थ भी है, अमूर्त्त एवं चैतन्य भी हैं। जो मूर्त्त है, वह पुद्गल द्रव्य है, जो अमूर्त्त चैतन्य है, वह जीव है। इनकी सामूहिक क्रिया-प्रक्रिया तथा उपकारकता ही समग्र लोक है।

वास्तविकतावाद (जिसे पदार्थवाद कह सकते हैं) में उपयोग पर कोई विचार नहीं होता, केवल उसके 'अस्तित्व' का ही विचार होता है। परन्तु जैनदर्शन (जिनोक्त तत्त्वदर्शन) द्रव्यों के अस्तित्व और उपयोग, इन दोनो का विचार करता है। इसीलिए उसके द्वारा किया गया मूल्यनिर्णय बिलकुल यथार्थ एवं विविध-नयसापेक्ष होता है। द्रव्य का एक लक्षण भी आचार्य ने किया है—'**उपकारकं द्रव्यम्**'—किसी द्रव्य को द्रव्य मानने का कारण उसकी उपकारकता या उपयोगिता है।

षद्रव्यों का लक्षण

(१-२) **धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय**—द्रव्यों की सूची में धर्म और अधर्म का नाम देखकर सामान्य जन भड़क उठते है और कहते है—धर्म और अधर्म तो जीवन से सम्बन्धित अमुक प्रवृत्तियों की संज्ञा है, उन्हें द्रव्य कैसे कह सकते हैं ?

परन्तु यहाँ धर्म-अधर्म का जो निर्देश किया है, वह जीवन-सम्बन्धित शुद्ध-अशुद्ध प्रवृत्ति रूप धर्म-अधर्म का नही, किन्तु विश्वव्यवस्था में सहायक दो मूल द्रव्यों का है। उत्तराध्ययन सूत्र में धर्म और अधर्म द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—'धर्म गतिलक्षण है, अधर्म स्थितिलक्षण है।'

स्पष्ट लक्षण यह है कि स्वय गमन के प्रति प्रवृत्त हुए जीवों और पुद्गलो की गतिक्रिया में जो सहायक हो, वह धर्मास्तिकाय और स्थिति में रहे हुए (ठहरे स्थिर रहे हुए) जीवों और पुद्गलों की स्थितिक्रिया में जो सहायक हो, वह अधर्मास्तिकाय है।[1]

जैसे पानी में तैरने के स्वभाव वाली मछलियों को तैरने में सहायता

१. (क) गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो' —उत्तरा० अ.२८ गा. ९

(ख) स्वत एव गमनं प्रति प्रवृत्ताना जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी धर्मास्तिकायः, स्थितिपरिणातानां, तु तेषां स्थितिक्रियोपकारी अधर्मास्तिकायः।

—उत्तरा० भावविजयगणि भा० ३, पृ० २५९

करने वाला पानी है, उसी प्रकार जड़ पदार्थों और जीवों की गति करने में सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय है तथा जिस प्रकार थके हुए पथिक को विश्राम देने में वृक्ष की छाया निमित्तभूत होती है, उसी प्रकार स्थिति (स्थिरता) करने वाले—ठहरने वाले जीवों और जड़ पदार्थों को स्थिति में सहायक अधर्मास्तिकाय है।

(३) **आकाशास्तिकाय**—भगवती सूत्र में आकाश का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

अवकाश या अवगाह देने वाला आकाश द्रव्य है।[1]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दूध शक्कर को अपने अन्दर रहने का अवकाश (Space) देता है, तपा हुआ लोहे का गोला अग्नि को अपने अन्दर अवकाश देता है। अर्थात्—पुद्गलों में भी अवकाश देने का गुण है, तो उसे आकाश का ही विशेष लक्षण क्यों माना जाए?

इसका समाधान यह है कि पुद्गल हमारी स्थूल दृष्टि में भले ही ठोस मालूम होता हो, किन्तु लोहे जैसे ठोस प्रतीत होने वाले पुद्गल भी खोखले हैं; और जो खोखला भाग है, वही आकाश है। आकाश होने से ही दूध में शक्कर और लोहे के गोले में अग्नि का प्रवेश हो सकता है। वस्तुतः शक्कर या अग्नि को वहाँ आकाश ने ही अवकाश दिया है।

दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं, जिसमें पदार्थों को आश्रय—आधार देने का गुण हो, उसे आकाश कहते हैं; और आकाश के अनन्त प्रदेशों का जो अविभाज्य पिण्ड है, उसे 'आकाशास्तिकाय' कहते हैं। विश्व के सभी पदार्थ आकाश के आधार पर टिके हुए हैं। अवगाहन करने में प्रवृत्त जीवों और पुद्गलों के लिए जो आलम्बन बनता है, उसे आकाश कहते हैं। जिस प्रकार दूध से भरे हुए घड़े में शक्कर आदि पदार्थों को अवगाहन मिल जाता है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य को अवकाश देने के लिए आकाश द्रव्य भाजन रूप हो जाता है।[2]

अतः आकाश द्रव्य को सब द्रव्यों का भाजन रूप कहा है। जिस प्रकार एक कमरे में सहस्रों दीपकों का प्रकाश परस्पर मिलकर एकमेक होकर रहता है, उसी प्रकार आकाश में अनेक द्रव्य सम्मिलित होकर रहते है।

(४) **काल द्रव्य**—काल वर्तनालक्षण वाला है।[3] अर्थात्—जो सदैव

---

१. अवगाहणलक्खणे णं आगासत्थिकाए। —भगवती, १३।४।४८१

२. भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं। —उत्तराध्ययन २८।६

३. वत्तणालक्खणो कालो। —उत्तराध्ययन २८।१०

स्वयं वर्त (परिवर्तित हो) रहा है, तथा स्वयं वर्तने (परिवर्तित होने) वाले जीव और अजीव पदार्थों की वर्तना (परिवर्तन या परिणमन) क्रिया में सहायक बनता है।

इस जगत् में जीव और पुद्गल आदि पदार्थ अपने-आप वर्तते (परिवर्तित होते) है, उनकी नवीन-पुरातन आदि अवस्थाओ को बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, वह काल है। कालद्रव्य वस्तुमात्र के परिवर्तन कराने में सहायक है। यद्यपि परिवर्तन (परिणमन) करने की शक्ति सभी पदार्थों में स्वयं अपनी है, किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति की अभिव्यक्ति नही हो सकती। जैसे—कुम्हार के चाक में घूमने की शक्ति मौजूद है, किन्तु कील की सहायता के बिना वह घूम नही सकता। इसी प्रकार संसार के पदार्थ भी काल की सहायता पाए बिना परिवर्तन नही कर सकते। यद्यपि काल द्रव्य वस्तुओ का बलात् परिणमन नही कराता और न एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य रूप में परिणमन कराता है, किन्तु स्वयं परिणमन करते हुए द्रव्यो का सहायक मात्र हो जाता है।

अल्पायु-दीर्घायु, यौवन-वृद्धत्व, नूतन-पुरातन, प्रात-मध्याह्न-साय-काल तथा ज्येष्ठ-कनिष्ठ इत्यादि विश्व मे जो भी व्यवहार होते है, वे सब काल की सहायता मे ही होते हे।

(५) **जीवास्तिकाय**—उपयोग (मतिज्ञानादि) जीव का लक्षण है। दूसरे शब्दो में कहें तो जिसमें चेतना-शक्ति हो, उसे जीव कहते है और उसके असंख्य प्रदेशों का समूह जीवास्तिकाय है। सारांश यह है कि जिसको पदार्थों का ज्ञान (विशेष बोध) और दर्शन (सामान्य बोध) हो, साथ ही सुख-दुःखो का अनुभव हो, वह जीवद्रव्य है।

अजीव मे चेतना-शक्ति नही होती, जिस प्रकार कुड़छी भोजन के अनेक बर्तनो में घूमती तो है, परन्तु वह उनके रस के ज्ञान से वंचित रहती है, क्योंकि वह स्वय जड़ है, इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के सभी जड़ पदार्थ गति करते या विभिन्न क्रिया करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु उन जड़ पदार्थों में किसी प्रकार ज्ञान, विचार या सुख-दुःख का संवेदन नही होता।

अतः जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य से पृथक् एक वास्तविक द्रव्य है; जिसमें रूप, रस, गन्ध या शब्द भी नही है, जो अव्यक्त है, किसी भौतिक चिन्ह से भी जिसे नही जाना जा सकता और न ही जिसका कोई निर्दिष्ट आकार है, उस चैतन्य विशिष्ट द्रव्य को जीव (आत्मा) कहते हैं।

लक्षण दो प्रकार के हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जैसे—अग्नि का उष्णत्व आत्मभूत लक्षण है, जबकि दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। अतएव प्रकारान्तर से शास्त्र में जीव का एक और लक्षण इस प्रकार दिया गया है—जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग हो, वह जीव का आत्मभूत लक्षण है। क्योंकि जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र (काया से अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति अथवा निश्चय नय से स्वरूपरमणता) तथा द्वादशविध तप से युक्त है। क्षयोपशमभाव से उत्पन्न आत्मिक सामर्थ्य (वीर्य) एव ज्ञानादि मे एकाग्रतारूप उपयोग से युक्त है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य, ये चार भावप्राण तो प्रत्येक जीव मे होते ही है।[1]

जीव का अनात्मभूत लक्षण व्यवहार दृष्टि से दिया जा सकता है—जो दस प्राणो (पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोछ्वास) से जीता है, वह जीव है। क्योकि ये प्राण शुद्ध एव मुक्त जीव के नहीं होते, सिर्फ ससारी जीव के ही होते हैं इसलिए यह लक्षण अनात्मभूत है।

(६) पुद्गलास्तिकाय—जो द्रव्य पूरण और गलन अर्थात्—इकट्ठा और अलग हो जुडे और टूटे-फूटे, मिले और बिखरे, बने और बिगडे उसे पुद्गल कहते हैं। या पुद्गल का लक्षण किया है—जो वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हो। अर्थात—जो मूर्त द्रव्य हो, वह पुद्गल है और उसके प्रदेशो के समूह का नाम पुद्गलास्तिकाय है।

पुद्गलास्तिकाय द्रव्य का लक्षण शास्त्र मे इस प्रकार किया गया है—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पुद्गलो के लक्षण हैं।

पूर्वोक्त पाच द्रव्य अरूपी हैं जबकि पुद्गल रूपी है। इसलिए इसके लक्षण भी रूपी हैं।

---

१ (क) जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेण दंसणेण च सुहेण य दुहेण य॥ —उत्तरा० २८।१०

(ख) चेतना लक्षणो जीव।

(ग) अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाणअलिंगग्गहण जीवमणिदिट्ठसठाण॥ —प्रवचनसार २।८०

(घ) नाण च दसणं चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य एय जीवस्स लक्खण॥

—उत्तराध्ययन २८।११

जैसे—शब्द पुद्गलात्मक है, क्योंकि जिस समय पुद्गलद्रव्य के परमाणु स्कन्धरूप में परिणत होते हैं और तब उनमें परस्पर संघर्षण होने के कारण ध्वनि उत्पन्न होती है। वह ध्वनि या शब्द तीन प्रकार के हैं—जीव शब्द (जिस पुद्गलद्रव्य को लेकर जीव भाषण करता है), अजीव शब्द (परस्पर संघर्षणोत्पन्न शब्द) और मिश्रित शब्द (जीव और अजीव के मिलने से उत्पन्न शब्द, जैसे—वीणावादन)। अन्धकार भी पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, वह अभावरूप पदार्थ नहीं है। वह प्रकाशरूप भी है। रत्नादि का उद्योत, चन्द्रादि की प्रभा (प्रकाश), वृक्षादि की छाया, सूर्य का आतप, ये सब पुद्गलद्रव्य के लक्षण हैं। इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श, ये सब पुद्गलास्तिकाय के लक्षण हैं।[1]

द्रव्यों का अस्तित्व-निर्णय

(१–२) **धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य**—इन दोनो को मानने के लिए हमारे सामने दो युक्तियाँ है—(१) गति-स्थिति में निमित्त कारण और (२) लोक और अलोक के विभाजन के हेतु। प्रत्येक कार्य में निमित्त और उपादान दोनों कारणों की आवश्यकता रहती है। विश्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील भी है और स्थितिशील भी हैं। गति एवं स्थिति के उपादान कारण तो दोनों स्वयं है। निमित्त कारण किन्हे माने जाएँ। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें ऐसे द्रव्यों की ओर दृष्टि दौडानी पड़ेगी, जो गति और स्थिति में सहायक हो सकें। वायु स्वयं गतिशील है, पृथ्वी, जल आदि समग्र लोक में व्याप्त नही है। जबकि गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है। इसलिए हमें ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य या स्थितिशून्य हो और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हों किन्तु अलोक में न हो। अतः हमें इस युक्ति से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व मानने को बाध्य होना पड़ता है।

हम जीवित प्राणियों को हलन-चलन करते या दौड़ते या एक जगह बैठते, खड़े रहते, अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते है। इसी तरह पौद्गलिक पदार्थों को भी विविध प्रकार की गति करते देखते हैं। चाबी दी हुई हो तो घड़ी चलती रहती है, जोरदार धक्का लगाने पर वस्तु उछलती है, बन्दूक

---

१. (क) पूरणात् गलनाच्च पुद्गलाः। —तत्त्वार्थ० सिद्धसेनीया टीका

(ख) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः। —तत्त्वार्थ० ५/२३

(ग) सद्दंधयार-उज्जोओ, पहा छायातवे इ वा।
वण्णगंधरसाफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥ —उत्तराध्ययन २८/१२

से गोली छूटने पर दूर तक चली जाती है। प्रकाश, ध्वनि आदि पौद्गलिक वस्तुओं की गतिशीलता तो प्रसिद्ध है ही।

प्रश्न होता है, जब जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य गतिशील स्थितिशील है तो वे स्वयं गति या स्थिति कर सकते हैं, करेंगे ही, उन्हें गति या स्थिति करने में किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता क्यों ?

इसका समाधान यह है कि कोई वस्तु स्वयं गति या स्थिति करने के स्वभाव वाली हो तो भी उसे गति या स्थिति में सहायक होने वाली वस्तु की आवश्यकता रहती ही है। मछली में तैरने का स्वभाव है, स्वयं स्वेच्छानुसार अपने बल से तैर सकती है, परन्तु यह तैरने की क्रिया जल की सहायता हो, तभी हो सकती है। रेलगाडी में दौड़ने की शक्ति है, परन्तु वह लोहे की पटरियो पर ही दौड सकती है, उनके बिना नही। एक जराजीर्ण वृद्ध में खडे रहने की शक्ति तो है, किन्तु वह लकडी या दीवार के सहारे ही खड़ा हो सकता है। इसी प्रकार प्राणियो मे स्थिर रहने की शक्ति तो है, परन्तु रास्ते मे कोई वृक्ष या विश्राम-स्थल मिले, तभी वे स्थिर रहते हैं, रेलगाड़ी में स्थिर होने की शक्ति है, परन्तु वह स्टेशन आने पर स्थिर होती है। आशय यह है, कि जीव और पुद्गल की गति-स्थिति करने मे किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। वह माध्यम क्रमशः धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य हैं।[1]

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को माने बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नही हो सकती। आचार्य मलयगिरि ने लोकालोक-व्यवस्था की दृष्टि से धर्म-अधर्मद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध किया है। लोक है, इसमें किसी को सन्देह नही हो सकता, क्योकि लोक तो इन्द्रियगोचर है। अलोक इन्द्रियगोचर नही, इसलिए उसके अस्तित्व-नास्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न उठ सकता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर उसके विपक्षी अलोक का अस्तित्व तर्कशास्त्र के अनुसार स्वतः सिद्ध हो जाता है। जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है, वह अलोक है। अलोक में जीव और पुद्गल नही होते, क्योकि वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव है। इसलिए लोक और अलोक, दोनो के परिच्छेदक या विभाजक द्रव्य धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को माने बिना कोई चारा ही नही। यदि ऐसा न हो तो धर्म और अधर्म द्रव्य का आधार क्या रहेगा ?[2]

---

१ गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। —तत्त्वार्थ० ५/१७

२ (क) धर्माधर्मं विभुत्वात् सर्वत्र च जीव पुद्गलविचारात्।
नालोक कश्चित् स्यान्न च सम्मतमेतदर्याणाम् ॥१॥ (क्रमशः)

लोक और अलोक का विभाजन एक शाश्वत तथ्य है। अतः इसके विभाजक भी शाश्वत होने चाहिए। उपर्युक्त ६ द्रव्यों में से ही विभाजक तत्त्व हो सकते हैं क्योंकि सातवाँ द्रव्य है ही नही। जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं, अतः ये विभाजक तत्त्व के योग्य नहीं है। काल को विभाजक तत्व माना जाए तो तर्कसंगत नहीं; क्योंकि काल निश्चय दृष्टि से तो जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। यह केवल औपचारिक द्रव्य है। व्यावहारिक काल लोक के सीमित क्षेत्र में ही विद्यमान है। आकाश को विभाजक मानें तो भी उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि आकाश स्वयं लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में विभज्यमान है। अतः वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। इसलिए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, ये दोनों द्रव्य ही आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) के विभाजक बनते हैं।

यदि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का स्वतंत्र अस्तित्व न मान कर आकाशद्रव्य ही इन लक्षणों से युक्त माना जाए तो बहुत अव्यवस्था उत्पन्न होगी। यदि आकाशद्रव्य पदार्थों की गति में सहायक हो तो आकाश असीम और अनन्त होने के कारण गतिमान पदार्थों की गति भी अनन्त आकाश में अबाधित हो जाएगी, फिर स्थिति करना भी कठिन होगा। फलतः अनन्त आत्माओ (जीव) और अनन्त पुद्गलों (जड पदार्थों) की गति अनन्त आकाश में निरंकुशतया होने लगेगी, ऐसी स्थिति में उनका परस्पर संयोग होना और व्यवस्थित, सान्त और नियंत्रित विश्व के रूप में लोकाकाश का होना असम्भव हो जाएगा, किन्तु इस विश्व का रूप व्यवस्थित है। विश्व एक क्रमबद्ध संसार के रूप में दिखाई देता है, न कि अव्यवस्थित ढेर की तरह। फलतः हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से पदार्थों की गति-स्थिति में सहायक आकाशद्रव्य नही, अपितु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक स्वतन्त्र द्रव्य हैं, किन्तु इन नामों से इन दोनों द्रव्यों का अस्तित्व जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नही है।

प्रकाश की किरणें एक सेकण्ड में १,८६,००० मील की गति से गमन करती हैं। वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उठा कि ये प्रकाश की किरणें किस

तस्माद् धर्माधर्मौ अवगाढौ व्याप्य लोक खं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्न. सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात् ॥२॥

(ख) लोकालोक व्यवस्थानुपपत्ते। —प्रज्ञापना पद १ वृत्ति

(ग) तम्हा धम्माधम्मा लोग परिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहागासे तुल्ले लोगालोमेत्ति को भेओ ॥

माध्यम से, कैसे गति करती हैं ? तथा सूर्य, ग्रह और तारों के बीच में जो विराट् शून्य प्रदेश फैला हुआ है, उसमें होकर कैसे गुजरती है ? इसके अतिरिक्त ये किरणे लाखों-करोड़ों मील की दूरी से आती हैं, फिर भी इनकी गति समान होती है, न एक की शीघ्र न दूसरी की मन्द। अतः इन किरणों के आने का कोई माध्यम होना चाहिए। कई अनुसन्धानों के बाद वैज्ञानिकों को यह स्वीकार पड़ा कि गति में सहायक एक द्रव्य है, जिसके माध्यम से गति होती है। उस द्रव्य का नाम उन्होंने ईथर (Ether) रखा। बहुत चर्चा-विचारणा के बाद 'ईथर' के स्वरूप का भी निश्चय किया गया कि 'ईथर अपरमाणविक वस्तु है, सर्वत्र व्याप्त है और वस्तु के गतिमान होने में सहायता करता है।'[1]

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आईन्स्टीन ने लोक के परिमित होने का कारण यह बताया कि लोक के बाहर वह शक्ति या द्रव्य नहीं जा सकता, जो गति में सहायक होता है। सर्वप्रथम न्यूटन ने गतितत्त्व (Medium of Motion) को माना। अतः भौतिक वैज्ञानिकों को गतिसहायक तत्त्व—ईथर को एक स्वतंत्र द्रव्य मानना पड़ा।

जैन दर्शन में गतिसहायक तत्त्व को धर्मद्रव्य नाम दिया गया है। गति और स्थिति में असाधारण रूप से सहायक तत्त्वों को हम अभिसमया-नुसार धन ईथर (Positive Ether) और ऋण ईथर (Negative Ether) मान लें तो धर्मास्तिकाय को 'धन ईथर' और अधर्मास्तिकाय को 'ऋण ईथर' कह सकते हैं।

(३) **आकाशास्तिकाय**—आकाश द्रव्य का अस्तित्व अधिकांश दर्शन और विज्ञान निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। कई दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं, और कुछ दिक् को आकाश से पृथक नहीं मानते। न्याय और वैशेषिक दर्शन आकाश को शब्दगुण वाला मानते हैं।[2] अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश धातु का कार्य रूप परिच्छेद (ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक् रूपों का विभाग) करना है। न्यूटन के अनुसार आकाश और काल वस्तुसापेक्ष वास्तविक स्वतन्त्र तत्त्व हैं। इनका

---

१. Hollywood R. & T. : Instruction Lesson No. 2—'What is Ether ?'

२. (क) शब्दगुणकमाकाशम्। —तर्कसंग्रह

(ख) छिद्रमाकाश धात्वाख्यं आलोकतमसी किल —अभिधर्म कोश १।२८

अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर हैं, और न अन्य भौतिक पदार्थों पर जिनको वे आश्रय देते है या जिनसे सम्बन्धित है। सभी वस्तुएँ आकाश में स्थान की अपेक्षा से रही हुई है।

इसका तात्पर्य यह है कि आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार के रूप में है तथा उसमें पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए है। वह आकाश असीम विस्तार वाला है, चाहे वह द्रष्टा द्वारा जाना-देखा जाए या नहीं। चाहे वह किसी पदार्थ द्वारा अवगाहित हो या नही। इनकी अपेक्षा बिना वह स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में है और सदा से अस्तित्व में था तथा सदा अस्तित्व में रहेगा। आकाश एक और अखण्ड तत्त्व है। भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उसके गुणों में परिवर्तन नहीं आता।[1]

जैनदर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसी का काल्पनिक विभाग है। आकाश कोई ठोस द्रव्य नही, अपितु खाली स्थान है, वह सर्वव्यापी, अमूर्त और अनन्त प्रदेशी है। अखण्ड होते हुए भी आकाश के दो विभाग किये गये है—लोकाकाश और अलोकाकाश।[2] जैसे—जल का आश्रय स्थान जलाशय कहलाता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों का आश्रय स्थान लोकाकाश है।

सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है, फिर उसे दो भागों में विभक्त क्यो किया गया है ?

समाधान है कि आकाश का जो विभाजन लोकाकाश-अलोकाकाश के रूप में किया गया है, वह आकाश की अपेक्षा से नही, किन्तु धर्म-अधर्म द्रव्य आदि के आधार से किया गया है। वस्तुतः आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है, परन्तु आकाश के जिस खण्ड में धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल पाये जाते हैं, वह लोकाकाश है; और जिस खण्ड में उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है। वैसे आकाश लोक और अलोक सभी स्थानों पर एक-सा है, उसमें किंचित् भी अन्तर नही है।[3]

आकाशद्रव्य के अस्तित्व को मानने का एक कारण यह भी है कि दो वस्तुओं अथवा बिन्दुओं के बीच रहा हुआ अन्तर (Distance) हमें

---

१. (क) देखें—मोट्टे और केजोरि द्वारा 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका' का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६.

(ख) देखें—'ह्वीट्टाकर के द्वारा न्यूटन के आकाश-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या —"फ्रोम युक्लिड टु एडिंग्टन', पृ० १३०.

२. उत्तराध्ययन ३६।२

३. आऽऽकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि च। —तत्वार्थ० ५।४

आकाश के कारण ही समझ में आता है। 'क' से 'ख' आठ फुट की दूरी पर खड़ा है, "ऐसा कहने में आकाश निमित्तरूप है। यदि बीच में आकाश—अवकाश न हो तो उनका अन्तर हम नहीं कह सकते। अन्तर के कारण अतिनिकट, निकट, दूर, सुदूर का तथा लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का व्यवहार सम्भव है। दिशाओं-विदिशाओं का ज्ञान भी आकाश से ही हो सकता है। लोक के तीन भाग—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक भी आकाश के आधार से ही किये गये हैं।

(४) **कालद्रव्य**—काल के सम्बन्ध में जैन साहित्य का मन्थन करने पर दो अभिमत प्रतीत होते हैं—

(१) काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, वह जीव और अजीव की पर्याय है। जो जिस द्रव्य की पर्याय है, वह उस द्रव्य के अन्तर्गत ही है। जीव की पर्याय जीव है, अजीव की पर्याय अजीव। इस दृष्टि से जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय—परिणमन ही उपचार से काल कहा जाता है। अतः जीव और अजीव को 'कालद्रव्य' मानना चाहिए, वह पृथक् तत्त्व नहीं है।

(२) द्वितीय मत के अनुसार काल एक सर्वथा स्वतंत्र द्रव्य है। उसका स्पष्ट आघोष है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वतंत्र द्रव्य हैं, उसी प्रकार काल भी है। अतः काल को जीव आदि की पर्याय प्रवाह रूप न मानकर, पृथक् तत्त्व मानना चाहिए।

श्वेताम्बर आगम साहित्य में तथा ग्रन्थों में काल सम्बन्धी इन दोनों मान्यताओं का उल्लेख मिलता है।[1] दिगम्बर परम्परा के साहित्य में केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है।[2]

प्रथम मत का फलितार्थ यह है कि जीव-अजीव दोनों अपने-अपने रूप में स्वतः ही परिणत होते हैं। अतः जीव-अजीव के पर्याय पुंज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप में कोई स्वतंत्र द्रव्य नही है। द्वितीय मत का फलितार्थ यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते है और स्वयं ही स्थिर होते हैं। उनकी गति और स्थिति में सहायक रूप में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतंत्र द्रव्य माना गया है, वैसे ही जीव और अजीव में पर्यायपरिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारणरूप काल को स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिए।

---

१. (क) भगवती २५।४।७३४, (ख) उत्तरा० २८।७-८, (ग) जीवाभिगम, (घ) प्रज्ञापना पद १।३ (ङ) तत्वार्थ० भाष्य-व्याख्या सिद्धसेनगणितकृत ५।३८-३९, (च) विशेषावश्यकभाष्य ९३६, २०६८

२. तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक ५।३८-३९

पूर्वोक्त दोनों मत विरोधी नहीं, अपितु परस्पर सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि से तो काल जीव-अजीव का पर्याय रूप मानने से सभी कार्य एवं व्यवहार सम्पन्न हो जाते हैं। व्यवहारदृष्टि से उसे एक स्वतन्त्र पृथक् द्रव्य माना है,[1] और जीवाजीवात्मक भी कहा है,[2] क्योंकि काल का व्यवहार पदार्थों की व्यवस्था एवं स्थिति आदि के लिए होता है।

समय, आवलिका रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नहीं है, उन्हीं की पर्याय है। 'उपकारकं द्रव्यम्' इस सिद्धान्त-वाक्य के अनुसार वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार है। इसी उपकारकता के कारण वह द्रव्य माना जाता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में काल को एक नित्य और सम्पूर्ण कार्यों का निमित्त माना गया है। इन दोनों दर्शनों में क्रमशः परत्व-अपरत्व आदि तथा पूर्व-अपर, युगपत्-अयुगपत्, चिर-क्षिप्र को काल के लिंग माना गया है।[3]

सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनो में काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना है। कालतत्त्वविषयक दो मान्यताएँ जैसे जैनदर्शन में हैं वैसे ही वैदिक दर्शनो में भी स्वतन्त्र कालवादी और अस्वतन्त्र कालवादी—दोनों मान्यताएँ है। बौद्धदर्शन में काल को स्वभावसिद्ध पदार्थ न मानकर केवल प्रज्ञप्ति मात्र—व्यवहार के लिए कल्पित माना है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल अणुरूप है। कालाणुओं की संख्या लोकाकाश[4] के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। 'एक-एक समय में काल के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामक अर्थ सदैव होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।'[5] कालाणु

---

१. (क) प्रज्ञापना पद १, (ख) उत्तरा० २८।१०, (ग) भगवती २।१०।१२०, १३।४।४८२, २५।४

२. स्थानांग, सूत्र ९५

३. (क) न्यायकारिका ४६ : परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।
(ख) वैशेषिक सूत्र २।२।६

४. लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासिमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥ —सर्वार्थसिद्धि पृ० १९१

५. एगम्हि संति समये, संभवठिइणास सण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकाल एस हि कालाणुसब्भावो ॥
—प्रवचनसारोद्धार गा० १४३

को नैश्चयिक काल मानकर शाश्वत माना गया है। द्रव्यों में नवीन-प्राचीन आदि-आदि पर्यायों का समय, घड़ी, मुहूर्त आदिरूप स्थिति को व्यवहार काल की संज्ञा दी गई है, जो कि द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति है। किन्तु जो द्रव्य की पर्याय है, वह व्यावहारिक काल नहीं है।

विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं, किन्तु द्रव्य या पदार्थ के धर्ममात्र हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि ज्यों-ज्यों काल बीतता है, त्यों-त्यों वह लम्बा होता जाता है, काल आकाश सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है।[1] इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तुधर्म हैं।

(५) **पुद्गलास्तिकाय**—विज्ञान ने जिसे मैटर (Matter) और इनर्जी (Energy) कहा है, न्याय-वैशेषिक दर्शन जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल की संज्ञा प्रदान दी। बौद्धदर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान (चेतनासन्तति) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि जैनागम में अभेदोपचार से पुद्गल युक्त (पुद्गली) को पुद्गल कहा है[2] तथापि मुख्य-तया पुद्गल का अर्थ-मूर्त द्रव्य है। अतः पुद्गलों के अस्तित्व के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसके अतिरिक्त पुद्गल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का कारण यह है कि जीव, धर्म, अधर्म और आकाश, ये चार द्रव्य अविभागी है। क्योंकि धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों एक और अखण्ड होने से इनके प्रदेशों में ह्रास एवं वृद्धि की क्रिया सम्भव नहीं, काल का प्रत्येक प्रदेश अथवा परमाणु स्वतन्त्र है, अतः उसमें भी ह्रास-वृद्धि असम्भव है। ऐसी ही स्थिति जीव की है। उसका कोई भी भाग अलग होकर पुनः मिलता नहीं। वह अखण्ड असंख्य प्रदेशी वस्तु के रूप में जैसा होता है, वैसा ही रहता है। अतः इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। संयोजित-वियोजित होना पुद्गल की ही विशेषता है।

पूर्वोक्त चारों द्रव्यों के अवयवों की परमाणु द्वारा कल्पना की जाती है कि मान लो, यदि हम इन चारों द्रव्यों के परमाणु जितने खण्ड-खण्ड करें तो जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होंगे। किन्तु पुद्गल वास्तव में अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा

१. माख की कहानी पृ० १२२५ का संक्षेप

२. जीवे णं भंते ! किं पोग्गली, पोग्गले ? गोयमा ! जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि।
—भगवती ८।४६६

रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप समग्र विश्वव्यापी अचित्त महा-स्कन्ध[1] है। इसीलिए पुद्गल को पूरण-गलनधर्मी कहा गया है।

(६) **जीवास्तिकाय**— जीव (आत्मा) के अस्तित्व के सम्बन्ध में हम पूर्व कलिका में आत्मवाद के सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चेतना लक्षण वाला जीव के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य नहीं। छहों द्रव्यों में जीव के अतिरिक्त सभी द्रव्य अजीव हैं। विश्व में कोई भी प्राणी ऐसा नही, जिसमें चेतना का सद्भाव न हो। ज्ञान के आवरण की न्यूनाधिकता के अनुसार उसका विकास कम या अधिक होता है। अतः जीव और अजीव का भेद बताते हुए कहा है— केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सभी जीवों में अनावृत रहता ही है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव हो जाएगा, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं।

व्यावहारिक दृष्टि से सजातीय जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-संरोहण और अनियमित तिर्यग्गति, ये जीव के लक्षण हैं, जो अजीव (जड़) में नहीं पाए जाते। एक मशीन मानव द्वारा उत्पन्न या निर्मित की जाती है, वह स्वयं को स्वयं उत्पन्न (जन्मग्रहण) नहीं कर सकती; वह अपना आहार दूसरे के द्वारा ग्रहण कर सकती है, पर उस आहार के रस से अपनी काया बढ़ा नही सकती। यद्यपि स्वय को नियंत्रित करने वाली (Automatic) मशीनें भी हैं, टारपिडों में स्वयंचालक शक्ति भी है तथापि वे यंत्र न तो सजातीय यंत्र से पैदा होते हैं और न किसी सजातीय यंत्र को पैदा करते हैं। ऐसा कोई भी यंत्र नहीं है, जो स्वयं की मरम्मत स्वय कर सके, स्वय को स्वयं ठीक (स्वस्थ) कर सके या मानवकृत नियमन के अभाव में स्वेच्छा से इधर-उधर जा सके।

एक ट्रेन स्टार्ट करने पर मनों-टनों वजन लेकर पटरी पर वायुवेग से दौड़ सकती है, परन्तु न तो वह नन्ही-सी चींटी के समान स्वेच्छा से कहीं रुक सकती है और न इधर-उधर मुड़ सकती है, क्योंकि चींटी में चेतना है, ट्रेन में चेतना का अभाव है। यत्र में चेतना शक्ति नहीं, उसका नियामक चेतनावान् प्राणी है। यही चेतन (जीव) और अचेतन (अजीव-पुद्गल या जड़) में अन्तर है।

---

१. केवली समुद्घात के पाँचवें समय में आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उन्हें 'अचित्त महास्कन्ध' कहते हैं।

जो विशेषताएँ चेतनावान् जीव में होती हैं, वे अजीव में नहीं होतीं ये ही विशेषताएँ जीव द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

अतः जीव द्रव्य चेतन स्वरूप है, जानने और देखने रूप उपयोग वाला है, प्रभु (उत्थान-पतन के लिए स्वयं उत्तरदायी) है, कर्ता-भोक्ता है, स्वशरीर प्रमाण है। यद्यपि वह मूर्त्त नहीं है, तथापि कर्मों से संयुक्त है।[1]

षड्द्रव्यों का मूल्य-निर्णय

अब छह द्रव्यों के मूल्य-निर्णय के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित है। मूल्यनिर्णय में यहाँ तीन बातों का विचार करना है—

(१) स्वरूप निर्णय, (२) गुण - धर्म - उपकारकत्वनिर्णय और (३) वस्तुत्वनिर्णय।

स्वरूपनिर्णय में प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और गुण की दृष्टि से विभिन्न पहलुओं से विचार करना है।

(१) **धर्मास्तिकाय—द्रव्य से**—संख्या की दृष्टि से धर्मास्तिकाय एक है, अर्थात्—असंख्य प्रदेशों का एक अविभाज्य पिण्ड है। धर्मद्रव्य पूरा एक द्रव्य है, वह जीव आदि के समान पृथक्-पृथक् रूप से नहीं रहता, किन्तु अखण्ड द्रव्यरूप में अवस्थित है। इसका अर्थ है—उसमें जितने असंख्यात प्रदेश है, वे प्रदेश कम या ज्यादा नहीं होते, सदैव उतने असंख्यात ही बने रहते हैं।

क्षेत्र से—अवगाहन की दृष्टि से वह समग्र लोकव्यापी है। लोक में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ धर्म द्रव्य न हो। सम्पूर्ण लोकव्यापी होने से उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती।

काल से—काल की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है, शाश्वत है[2]। सदा था, सदा है और सदा रहेगा। वह न तो कभी उत्पन्न हुआ और न ही कभी नष्ट होगा।

भाव से—अवस्था की दृष्टि से वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित होने से वह अरूपी है, अमूर्त है, निराकार है।

गुण से—स्वभाव से वह पदार्थों (जीवों और पुद्गलों) की गति-क्रिया में अपेक्षित सहायता करता है। यहाँ तक कि जीवों के गमनागमन, हलन-चलन, बैठना-बोलना, उन्मेष, तथा मानसिक-वचिक-कायिक आदि

---

१. जीवोत्ति हवइ चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो, ण हि मुत्तो, कम्मसंजुत्तो ॥ —पंचास्तिकाय

२. कालओ""जाव णिच्चे""अवण्णे अगंधे अरसे अफासे।' —भगवती श० २ उ० १०

समस्त स्पन्दनात्मक प्रवृत्तियों में धर्मद्रव्य सहायक है। गतिक्रिया में सहायता देने के स्वभाव से कदापि च्युत न होना धर्म का नित्यत्व है। जैसे—मत्स्य को तैरने में जल सहायक होता है।[1]

(२) **अधर्मास्तिकाय**—वह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से धर्मास्तिकाय के ही समान है। **गुण से**—धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों की गति-क्रिया में सहायक है, वैसे ही अधर्मद्रव्य उनकी स्थितिक्रिया में सहायक है। जैसे पथिक को वृक्ष की छाया सहायक होती है।[2]

शंका : समाधान—धर्म और अधर्म द्रव्य को आकाश के एक भाग (लोकाकाश) में ही व्याप्त न मानकर समग्र आकाश में व्याप्त माना जाएगा तो जहाँ-जहाँ आकाश होगा, वहाँ-वहाँ धर्म-अधर्म द्रव्य होंगे, ऐसी स्थिति में अलोक का लोप हो जाएगा और लोक की सीमा का अन्त नहीं आएगा, उसमें जो एक प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है, वह दिखाई न देगी। फिर तो जीव और पुद्गल अनन्त आकाश क्षेत्र में रुके बिना संचरण करेंगे तो ऐसे तितर-बितर हो जाएँगे कि फिर उनका मिलना भी लगभग असम्भव ही जाएगा।

इसके अतिरिक्त लोक के अग्रभाग में जो सिद्धि-स्थान है, उसका भी लोप हो जाएगा। कर्मबन्धन से मुक्त होते ही सिद्धजीव ऊर्ध्वगति करके लोक के अग्रभाग (अन्त) में पहुँच जाता है, किन्तु लोक का कोई अन्त (सीमा) नहीं होगा तो कर्ममुक्त-सिद्ध जीव को ऊर्ध्वगति जारी रखनी पड़ेगी, उसका कभी अन्त नहीं आएगा, क्योंकि वह अनन्त लोक में गति कर रहा होगा। ऐसी स्थिति में अब तक जो जीव मुक्त-सिद्ध हुए हैं, वे सब भी गतिमान ही रहेंगे, क्योंकि फिर तो सिद्धि स्थान जैसा कोई स्थान ही न रहेगा।

सिद्धों की यह स्थिति देखकर कौन सुज्ञ सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करेगा? फिर तो सिद्धि का भी लोप हो जाएगा। जब सीमित लोकाकाश जैसा कुछ नहीं होगा तो जीव अनन्त आकाश में कहीं के कहीं, तितर-बितर

---

१. धम्मत्थिकायमरसं अवण्णमगंधं असद्दमफासं।
लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसखादिय पदेस॥ —पंचास्तिकाय ८३

२. जह हवति धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदि किरियाजुत्ताणं (जीवपोग्गलाणं) कारणभूदं तु पुढवीव॥—पंचास्तिकाय ८६

होकर भटकने लगेंगे, फिर उन्हे कहाँ तो मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया जाएगा ? कहाँ वे साधना करेंगे ? कहाँ वे साधन जुटाएँगे ? इस प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य को सर्वव्यापी मानने से अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अत इन्हे लोक पर्यन्त मानना ही उचित है।[1]

(३) **आकाशास्तिकाय—द्रव्य से**—आकाश एक अनन्त प्रदेशात्मक और अखण्ड द्रव्य है। **क्षेत्र से**—लोकालोक प्रमाण है। आकाश अनन्त विस्तार वाला है। अर्थात्—लोक मे धर्म-अधर्म द्रव्य के तुल्य उसके असख्य प्रदेश है और अलोक मे अनन्त प्रदेश हैं। **काल की अपेक्षा से**—आकाश अनादि अनन्त है। **भाव की दृष्टि से**—आकाश अरूपी-अमूर्त है। **गुण की अपेक्षा से**—उसका अवकाश देने का स्वभाव है। जैसे—दूध मे शक्कर को अवकाश मिल जाता है।

शका-समाधान—प्रश्न होता है कि आकाश सर्वत्र एक रूप और अखण्ड है, उसके कोई भाग या टुकडे नही हैं, तो घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश आदि क्यो कहे जाते है ? इसका समाधान यह है कि ये सब औपचारिक प्रयोग है। अन्य वस्तुओ की अपेक्षा से उसे ऐसा कहते हैं, इससे आकाश की एक रूपता और अखण्डता को कोई आच नही आती। आकाश के जितने भाग मे घट, पट या मठ व्याप्त होकर रहता है उसका नाम क्रमश घटाकाश, पटाकाश या मठाकाश है।

कहा जाता है कि आकाश सर्वव्यापी है, इस पर प्रश्न होता है **'ऊपर आकाश और नीचे धरती'** ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है, सामान्य लोगो का अनुभव भी ऐसा है, इस दृष्टि से आकाश को तो ऊपर ही व्याप्त कहना चाहिए, वह नीचे व्याप्त कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि हमारे ऊपर बहुत-सा अवकाश रहा हुआ दिखाई देता है इसलिए हम मान लेते हैं और भाषा प्रयोग करते हैं कि आकाश सिर्फ ऊपर ही है, किन्तु आकाश का विस्तार सिर्फ ऊर्ध्वदिशा मे ही नही है। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, नैऋत्य, वायव्य और आग्नेय इन दिशा-विदिशाओ मे तथा अधोदिशा मे भी व्याप्त है। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार पृथ्वी आकाश पर प्रतिष्ठित-स्थित है। इसका प्रमाण यह

---

१ आगास अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठ ति किध तत्थ॥

—पचास्तिकाय ९२

है कि धरती का कोई भी टुकडा ले लिया जाय तो वहाँ आकाश शेष रहेगा। एक दस फुट लम्बा, चौडा और गहरा गड्डा खोदा जाय तो उसमें क्या रहेगा ? यदि हवा रहने की शका हो तो हवा भी यंत्रादि के प्रयोग से खींच ली जाय तो वहाँ केवल आकाश ही बाकी बचेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि धरती का वह भाग आकाश पर ही रहा हुआ था।

शका हो सकती है कि इतनी भारी भरकम पृथ्वी आकाश पर कैसे रह सकती है ? इसका समाधान यह है कि पृथ्वी घनोदधि (जमे हुए गाढे पानी) पर टिक सकती है, तथा घनोदधि घनवात पर टिक सकता है, और और घनवात तनुवात (पतली हवा) पर रह सकती है एव वह तनुवात आकाश पर रह सकती है।[1]

ऐसा शास्त्रीय नियम है और वस्तु का स्वभाव ही ऐसा सिद्ध होता है जिससे वह उस प्रकार से रहती है। अन्यथा, पैरो के नीचे की पृथ्वी आदि को कहाँ तक किसके आधार पर माना जाएगा ? अत यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वी आकाश पर रही हुई होने से उसके नीचे भी आकाश व्याप्त है। इस दृष्टि से आकाश को सर्वव्यापी मानना ही उचित है।

'पृथ्वी आकाश पर स्थित है' यह तथ्य आधुनिक विज्ञान ने भी माना है।

निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित (अपने-अपने स्वरूप मे स्थित) हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे तात्त्विक दृष्टि से नही रहता। किन्तु व्यवहार दृष्टि से धर्म आदि द्रव्यो का आधार आकाश ही है। आकाश के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य आधेय है। प्रश्न होता है—आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यही है कि आकाश का अन्य कोई आधार नही है, क्योकि उससे बडा, उसके तुल्य परिमाण का अन्य कोई तत्त्व नही है। इस प्रकार व्यवहार और निश्चय दानो दृष्टियो से आकाश स्वप्रतिष्ठ है। आकाश को अन्य द्रव्यो का आधार इसलिए कहा गया है कि वह सब द्रव्यो से विशाल है।

कहा जाता है कि आकाश अनन्त है, चाहे जितनी दूर जाएँ, उसका ओर-छोर—अन्त नही आता। इस पर प्रश्न उठता है कि प्रत्येक वस्तु—पुस्तक, मैदान सरोवर नदी आदि का ओर-छोर होता है, फिर आकाश का ओर छोर क्यो नही ? इसका समाधान यह है कि जिस पदार्थ को किसी पर

---

१ भगवती सूत्र

रहना होता है, उसका छोर होता है, किन्तु जिसे किसी पर रहना नहीं है, उस पर यह नियम लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो वस्तु देशव्यापी (क्षेत्र के किसी नियत भाग में व्याप्त) होती है, उसका छोर या अन्त होता है, परन्तु जो वस्तु सर्वव्यापी (सर्वक्षेत्र में व्याप्त) होती है, उसका छोर या अन्त नहीं होता। यदि उसका छोर या अन्त हो तो उसे सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता। सर्वव्यापी का अर्थ ही है, जिसमें अशेष—सर्व व्याप्त हो, कुछ भी शेष न रहे। अतः सर्व-व्यापी आकाश का अन्त या छोर नहीं माना जाता।

आधुनिक विज्ञान भी आकाश को अनन्त मानता है। अतः आकाश को 'अनन्त' कहना यथार्थ है।

लोकाकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है और अलोकाकाश अनन्त प्रदेशात्मक है। यों सम्पूर्ण आकाश के अनन्त प्रदेश है।[1] अनन्त में से असंख्यात को पृथक् कर दे तो भी अनन्त ही शेष रहेंगे। क्योंकि परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त, यों अनन्त तीन प्रकार का है तथा इन सब के प्रकार भी अनन्त है।

कहते है, आकाश अमूर्त्त—अरूपी है, उसकी कोई आकृति नहीं, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रस या स्पर्श नही है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'यदि आकाश की कोई आकृति नही, तो वह गुम्बज जैसा गोलाकार क्यो दीखता है? यदि वह वर्णरहित है तो आसमानी रंग का क्यो दिखाई देता है? सुबह या शाम को विविध मनोहर रंग क्यों धारण करता है?'

इसका समाधान यह है कि मैदान में खड़े होकर आकाश को देखा जाए तो उसका आकार अर्द्ध गोलाकार-सा दिखाई देता है यह हमारी दर्शन-क्रिया के कारण है। आकाश में एक प्रकार का वातावरण होता है, अर्थात् उसमें हवा, रज आदि वस्तुएँ होती है, जिनके कारण ऐसी दर्शनक्रिया सम्भव होती है। सब ओर दृष्टि-मर्यादा समान अन्तर वाली होती है, तब ऐसी दर्शनक्रिया होती है। यदि आंख को मध्य बिन्दु पर स्थापित करके ऊपर और तिरछी लकीरें खीची जाएँ तो कुल मिलाकर गुम्बज का आकार बन जाएगा। इसके अतिरिक्त दर्शनक्रिया का यह नियम है कि यदि वस्तु अतिदूर हो तो उसकी किरणें आँख तक पहुँचने में वक्राकार हो जाती हैं, इस कारण वह वस्तु गोलाकार दिखाई देती है। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि गोलाकार दिखाई देते हैं, इसका मुख्य कारण भी यही है।

---

१. धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो॥ —उत्तरा० २८।८

दर्शनक्रिया की इस विशेषता से ही आकाश नीले रंग का दिखाई देता है। किसी व्यक्ति ने रंग-बिरंगे वस्त्र पहने हों, वह ज्यों-ज्यों दूर जाता है, त्यों-त्यों एक-सा रंग दिखाई देता है और अन्त में आसमानी रंग का कोई धब्बा हो, ऐसा आभास होता है। पर्वत शिखरों का अपना रंग कैसा ही हो, मगर दूर से देखने वाले को वे हलके नीले या हलके काले रंग के दिखाई देते है। आकाश में फैले हुए वातावरण के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। प्रातः और सायंकाल आदि समय में आकाश में जो रंग दिखाई देते हैं, वे सूर्य की किरणों के वातावरण में अमुक प्रकार से प्रसारण और विभिन्न पुद्गल परमाणुओं के संयोग होने पर आधारित है।

एक प्रश्न है—जो अवकाश दे, उसे आकाश कहते हैं। पाँचों द्रव्यों को आश्रय देने से कारण लोकाकाश को तो आकाश कहना उचित है, परन्तु अलोकाकाश तो किसी को भी आश्रय नही देता, फिर उसे आकाश क्यो कहा जाता है ?

उत्तर में यह कहना है कि आकाश का धर्म तो अवकाश देना ही है, किन्तु वह अवकाश—आश्रय उसे ही देता है, जो उसमें रहे—अवगाहन करे। अलोकाकाश में जब कोई द्रव्य नही रहता, न जाता है, तब अलोकाकाश किसे अवकाश दे ? वस्तुतः आकाश का धर्म (स्वभाव) तो अवकाश देना ही है, बशर्ते कि उसका आश्रय लेने कोई जाए। धर्म-अधर्मद्रव्य का अभाव होने से अन्य द्रव्य भी वहाँ नही रहते।

(४) **कालद्रव्य—द्रव्य से**—कालद्रव्य अनन्त हैं, क्योकि वह अनन्त जीवों और पुद्गलों पर वरतता है।

क्षेत्र से ढाई द्वीप प्रमाण है। क्योंकि मनुष्य लोक में ही सूर्य-चन्द्र भ्रमण करते हैं। उनके घूमने के आधार पर ही दुनिया में घड़ी, घंटा, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, आदि का एवं तदनुसार जीवों के के आयुष्य का परिमाण होता है।

इसीलिए स्थानांगसूत्र में काल के चार प्रकार बताए हैं—(१) प्रमाण काल, (जिस काल के द्वारा पदार्थ का माप किया जाए), (२) यथायुर्निवृत्ति-काल (जीवन की विविध अवस्थाएँ,) (३) मरण काल और (४) अद्धा-काल[1] (चन्द्र-सूर्य की गति से सम्बन्धित घंटा, दिन-रात, आदि समय)।

अद्धाकाल ही काल का मुख्य रूप है, वही व्यावहारिक काल है। समय से लेकर पुद्गल परावर्तन तक के जितने भी विभाग किये जाते हैं, वे

१ स्थानांग, स्थान ४

सभी अद्धाकाल के हैं।[1] निश्चय काल तो जीव-अजीव की पर्याय है। वह लोक-व्यापी है। उसके विभाग नही होते। काल से वह अनादि-अनन्त है।

संक्षेप में, काल के (काल के सारे विभागो को) अतीत (भूतकाल), वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) और अनागत (भविष्यत्काल) ये तीन स्वरूप हैं। यदि कोई पूछे भूतकाल को कितने वर्ष बीत गए ? या भविष्य मे कितने वर्ष आयेंगे ? इन दोनो प्रश्नो का उत्तर हम गणना से बता नही सकते। क्योकि काल का प्रवाह बीच मे रुकता नही है। वह एक के बाद एक दिन, मास, वर्ष आदि के रूप मे अतीत में भी आता-जाता रहा है और भविष्य में आता जाता रहेगा। ऐसी स्थिति मे काल का कोई अन्त आ ही नही सकता। अत हमे अपनी सूक्ष्म बुद्धि से सोचकर कहना पडेगा कि भूतकाल मे अनन्त वर्ष व्यतीत हो गए और भविष्य मे अनन्त वर्ष आयेंगे इस कारण काल अनन्त है, अनन्त समयात्मक है। भूतकाल बडा या भविष्यकाल ? इस प्रश्न का उत्तर जैन सिद्धान्तानुसार भविष्यकाल के पक्ष में दिया गया है।[2] वर्तमानकाल एक समयात्मक है उसे ही नैश्चयिककाल समझना चाहिए। शेष सब व्यावहारिककाल हैं।[3]

काल का सबसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है, जो अविभाज्य है। 'समय' का स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकार ने कमलशतपत्रभेद का और वस्त्र-विदारण की क्रिया का उदाहरण दिया है। अर्थात्—कमल के प्रत्येक पत्ते को बीधने मे जितना काल लगता है, अथवा अनेक तन्तुओ से निर्मित वस्त्र के एक तन्तु के प्रथम रोएँ के छेदन मे जितना काल लगता है, उसका बहुत ही सूक्ष्म अंश यानी असख्यातवाँ भाग 'समय' कहलाता है।[4]

काल गणना की तालिका

अविभाज्य काल = १ समय	२२२३ $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका	= १प्राण
असख्य समय = १ आवलिका		
२५६ आवलिका = १ क्षुल्लकभव	या साधिक १७ क्षुल्लकभव	
(सबसे छोटी आयु)	या एक श्वासोच्छ्वास	

---

१ भगवती सूत्र ११।११।१२८

२ ओसप्पिणी अणता, पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो।
तेऽणंता तीयद्धा, अणागयद्धा अणतगुणा ॥

३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति—वर्तमान पुनर्वर्तमानैकसमयात्मक।
अस्मैनैश्चयिक सर्वोऽप्यन्यस्तु व्यावहारिक ॥१९६॥

४ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—कालाधिकार से।

७ प्राण = १ स्तोक
७ स्तोक = १ लव
३८ $\frac{१}{२}$ लव = १ घडी (२४ मिनट)
७७ लव = २ घडी (४८ मिनट)
या १ मुहूर्त (,, ,,)
या ३७७३ प्राण
या १६७७७२१६ आवलिका
या ६५५३६ क्षुल्लकभव
३० मुहूर्त = एक अहोरात्र (दिन-रात)
१५ दिन = १ पक्ष

२ पक्ष = १ मास
२ मास = १ ऋतु
३ ऋतु = १ अयन
२ अयन = १ वर्ष
५ वर्ष = १ युग
७० लाख करोड, ५६ हजार करोड वर्ष = १ पूर्व
असख्य वर्ष = १ पल्योपम
१० क्रोडाक्रोडपल्योपम = १ सागरोपम
२० क्रोडाक्रोड सागरोपम = १ कालचक्र उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी
अनन्तकाल चक्र = १ पुद्गलपरावर्तन

भाव से—काल द्रव्य अरूपी—अमूर्त है। काल मूर्त्त द्रव्य नही है। उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नही होता । वह सिर्फ एक प्रदेशरूप होने से तथा काल के दो समय इकट्ठे न हो सकने से वह 'अस्तिकाय' नही कहलाता।

गुण से—काल वर्त्तनालक्षण है। नवीन-प्राचीन, ज्येष्ठ-कनिष्ठ, शीघ्र-विलम्बित आदि व्यवहार काल के कारण प्रवर्तित होता है। आयुष्य का मान काल से निकलता है। बीज से वृक्षोत्पत्ति, बालक से युवक अथवा वृद्ध की परिणति भी काल की सहायता से सभव है। इसी प्रकार हलन-चलन, खान-पान, नहाना-धोना, व्यापार धधा आदि सब काल की सहायता से संभव है। निष्कर्ष यह है कि काल की सहायता न हो तो कोई भी क्रिया असम्भव है।

(५) **जीवास्तिकाय—द्रव्य से**—जीव द्रव्य अनन्त है, **क्षेत्र से**—चतुर्दश रज्जु परिमाण लोकवर्ती, **काल से**—अनादि-अनन्त है, **भाव से**—अरूपी तथा **गुण से**—चेतना लक्षण वाला है ।

(६) **पुद्गलास्तिकाय—द्रव्य से**—पुद्गलास्तिकाय अनन्त है, **क्षेत्र से**—लोकपरिमाण, **काल से**—अनादि-अनन्त, **भाव से**—रूपी है और **गुण से**—पूरण-गलन-सडन-विध्वसन रूप होना पुद्गलो का स्वभाव है।

यद्यपि परमाणु रूप पुद्गल इन्द्रियग्राह्य नही होता, इसका कारण उसकी अत्यधिक सूक्ष्मता है। फिर भी वह अमूर्त्त नही, मूर्त्त है—रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह जाना देखा-जाता है।

षड्द्रव्यों के नित्य—ध्रुवगुण

षड् द्रव्यों के नित्य और ध्रुवगुण इस प्रकार हैं—ये षट् द्रव्य है, इनमे से ५ द्रव्य अजीव हैं और एक द्रव्य जीव चेतना लक्षण वाला है।

धर्मास्तिकाय के ४ गुण हैं—(१) अरूपी, (२) अचेतन, (३) अक्रिय, और (४) गति सहायक लक्षण।

अधर्मास्तिकाय के ४ गुण हैं—(१) अरूपी, (२) अचेतन, (३) अक्रिय, और (४) स्थिति सहायक लक्षण।

आकाशास्तिकाय के ४ गुण—(१) अरूपी, (२) अचेतन, (३) अक्रिय, और (४) अवगाहन गुण।

कालद्रव्य के ४ गुण—(१) अरूपी, (२) अचेतन, (३) अक्रिय और (४) नव-पुराणादि वर्तना लक्षण।

पुद्गलास्तिकाय के ४ गुण—(१) रूपी, (२) अचेतन, (३) सक्रिय, और सयोग-वियोग का स्वभाव।

जीवास्तिकाय के ४ गुण—(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त सुख, और (४) अनन्त वीर्य।[1]

शंका-समाधान—आकाश को निष्क्रिय बताया गया है, क्योकि वह कुछ भी क्रिया नही करता है फिर उसमे विविध प्रकार की क्रियाएँ क्यो दिखाई देती हैं ? कई दर्शनिक आकाश से शब्द की उत्पत्ति मानते हैं, ऐसा क्यो ?

इसका समाधान यह है कि आकाश मे जो विविध क्रियाएँ होती दिखाई देती हैं, वे जीव और पुद्गल के क्रिया-स्वभाव के कारण हैं। आकाश तो उन्हे अवकाश (क्षेत्र) देने के सिवाय और कुछ नही करता। जैसे—घर मे उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि की अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती दिखाई देती है, किन्तु वे क्रियाएँ घर नही करता। वे तो घर मे रहने वाले मनुष्य ही करते है, घर तो केवल आश्रय देता है, यही बात आकाश के विषय मे समझनी चाहिए।

शब्द आकाश से नही, पुद्गल (मेघ, विद्युत आदि) से उत्पन्न होता है। आकाश तो उसका क्षेत्रमात्र है।

छह द्रव्यो का उपकारत्व निर्णय

वैसे तो प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप मे स्थित है, किन्तु छहो द्रव्य परस्पर एक दूसरे के उपकारी और सहयोगी बनते हैं। जैन दर्शन के अनु-

---

१ आगम सार ग्रन्थ से।

सार यह विश्व छह द्रव्यों का समुदाय है, इन छह द्रव्यों का परस्पर सह अस्तित्व है—संघर्ष नहीं। क्योंकि ये छहों द्रव्य विश्व की व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार से सहयोगी या उपयोगी बनते हैं। जैसे—धर्म—गत्युपकारक द्रव्य; अधर्म—स्थित्युपकारक द्रव्य, आकाश—अवगाहनदायक द्रव्य; काल—वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व उपकारक द्रव्य; पुद्गल—शरीर, मन, वाणी, प्राण, श्वासोच्छ्वास आदि कार्यों में उपकारक-सहयोगी द्रव्य; और जीव—परस्पर एक दूसरे के कार्य में सहायक-उपकारक द्रव्य है।

'धर्म, अधर्म और आकाश, इन तीनों द्रव्यों से जीवों को क्या-क्या लाभ हैं?' इस सम्बन्ध में भगवान महावीर और गौतम स्वामी के भगवती सूत्र में अंकित प्रश्नोत्तर इस तथ्य पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

गौतम—भगवन्! धर्मास्तिकाय (गति सहायक द्रव्य) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! धर्मास्तिकाय न होता तो गमनागमन कैसे होता? शब्दों की तरंगें कैसे फैलती? आंखें कैसे खुलती? मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ) कैसे होती? यह विश्व अचल ही होता। ये और इस प्रकार के विश्व के जितने भी चलभाव हैं, वे सब धर्मास्तिकाय की सहायता से ही होते हैं। गति में सहायक होना धर्मास्तिकाय का लक्षण है।[1]

गौतम—भगवन्! अधर्मास्तिकाय (स्थिति-सहायक द्रव्य) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! अधर्मास्तिकाय न होता तो सब प्रकार के स्थिर भाव कैसे होते? जैसे कि—एक जगह स्थिर होना, बैठना, सोना, मन को एकाग्र करना, मौन करना, शरीर को निश्चल करना, आंखो का निमेष (अपलक) होना आदि जीवो की स्थिर होने की क्रियाएँ अधर्मास्तिकाय से ही होती हैं। इसी प्रकार के अन्य जो भी स्थिर भाव हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय की सहायता से होते हैं। स्थिति में सहायता करना अधर्मास्तिकाय का लक्षण है।

गौतम—भगवन्! आकाशास्तिकाय द्रव्य से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है।

भगवान्—गौतम! आकाश द्रव्य नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये

---

१. धम्मत्थिकाए पवत्तन्ति। गइलक्खणे धम्मत्थिकाए। —भगवती० १३।४।४८१

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते ? काल कहाँ बरतता ? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता ? यह विश्व निराधार ही होता। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों के लिए भाजन के समान है।

काल द्रव्य के उपकार—जिन उपकारो के कारण काल को द्रव्यकोटि में गिना जाता है, उनका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में किया गया है—वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व, ये काल के उपकार हैं।[1] **वर्तना**[2] का अर्थ है—अपने-अपने पर्याय की उत्पत्ति में प्रवर्त्तमान धर्म आदि द्रव्यों का अस्तित्व जिस अवधि तक रहता है, उस अवधि तक काल का निमित्त रूप में वर्तमान (विद्यमान) रहना, प्रेरक रहना अथवा पदार्थों के परिणमन में सहकारी होना। काल पदार्थ की अवधि के उन सब क्षणों का सूचक होता है। **परिणाम**—परिणमन भी काल के बिना समझाया नहीं जा सकता। जब किसी पदार्थ में परिणमन (स्वजाति का त्याग किये बिना होने वाले द्रव्य का अपरिस्पन्द पर्याय जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्ति रूप है) होता है, तब स्वाभाविक रूप से परिणमन का सूचक काल होता है। जैसे—जीव में ज्ञानादि या क्रोधादिरूप तथा पुद्गल में नील-पीतवर्णादिरूप एवं धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों में अगुरुलघुगुण की हानि-वृद्धिरूप परिणाम होता है, उसका सूचक काल होता है। **गति** का अर्थ है—आकाश प्रदेशों में क्रमशः स्थान परिवर्तन करना। अतः किसी भी पदार्थ की गति में स्थान-परिवर्तन का विचार उसमें लगने वाले काल के साथ किया जाता है। इसी प्रकार अन्य **क्रियाओ** में भी समय का व्यय होता है। इसमें काल निमित्त—सहायक बनता है। **परत्व-अपरत्व** का अर्थ है—पहले होना और पीछे होना, अथवा पुराना और नया, या ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व आदि, ये विचार भी काल के बिना नही समझाए जा सकते।

यद्यपि वर्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के ही हैं, तथापि काल सबका निमित्त कारण होने से काल द्रव्य के उपकार रूप से यहाँ उल्लेख किया गया है।

पुद्गलास्तिकाय के उपकार—पुद्गलों के उपकार यह हैं—शरीर, वाणी, मन, निःश्वास और उच्छ्वास तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि। इसके अतिरिक्त शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप

---

१ वर्तना, परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य। —तत्त्वार्थ० ५।२२

२ पदार्थ परिणतेर्यत् सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते। —बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति

और उद्योत ये भी पुद्गलों के कार्य हैं, जो जीवों के लिए प्रायः सहयोगी बनते है।[1]

औदारिक आदि शरीर भी जीवो के लिए उपकारक बनते हैं और इन सब शरीरों का निर्माण पुद्गल से ही होता है। इनमें कार्मण शरीर अतीन्द्रिय है, किन्तु वह औदारिक आदि मूर्त शरीरों के सम्बन्ध से सुख-दुःखादि विपाक देता है जैसे जलादि के सम्बन्ध से धान्य। इसलिए वह भी पौद्गलिक है।

वाणी—भाषा दो प्रकार की हैं—भावभाषा और द्रव्यभाषा। भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मति-श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एक विशिष्ट शक्ति है, जो पुद्गलसापेक्ष होने से पौद्गलिक है और ऐसी शक्तिशाली आत्मा से प्रेरित होकर वचन रूप में परिणत होने वाले भाषावर्गणा के पुद्गल स्कन्ध ही द्रव्यभाषा है।

मन—लब्धि तथा उपयोगरूप भावमन पुद्गलावलम्बी होने से पौद्गलिक है। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोषविवेचन, स्मरण आदि कार्याभिमुख आत्मा के अनुग्राहक—सामर्थ्य के उत्तेजक होते है, वे द्रव्यमन है। इसी प्रकार मानसिक चिन्तन भी पुद्गल की सहायता के बिना नही हो सकता। मनोवर्गणा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम होता है।

प्राणापान—आत्मा द्वारा शरीर के अन्दर पहुँचाया जाने वाला प्राणवायु (प्राण) और उदर से बाहर निकाला जाने वाला उच्छ्वासवायु (अपान), ये दोनों पौद्गलिक हैं, साथ ही जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार पुद्गल शरीर निर्माण का कारण है। औदारिकवर्गणा से औदारिक, वैक्रियवर्गणा से वैक्रिय, आहारवर्गणा से आहारक शरीर और श्वासोच्छ्वास, तेजोवर्गणा से तैजसशरीर, भाषावर्गणा से वाणी का, मनोवर्गणा से मन का और कर्मवर्गणा से कार्मणशरीर का निर्माण होता है।[2]

---

१. (क) शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१६॥
(ख) सुख-दुःख जीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥
(ग) शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥
—तत्त्वार्थसूत्र अ० ५

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ६०६-६०८

सुख-दुःख—जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख और परितापरूप परिणाम दुःख है। सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्मरूप अन्तरंग कारण और शुभाशुभ परिणामजनक द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य निमित्त कारणो से सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं।

जीवन-मरण—आयुकर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अपान का चलते रहना जीवित (जीवन) है, और प्राणापान का उच्छेद मरण है।

वस्तुत जीव और विशिष्ट कर्मपुद्गल स्कन्ध परस्पर सम्बद्ध होते है। कर्मपुद्गलो के साथ जीव का सम्बन्ध उसकी विविध प्रवृत्तियो, क्रियाओ, मनोभावों के कारण होता है। तब वे कर्मपुद्गल जीवो को प्रभावित करते हैं। जितने भी ससारी प्राणी हैं, वे सब किन्ही न किन्ही शुभाशुभ कर्मपुद्गलो से सयुक्त होते है, और उनके फलस्वरूप वे सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि परिणामो को भोगते रहते है।

जो जीव इन कर्मपुद्गलो से मुक्त हो जाते है। वे इन सभी परिणामो से मुक्त हो जाते है और सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं।

इस प्रकार पुद्गल जीवो के प्रति अनुग्रह-निग्रह करने मे निमित्त कारण बन जाते है।

इसके अतिरिक्त पुद्गलो के दशविध परिणाम (कार्य) भी जीव के लिए उपकारक है। वे इस प्रकार है—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत। सक्षेप मे इनकी उपकारकता इस प्रकार है—

(१) **शब्द**—पुद्गल द्रव्य का ध्वनि रूप परिणाम शब्द है, जो श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य है, मूर्त है, भौतिक है। जैसे पीपर आदि वस्तुएँ द्रव्यान्तर के वैकारिक संयोग से विकृत मालूम होती है, वैसे ही कण्ठ, तालु, मस्तक, जीभ, दाँत और ओठ आदि द्रव्यान्तर के विकार से शब्द भी विकृत होता है, अत पीपर की भाँति वह मूर्त है। ढोल आदि बजते समय भूमि मे कम्पन होता है, बम गोले आदि की आवाज से प्रायः कान के पर्दे फट जाते हैं, पर्वत आदि से टकराने पर प्रतिध्वनि होती है। इन कारणो से शब्द मूर्त सिद्ध होता है। वायु से प्रेरित शब्द फैलता है, बुलद शब्दों के आगे सूक्ष्म शब्द दब जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द पौद्गलिक है।

शब्द दो प्रकार से उत्पन्न होते है—प्रयोग से (प्रयत्नपूर्वक) और

विस्रसा (मेघादि गर्जन की भाँति स्वाभाविक रूप) से। प्रायोगिक शब्द भी दो प्रकार का होता है—भाषात्मक, अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं—अक्षरकृत, अनक्षरकृत। अभाषात्मक शब्द चार प्रकार के हैं—तत, वितत, घन और शुषिर। इसी प्रकार सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन भेद भी शब्द के हैं।

शब्द की गति बहुत तेज होती है। अमुक संयोगों में शब्द सिर्फ एक समय में तिर्यक्लोक की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है, और चार समय में समग्रलोक में व्याप्त हो जाता है। भाषावर्गणा (वाणी) के पुद्गल दूसरों को प्रतिबोध देने, शास्त्र की व्याख्या समझाने, सत्परामर्श देने, अपनी बात दूसरों को समझाने में बहुत ही उपकारक है।

(२) **बन्ध**—विभिन्न परमाणुओं का संश्लेष, संयोग, मिलना या बँधना बन्ध है। बन्ध दो या अधिक परमाणुओं, या स्कन्धों का, एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ होता है। बन्ध दो प्रकार का होता है—**प्रायोगिक** (प्रयत्न सापेक्ष) और **वैस्रसिक** (प्रयत्न निरपेक्ष) यथा—जीव और शरीर का या लकड़ी और लाख का बन्ध प्रायोगिक है तथा बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध वैस्रसिक है। यहाँ पौद्गलिक परिणाम के रूप में बन्ध का निरूपण है, अत: वे बन्ध अनादि-अनन्त न होकर सादि-सान्त हैं। इस दृष्टि से प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है—अजीव विषयक (लाख आदि का) और जीवाजीव विषयक (कर्म और जीव का)। यह दो प्रकार का है—कर्मबन्ध, नोकर्मबन्ध (औदारिकादि शरीरविषयक बन्ध)। वैस्रसिक बन्ध—अनादि है यथा—आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्य का बन्ध। इस प्रकार बन्ध सांसरिक जीवों के लिए कथञ्चित् उपकारी भी हैं और अनुपकारी भी।

(३) **सौक्ष्म्य**—सूक्ष्मता या छोटापन है। यह दो प्रकार का है—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणु की सूक्ष्मता अन्त्य है और आँवला, बेर आदि की सूक्ष्मता आपेक्षिक है।

(४) **स्थौल्य**—स्थूलता-मोटापन। यह भी सूक्ष्मता की तरह दो प्रकार का है। लोकव्यापी अचित्त महास्कन्ध का स्थौल्य अन्त्य है। तथा बेर आँवले आदि का स्थौल्य आपेक्षिक है। ये दोनों पुद्गल-परिणाम भी जीव के लिए उपकारी है।

(५) **संस्थान**—आकृति। इसके दो भेद हैं—इत्थंभूत (व्यवस्थित) आकृति, और अनित्थंभूत (अव्यवस्थित) आकृति। इत्थंभूत के ५ प्रकार हैं—

परिमण्डल (वलयाकार), वृत्त (थाली की तरह गोल), त्र्यंस्र (त्रिकोण), चतुरंस्र (चौकोर) और आयत (दीर्घ)।

(६) **भेद**—विभाजन की क्रिया। इसके ५ प्रकार हैं—

(१) **औत्कारिक**—चीरने-फाड़ने से होने वाला लकड़ी आदि का भेदन, (२) **चौर्णिक**—कण-कण के रूप में चूर्ण हो जाना। *यथा*—गेहूँ आदि का आटा। (३) **खण्ड**—टुकड़े-टुकड़े होना। यथा—पत्थर के टुकड़े। (४) **प्रतर**—परत निकालना। जैसे- अभ्रक की परतों का अलग-अलग होना। (५) अनुतर—छाल उतरना। जैसे—बांस या ईख की छाल निकालना।

(७) **तम**—अन्धकार। पुद्गल का एक प्रकार का परिणाम, जो वस्तु को देखने में बाधक होता है, अन्धकार कहलाता है। नैयायिक आदि दार्शनिक तम को अभावात्मक ही मानते हैं, परन्तु जैनदर्शन इसे प्रकाश की तरह स्वतंत्र भावात्मक पुद्गल मानता है। प्रकाश की भांति अन्धकार में भी रूप है।

(८) **छाया**—प्रकाश पर आवरण आते ही छाया दृष्टिगोचर होती है। स्थूल पुद्गल में से प्रतिसमय छाया निकलती है। छाया दो प्रकार की होती है—तद्वर्णादिविकार और प्रतिबिम्ब। पुद्गल होने से ही छाया कैमरे की फिल्म पर अंकित हो जाती है।

(९) **आतप**—सूर्य का उष्ण प्रकाश—धूप।

(१०) **उद्योत**—चन्द्रमा, चन्द्रमणि, जुगनू आदि का शीतल प्रकाश या चाँदनी उद्योत है।

इस प्रकार पुद्गल और संसारी जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। पुद्गल के बिना वह रह नहीं सकता।

पुद्गल के परिणामों का यह दिग्दर्शन मात्र है। इस प्रकार पुद्गल असंख्य रूपों में संसारी जीव का उपकारक होता है।

(६) **जीवद्रव्य का उपकार**—पारस्परिक उपकार करना जीवों का कार्य है।[1] जैसे—एक जीव हिताहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है, मालिक वेतन देकर सेवक का उपकार करता है। सेवक मालिक की सेवा करके उपकार करता है, गुरु शिष्य को सदुपदेशानुसार अनुष्ठान करा कर शिष्य पर उपकार करता है और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा गुरु का उपकार करता है।

---

१ परस्परोपग्रहो जीवानाम् —तत्त्वार्थ० ५।२१

यह है—छह द्रव्यो के परस्पर उपकार अथवा परस्पर सहयोग निमित्त कारणो की सक्षिप्त झाकी।

छह द्रव्यो का गुण-पर्यायनिर्णय

जैनदर्शन ने द्रव्य का लक्षण किया है—द्रव्य वही है, जिसमे गुण और पर्याय हो।[1] पर्याय के बिना द्रव्य नही होता और द्रव्य के बिना पर्याय नही होता।

द्रव्य की यह परिभाषा स्वरूपात्मक है। इसका फलितार्थ यह है कि जो गुणो का आश्रय हो अर्थात्—जिसमे गुण अवश्य रहते हो उसे द्रव्य कहते है। गुण वे कहलाते है जो द्रव्य मे सदा रहते है और स्वय निर्गुण हो।[2] अर्थात् एक गुण के आश्रित दूसरा गुण न हो, जैसे जीव के प्रदेशत्व गुण के आश्रित उसका ज्ञान गुण नही है। पर्याय भी द्रव्य के आश्रित और निर्गुण है फिर भी वे उत्पाद-विनाशशील होने से द्रव्य मे सदा नही रहती। परन्तु गुण नित्य होने से वे सदैव द्रव्याश्रित रहते है। गुण और पर्याय मे यही अन्तर है।

कुछ आचार्यों ने गुण के दो भेद किये है[3] सहभावी गुण और क्रमभावी गुण। जो द्रव्य के साथ सदैव समानरूप मे विद्यमान रहते है, वे सहभावी गुण कहलाते है तथा जिनका रूप बदलता रहता है, वे क्रमभावी गुण है। उनका दूसरा नाम पर्याय भी है। पर्याये द्रव्य और गुण दोनो के साथ रहती है। इसका फलितार्थ हुआ—द्रव्य मे सदा वर्तमान शक्तियाँ ही गुण है जो पर्याय की जनक है। द्रव्य मे परिणाम-जननशक्ति ही उसका गुण है और गुण-जन्य परिणाम पर्याय है। गुण कारण है पर्याय कार्य है। एकद्रव्य मे शक्तिरूप अनन्त गुण होते है जो आश्रयभूत द्रव्य मे या परस्पर अविभाज्य है। प्रत्येक गुणशक्ति के भिन्न-भिन्न समयो मे होने वाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त है। द्रव्य और उसकी अशभूत शक्तिया उत्पन्न-विनष्ट न होने से नित्य अर्थात्—अनादि-अनन्त है, किन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न एव नष्ट होते रहने से व्यक्तिश अनित्य अर्थात्—सादि सान्त है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

---

१ गुणपर्यायवद्द्रव्यम् —तत्त्वार्थ० ५।३७

२ (क) गुणाणमासओ दव्व। —उत्तरा० २८।६

(ख) द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा। —तत्त्वार्थ० ५।४०

३ गुण सहभावी धर्म पर्यायस्तु क्रमभावी —प्रमाणनयतत्त्वालोक० ५।७-८

सहभावी गुण दो प्रकार के है—सामान्य और विशेष। छहों द्रव्यों में जो समानरूप से रहते हैं, वे सामान्य गुण कहलाते हैं और जो अमुक-अमुक द्रव्यों में ही विशेषरूप से रहते हैं, वे विशेष गुण कहलाते हैं।

द्रव्यों के सामान्य सहभावी गुण ६ माने गये है— (१) अस्तित्व, (२) वस्तुत्व, (३) द्रव्यत्व, (४) प्रमेयत्व, (५) प्रदेशवत्त्व और (६) अगुरुलघुत्व। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **अस्तित्व** - जिसके कारण द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—ये तीनों क्रियाएँ होती रहती है, उसे अस्तित्व गुण कहते है।

(२) **वस्तुत्व**— जिसके कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करता रहे, वह वस्तुत्व गुण है। जैसे—घड़ा जल धारण की क्रिया करता है, इसी प्रकार छहों द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करते हैं।

(३) **द्रव्यत्व**—जिसके कारण द्रव्य एक जैसा न रहकर नई-नई अवस्थाओं को धारण करता रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इसी गुण के प्रभाव से जीवद्रव्य नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव बनता है। पुद्गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु का रूप धारण करता है। काल द्रव्य समय, आवलिका, घड़ी, पहर, दिन-रात आदि नामों से पुकारा जाता है। आकाश द्रव्य घटाकाश, मठाकाश, लोकाकाश, अलोकाकाश आदि रूपों में कल्पित होता है।

(४) **प्रमेयत्व**—जिसके कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सके, वह प्रमेयत्वगुण है। धर्मादि द्रव्यों का ज्ञान इसी गुण के सहारे से किया जाता है।

(५) **प्रदेशवत्त्व** – जिसके कारण द्रव्यों के प्रदेशों का माप किया जा सके, वह प्रदेशवत्त्व गुण है। धर्म, अधर्म और जीव के असंख्य प्रदेश, आकाश के अनन्त प्रदेश और पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश इसी गुण से मापे गये है।

(६) **अगुरुलघुत्व**—जो द्रव्य का कोई न कोई आकार बनाए रखे तथा उसके गुणों को बिखर कर अलग न होने दे उसे अगुरुलघुगुण कहते हैं। इसी गुण के कारण द्रव्य किसी न किसी आकार में रहता है और गुणों को द्रव्य के अन्दर संगठित रूप से रखता है।

सहभावी विशेष गुण—सोलह प्रकार के हैं—(१) गतिसहायकत्व, (२) स्थितिसहायकत्व, (३) अवगाहनसहायकत्व, (४) वर्त्तना, (धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के विशेष गुण) (५ से ६) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तित्व (पुद्गलद्रव्य के विशेष गुण) एवं (१० से १४) ज्ञान, दर्शन वीर्य, सुख और

चेतनत्व (जीवद्रव्य के विशेष गण) तथा (१५) अमूर्तित्व—यह विशेष गुण धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव इन पांचों द्रव्यों का है। (१६) अचेतनत्व—अचेतनता-जडता। यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, इन द्रव्यों का विशेष गुण है।

छह द्रव्यों के गुणों में साधर्म्य-वैधर्म्य

छह द्रव्यों के गुणों में साधर्म्य-वैधर्म्य जानने के लिए १२ विकल्प हैं—(१) परिणाम, (२) जीव, (३) मूर्त्त (रूपी) (४) सप्रदेश, (५) एक, (६) क्षेत्र, (७) क्रिया, (८) नित्य, (९) कारण, (१०) कर्ता, (११) सर्वव्यापी, (१२) एकत्व-पृथक्त्व-अप्रवेश।[1]

छह द्रव्यो पर ये गुण इस प्रकार घटित होते है—

(१) निश्चयनय से सर्वद्रव्य परिणामी है, किन्तु व्यवहारनय से जीव और पुद्गल दोनो द्रव्य परिणामी हैं, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये चारों द्रव्य अपरिणामी है।

(२) छह द्रव्यों में एक द्रव्य जीव है, शेष पांचों द्रव्य अजीव है।

(३) छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य रूपी (मूर्त्तिक) है, शेष पांचों द्रव्य अरूपी (अमूर्त्तिक) है।

(४) छह द्रव्यों में एक काल द्रव्य अप्रदेशी है, शेष पांचों द्रव्य सप्रदेशी हैं।

(५) छह द्रव्यो में से धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य है, शेष जीव, पुद्गल और काल, ये तीनों अनेक (अनन्त) है।

(६) छह द्रव्यों में से एक आकाश द्रव्य क्षेत्री है, शेष पांचो द्रव्य अक्षेत्री हैं।

(७) निश्चयनय से छहों द्रव्य सक्रिय (अर्थक्रियाकारी) है, किन्तु व्यवहारनय से जीव और पुद्गल, ये दोनों द्रव्य सक्रिय है, शेष चारों द्रव्य अक्रिय हैं।

(८) निश्चयनय से छहों द्रव्य नित्य भी है, अनित्य भी; किन्तु व्यवहार नय से जीव और पुद्गल की अपेक्षा से ये दोनों द्रव्य अनित्य है, शेष चार द्रव्य नित्य हैं।

(९) छह द्रव्यों में, एक जीव द्रव्य कारण है, शेष पांचों द्रव्य अकारण।

---

१ परिणाम १, जीव २, मुत्ता ३, सपएसा ४, एग ५, खित्त ६, किरियाए ७।
निच्चं ८, कारण ९, कत्ता १०, सव्वगद ११, इयर, अपवेसा १२॥

(१०) निश्चयनय से छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं, व्यवहारनय से केवल एक जीव द्रव्य कर्ता है, शेष पांचों द्रव्य अकर्ता है।

(११) छह द्रव्यों में से केवल आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है, शेष पांचों-द्रव्य केवल लोकव्यापी हैं।

(१२) छहों द्रव्य एक क्षेत्र एकत्व होकर ठहरे हुए हैं; किन्तु गुण सबके पृथक पृथक है। अर्थात्—गुणो का परस्पर संक्रमण नहीं हो सकता।

षड्द्रव्यों का चार गुणों की दृष्टि से विचार

(१) नित्यानित्य—(१)धर्मास्तिकाय के चार गुण नित्य हैं, पर्याय में धर्मास्तिकाय-स्कन्ध नित्य है, उसके देश, प्रदेश और अगुरुलघु गुण अनित्य हैं। (२) अधर्मास्तिकाय के चार गुण तथा पर्याय में अधर्मास्तिकाय-स्कन्ध लोक-प्रमाण नित्य है, उसके देश, प्रदेश और अगुरुलघु पर्याय अनित्य है। (३) आकाशास्तिकाय के चार गुण स्कन्ध लोकालोक प्रमाण नित्य हैं, देश, प्रदेश और अगरुलघु पर्याय अनित्य हैं। (४) काल द्रव्य के चार गुण नित्य और चार पर्याय अनित्य है। (५) पुद्गल द्रव्य के चार गुण नित्य और चार पर्याय अनित्य है। (६) जीव द्रव्य के चार गुण और पर्याय नित्य हैं, किन्तु अगरु-लघु अनित्य है।

(२) **एक-अनेक**—धर्म-अधम द्रव्य का स्कन्ध लोक प्रमाण एक है, किन्तु गुण, पर्याय और प्रदेश अनेक (गुण और पर्याय अनन्त है, किन्तु प्रदेश असंख्यात) है। आकाश-द्रव्य का स्कन्ध लोकालोकप्रमाण एक है, किन्तु गुण, पर्याय और प्रदेश अनेक हैं (गुण और पर्याय अनन्त हैं, तथा आकाश के लोकालोकव्यापी होने से प्रदेश भी अनन्त हैं।) कालद्रव्य का वर्त्तनारूप गुण तो एक है, किन्तु गुण, पर्याय और समय अनेक (तीनों अनन्त) हैं। यथा—भूतकाल के अनन्त समय व्यतीत हो चुके हैं, भविष्यकाल के अनन्त समय व्यतीत होंगे, किन्तु वर्तमान समय एक है। पुद्गल द्रव्य के अनन्त परमाणु हैं। फिर एक-एक परमाणु में अनन्त-अनन्त गुण-पर्याय हैं। इसी प्रकार जीव द्रव्य अनन्त है, परन्तु एक-एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। जीवद्रव्य अनन्तगुण-पर्यायि-युक्त है, किन्तु अनन्त जीव होने पर भी सब में जीवत्व एक (समान) है। अर्थात्—सर्व-जीवों का सत्तारूप गुण एक ही है।

(३) **सत्-असत्**—समस्त द्रव्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा से—अपने गुण से सत्‌रूप हैं, किन्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से असत् रूप हैं। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-स्वद्रव्य कहते हैं—द्रव्य के अपने-अपने मूल गुण को। जैसे—धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य

गतिसहायक गुण है, अधर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य स्थितिसहायक गुण है, आकाशास्तिकाय का स्वद्रव्य अवगाहनगुण है, कालद्रव्य का स्वद्रव्य वर्तना-लक्षण है, पुद्गलास्तिकाय का स्वद्रव्य मिलना-बिछुड़ना स्वभाव है और जीवास्तिकाय का स्वद्रव्य ज्ञानादि चेतना लक्षण है। **स्वक्षेत्र**—स्वक्षेत्र का अर्थ है—द्रव्य के अपने-अपने प्रदेश। धर्म और अधर्मद्रव्य का स्वक्षेत्र असख्यातप्रदेश परिमाण है। आकाश द्रव्य का स्वक्षेत्र अनन्तप्रदेश है। काल द्रव्य का स्वक्षेत्र समय है। पुद्गल द्रव्य का स्वक्षेत्र एक परमाणु से लेकर अनन्त परमाणुपर्यन्त है। जीव द्रव्य का स्वक्षेत्र अनन्त जीव तथा प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। **स्वकाल**—**अगुरुलघुपर्याय**—सभी द्रव्यों में है, किन्तु **स्वभाव-गुणपर्याय**—सभी द्रव्यों में स्व-स्वभाव—गुण पर्याय सदैव विद्यमान रहता है। इस प्रकार षड्द्रव्य स्वगुण की अपेक्षा से सत्रूप प्रतिपादित किये गये है।

(४) **वक्तव्य-अवक्तव्य**—छह द्रव्यों में अनन्तगुण-पर्याय वक्तव्य (वचन से कथनीय-अभिलाप्य) है, और अनन्तगुण-पर्याय ही अवक्तव्यरूप (वचन द्वारा अकथ्य) है। यद्यपि केवलज्ञानी भगवान् के सर्वभाव देखे हुए है, परन्तु वे द्रष्ट भावो का सिर्फ अनन्तवाँ भाग ही कह सकते है। इसीलिए षड्द्रव्यों में वक्तव्य-अवक्तव्य दोनों भाव सम्भव है।

षड्द्रव्यो के नित्यानित्यगुण की चतुर्भंगी

नित्यानित्य की चतुर्भंगी इस प्रकार बनती है—(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-अनन्त और (४) सादि-सान्त। अब इन चारो भंगो पर षड्द्रव्य का विचार किया जाता है—

(१) **जीव मे** ज्ञानादि गुण अनादि-अनन्त है, भव्य आत्माओ के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि-सान्त है किन्तु जब भव्य जीव सम्पूर्ण कर्मक्षय करके मोक्षपद प्राप्त करते है, तब उनमें सादि-अनन्त भंग माना जाता है। चतुर्गतिक-जन्ममरणशील संसारी जीवों में सादि-सान्त भंग हो जाता है। जैसे—मनुष्य मरकर देवयोनि में चला गया, तब देवयोनि की अपेक्षा मनुष्यभव सादि-सान्त वाला हो गया। (२-३) **धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय** में चारों गुण अनादि अनन्त हैं, किन्तु इन दोनों में अनादि-सान्त भंग नहीं होता; स्कन्ध देश, प्रदेश और अगुरुलघु, इनमें सादि-सान्त भंग बनता है। जीव में धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के वे ही प्रदेश सादि-अनन्त समझने चाहिए। (४) **आकाशास्तिकाय** में स्वगुण अनादि-अनन्त हैं, किन्तु अनादि-सान्त भंग इसमें नहीं बन सकता। इसमें देश, प्रदेश, अगुरुलघुभाव सादि-सान्त हैं। सिद्धपद प्राप्त करने वाला जीव

सादि-अनन्त पद वाला हो जाता है। अतएव जिन आकाश प्रदेशों पर जीव अवगाहित हुआ है, वे प्रदेश भी सादि-अनन्त हो जाते हैं। (५) भव्यजीव और पुद्गलों का सम्बन्ध अनादि-सान्त है, परन्तु पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध सादि-सान्त पद वाले होते है, पुद्गल द्रव्य में सादि-अनन्त भंग नहीं बनता। (६) **काल द्रव्य** में चारों गुण अनादि-अनन्त है। पर्याय की अपेक्षा अतीतकाल अनादि-सान्त है, किन्तु वर्तमानकाल सादि-सान्त है; तथा अनागतकाल सादि-अनन्त है।

षट्द्रव्यों पर स्वद्रव्यादि चारों सम्बन्धी नित्यानित्य चतुर्भंगी

(१) **जीवद्रव्य** में स्वद्रव्यापेक्षया ज्ञानादि गुण अनादि-अनन्त है, स्वक्षेत्रापेक्षया जीव के असंख्यातप्रदेश सादि-सान्त हैं, स्वकालापेक्षया अगुरुलघुगुण अनादि-सान्त है, फिर अगुरुलघुगुण का उत्पन्न होना सादि सान्त है। स्वभावापेक्षया गुण-पर्याय अनादि अनन्त है। अगुरुलघु सादि सान्त है। (२) **धर्मास्तिकाय** मे गतिसहायक-लक्षण (स्वद्रव्य) अनादि-अनन्त है। स्वक्षेत्रापेक्षया-असख्यात प्रदेश लोकप्रमाण सादि सान्त है। स्वकालापेक्षया अगुरुलघु अनादि अनन्त हैं, किन्तु उत्पाद-व्यय सादि-सान्त है। स्वभावापेक्षया अगुरुलघु अनादि-अनन्त है। स्कन्ध, देश, प्रदेश, अवगाहनभाव सादि-सान्त है। (३) इसी प्रकार **अधर्मास्तिकाय** के विषय में समझना चाहिए। (४) **आकाशास्तिकाय** में स्वद्रव्य—अवगाहनगुण अनादि-अनन्त है, स्वक्षेत्र से लोकालोकप्रमाण अनन्तप्रदेश अनादि-अनन्त है, स्वकाल से–अगुरुलघुगुण सर्वथा अनादि-अनन्त है। परन्तु पदार्थों की अपेक्षा उत्पाद-व्यय भाव सादि-सान्त है। स्वभावपेक्षया चार गुण, स्कन्ध, अगुरुलघु अनादि-अनन्त है। देश-प्रदेश सादिसान्त है। लोकाकाश का स्कन्ध सादि-सान्त है, जबकि अलोकाकाश का स्कन्ध सादि-अनन्त है। (५) **कालद्रव्य** में स्वद्रव्य नव्य-प्राचीनादि वर्त्तनागुण अनादि-अनन्त है, स्वक्षेत्र-समय सादि-सान्त है, स्वकाल अनादि-अनन्त है और स्वभाव से चार गुण, अगरुलघु अनादि-अनन्त है। अतीतकाल अनादि-सान्त, वर्तमान काल सादि-सान्त, और अनागतकाल सादि-अनन्त है। (६) **पुद्गल द्रव्य में** स्वद्रव्य से गलन-मिलन धर्म अनादि-अनन्त है, स्वक्षेत्र से परमाणु पुद्गल सादि-सान्त है, स्वकाल से अगुरुलघुगुण अनादि-अनन्त है, स्वभाव से—चार गुण अनादि-अनन्त हैं। स्कन्ध, देश, प्रदेश, अवगाहना भाव सादि-सान्त है; और वर्णादि पर्याय चार सादि-सान्त हैं।

षट्द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध

(१) अलोकाकाश में आकाश के सिवाय और कोई द्रव्य नहीं है,

लोकाकाश में षट्द्रव्य सदैव ही रहते है। वे कदापि आकाश द्रव्य से पृथक् नहीं होते। अतः वे अनादि-अनन्त है। आकाशक्षेत्र में जीवद्रव्य अनादि-अनन्त है, किन्तु कर्मबद्ध संसारी जीवों का लोकाकाश प्रदेशों के साथ सादि-सान्त सम्बन्ध है। सिद्ध आत्माओं के साथ आकाश प्रदेशों का सम्बन्ध सादि-अनन्त है। पुद्गलद्रव्य का लोकाकाश के साथ सम्बन्ध अनादि-अनन्त है, किन्तु आकाशप्रदेश के साथ परमाणुपुद्गल का सम्बन्ध सादि-सान्त है। (२) इसी प्रकार धर्मास्तिकाय का सम्बन्ध सर्वजीवों के साथ जानना चाहिए। (३) अभव्यजीवों के साथ पुद्गलद्रव्य का सम्बन्ध अनादि-अनन्त है, क्योंकि अभव्यात्मा कदापि सर्वथा कर्मक्षय नहीं कर सकता, भव्यात्मा कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करेगा, तब उसके साथ कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध अनादि-सान्त होता है। निश्चयनयानुसार षट्द्रव्य स्वभाव-परिणाम से परिणत है। इस कारण ये परिणामी है, और परिणाम सदा नित्य होता है, इसलिए छहों द्रव्य स्वभाव से, अनादि-अनन्त हैं। (४) जीव और पुद्गल द्रव्य का मिलने का परस्पर सम्बन्ध परिणामी है। अभव्य जीव का पारिणामिक भाव अनादि-अनन्त है, जबकि भव्यजीव का अनादि-सान्त है। पुद्गल द्रव्य की पारिणामिक सत्ता अनादि-अनन्त है, किन्तु परस्पर मिलना-बिछुड़ना सादि-सान्त है। अतः जीव और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध है, तब तक जीव सक्रिय है, किन्तु जब कर्मों से वह सर्वथा रहित हो जाता है, तब वह अक्रिय बन जाता है। पुद्गलद्रव्य सदैव सक्रिय रहता है।

षट्द्रव्यों के गुण-पर्यायों का साधर्म्य-वैधर्म्य

सभी द्रव्यों में अगुरुलघु पर्याय समान है, अरूपीगुण पुद्गलद्रव्य के सिवाय शेष पांचों द्रव्यों में रहता है। इसी प्रकार जीवद्रव्य के सिवाय, शेष पांचों द्रव्यों में अचेतनभाव रहता है। गतिसहायक गुण, स्थितिसहायक गुण अवगाहनगुण, मिलने-बिछुड़ने का गुण तथा ज्ञानचेतना गुण क्रमशः धर्म, अधर्म आकाश, काल, पुद्गल और जीवद्रव्य के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं है। किन्तु धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों द्रव्यों के ३-३ गुण और ४-४ पर्याय समान है, काल द्रव्य भी तीन गुणों में समान है।

षट्द्रव्यों के क्रमभावी गुण-पर्याय

क्रमभावी गुण को पर्याय कहते हैं। पर्याय का अर्थ है—द्रव्य और गुण की बदलने वाली अवस्था। पर्याय का लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में यो किया गया है—यद्यपि घट भिन्न-भिन्न अनन्त परमाणुओं का समूह रूप है, तथापि जब अनन्त परमाणु समूह घट के रूप में आजाता है, तब व्यवहार-

बुद्धि से घट एक पदार्थ माना जाता है। घट और पट का पुद्गलद्रव्य एक होने पर घट से पट पृथक् है, ऐसी प्रतीति पर्याय का लक्षण है, फिर जो पदार्थ सख्याबद्ध हो, तथा विभिन्न संस्थान वाले हो, वे सब पर्याय के कारण है। अत. जितने भी संस्थान हैं, वे सब पुद्गलद्रव्य की पर्याय के कारण उत्पन्न है। इसी प्रकार संयोग और विभाग, ये बुद्धिकृत भेद पुद्गलद्रव्य के पर्याय है।

षट्द्रव्यो के पर्याय इस प्रकार है धर्मास्तिकाय के चार पर्याय—स्कन्ध, देश, प्रदेश और अगुरुलघु, अधर्मास्तिकाय के भी उक्त चारो पर्याय है आकाशास्तिकाय के भी है। कालद्रव्य के चार पर्याय है—अतीत, अनागत, वर्तमान और अगुरुलघु। पुद्गलद्रव्य के चार पर्याय - वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शसहित अगुरुलघुपर्याय। जीवद्रव्य के पर्याय अव्याबाध, अगुरुलघु, अमूर्तिक, अनवगाह।

दूसरी तरह से विचार करे तो भी जीव द्रव्य है, उसको नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य देव ये पर्याय है।

इस प्रकार छहो द्रव्यो का विभिन्न पहलुओ से गुण-पर्याय-निर्णय किया गया है।

परिणामवाद : द्रव्यलक्षण के सन्दर्भ में

द्रव्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो पदार्थ अपने विविध पर्यायो—अवस्थाओ और परिणामो के रूप मे द्रवीभूत हो, अर्थात् उन-उन परिणामो को प्राप्त किया है, करता है, करेगा। द्रव्य की यह परिभाषा, अवस्थात्मक है।[1] इसका फलितार्थ यह हुआ कि विभिन्न अवस्थाओ का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। इसीलिए द्रव्य का फलितार्थ जैनाचार्यों ने किया है—'**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सत् द्रव्य लक्षणम्।**'[2] अर्थात्—उत्पत्ति और विनाश के साथ ही जो ध्रुव रहता है, वह सत् है, सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

सरल शब्दो मे यो कहा जा सकता है—कोई भी वस्तु एक ही अवस्था में नही रहती, न रहेगी, वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओ (पर्यायों) में परिवर्तित होती है, किन्तु उस वस्तु का अस्तित्व कभी नष्ट नही होता—उसके मौलिक रूप और शक्ति (गुण) का कभी नाश नही होता।

---

१ अद्रवत् द्रवति द्रोष्यति तास्तान् पर्यायान् इतिद्रव्यम्।

२ (क) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है।

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ५।२९

यह तो अनुभवसिद्ध है कि हम जिस वस्तु को एक बार देखते हैं, वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद में भी रहेगी, किन्तु उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। जैन दार्शनिको का मानना है कि द्रव्य में उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी उसकी स्वरूपहानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ सदृशता मिलती है, कुछ असदृशता। पूर्ववर्ती परिणाम और उत्तरवर्ती परिणाम में सादृश्य रहता है, वही द्रव्य है, तथा इन दोनों परिणमनों मे जहाँ असादृश्य रहता है, वही पर्याय है। पर्यायरूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। अतः द्रव्यरूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्यायरूप से उत्पन्न-विनष्ट होती है।

इससे फलित यह हुआ कि वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामीनित्य है।

परिणाम की व्याख्या पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार की है—

परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं, न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः॥
सत्पर्यायेण विनाशः प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः।
द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु के दूसरी वस्तु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा अवस्थित रहना, या सर्वथा विनष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य है। इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथञ्चित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिकनय का विषय पर्याय है। इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत्पर्याय से नष्ट और असत्पर्याय से उत्पन्न होता है, वही परिणाम है। दोनो नयों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक बन जाता है। इसे ही जैनदर्शन परिणामी-नित्य या कथंचित् नित्य कहते हैं।

प्रज्ञापनासूत्र में १३वें परिणामपद में परिणामों का विस्तृत वर्णन है। परिणाम जीव और अजीव दोनों में हैं, इन्हें ही जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम कहते हैं।

जीवपरिणाम दस प्रकार का है—(१) गतिपरिणाम, (२) इन्द्रिय-

परिणाम, (३) कषायपरिणाम, (४) लेश्यापरिणाम, (५) योगपरिणाम, (६) उपयोगपरिणाम, (७) ज्ञानपरिणाम, (८) दर्शनपरिणाम, (९) चारित्रपरिणाम, और (१०) वेदपरिणाम। इसके पश्चात् गति आदि जिस-जिस के जितने-जितने भेद होते है, उतने-उतने परिणाम होते हैं, यह बताया है।

अजीवपरिणाम भी दस प्रकार का है—(१) बन्धन परिणाम, (२) गतिपरिणाम, (२) संस्थानपरिणाम, (४) भेदपरिणाम, (५) वर्णपरिणाम, (६) गन्धपरिणाम, (७) रस-परिणाम, (८) स्पर्श-परिणाम, (९) अगुरुलघु-परिणाम और (१०) शब्द परिणाम।

इनका विषय स्पष्ट है। तत्पश्चात् अगुरुलघु परिणाम को छोडकर इनके प्रत्येक के भेद-प्रभेदो का वर्णन किया है।[1]

परिणामीनित्यवाद को समझने के लिए एक उदाहरण ले लें—स्वर्ण-कुण्डल का जब कंगन बनता है, तब कंगनरूपी परिणाम का उत्पादन होता है और कुण्डलरूपी परिणाम का नाश होता है। परन्तु स्वर्ण तो वही का वही रहता है।

परिणामी-नित्यवाद को समझ लेने पर संसार की प्रत्येक वस्तु के वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन हो जाता है, यही अस्तिकाय धर्म का स्वरूप है।

प्रायः सभी दार्शनिको ने परिणामी-नित्यवाद को सत्कार्यवाद आदि के रूप में माना है।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनधर्म अस्तिवादी है। वह वस्तु का मूल्य-निर्णय करता है। किसी भी द्रव्य और अस्तिकाय का अस्तित्व सिर्फ इसलिए नही मानता कि उनका वर्णन किसी शास्त्र में आया है, वरन् इस लिए स्वीकार करता है कि सर्वज्ञ ने—अरिहंत ने अपने सर्वव्यापी ज्ञान से देखा है और उसका सर्वांगीण निरूपण किया है, विविध दृष्टियों और अपेक्षाओं से उनका स्वरूप समझाया है। साथ ही यह भी बताया है कि अस्तिकाय वास्तविक होते हुए प्राणीमात्र के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी है। यह कहना सर्वथा उचित होगा कि अस्तिकायों के अभाव में प्राणीमात्र की न कोई क्रिया हो सकतीहै और न कोई प्रवृत्ति ही; यहाँ तक कि उसकी गति, स्थिति और अवस्थिति भी नहीं हो सकती।

---

१ परिणामवाद का विशेष विवेचन जानने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का तेरहवाँ परिणामपद वृत्ति सहित देखिए। —सं०

इनकी उपयोगिता और वास्तविकता के कारण इनको भलीभाँति हृदयगम करना आवश्यक है। इनको समझे बिना ज्ञान की शुद्धि नही हो सकती और न ही उसमे परिपूर्णता आ सकती है, दूसरे शब्दो मे कहें तो वह सम्यक्-ज्ञान नही बन सकता। इसलिए अस्तिकाय धर्म की गणना सम्यकज्ञान के अन्तर्गत की गई है।

कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन होते ही मानव का ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है, किन्तु उस ज्ञान मे दृढता, विशदता और गहनता अस्तिकाय धर्म को जानने पर ही आती है। ऐसे व्यक्ति का ज्ञान सुदृढ हो जाता है और तब सम्यक्त्व के साथ उसका ज्ञान भी अचल हो जाता है, चलायमान नही होता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान मे दृढता आती है, क्योंकि वस्तु का यथार्थ स्वरूप सदैव उसके मन-मस्तिष्क मे जमा रहता है।

यही अस्तिकायधर्म की उपयोगिता है। ☐

जैन तत्व कलिका

अष्टम कलिका

श्रुत धर्म के सन्दर्भ में :—
(आगार चारित्र धर्म)

चारित्र धर्म
सामान्य गृहस्थ धर्म के सूत्र—
(पैंतीस मार्गानुसारी गुण)
पाँच अणुव्रत
तीन गुणव्रत
चार शिक्षा व्रत
तीन मनोरथ

चारित्र धर्म के सन्दर्भ में—

गृहस्थधर्म-स्वरूप

श्रेयस् की साधना ही धर्म है

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। यही साधना पराकाष्ठा तक पहुँच कर सिद्धि बन जाती है। चैतन्य (आत्मा) समस्त उपाधियों, कर्मों और कषायादि विकारों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाए, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हो जाए, आत्मा का पूर्ण विकास हो, चैतन्य का निराबाध प्रकाश हो, उसका नाम श्रेयस है। अतः श्रेयस् की साधना को हम आत्मा की आराधना कह सकते है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आत्मरमण ही धर्म है।

ज्ञान और चारित्र ये आत्मा के धर्म है। इन्हें ही शास्त्रीय भाषा में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म कहा गया है।

ज्ञान के दो पहलू है—वस्तु का यथार्थ ज्ञान और उसका श्रद्धान (दर्शन)। इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते है—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित्र।

साधना की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का स्थान प्रथम है। सम्यग्ज्ञान का दूसरा और सम्यक्चारित्र का तीसरा। दर्शन के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना चारित्र और चारित्र के बिना कर्ममोक्ष और कर्ममोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता। अतः जब ये तीनों पूर्ण होते है, तभी साध्य सधता है, आत्मा कर्ममुक्त होकर परमात्मा बन जाता है।[1]

श्रेयस् की साधना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से होती है।

श्रुतधर्म की अपेक्षा चारित्रधर्म का महत्व

जैनदृष्टि से राग और द्वेष ही संसार है, ये दोनों कर्मबीज है। ये

---

१ नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

दोनों मोह से पैदा होते हैं।[1] मोह के दो भेद है—दर्शनमोह और चारित्र-मोह। दर्शनमोह तात्त्विक दृष्टि का विपर्यास है। सम्यग्दर्शन जब हो जाता है, तो संसारभ्रमण की जड़ हिल जाती है। ज्ञान (श्रुतज्ञान) भी सम्यक् हो जाता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन (सम्यग्ज्ञानसहित) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का द्वार है। किन्तु आचार की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नहीं है, क्योंकि दर्शनमोह का क्षयोपशम होने पर भी चारित्रमोह का क्षयोपशम न होने से आचरण की शुद्धि नहीं हो पाती। फलतः राग-द्वेष तीव्र बनते है। रागद्वेष से कर्म और कर्म से संसार —इस प्रकार यह चक्र सतत घूमता रहता है।

सम्यग्दृष्टि के केवल निर्जरा होती है, संवर नहीं होता। इस निर्जरा को हस्तिस्नान के समान बताया गया है।[2] हाथी नहाता है, और तालाब से बाहर आकर धूल या मिट्टी उछालकर फिर अपने शरीर को गन्दा बना लेता है। उसी प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि इधर तपस्या या सम्यक्श्रुत के अभ्यास द्वारा प्राप्त सम्यग्ज्ञान से कर्मनिर्जरा करके आत्मा की शुद्धि करता है उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर रागद्वेषवश कर्मों का उपचय करके आत्मा को अशुद्ध बना लेता है। अतः यह धर्मसाधना की समग्र भूमिका नहीं है।

धर्मसाधना की समग्रता रथ के दो चक्र के और अंध-पगु के दृष्टान्त द्वारा समझाई गई है। जैसे—एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग्दर्शन) से साध्य प्राप्त नहीं हो सकता। विद्या अकेली पंगु है, क्रिया अकेली अन्धी है। साध्य तक पहुँचने के लिए पैर और आँख दोनों चाहिए।[3] इसीलिए कहा है—**ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः।**

निष्कर्ष यह है कि केवल श्रुतधर्म (सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन) से ही धर्मसाधना परिपूर्ण नहीं होती, नये आते हुए कर्मों को रोकने (संवर) के लिए

---

१ कम्मं च मोहप्पभवं वयंति। —उत्तराध्ययन २८।३०, ३२।७

२ (क) हस्तिस्नानमिव क्रिया। —हितोपदेश

(ख) ज्ञानं भारः क्रिया विना। —हितोपदेश

३ (क) संजोगसिद्धिइ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहं पयाइ।
अंधो य पंगु य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥
(ख) हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो अ अंधओ॥११५६॥
—विशेषा० भाष्यगत आवश्यक निर्युक्ति

तथा सम्यक्तय परीषहजय तथा महाव्रतादि के आचरण द्वारा विशेषरूप से निर्जरा (कर्ममुक्ति) के लिए तथा मोक्षरूप साध्य को पाने के लिए सम्यक्-चारित्र की आराधना-साधना भी अनिवार्य है।

जो लोग कोरे ज्ञान (तत्त्वज्ञान) से ही मोक्ष मानते है, वे एकान्त अक्रियावादी बनकर धर्म का आचरण नही करते कोरा ज्ञान बघारते है, ऐसे लोगो के लिए भगवान् महावीर ने कहा कि वाणी की शूरवीरता से वे अपने आपको आश्वासन देते है परन्तु वास्तव मे यह वाचिक आश्वासन-मात्र है।[1]

ज्ञान दर्शन और चारित्र मे एकरूपता न होने का समाधान क्मवाद इस प्रकार देना है—जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के पुद्गलो के क्षयोपशम होने पर प्रकाशित होता है। यथार्थ विश्वास होना श्रद्धा है जो दर्शनमोह के पुद्गलो के अलग होने पर प्रकट होती है सम्यक् आचरण करना तभी सम्भव है, जब चारित्रमोह कर्म के पुद्गल दूर हो।

इस दृष्टि मे ज्ञान आच्छादक पुद्गलो के हट जाने पर भी दर्शनमोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हो तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाने लेने के उपरान्त भी उस पर विश्वास नही जमता। दर्शन को मोहने वाले पुद्गल बिखर जाएँ तब उस पर श्रद्धा हो पाती है। मगर चारित्र को मोहने वाले पुद्गलो के रहते उसका स्वीकार—आचरण नही हो पाता।

सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी कामभोगो की मूर्च्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नही होता। इसीलिए सत्य का आचरण श्रद्धा से भी दुर्लभ है। तीव्रतम कषाय के विलय से सम्यग्दर्शन की योग्यता तो आ जाती है किन्तु तीव्रतर कषाय के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नही आ पाती।

इसलिए श्रतधर्म के साथ-साथ चारित्रधर्म की साधना आत्मा के परिपूर्ण विकास के लिए आवश्यक है।

चारित्रधर्म का स्वरूप

जिस धर्म के द्वारा कर्मों का उपचय दूर हो जाए उसे चारित्र धर्म कहते है। व्यवहारचारित्र का लक्षण एक आचार्य ने इस प्रकार किया है—

---

१ इहमेगे उ मन्नति अपच्चक्खाय पावग।
आयरिय विदित्ताण सव्वदुक्खा विमुच्चए॥
भणता अकरेंता य बध-मोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पय॥ —उत्तराध्ययन अ० ६ गा० ८-६

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं

अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में या शुद्ध में प्रवृत्ति करना चारित्र है ।

चारित्र को आचरित करना चारित्रधर्म है। चारित्रधर्म का स्पष्ट अर्थ है—आचार धर्म।

चारित्रधर्म के दो भेद

शास्त्र में चारित्रधर्म के दो भेद बताए है—(१) आगारचारित्रधर्म और (२) अनगारचारित्रधर्म ।[1]

अनगारचारित्रधर्म में पांच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, परीषह-जय, तपस्या आदि आते है, जिनका वर्णन हम साधु-स्वरूप के अन्तर्गत कर चुके है ।

आगार चारित्र धर्म

गृहस्थों के चारित्र धर्म को आचार्यों ने दो भागों में विभक्त किया है—(१) सामान्य गृहस्थधर्म और (२) विशेष गृहस्थधर्म । शिक्षण की तरह गृहस्थ धर्माचरण की भी ये दो भूमिकाएँ है। प्रथम भूमिका, जिसमे कि सामान्य गृहस्थधर्म का पालन किया जाता है । गृहस्थ विशेष चारित्रधर्म के पालन की तैयारी के लिए मार्गानुसारी बनता है। इसमें गृहस्थ अन्याय, अनैतिक आचरण और अशिष्ट व्यवहार का त्याग करके सत्पुरुषों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता है । जो मार्गानुसारी के गुणो की उपेक्षा करता है, वह श्रावक (विशेष) धर्म का अधिकारी नही हो सकता ।

सामान्य गृहस्थधर्म के सूत्र

सामान्य गृहस्थधर्म उसे कहते है, कि कुलपरम्परा से जो अनिन्द्य एवं न्यायपूर्वक आचरण चला आ रहा है, तदनुसार प्रवृत्ति करना ।

(१) **न्याययुक्त आचरण**—सद्गृहस्थ का यह सबसे बड़ा सामान्य धर्म है कि न्यायसंगत प्रवृत्ति करे। जुआ, चोरी, रिश्वतखोरी, मद्यमांस-सेवन, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, शिकार, ये सब अन्याययुक्त प्रवृत्तियाँ हैं, इन दुर्व्यसनो से दूसरे प्राणियो पर अन्याय होता है, परिणामस्वरूप वह धर्म, नीति, सदाचार आदि से विमुख हो जाता है।

---

१ चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आगारचरित्त धम्मे, अणगारचरित्त धम्मे । —स्थानांग, स्थान

(२) **न्यायोपार्जित धन**—गृहस्थ को अपने तथा अपने परिवार के भरण पोषण के लिए धन की आवश्यकता होती है, पर वह धन न्यायनीतिपूर्वक अर्जित होना चाहिए। वह नौकरी व्यवसाय आदि कुछ भी करे, परन्तु सबमे न्यायनीति को न भूले, अनीति-अन्याय को न घुसने दे। चोरी करके, रिश्वत लेकर, छल प्रपच करके धोखा देकर या स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह आदि करके, विश्वस्त को ठग कर प्राप्त किया हुआ धन अन्यायोपार्जित धन है, जिसे पास न फटकने देना चाहिए। व्यापार मे तौलनाप मे, माल मे गडबड करना, धरोहर हडप जाना, गिरहकटी करना तथा चोरी, डाका, लूटमार ये सब घोर अनैतिक कार्य है, पाप हैं, इनसे गृहस्थ को सर्वथा दूर रहना चाहिए।[1] यही उभयलोक हितावह है।

(३) **अन्यगोत्रीय समानकुल-शील वाले के साथ विवाह सम्बन्ध**—गृहस्थाश्रम का प्रवेशद्वार विवाह सस्कार है। अगर अपनी संतान का विवाह सम्बन्ध करना हो तो गृहस्थ को चार बातो का खास ध्यान रखना चाहिए—(१) कुल समान हो (२) शीलाचार समान हो, (३) भिन्न गोत्र हो तथा (४) देश एव धर्म का विरोध भी न हो। जहाँ कुल समान दर्जे का नही होता वहाँ प्राय अनमेल विवाह होता है, जिससे कन्या को आगे बहुत यातनाएँ दी जाती है। शील (आचार-विचार) सम नही होगा तो भी विवाह (दाम्पत्य जीवन) सुखप्रद नही हो सकेगा। पति व्यभिचारी होगा मासाहारी और जुआरी होगा, शराबी होगा वहाँ आए दिन दम्पति मे कलह वैमनस्य चलता रहेगा। अन्य गोत्रीय के साथ विवाह सम्बन्ध के पीछे रहस्य यही है कि रक्त दूषित न हो। परन्तु विवाह सम्बन्ध करते समय उक्त कुल मे रोगग्रस्तता, कुसंस्कार आदि प्रविष्ट न हो यह भी देखना आवश्यक है।[2] साथ ही यह देखना भी आवश्यक है जिस व्यक्ति के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किया जा रहा है, वह ऐसे देश का निवासी तो नही है, जिस देश से अपने देश के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध न हो तथा वह विरोधी धर्म का अनुयायी तो नही है। ऐसे सम्बन्ध बडे ही क्लेशकारी होते हैं।

(४) **उपद्रवयुक्त स्थान का त्याग**—जिस नगर या गाँव मे अतिवृष्टि अनावृष्टि, स्वचक्र-परचक्र का आक्रमण कलह, तथा राज्यकोप, महामारी

---

१ तत्र सामान्यतो गृहस्थधर्मं कुलक्रमागतमनिन्द्य विभवाद्यपेक्षया न्यायतोऽनुष्ठानम्। न्यायोपात्त हि वित्तमुभयलोकहिताय।' —धर्मबिन्दु अ १ सू ३।४

२ तत्र समान कुलशीलादिभिरगोत्रजैर्वैवाह्यमन्यत्र बहुविरुद्धेभ्य ।

आदि कोई उपद्रव हो उसका त्याग गृहस्थ को अवश्य कर देना चाहिए, ताकि उसकी चित्त समाधि बनी रहे।[1]

(५) **सुयोग्य व्यक्ति का आश्रय लेना**— गृहस्थ को ऐसे सुयोग्य, सदाचारी, वचनपालक, वीर एवं रक्षासमर्थ व्यक्ति का आश्रय लेना चाहिए, ताकि संकट, आपत्ति या विघ्न आने पर वह उसकी रक्षा कर सके तथा सहायक बन सके।[2]

(६) **आयोचित व्यय**— गृहस्थ को अपनी आमदनी के अनुसार ही खर्च करना चाहिए। विवाह-शादियों या उत्सव-पर्व आदि अवसरों पर देखादेखी फिजूल खर्च करना कथमपि सुखावह नहीं होता। आय से अधिक व्यय करने से कर्जदार होना पड़ता है, जिसके लिए व्यक्ति को सदैव चिन्तित, पीड़ित, पददलित रहना पड़ता है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि गृहस्थ यथोचित खर्च भी न करे, कृपणता दिखाए, किन्तु अभिप्राय यह है कि गृहस्थ को मितव्ययी होना चाहिए।[3]

(७) **प्रसिद्ध देशाचारपालन**— जो किसी प्रकार से निन्दनीय, गर्हणीय न हों, ऐसे स्वदेशाचारों का पालन करना चाहिए। स्वदेशी वेश-भूषा, भाषा तथा रहन-सहन रखने में किसी प्रकार की गौरवहीनता नहीं है।[4]

(८) **माता-पिता की विनय**— माता-पिता की तथा घर में बुजुर्गों की विनय, भक्ति, आज्ञापालन, प्रणाम, आदर-बहुमान, सेवाशुश्रूषा आदि करनी चाहिए। माता-पिता को सुख-शान्ति पहुँचाए, उनके चित्त में कषाय न भड़कें, वे शान्ति से रहें, इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। उन्हें धार्मिक कार्यों—दान-शीलादि में तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त करे ताकि वे परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकें।[5]

(९) **स्व प्रकृति के अनुकूल समय पर भोजन**— स्वस्थता के लिए अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन हितावह होता है। प्रकृति के प्रतिकूल और बिना रुचि, भूख अथवा अजीर्णावस्था में भोजन करना, जान-बूझकर रोगों को बुलाना है। गृहस्थ को वैसे पदार्थ नहीं खाने चाहिए, जो गरिष्ठ, दुष्पाच्य एवं तामसिक हों। आरोग्यशास्त्रियों का मत है कि भोजन करते समय उदर

---

१ तथा उपप्लुत स्थानत्याग इति।

२ स्वयोग्यस्याश्रयणमिति।

३ आयोचितो व्यय इति।

४ तथा प्रसिद्धदेशाचारपालनमिति। —धर्मबिन्दु १।१६-१७,१८

५ तथा मातृ-पितृ पूजेति।

के तीन भागो की कल्पना कर लेनी चाहिए—एक भाग अन्न से भरे दूसरा भाग पानी से भरे और उदर का एकभाग खाली रखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से परिमित हित पथ्य भोजन ही गृहस्थ को करना चाहिए।'[1]

(१०) **अदेश-काल-चर्यात्याग**[2]—जुआ खेलने के अड्डे वेश्यालय, मदिरालय चाण्डालगृह मच्छीमारो के घर, कसाई-खाने आदि स्थान तत्त्वज्ञ धर्माचार्यों ने अयोग्य माने है। इन स्थानो मे मज्जन गृहस्थ को नही जाना चाहिए। ऐसे स्थानो पर बार-बार जाने से पाप के प्रति घृणा घटती जाती है और हृदयगत कोमलता का स्थान कठोरता ले लेती है। साथ ही मध्य-रात्रि तक इधर-उधर व्यर्थ ही घूमना-फिरना भी कई दृष्टियो से हानिकारक है। चोर बदमाश लुटेरे गुडे ऐसे समय मे ही फिरते हैं शत्रु आदि के उपद्रव की तथा परस्त्रीलम्पट होने की शका भी होती है।

(११) **वेग आदि छह का अतिक्रमण न करें**[3]—सैकडो कार्य हो, फिर भी निम्नलिखित ६ नित्यकृत्यो का अपने शरीरादि की रक्षा हेतु कदापि उल्लघन नही करना चाहिए। वे ६ बातें ये हैं—

(i) **वेग**—शौचादि के आवेगो को न रोके। इन कुदरती हाजतो को रोकने से अनेक भयकर रोग पैदा होते है। अत मल मूत्र को कभी रोकना नही चाहिए।

(ii) **व्यायाम**—व्यायाम न करने से शरीर-स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। नित्यभोजी गृहस्थ को, जहाँ तक शरीर मे पसीना न आ जाए वहाँ तक शरीर को आयास देने वाली व्यायामक्रिया अवश्य करनी चाहिए। आचार्य कहते हैं—व्यायाम किये बिना अग्निदीपन उत्साह शरीर के अगोपागो मे दृढता आदि कैसे हो सकती है?

(iii) **निद्रा**—गृहस्थ का शयन और जागरण नियमित होना चाहिए। अधिक देर तक सोते रहना या अधिक देर तक जागना बल, बुद्धि स्वास्थ्य तीनो के लिए हानिकारक है। अधिक देर तक जागने से पाचनक्रिया बिगड जाती है और अधिक देर तक सोते रहने से आलस्य, सुस्ती तथा अनुत्साह बढता है। अत सोने तथा जागने के समय का कभी उल्लंघन नही करना चाहिए।

१ तथा सात्म्यत काल भोजनम्।'

२ अदेशकालचर्या परिहार।' —धर्मबिन्दु

३ वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन-स्वच्छन्द-वृत्तिकालान्नोपरुन्ध्यात्।'

— नीतिवाक्यामृत स २५।१०

(iv) **स्नान**—गृहस्थ के लिए आरोग्यशास्त्रियों ने स्नान को आवश्यक माना है; क्योंकि शरीरश्रम से पसीना, मैल आदि शरीर पर जमा हो जाते हैं। स्नान करने से थकावट, पसीना, मैल और आलस्य दूर होता है।

(v) **भोजन**—भोजन का समय भी गृहस्थ का नियमित होना चाहिए। भोजन के समय का मतलब है—'बुभुक्षाकाल।' जब कड़ाके की भूख लगे, उसे ही भोजनकाल समझना चाहिए। यदि गृहस्थ भोजन का समय निश्चित कर ले और उसी समय भोजन करने की आदत डाले तो उसी समय उसे भूख लगने लगेगी। अतः भोजन के समय का उल्लंघन गृहस्थ को कदापि नहीं करना चाहिए। समय-बेसमय भोजन करने से कई उदररोग, अग्निमन्दता आदि हो जाते हैं।

(vi) **स्वच्छन्दवृत्ति**—स्वच्छन्दवृत्ति यहाँ उच्छृंखलता या स्वच्छन्दाचार के अर्थ में नहीं है, अपितु यहाँ स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ है—स्व-आत्मा के छन्द—विषय में वृत्ति—प्रवृत्ति करना। गृहस्थ को प्रतिदिन अपनी आत्मा के विषय में चिन्तन-मनन, निरीक्षण, स्वाध्याय, सामायिक, ध्यान आदि करना चाहिए, तथा प्रतिदिन आत्महित के लिए देव, गुरु और धर्म की आराधना में कुछ न कुछ समय अवश्य लगाना चाहिए। इससे सच्ची शान्ति मिलती है, सांसारिक दुःखों का निवारण होता है। अतः इस प्रकार की स्वात्महितकर दैनिकचर्या का कदापि उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन्हीं कुछ गुणों को सामान्य गृहस्थधर्म के लिए अनिवार्य बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के ३५ गुण बताए हैं, जिनमें से कुछ तो इन्हीं से मिलते-जुलते हैं। जो गृहस्थ सामान्य गृहस्थधर्म का पालन करता है, वह सदाचारी, नीति-न्यायपरायण, आत्महितचिन्तक बन जाता है तथा वह विशेष धर्म का पालन करने के योग्य बन जाता है।

गृहस्थ का विशेष धर्म

सद्गृहस्थ को सामान्य धर्म का पालन करने के साथ-साथ ही विशेष धर्म की ओर मुड़ जाना चाहिए ताकि इहलोक-परलोक सुख के अतिरिक्त मोक्षसुख को प्राप्त कर सके। आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है, जिसकी प्राप्ति विशेष धर्म के पालन से होती है।

विशेष धर्म का पालन करने के लिए सद्गृहस्थ को सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) का निरतिचार पालन करना आवश्यक है। सम्यक्त्वी गृहस्थ को श्रावक या श्रमणोपासक कहा गया है। उसे अपने सम्यक्त्व को सुदृढ़ करने के लिए प्रतिदिन धर्मोपदेश-

श्रवण, देव-गुरु-धर्म की उपासना, तथा स्वाध्याय द्वारा नौ तत्त्वों का चिन्तन अपेक्षित है। ऐसा करने से मिथ्यात्व का मल दूर हो जाता है, सम्यक्त्व का सूर्य प्रकाशित होने लगता है; जीवादि तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा, देव-गुरु-धर्म पर दृढ़ अनुराग तथा धर्माचरण द्वारा जीवन सफल बनाने का उत्साह जागृत हो जाता है।

सम्यक्त्व : स्वरूप, लक्षण और अतिचार

व्रतो को टिकाने के लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति आवश्यक है। व्यवहार सम्यक्त्व के लिए देव, गुरु, धर्म तथा नौ तत्त्वों पर दृढ श्रद्धा रखना अनिवार्य है।

किसी भव्यात्मा को सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब उसके अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन सातों प्रकृतियो का क्षयोपशम हो जाता है। व्यवहार सम्यक्त्व पालन करने के लिए सम्यक्त्व के ६७ बोलों को अपनाना आवश्यक है।

सम्यक्त्व आ जाने पर ये ५ लक्षण प्रकट हो जाते है—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।[1]

श्रावक को सम्यक्त्व सुरक्षित रखने के लिए उसके पांच अतिचारों (दोषो) से बचना चाहिए—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) अन्यदृष्टि-प्रशंसा और (५) अन्यदृष्टि-संस्तव।[2]

आचार्यों ने श्रावक के लिए आपत्तिकाल में सम्यक्त्व में कुछ आगार (अपवाद) बताए है, जिनका विवेकपूर्वक उपयोग सिर्फ आपत्काल में वह करे तो उसका सम्यक्त्व भंग नहीं होता। वे आगार ये हैं—

(१) राजाभियोग, (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग (५) गुरु-निग्रह, और (६) वृत्तिकान्तार।[3]

श्रावकधर्म के पांच अणुव्रत

श्रावक को सम्यक्त्व के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर यथाशक्ति क्रमशः पांच अणुव्रतों का ग्रहण करना चाहिए—(१) स्थूल प्राणातिपात-

---

१ 'प्रशम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽस्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं तदिति।

२ शंका-कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।
—धर्मबिन्दु अ. ३, सू. १०, १२

३ 'रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं।'
—उपासकदशांग अ०

विरमण, (२) स्थूलमृषावाद-विरमण, (३) स्थूल अदत्तादान-विरमण, (४) स्थूल मैथुन-विरमण और (५) परिग्रह-परिमाणव्रत।

(१) स्थूलप्राणातिपातविरमण

ससार मे दो प्रकार के जीव है—सूक्ष्म और स्थूल। पृथ्वीकाय अप्काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाच स्थावर एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म है। इन पाँचो की विराधना का गृहस्थ जीवन मे सर्वथा त्याग नही हो सकता किन्तु गृहस्थ उनका विवेक या मर्यादा कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकार ने स्थूल शब्द दिया है। स्थूल का अर्थ है —द्वीन्द्रिय स लेकर पचेन्द्रिय तक के जो त्रसजीव आबालवृद्ध प्रसिद्ध है, उन निरपराधी त्रस जीवो के सकल्पपूर्वक वध का त्याग करना। स्थूलप्राणातिपातविरमण का यह स्पष्ट अर्थ है।[1]

गृहस्थ से गृहकार्य मे व्यापार-धधे मे या अन्य आवश्यक कार्यों मे जा त्रसजीवो की हिसा हो जाती है, वह आरम्भजाहिंसा है किन्तु वह जान-बूझकर सकल्पपूर्वक आकुट्टि की बुद्धि से नही की जाती। अत वह क्षम्य है। इसी प्रकार किसी अपराधी या विरोधी (आततायी) को दण्ड देना पडे इसमे भी गृहस्थ का अहिसाणुव्रत भग नही होता। किन्तु वह दण्ड बदले की भावना से नही देना चाहिए, अपराधी के सुधार की भावना ही होनी चाहिए। इतना होने पर भी गृहस्थ प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक विवेक से करेगा तभी उसके अहिसाणुव्रत का भलीभाँति पालन हो सकेगा।

प्रथम स्थूलप्राणातिपातविरमणव्रत के शुद्धरूप से पालन के लिए पाच अतिचार भगवान् ने बताए है और कहा है कि इन अतिचारो को सिर्फ जानना चाहिए इनका आचरण नही करना चाहिए।[2] (१) बन्ध, (२) वध (३) छविच्छेद, (४) अतिभार और (५) भक्तपानविच्छेद।

(२) स्थूल मृषावादविरमण

श्रावक को स्थूल असत्य का त्याग करना चाहिए। यह द्वितीय अणु-व्रत है। मृषा के तीन अर्थ फलित होते है—अतथ्य (झूठ), अप्रिय और अपथ्य। जो सत्य स रहित हो अथवा विपरीत हो या जिसमे सत्य को छिपाया जाय वह

---

१ थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण' —स्थानांग स्था० ५ उ० १

२ 'तयाणतर च ण थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासए ण पच अइयारा पेयाला, जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—बधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवोच्छेए।' —उपासकदशांग अ० १

अतथ्य; जो हृदय को आघात पहुँचाने वाला हो, वह अप्रिय और जिसका परिणाम लाभकारी न हो, वह अपथ्य है। ऐसे मृषावाद से बचने का जो स्थूलव्रत है, वह स्थूलमृषावादविरमणव्रत कहलाता है।[1]

इस व्रत में पांच महान् मिथ्यावचनों (अलीकों) का त्याग किया जाता है, शेष की यतना होती है। वे पांच अलीक ये हैं—(१) **कन्यालीक**—कन्या, दास-दासी आदि मनुष्यों के विषय में मिथ्या बोलना, (२) **गवालीक**—गाय आदि पशु के सम्बन्ध में झूठ बोलना, (३) **भूम्यलीक**—भूमि, खेत, मकान आदि के सम्बन्ध में असत्य बोलना, (४) **न्यासापहार**—किसी की रखी हुई धरोहर झूठ बोलकर हडप जाना, (५) **कूटसाक्षी**—झूठी गवाही देना।

इस व्रत के पाच अतिचार है—(१) **सहसाभ्याख्यान**—बिना सोचे-विचारे किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना, (२) **रहस्याभ्याख्यान**—किसी का गुप्त रहस्य अन्य के समक्ष कह देना, (३) **स्वदारमन्त्रभेद**—अपनी स्त्री की गुप्त बातें प्रकट करना, (४) **मृषोपदेश**—किसी को गलत सलाह, अनाचारादि की शिक्षा या झूठ बोलने का उपदेश देना, और (५) **कूटलेख**—झूठा लेख लिखना, झूठा दस्तावेज या झूठी बहियाँ बनाना।[2]

(३) **स्थूल अदत्तादान-विरमण**

स्थूल अदत्तादान से विरत होना श्रावक का तृतीय अणुव्रत है। जिस वस्तु, जीव या यशकीर्ति आदि पर अपना वास्तविक अधिकार न हो, उसे नीति भंग करके अपने अधिकार में लेना, परधन का अपहरण करना, किसी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा या इच्छा के बिना या बिना दिये ले लेना, चोरी करना—अदत्तादान है। उससे बचने का जो स्थूलव्रत होता है, उसे स्थूलअदत्तादानविरमणव्रत कहते हैं। इस व्रत से छोटी-बड़ी सब तरह की चोरी का त्याग किया जाता है।[3]

इस व्रत को शुद्ध रूप से पालन करने के लिए पांच अतिचार बताए गए हैं, जिनसे बचना चाहिए—(१) **स्तेनाहृत**—चोर द्वारा लाया हुआ, या चोरी का माल रखना, ले लेना, (२) **तस्करप्रयोग**—चोरों को चोरी के लिए

---

१ 'थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं' —स्थानांग स्थान ५, उ० १

२ तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तंजहा—सहस्सब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे। —उपासकदशांग अ० १

३ 'थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।' —स्थानांग स्था० ५, उ० १

प्रोत्साहन देना, चोरी के लिए प्रेरित करना कि बेकार क्यों बैठे हो? चोरी करके माल लाओ, हम बेच देंगे, (३) **विरुद्धराज्यातिक्रम**—राज्य के जिन नियमों का उल्लंघन करने से दण्डनीय बनना पड़े, ऐसा आचरण करना; जैसे चुंगी, कर आदि की चोरी। राज्य की सीमा का उल्लंघन करके दूसरे राज्य में जाकर तस्कर व्यापार करना, (४) **कूटतुला-कूटमान**—झूठे तौल और झूठे नाप का उपयोग करना या तोल नाप न्यूनाधिक करना; और (५) **तत्प्रतिरूपकव्यवहार**—शुद्ध वस्तु में उसके सदृश या असदृश वस्तु मिलाकर बेचना, मिलावट करना। जैसे—दूध में पानी, शुद्ध घी मे वेजीटेबल घी मिलाना।[1]

(४) स्थूल मैथुन विरमणव्रत

यह श्रावक का चतुर्थ अणुव्रत है। इसका शास्त्रीय नाम–स्वदारसंतोष–परदारविरमणव्रत है। यह आंशिक ब्रह्मचर्यव्रत है। इसमें स्वपत्नी-संतोष के अतिरिक्त समस्त मैथुनों—अब्रह्मचर्यों का त्याग किया जाता है। अतः श्रावक इस व्रत में परस्त्री (विधवा, कुमारी कन्या, वेश्या आदि) का त्याग करके केवल स्व-स्त्रीसंतोषव्रत पर स्थिर रहता है और देवी या तिर्यञ्च मादा के साथ भी मैथुन का सर्वथा परित्याग कर देता है।[2]

गृहस्थ इस व्रत का पालन—एक करण और एक योग से—करूं नही काया से–करता है—यानी परस्त्रीसंग काया से नहीं करूंगा। इसका कारण यह है कि वेदमोहनीय कर्म के उपशम और व्यभिचार-निरोध के लिए विवाह किया जाता है। गृहस्थ को अपने पुत्र-पुत्री का भी विवाह करना पडता है तथा अन्य स्त्रियों की रुग्णादि प्रसंगों पर सेवा-शुश्रूषा भी करनी पड़ती है, इस कारण स्त्री स्पर्शादि को टाला नहीं जा सकता। फिर भी इस व्रत की सुरक्षा के लिए पांच अतिचारो को जानकर उनसे बचने का निर्देश भगवान् ने दिया है। वे पांच अतिचार[3] ये है—

(१) **इत्वरिकापरिगृहीता गमन**—कामबुद्धि के वशीभूत होकर यदि कोई चतुर्थ अणुव्रतधारक श्रावक यह विचार करे कि मेरा तो केवल परस्त्रीगमन

---

१ तयाणंतर च णं थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कम्मे, कूडतुल-कूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे। —उपासकदशांग अ० १

२ 'सदारसंतोसिए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ।' —आवश्यकसूत्र

३ 'तयाणंतरं च ण सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंगकीड़ा परविवाह-करणे, कामभोगतिव्वाभिलासे।' —उपासकदशांग अ० १

का ही त्याग है, अगर किसी स्त्री को विशेष लोभ देकर कुछ दिनो या कुछ समय के लिए अपनी स्त्री बनाकर रख लूँ तो क्या दोष है ? इस प्रकार का विचार करने और तदनुरूप साधन जुटाने तक अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार है, किन्तु अगर उसके साथ समागम कर लिया तो अनाचार यानी व्रतभंग हो जाता है।

इस अतिचार का एक और अर्थ भी कतिपय आचार्य करते है कि यदि किसी लडकी का लघु अवस्था में श्रावक के साथ विवाह हो गया हो, किन्तु जब तक उसकी योग्य अवस्था न हो जाए, तब तक उसके समागम का विचार करने आदि से व्रत कलंकित हो जाता है।

(२) **अपरिगृहीतागमन**—जिसका विवाह संस्कार नही हुआ है, जैसे—कुमारी कन्या, अनाथ कन्या या वेश्या आदि, ऐसी स्त्रियों के साथ गमन का इस दृष्टि से विचार करना कि मेरा तो केवल परस्त्री के साथ गमन का त्याग है, ये तो किसी की भी स्त्री नहीं हैं, इसलिए इनमें से किसी के साथ गमन करने में दोष ही क्या है ? ऐसा विचार करना 'अतिचार' है।

कतिपय आचार्य इसका अर्थ यह भी करते है—यदि किसी कन्या के के साथ केवल मंगनी (सगाई) हो गई हो, किन्तु विधिवत् विवाह न हुआ हो, यदि उस कन्या का एकान्त स्थान में मिलन हो गया हो तो भावी स्त्री जानकर उसके साथ कामचेष्टा करना या समागम का विचार करना इस व्रत का अतिचार है।

(३) **अनगक्रीडा**—कामवासना के वशीभूत होकर परस्त्री के साथ कामजन्य उपहासादि चेष्टाएँ करना, काम जागृत करने की आशा से परस्त्री के शरीर के कामांगों का स्पर्श करना अथवा स्वस्त्री के साथ भी कामांग के सिवाय अन्य अंगो से मैथुन करना अथवा अप्राकृतिक मैथुन (हस्तमैथुन आदि) करना, अनंगक्रीड़ा नामक अतिचार है।

(४) **पर-विवाहकरण**—इसके दो अर्थ किये जाते है—(१) अपने सम्बन्धियों को छोड़कर अन्य लोगों के पुत्र-पुत्रियो का विवाह-सम्बन्ध पुण्य-लाभ जानकर या लोभ के वशीभूत होकर कराने के लिए उद्यत रहना उक्त व्रत के लिए परविवाहकरण रूप अतिचार है। क्योंकि विवाह मैथुन प्रवृत्ति का प्रेरक है और मैथुन प्रवृत्ति कभी पुण्य-लाभ का कारण नहीं हुआ करती।[1] (२) अथवा यदि किसी कन्या का सम्बन्ध (वाग्दान) विवाह-

---

१ देखिए—'परविवाहकरणे' पर उपासकदशांगवृत्ति

संस्कार से पूर्व ही किसी अन्य पुरुष के साथ हो गया है, तो उस सम्बन्ध को तुडवा कर अपने साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना-जुड़वाना भी परविवाहकरण रूप अतिचार है, क्योंकि ऐसी स्त्री भी एक प्रकार से परस्त्री ही है।

(५) **कामभोग तीव्राभिलाषा**—काम-भोग-सेवन की तीव्र लालसा रखना भी इस व्रत का अतिचार है। कामभोग का अर्थ है—पांचों इन्द्रियों के विषय—शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श। इन विषयों की वृद्धि के लिए नाना प्रकार की भस्म, धातु आदि बलबर्द्धक औषधियों का सेवन करना, वाजीकरण करना, रातदिन समय-कुसमय कामभोग सेवन करना या कामक्रीडा करते रहना, कामभोग तीव्राभिलाषा नामक अतिचार है।

चतुर्थव्रतधारक गृहस्थ को इन पांच अतिचारो से अवश्य बचना चाहिए।

(५) इच्छा परिमाणव्रत—परिग्रहपरिमाणव्रत

गृहस्थ परिग्रह का सर्वथा त्याग नही कर सकता; क्योंकि उसे अपने आपके और परिवार के भरण-पोषण तथा उनके शिक्षा संस्कार, विवाहादि कार्यों के लिए एवं घर-गृहस्थी चलाने के लिए आवश्यक धन, साधन आदि की जरूरत रहती है। अत: अपनी अनन्त इच्छाओ तथा परिग्रहभूत वस्तुओं पर अकुश लगाना एवं सन्तोष धारण करना श्रावक के लिए आवश्यक है। अनाप-सनाप परिग्रह होगा तो वह अपनी धर्मसाधना नही कर सकेगा, न ही सुखी रह सकेगा और न व्रत को ही सुरक्षित रख सकेगा। अतः भगवान् ने श्रावक के लिए पाँचवाँ इच्छापरिमाण या परिग्रहपरिमाणव्रत आवश्यक बताया है।[1]

परिग्रह के दो भेद हैं—द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रह।

द्रव्यपरिग्रह धन-धन्यादिरूप है और भावपरिग्रह अन्तरंग मोहनीयकर्म की प्रकृतिरूप है जिसका बाह्यरूप इच्छा, आशा, तृष्णा, लोभ, लालसा, वासना आदि है। अतः बाह्य परिग्रह पर नियंत्रण के लिए परिग्रहपरिमाण है और आन्तरिक परिग्रह पर नियंत्रण के लिए 'इच्छापरिमाण' है। अतः इस व्रत में गृहस्थ सुखपूर्वक अपने तथा अपने पारिवारिक जीवन का निर्वाह हो सके, तथा परिवार, समाज, देश और धर्म के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभा सके, इस दृष्टि से सोचकर धन-धान्य, क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-

---

१ 'इच्छापरिमाणे' —स्थानांग स्था० ५, उ० १

सुवर्ण, द्विपद-चतुष्पद, वाहन-यान आदि परिग्रहभूत वस्तुओं की मर्यादा (सीमा) करता है।

पांचवें अणुव्रत के धारक को अपना व्रत सुरक्षित रखने के लिए निम्नोक्त पाच अतिचारों[1] से बचना आवश्यक है—

(१) **क्षेत्र-वास्तुप्रमाणातिक्रम**—क्षेत्र (खेत, बगीचे या जमीन) एवं वास्तु मकान, दूकान, घर आदि का जितना परिमाण किया हो उसका उल्लंघन करना, अर्थात्—एक वस्तु की सीमा घटाकर दूसरी वस्तु की सीमा बढ़ाना, सख्या बढना या अपनी मालिकी रखते हुए भी स्त्री आदि के नाम से कर देना।

(२) **हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम**—घड़े हुए या बिना घड़े हुए चाँदी-सोने का जो भी परिमाण किया हो, उसका उल्लघन इस अभिप्राय से करना कि यह है तो मेरा ही किन्तु परिमाण अधिक है, इसीलिए स्त्री-पुत्रों के नाम से रख लूं तो क्या हर्ज है ? अथवा प्रमाण से उपरान्त सोना-चाँदी पुत्र के जन्मोत्सव, पुत्री के विवाह तथा अन्य कार्यों के लिए रख लेना; इत्यादि विचार व्रत को दूषित करने वाले है।

(३) **धन-धान्यप्रमाणातिक्रम**—धन (सिक्के नोट आदि), और धान्य (अनाज आदि) का जो परिमाण किया हो, उसका अतिक्रमण करना व्रतदोष है। अधिक धन हो जाने पर अपने सम्बन्धी के यहाँ इस अभिप्राय से रखवा देना कि मेरे पास तो है नहीं। परन्तु यह आत्म-वंचना है। इसी प्रकार धान्यादि दूसरे के नाम से खरीद कर अपने पास संग्रह करना। या अधिक धान्य दूसरे के यहाँ रखवा देना भी इस व्रत का अतिचार है।

(४) **द्विपद-चतुष्पदप्रमाणातिक्रम**—द्विपद (दास-दासी या अन्य स्त्री-पुरुष) एवं दो पैर वाले पक्षी जैसे तोता, मैना, कबूतर आदि एवं चतुष्पद (चार पैर वाले जानवर गाय, भैंस आदि) का जितना परिमाण किया हो, उसका अतिक्रमण करना।

(५) **कुप्यप्रमाणातिक्रम**—घर की जितनी भी सामग्री (बर्तन, पलंग, पट्टे, पंखे, फर्नीचर, अलमारी आदि) है, उनकी जो मर्यादा की हो, उसका

---

१ तयाणतर च णं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—खेत्तवत्थुपमाणाइक्कम्मे, हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कम्मे, दुपयचउप्पयपमाणाइक्कम्मे, धणधन्नपमाणाइक्कम्मे, कुवियपमाणाइक्कम्मे।

—उपासकदशांग अ० १

उल्लंघन करना अनुपयोगी सामान इकट्ठे करना (इस अभिप्राय से कि यह तो अपनी मर्यादा में मैंने रखा ही नहीं है) भी अतिचार है।

इस प्रकार पंचम अणुव्रत का शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए।

तीन गुणव्रत

पांच अणुव्रतों की रक्षा एवं उक्त अणुव्रतों में विशेषता लाने तथा उनकी मर्यादाओं को और अधिक कम करने की दृष्टि से श्रावक के लिए तीन गुणव्रतों का विधान किया गया है।

जैसे—दिग्परिमाणव्रत से मर्यादित क्षेत्र से बाहर के जीवों को अभयदान देने से प्रथम अणुव्रत को लाभ पहुँचता है, छहो दिशाओं में क्षेत्र मर्यादित हो जाने से उसके बाहर के क्षेत्र का असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग अनायास ही हो जाता है। सातवें व्रत से उपभोग-परिभोग का परिमाण हो जाने परिग्रह की मर्यादा और भी कम (संकुचित) हो जाती है। भोगोपभोग की मर्यादा होने से आरम्भजन्य हिंसा में भी कमी हो जाती है, ब्रह्मचर्य की मर्यादा की सुरक्षा हो जाती है और स्तेय तथा असत्य का भी प्रसंग नही आता। इसी प्रकार अनर्थदण्डविरमणव्रत ग्रहण कर हिंसादि की जो मर्यादा रखी थी, उसमें निरर्थक हिंसादि का त्याग हो जाता है।

इस प्रकार तीनों गुणव्रत अणुव्रतों की पुष्टि, सुरक्षा और विशिष्टता के लिए हैं। ये अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाते हैं, इसीलिए इनका नाम गुणव्रत है।

(१) दिक्परिमाणव्रत

असंख्यात योजन परिमित यह लोक है। इसमें लोभवश या अन्य प्रयोजनवश निराबाधरूप से गमन करना अणुव्रती श्रावक के लिए उचित नहीं है।

इस लोक में दो प्रकार से जीव गमन करता है—द्रव्य से और भाव से। द्रव्य से--काया से गमन करना, और भाव से अशुभकर्म करना, जिससे गमन करना पड़े। भाव से गमन न करने के लिए वैसे अशुभकर्मों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। द्रव्य से—काया द्वारा दश दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची-नीची, नैऋत्य, आग्नेय, वायव्य और ईशान) में गमन का परिमाण करना चाहिए।

दिशापरिमाणव्रत का अर्थ है, पूर्वोक्त दश दिशाओं में से जिस दिशा में जाने का जितना परिमाण किया है, उससे आगे नहीं जाना। यदि ऐसी मर्यादा न हो तो मनुष्य धंधे के लिए कितनी ही दूर चला जाए और अनेक

प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करे। अतः इस व्रत से मुख्यतया हिंसा और परिग्रह, दोनों पर नियंत्रण रहता है।

इस व्रत के पांच अतिचार[1] हैं जिनसे बचना आवश्यक है—

(१) **ऊर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रम**—ऊर्ध्वदिशा में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन करना, (२) **अधोदिशापरिमाणातिक्रम**—नीची दिशा में जाने का जो परिमाण किया हो उसका अतिक्रम करना; (३) **तिर्यग्दिशाप्रमाणातिक्रम**—तिरछी दिशा (पूर्व पश्चिमादि आठों दिशाओं) में जाने का जो परिमाण किया हो, उसका उल्लंघन करना; (४) **क्षेत्रवृद्धि**—एक दिशा की सीमा कम करके दूसरी दिशा की सीमा में वृद्धि करना; (५) **स्मृति-अन्तर्धान**—गमन करते समय उसी दशा की सीमा की स्मृति विस्मृत हो जाए, या सीमा के विषय में शंका हो जाए, फिर भी आगे बढ़ते जाना स्मृत्यन्तर्धान नामक अतिचार है।

इन पाँच दोषों के परिहारपूर्वक इस गुणव्रत का पालन करना चाहिए।

(२) **उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत**

यह जीव अनादिकाल से नाना प्रकार के भोगोपभोगों का सेवन करता आया है, फिर भी उसे तृप्ति नहीं हुई। मनुष्यजन्म पाने पर भी भोगोपभोगों की तृष्णा कम नहीं हुई। उसके लिए हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि पाप करता है। भोगोपभोगों की अतिशय लालसा एवं सेवन के कारण वह रागादि अनेक दोषों एवं अनेक व्याधियों का शिकार बनता है, इससे कर्मसंचय में वृद्धि होती है। श्रावक को अपना जन्म सार्थक करने और विषय-कषायो को कम करने तथा अणुव्रतों का सम्यक् पालन करने के लिए भगवान् ने उपभोग-परिभोगपरिमाण नामक द्वितीय गुणव्रत बताया है।

यह व्रत दो प्रकार से ग्रहण किया जाता है—भोग से, और कर्म से। सर्वप्रथम भोगोपभोगों की मर्यादा का विचार करना चाहिए। जो वस्तु एक बार भोगी जाए, वह भोग; जैसे—आहार-पानी, स्नान, विलेपन, पुष्पमाला आदि और जो वस्तु अनेक बार भोगी जा सके, वह उपभोग, जैसे—वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन आदि। इन भोगोपभोग्य वस्तुओं का परिमाण करना—नियमन करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

---

१ 'तयाणंतरं च णं दिसिवयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कम्मे, अहोदिसिपमाणाइक्कम्मे, तिरियदिसिपमाणाइक्कम्मे, खेत्तवुड्ढी सइअंतरद्धा।' —उपासकदशाग अ० १

भोगोपभोग्य वस्तुएँ शरीर और शरीर से सम्बन्धित होती है। श्रावक को इनकी मर्यादा करते समय निम्नोक्त ५ बातो को वर्जित करना चाहिए—

(१) **त्रसवधनिष्पन्न** – जो वस्तु त्रसजीवो के वध से निष्पन्न हो, उसका कतई उपयोग न करना। जैसे—मास मद्य रेशमी वस्त्र कॉड लिवर आइल आदि त्रसवधनिष्पन्न दवाइयाँ अण्डे मछली चमडा आदि।

(२) **अतिवधनिष्पन्न**—जिसमे स्थावर जीवो की भी अत्यन्त विराधना होती हो। जैसे—बड के फल, पीपल के फल उदुम्बर (गुल्लर) अनन्तकाय आदि इनमे स्थावर जीव अधिक होते है तथा सूक्ष्मत्रस जीव भी बहुत उत्पन्न होते हैं। अत ऐसी चीजो का सेवन नही करना चाहिए।

(३) **प्रमाद**—जिसके खाने-पीने से शरीर मे आलस्य जडता बेहोशी पागलपन आदि आ जाते हो नित्य धार्मिक कृत्य करने का स्फूर्ति भी न रहे ऐसी चीजो का सेवन भी वर्जित है। जैसे—अत्यन्त गरिष्ठ तामसिक आहार प्रत्येक प्रकार का मद्य दुष्पाच्य भोजन भाग गाजा चरस तम्बाकू चण्डु नशीली वस्तुएँ आदि आदि।

(४) **अनुपसेव्य** – पूर्व आचार्यों ने जिन वस्तुओ का सेवन श्रावक के लिए निषिद्ध बताया हो। जैसे—लूट छीनकर या दूसरे का हक छीनकर प्राप्त किया हुआ आहार वस्त्र आदि अथवा अत्यन्त बारीक, जिससे न तो लज्जा निवारण हो और न सर्दी-गर्मी आदि से रक्षा हो। अथवा ऐसा भोजन जिससे भूख न मिटे और केवल स्वाद पोषण होता हो।

(५) **आरोग्यघातक**—वह भोजन वस्त्रादि जो स्वास्थ्य के लिए घातक हो, रोगोत्पादक हो, उसका सेवन भी वर्जित है।

उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थ— शास्त्रो मे २६ प्रकार के उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों की मर्यादा बताई है। ये पदार्थ निम्नोक्त है—(१) **उल्लणियाविहि**—प्रात काल उठते ही हाथ-मुँह धोने के बाद पोछने के लिए सूती तौलिये की आवश्यकता होती है अत उसकी मर्यादा करना (२) **दतणविहि**—दतौन की मर्यादा करना, (३) **फलविहि**—आँवला आदि मस्तक पर लगाने के फलो की मर्यादा करना, (४) **अब्भगणविहि**—मालिश किये जाने वाले तेल आदि की मर्यादाकरना, (५) **उवट्टणविहि**—शरीर पर लगाने के लिए उबटन (पीठी) आदि मर्यादा करना, (६) **मज्जणविहि**—स्नान आदि के लिए पानी की मर्यादा करना, (७) **वत्थविहि**—पहनने के वस्त्रो की मर्यादा करना (८) **विलेवणविहि**—चन्दन आदि के विलेपन की मर्यादा करना, (९) **पुप्फविहि**—पुष्प, पुष्पमाला आदि की मर्यादा करना, (१०) **आभरणविहि**—गहने पहनने की मर्यादा करना, (११)

धूपविहि—धूप आदि से कमरे, वस्त्र आदि को सुवासित करने की मर्यादा करना, (१२) पेज्जविहि—नाश्ते के लिए पेय पदार्थ की मर्यादा करना, (१३) भक्खणविहि—रोटी आदि खाने की वस्तुओं की मर्यादा करना, (१४) ओदण-विहि—चावलों की मर्यादा करना, (१५) सूपविहि – दालों की मर्यादा करना, (१६) विगयविहि—घी, दूध, दही, तेल, गुड़, चीनी आदि (या इनसे बनी चीजों) विगइयों की मर्यादा करना। (१७) सागविहि—साग-भाजी आदि की मर्यादा करना, (१८) महुरविहि—मधुर पके हुए फलो की मर्यादा करना, (१९) जेमणविहि—भोज्य पदार्थों की मर्यादा करना, (२०) पाणीविहि—पीने के पानी की मर्यादा करना, (२१) मुखवासविहि— लोंग, सुपारी, ताम्बूल आदि मुख-वास की मर्यादा करना, (२२) वाहणविहि—वाहन (सवारी) की मर्यादा करना, (२३) उवाणहविहि—पैर में पहनने के चप्पल, जूते, मौजे आदि की मर्यादा करना, (२४) सयणविहि—शय्या, आसन, पाट, खाट आदि शयनीय पदार्थों की मर्यादा करना, (२५) सचित्तविहि – सचित्त वस्तुओं की मर्यादा करना, (२६) दव्वविहि—प्रतिदिन खाद्यद्रव्यों की गणना करना।

इन २६ बोलों की मर्यादा यावज्जीवन के लिए होती है।

चौदह नियम—दैनन्दिन मर्यादाओ के लिए आचार्यों ने प्रतिदिन १४ नियमों का चिन्तनपूर्वक स्वीकार बताया है—(१) सचित्त—पृथ्वीकायादि सचित्त वस्तुओं के सेवन की दैनिक मर्यादा, (२) द्रव्य—खाद्य द्रव्यों की संख्या का निश्चय करना, (३) विकृतिक—घी, दूध, दही, तेल, गुड, चीनी आदि ५ विगइयों में से अमुक का या सबका त्याग करना या मर्यादा करना, (४) उपानहनियम—आज के दिन पैर में पहनने के चप्पल, जूते आदि का त्याग करना|या मर्यादा करना, (५) ताम्बूलपरिमाण – मुखवास के योग्य पदार्थों का त्याग या परिमाण करना, (६) वस्त्रमर्यादा—पहनने के वस्त्रों की दैनिक मर्यादा करना, (७) कुसुमविधि—पुष्प, तैल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की दैनिक त्याग या मर्यादा करना, (८) वाहनमर्यादा—अमुक-अमुक वाहनों के उपयोग का त्याग या नियम करना (९) शयन नियम—खाट, पाट, कुर्सी, शय्या आदि शयनीय पदार्थों का त्याग या परिमाण करना. (१०) विलेपननियम—अंग पर विलेप्य वस्तुओं का त्याग या परिमाण करना, (११) ब्रह्मचर्य नियम—ब्रह्मचर्य का नियम लेना अथवा दिन को मैथुनकर्म का सर्वथा त्याग करना, रात्रि को भी ब्रह्मचर्य की मर्यादा करना, (१२) दिशापरिमाण—छहों दिशाओं में गमन का त्याग या परिमाण करना, (१३) स्नाननियम—स्नान का त्याग या परि-माण निश्चित करना, (१४) भक्तनियम—आहार-पानी तथा अन्य खाद्यपदार्थों के वजन का परिमाण करना।

कर्मादानों का सर्वथा त्याग—भोगोपभोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए श्रावक को कोई न कोई व्यवसाय अथवा आजीविका का साधन करना पड़ता है। परन्तु भगवान् ने श्रावको के लिए १५ प्रकार के कर्मादान रूप (कर्मों का अधिकाधिक बन्ध करने वाले) व्यवसायो का सर्वथा निषेध किया है। १५ कर्मादान[1] इस प्रकार है —

(१) **अगारकर्म**— कोयले बनाकर बेचने का व्यवसाय करना (२) **वनकर्म**—वन ठेके पर लेने, वृक्षादि कटवाने या वनस्पति को छेदन-भेदन करने का व्यवसाय (३) **शकटकर्म**—अनेक प्रकार के गाडे गाडी या रथ आदि वाहन बनाने-बनवाने का व्यवसाय करना, (४) **भाटकर्म**—बैल, भैसा, गाय आदि पशुओ को भाडे (किराये) पर देना, अथवा बडे-बडे मकान बनवाकर किराये पर देने का धधा करना, (५) **स्फोटकर्म**—सुरग खोदने बारूद से पत्थर फोडने का धधा करना (६) **दन्तवाणिज्य**—हाथीदात पशुओ के नख, रोम, सीग, चमडा गाय का चामर आदि का व्यवसाय करना, (७) **लाक्षा-वाणिज्य**—लाख अनेक त्रसजीवो की उत्पत्ति का कारण है, अत लाख का व्यापार करना (८) **रसवाणिज्य**—मदिरा या सिरका आदि बनाने एव बेचने का धधा करना (९) **विषवाणिज्य**—विष विषैली चीजा या शस्त्रास्त्र आदि बेचने बनाने का धधा करना, (१०) **केशवाणिज्य**—केशवाले दास-दासिया तथा पशुपक्षियो का क्रय-विक्रय करना (११) **यन्त्रपीडनकर्म**—बडे-बडे यंत्रा (मशीनो) द्वारा तिल, ईख आदि पेरने का व्यवसाय करना, (१२) **निर्लांछनकर्म**—पशुओ को नपुसक बनाने (खस्सी करने) का धधा करना, (१३) **दवाग्निदानकर्म**—वन को आग लगाने का कर्म करना (१४) **सरोह्रद-तड़ागपरिशोषणकर्म**—सरोवर नदी, ह्रद, तालाब आदि जलाशयो को सुखाने का व्यवसाय करना (१५) **असतीजनपोषणताकर्म**—कुलटा, व्यभिचारिणी स्त्रियो को रखकर उनसे व्यभिचार करवाने का व्यवसाय करना अथवा शिकारी कुत्ते, बिल्ली, मुर्गा, आदि को पालना-पोसना, असामाजिक तत्त्वो को आश्रय देना आदि।

विवेकशील गृहस्थ श्रावक को इन १५ कर्मादानरूप व्यवसायो का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत के ५ अतिचार है—(१) **सचित्ताहार**—

---

१ कम्मओ य समणोवासएण पण्णरसकम्मादाणाइ जाणियव्वाइ न समायरियव्वाइ, त जहा—इगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जतपीलणकम्मे निलछण-कम्मे, दवग्गिदावणया सरदहतलायसोसणया असईजणपोसणया

—उपासकदशाग अ० १

श्रावक द्वारा कृतसचित्त की मर्यादा का उल्लघन करना, (२) **सचित्तप्रतिबद्धाहार**—सचित्त का त्याग होने से सचित्त से प्रतिबद्ध (छूता हुआ या सचित्त पर रखा हुआ) आहार करना अतिचार है (३) **अपक्वाहार**—जो आहारादि अग्नि से परिपक्व नही हुए है उनका तथा औषधि (धान्य) आदि मिश्रपदार्थों का आहार करना अतिचार है। (४) **दुष्पक्वाहार**—जो आहार पका तो हो किन्तु दुष्पक्व अधिक पका दिया या जला दिया हो उस आहार को करने से उदरादि अनेक रोगो की सम्भावना है। अत उसका सेवन करना अतिचार है। (५) **तुच्छौषधिभक्षण**—ऐसी वनस्पति जिसमे खाने का अश कम हो, फेंकने का अधिक हो, जिससे उदरपूर्ति न हो सके, उसका आहार करना अतिचार है।[1]

(३) **अनर्थदण्ड विरमण**

यह तीसरा गुणव्रत है। यद्यपि हिंसादिजन्य सभी कार्य पापोपार्जन के हेतु है। परन्तु उसमे भी सार्थक और अनर्थक ऐसे दो भेद करके जो अनर्थक दण्ड (हिंसादिजनित कार्य) है उनका श्रावक को परित्याग करना चाहिए।

शास्त्रकारो ने अनर्थदण्ड के मुख्यतया चार भेद बताए है—(१) **अपध्यानाचरित**—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनो अपध्यान कहलाते है, इनसे व्यर्थ ही भावहिंसादि बढते हैं। अत इन दोनो अपध्यानो का आचरण छोडना चाहिए। (२) **प्रमादाचरित**—धर्म स प्रतिकूल सभी क्रियाएँ जिनसे ससारचक्र मे विशेष परिभ्रमण होता हो, उस का नाम प्रमादाचरण है। प्रमादाचरणवृत्ति जब प्रबल होती है तब शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श विषयो के उपभोग की तीव्रेच्छा होती है, और मनुष्य तदनुसार कुपुरुषार्थ करता रहता है। (३) **हिंस्रप्रदान**—हिंसाजनक शस्त्र-अस्त्र, मूसल, ऊखल आदि प्रदान करना। (४) **पापकर्मोपदेश**—चोरी जारी आदि पापकर्मों के उपाय किसी अन्य को बताना पापकर्मोपदेश अनर्थदण्ड है।

इस गुणव्रत की रक्षा के लिए शस्त्रकार ने पाच अतिचारो[2] से बचने का निर्देश किया है—(१) **कन्दर्प**—कामविकार उत्पन्न करने वाले वाक्यो का

---

१ 'तत्थ ण भोयणओ समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पोलिओसहि भक्खणया दुप्पोलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया। —उपासकदशाग अ० १

२ तयाणतर च ण अणट्ठदडवेरमणस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—कदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरित्ते। —उपासक० अ० १

प्रयोग करना या वैसी चेष्टाएँ करना, जिनसे कामोत्तेजना पैदा हो। (२) **कौत्कुच्य**—भाण्ड (विदूषक) की तरह मुखविकारादि चेष्टाएँ करके लोगों को हंसाना। (३) **मौखर्य** धृष्टता के साथ अंटसंट या असम्बद्ध बोलते जाना। (४) **संयुक्ताधिकरण**—जिन उपकरणों के संयोग से कलह, हिंसा, युद्ध आदि होने की संभावना हो, उनका संग्रह करना। जैसे—तीर के साथ धनुष, मूसल के साथ ऊखल, फाल के साथ हल आदि संयुक्त उपकरणों का प्रदान करना या परिमाण से अधिक संग्रह करना अतिचार है। (५) **उपभोग-परिभोगातिरिक्त**—अपने शरीर एवं परिवार के उपभोग-परिभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं से अधिक संग्रह करना।

गृहस्थ को अर्थदण्ड तो लगता ही है, किन्तु अनर्थदण्ड से उसे अवश्य बचना चाहिए।

चार शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत उसे कहते हैं, जिनका बार-बार अभ्यास करने से आत्म-जागृति या आत्मविकास होता है। ऐसे शिक्षाव्रत चार है—(१) सामायिक-व्रत, (२) देशावकाशिकव्रत, (३) पौषधोपवासव्रत और (४) अतिथि-संविभागव्रत।

(१) सामायिकव्रत

रागद्वेषरहित होकर प्रत्येक पदार्थ, परिस्थिति आदि में समभाव का अभ्यास करना, अथवा सावद्ययोगों से विरत होकर समत्व का आय—लाभ प्राप्त करना सामायिक है। श्रावक को इस प्रकार के सामायिकव्रत की कम-से कम एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक साधना करनी चाहिए।

सामायिकव्रताचरण के लिए ४ विशुद्धियाँ आवश्यक हैं—

(१) **द्रव्यशुद्धि**—सामायिक के उपकरण, शरीर, वस्त्र आदि शुद्ध हों। (२) **क्षेत्रशुद्धि**—सामायिक करने का स्थान शान्त, एकान्त, गन्दगी से रहित, शुद्ध और कोलाहल से रहित हो। (३) **कालशुद्धि**—यद्यपि सामायिक-व्रत किसी भी समय किया जा सकता है, किन्तु जिस समय सामायिक में मन लग सके, सांसारिक चिन्ताओं से व्यक्ति निवृत्त हो, ऐसे समय दो हैं—प्रातःकाल और सायंकाल। इन दोनों समयों में सामायिक साधना करनी चाहिए। (४) **भावशुद्धि**—सामायिक हार्दिक शुद्धभावों से बिना किसी फला-कांक्षा, लज्जा, भय या प्रलोभन के की जानी चाहिए। भावशुद्धि के बिना की हुई सामायिक साधना निष्प्रयोजन हो जाती है, आत्मशुद्धिरूप फलप्रद नहीं होती।

सामायिकव्रत की सुरक्षा के लिए पाँच अतिचारो से बचना आवश्यक है—

(१) **मनोदुष्प्रणिधान**—सामायिक मे मन से बुरा चिन्तन, अशुभ या सासारिक सावद्यकार्यों का चिन्तन करना (२) **वाग्दुष्प्रणिधान**—वाणी के प्रयोग का ध्यान न रखना, सावद्यभाषा बोलते रहना अथवा कठोर हिंसक वचन-प्रयोग करना अतिचार है। (३) **कायदुष्प्रणिधान**—सामायिक मे काया को स्थिर न रखना बार-बार चचल बनाए रखना, काया से सावद्य प्रवृत्ति या चेष्टाएँ करना। (४) **स्मृति-अकरण** सामायिककाल या सामायिक साधना की स्मृति न रहना, क्या सामायिक का समय हो गया है? मैंने सामायिक की है या नही? इत्यादि विस्मृति अतिचार है। (५) **अनवस्थितकरण**—सामायिक का काल पूर्ण हुए बिना ही सामायिक पार लेना, अथवा न तो समय पर सामायिक करना और न ही उसके काल को पूर्ण करना। यह पाँचवाँ अतिचार है।[1]

(२) **देशावकाशिकव्रत**

यह द्वितीय शिक्षाव्रत है। वास्तव मे यह व्रत छठे व्रत का ही अश है। छठे व्रत मे आजीवन छह दिशाओ मे गमन का परिमाण किया जाता है परन्तु इस व्रत मे उसी परिमाण को संक्षिप्त—सकुचित किया जाता है।

जैसे—छठे व्रत मे अमुक दिशा मे जो क्षेत्र मर्यादा की है, उतनी दूर प्रतिदिन जाना नही होता, अत प्रतिदिन जितनी दूर तक जाने का काम पडता हो, उतनी सीमा मे क्षेत्र-परिमाण कर लेना इस व्रत का उद्देश्य है।

ऐसा करने से परिमाण किये हुए क्षेत्र मे उसका सवरभाव हो जाता है, तथा परिमाणकृत क्षेत्र से बाहर की कोई भी वस्तु मगवाने व भेजने या खरीदने-बेचने आदि का तथा पचास्रवसेवन का त्याग हो जाता है। इस प्रकार इच्छाओ का निरोध करने मे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

देशावकाशिकव्रतधारी को निम्नोक्त पाँच अतिचारो का त्याग करना चाहिए—(१) **आनयनप्रयोग**—आवश्यक कार्य पडने पर मर्यादित क्षेत्र से बाहर का कोई भी पदार्थ किसी से मगवाना यह प्रथम अतिचार (दोष) है। (२) **प्रेष्यप्रयोग**—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के क्षेत्र मे वस्तु को प्रेषित करना—भेजना

---

१ तयाणतर च णं सामाइयस्स समणोवासएण पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—मणदुप्पणिहाणे वयदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइ अकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया। —उपासक० अ० १

भी अतिचार है। (३) **शब्दानुपात**—परिमाण की हुई भूमि से बाहर कोई अन्य पुरुष जा रहा हो, उस समय आवश्यक कार्य कराने के लिए मुख से खंखार आदि शब्द करके अपना अभिप्राय प्रकट करना। यह भी अतिचार है। (४) **रूपानुपात**—देशावकाशिकव्रत में बैठे हुए व्यक्ति के द्वारा किसी व्यक्ति से कोई कार्य कराने का स्मरण होते ही अपना रूप दिखलाकर उक्त व्यक्ति को को बोधित करना रूपानुपात नामक अतिचार है। (५) **पुद्गलप्रक्षेप**—परिमित भूमि से बाहर कंकर आदि कोई वस्तु फेंक कर अपने मनोभाव दूसरो को जताना भी अतिचार है।[1]

इन पांच अतिचारों से इस व्रत के साधक को बचना चाहिए।

(३) परिपूर्ण पौषधव्रत

उपवास करके आठ पहर विशेष आत्मचिन्तन धर्मध्यान मे व्यतीत करना ग्यारहवाँ पोषधोपवासव्रत है। यह तृतीय शिक्षाव्रत है। श्रावक को दूज, पाँचम, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा, इन पर्वतिथियों में सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर शुद्ध वसति (पौषधशाला, उपाश्रय आदि) स्थान में पौषधोपवास करना चाहिए।

पौषध में चार प्रकार का त्याग अनिवार्य होता है—स्नान-शृंगार, अब्रह्मचर्य, आहारादि एवं सांसारिक व्यापारादि का त्याग।

इस दिन साधुवृत्ति में रहकर अपना समस्त समय, स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन आदि में लगाना चाहिए। अधिक नहीं हो सके तो कम से कम महीने में दो पौषधोपवास तो अवश्य करने ही चाहिए। इससे द्रव्यरोगों के साथ-साथ भावरोगों (कर्मों) का भी नाश होता है, कर्मनिर्जरा से आत्म-प्रदेश निर्मल हो जाते हैं, भूख को सहने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

ग्यारहवें पौषधोपवास के पाँच अतिचारों को जानकर उनका त्याग करना आवश्यक है—(१) **अप्रत्यवेक्षित दुष्प्रत्यवेक्षित शय्या संस्तारक**—पौषध में अपने शय्या-संस्तारक का प्रतिलेखन न किया हो, किया हो तो भलीभाँति प्रतिलेखन न किया हो, अस्थिर चित्त से किया हो यह प्रथम अतिचार है। (२) **अप्रत्यवेक्षित-दुष्प्रत्यवेक्षित उच्चार-प्रस्रवणभूमि**—पौषध में उच्चार-प्रस्रवण (स्थंडिल) भूमि का प्रतिलेखन न किया हो, किया हो तो अच्छी तरह प्रतिलेखन न किया हो, अस्थिरचित्त से किया हो तो अतिचार है, (३) **अप्रमार्जित-**

---

१ तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहियापुग्गलपक्खेवे। —उपासकदशांग अ. १

दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक—शय्यासंस्तारक का प्रमार्जन न किया हो, किया हो तो अस्थिरचित्त से किया हो, तो अतिचार है, (४) **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवणभूमि**—उच्चार-प्रस्रवणभूमि का प्रमार्जन न किया हो, किया हो तो अस्थिरचित्त से किया हो; (५) **पौषधोपवास की सम्यक् अननुपालनता**—पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, अर्थात्—पौषधोपवास में सासारिक कार्यों के, खाने-पीने के संकल्प-विकल्प उत्पन्न किये हों, चित्त चंचल रखा हो।[1]

इन पांच अतिचारों से रहित होकर शुद्ध पौषधोपवासव्रत का पालन करना चाहिए।

(४) **अतिथिसंविभागव्रत**

यह श्रावक का बारहवाँ व्रत है, और चौथा शिक्षाव्रत है। श्रावक द्वारा अतिथि (जिनके आने की तिथि निश्चित नहीं है, ऐसे उत्कृष्ट अतिथि साधु-साध्वीवर्ग, तथा मध्यम अतिथि व्रतधारी श्रावकवर्ग) के लिए संविभाग करना—यथोचित आहारादि प्रदान करना '**अतिथिसंविभागव्रत**' है।

जो भिक्षाजीवी साधुसाध्वी है, उन्हें प्रसन्नचित्त होकर कल्पनीय, एषणीय, निर्दोष आहार-पानी, औषध-भैषज, वस्त्रादि की भिक्षा देकर लाभ उठाना, इस व्रत का उद्देश्य है। इसी तरह जो श्रावक-श्राविकावर्ग साधु-साध्वियों के दर्शनार्थ या स्वाध्याय आदि के प्रयोजन से आते हैं, वे भी एक प्रकार से मध्यम अतिथि हैं, उनको भी आहार-पानी आदि से सेवाभक्ति करना इसी व्रत के अन्तर्गत है। सुपात्रदान समझ कर श्रावक को चतुर्विध संघ की यथायोग्य प्रतिपत्ति करनी चाहिए।

बारहवें अतिथिसंविभागव्रत के पांच अतिचार है, जिनसे बचकर इस व्रत की शुद्धरूप से आराधना करनी चाहिए—

(१) **सचित्तनिक्षेपण**—साधु को न देने की बुद्धि से निर्दोष पदार्थों को सचित्त पदार्थों पर रख देना, प्रथम अतिचार है। (२) **सचित्तपिधान**—न देने की नीयत से निर्दोष पदार्थों का सचित्त वस्तु (पानी के लोटे, हरे पत्ते आदि

---

१ तयाणतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिए-दुप्पडिलेहिए सिज्जासंथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जासंथारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवणभूमि, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमि, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया।

—उपासकदशांग अ० १

से ढांक देना भी अतिचार है। (३) **कालातिक्रम**—भोजन (भिक्षा) का समय टालकर अन्य समय में आहार-पानी आदि की विनति करना। अथवा या तो पहले ही बना कर भोजन समाप्त कर लेना या भिक्षा के समय के पश्चात् बनाना। (४) **परव्यपदेश**—न देने की बुद्धि से अपनी वस्तु दूसरे की बताना, ताकि साधु-साध्वी उस वस्तु को ले न सकें। यह भी अतिचार है। (५) **मत्सरता**—अमुक गृहस्थ ने इस प्रकार का, ऐसा दान दिया है तो क्या मैं उससे कम हूँ, मैं उससे भी बढ़कर सरस पदार्थ साधु को दूंगा, इस प्रकार असूया, मत्सर भाव या अहंकारपूर्वक दान देना, पाँचवाँ अतिचार है।[1]

इस व्रत की शुद्ध आराधना के लिए इन पाचों अतिचारों का त्याग करना आवश्यक है।

श्रावक के तीन मनोरथ

शास्त्रकारों ने बताया है कि श्रावक को अपना जीवन सार्थक बनाने और कर्मों की महानिर्जरा करके संसार का अन्त करने के लिए तीन मनोरथ (भावना) प्रतिदिन करना चाहिए—

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का त्याग (दान) करूंगा। क्योंकि गृहस्थ का मुख्य धर्म दान करना है। धार्मिक कार्यों में धन का सदुपयोग करना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है।

(२) कब मैं संसारपक्ष गृहस्थवास को छोड़कर मुण्डित होकर आगारधर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित—दीक्षित होऊँगा।

गृहस्थाश्रम में रहकर शान्ति का मार्ग प्राप्त करना आसान नहीं है, किन्तु मुनिवृत्ति में शान्ति की प्राप्ति अनायास एवं शीघ्र हो सकती है। अतः मुनिवृत्ति धारण करने की भावना सदैव रखनी चाहिए।

(३) कब मैं शुद्ध अन्तःकरण से सब जीवों से क्षमायाचना करके मैत्री-भाव धारण करके आहार-पानी (भक्त) का प्रत्याख्यान (त्याग) करके समाधि-पूर्वक पादपोपगमन अनशनव्रत धारण करके काल की इच्छा न करता हुआ विचरण करूंगा। अर्थात्—अपश्चिम मारणान्तिक संल्लेखना करके शुद्धभावों से समाधिमरण प्राप्त करूंगा।

मन, वचन, काया से इस प्रकार की तीन भावना (मनोरथ) करता

---

१ तयाणतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—सचित्तनिक्खेवणया सचित्तपिहाणया कालाइक्कमे परोवएसे मच्छरिया। —उपासकदशांग अ० १

हुआ, प्रतिक्षण जागृत श्रमणोपासक महानिर्जरा कर लेता है, संसारसागर का अन्त कर देता है।[1]

अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना-जोषणा-आराधनाव्रत

बारहवें व्रत के पश्चात् श्रावक को मृत्यु का समय निकट आने पर सर्वजीवों से वैरभाव छोड़कर, अपने पूर्वकृत पापों का आलोचना-निन्दना-गर्हणा और प्रायश्चित्तपूर्वक आत्मशुद्धीकरण करने तथा समाधिमरण के लिए संल्लेखना-संथारा (आजीवन अनशन) ग्रहण करना चाहिए।

इस व्रत के भी पाच अतिचार हैं, जो जानने योग्य है, किन्तु आचरण करने योग्य नही—(१) **इहलोकाशंस-प्रयोग**—अनशनग्रहण करने पर आकांक्षा करना कि मैं मरकर इसी लोक में इभ्यसेठ, मन्त्री या राजा आदि बनूं, (२) **परलोकाशसप्रयोग**—मर कर मैं देव, इन्द्र आदि आदि बन जाऊँ। (३) **जीविताशंसप्रयोग**—अधिक जीऊँ तो अच्छा है, क्योंकि मेरी यशोकीर्ति बढ़ रही है, (४) **मरणाशंसप्रयोग**—इस कष्ट भोगने की अपेक्षा अथवा यशोकीर्ति न होने के कारण जल्दी ही मर जाऊँ तो अच्छा! (५) **कामभोगाशंसप्रयोग**—अथवा मरने पर देवों एवं मनुष्यो के कामभोग मुझे प्राप्त हों, ऐसा निदान करना।

संल्लेखना संथारा (अनशन) के ये पांच अतिचार है, इनका त्याग करने से ही शुद्ध समाधिमरण प्राप्त हो सकता है।[2]

इन बारह व्रतो को श्रावक अपनी योग्यता, शक्ति और क्षमता के अनुसार ग्रहण करता है। श्रावकों की ग्रहण-शक्ति अपेक्षा से इनके ४९ भांगे होते हैं।

जब श्रावक इन व्रतों के परिपालन में दृढ़ हो जाता है, शुद्ध रूप से

---

१ तिहिं ठाणेहि समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, त जहा—कयाण-महमप्प वा बहुयं वा परिग्गह परिचइस्सामि १ कयाणं अहं मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारियं पव्वइस्सामि २ कयाण अहं अपच्छिम-मारणंतिय-सलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाणपडियातिक्खते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि ३, एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे जागरेमाणे समणोवासते महा-निज्जरे महापज्जवसाणे भवति। — स्थानांग स्था० ३ उ ४ सू०२१०

२ तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।—उपासकदशांग अ० १

पालन करने का अभ्यासी हो जाता है तो वह आगे बढ़कर प्रतिमा ग्रहण करता है। प्रतिमा का अर्थ है—दृढ़तापूर्वक नियम पालन। ये ११ हैं—

(१) दर्शन प्रतिमा, (२) व्रतप्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा (४) पौषध प्रतिमा, (५) नियम प्रतिमा, (६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (७) सचित्त त्याग प्रतिमा, (८) आरम्भ त्याग प्रतिमा, (९) प्रेष्य परित्याग प्रतिमा, (१०) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा और (११) श्रमणभूत प्रतिमा।

श्रावकों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद किये गये हैं, उनमें प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट होते हैं। ये सभी मोक्षमार्ग के साधक और मोक्ष की ओर प्रति-प्रगति करने वाले होते हैं।

इस प्रकार श्रावक धर्म-अगारधर्म का सम्यक् रूप से पालन करके तथा जीवन के अन्त में संलेखना की साधना द्वारा श्रावक समाधिमरण करता है और अपने कर्मों के बन्धन को शिथिल करके, निर्जरा करता है। इस पथ पर बढ़ता हुआ एक दिन सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। □

जैन तत्व कलिका
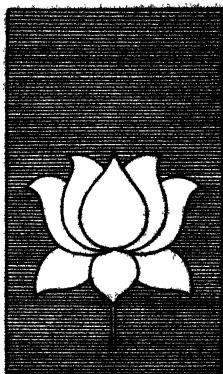
नवम कलिका

प्रमाण नय स्वरूप–

- प्रमाणवाद : भेदोपभेद
- नयवाद
- नय के भेदोपभेद
- सप्तनय वर्णन
- निक्षेपवाद : निक्षेप वर्णन
- स्याद्वाद : अनेकान्तवाद
- सप्तभंगी वर्णन

सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ मे –

प्रमाण-नय स्वरूप

केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। शेष ज्ञान यत्किञ्चित् आवरणात्मक है। किन्तु एक ज्ञान ऐसा है, जो केवलज्ञान के निकट पहुँचा सकता है, वह है—श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान की उपलब्धि मुख्यतया दो माध्यमो से होती है—आगम से और प्रमाण-नयादि से। आगम से आप्तसर्वज्ञपुरुष-कथित ज्ञान उस प्राप्त हो सकता है किन्तु अल्पज्ञ पुरुष का ज्ञान आवृत होने के कारण वह सर्वज्ञोक्त ज्ञान का पूरा-पूरा निर्णय नही कर पाता, उनके द्वारा बताए गये शब्दो का अर्थ यही है या और कुछ ? इसका यथार्थ ज्ञान नही कर सकता। इसलिए उन जिनोक्त तत्त्वभूत पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाणो और नयो[1] का सहारा लेना उसके लिए आवश्यक होता है क्योकि इनके बिना वह आगमोक्त शब्दो—सिद्धान्तो का हार्द नही समझ सकता न ही हृदयगम कर सकता है।

अत इस कलिका मे प्रमाणवाद, नयवाद, अनेकान्तवाद आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की हम चर्चा करेंगे।

प्रमाणवाद

प्रमाण शब्द की तीन व्याख्याएँ क्रमश दृष्टिगोचर होती है—(१) जो प्रमा (जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही मानना) का करण—निकटतम साधन है।[2] (२) प्रकर्ष रूप से—सशय-विपर्यय-अनध्यवसायदोष रहित होकर वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रमाण हैं।[3] (३) स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान प्रमाण है।[4]

---

१ प्रमाणनयैरधिगम —तत्त्वार्थ० १।६

२ 'प्रमाया करण प्रमाणम्'

३ 'प्रकर्षण—सशयादिव्यवच्छेदेन मीयते—परिच्छिद्यते—ज्ञायते वस्तुतत्त्व येन तत्प्रमाणम्।' —प्रमाणनयतत्त्वालोक

४ 'स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्' —प्रमाणनयतत्त्वालोक

इन तीनों का फलितार्थ यह है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित स्व पर अर्थ का सम्यक् निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाण का फल

प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है, केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेष ज्ञानों का फल ग्रहण और त्यागबुद्धि है।[1]

सत्य ज्ञान होने पर सन्देह, भ्रम, मूढता आदि दूर हो जाते हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। प्रमाण के आधार पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने पर यदि वह वस्तु निर्दोष—इष्ट हो तो उसे ग्रहण करने की और सदोष-अनिष्ट हो तो उसका त्याग करने की बुद्धि जागृत होती है।

प्रमाण के भेद-प्रभेद

प्रमाण की संख्या के विषय में दार्शनिकों का मत भिन्न-भिन्न है। जैनदर्शन ने मुख्य दो ही प्रमाण माने है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दो भेदो में प्रमाण के सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण—यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो का स्थान समान है, न्यूनाधिक नहीं। दोनों अपने-अपने विषय में समान बल रखते हैं। परन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतन्त्र होता है; जबकि परोक्ष साधन परतन्त्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित—साक्षात् सम्बन्ध होता है, और परोक्ष का व्यवहित, अर्थात्—अन्य माध्यमों के द्वारा होता है।

जैनाचार्यों ने लोकदृष्टि का समन्वय करने हेतु प्रत्यक्ष के दो भेद किये—**सांव्यवहारिक** (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) और **पारमार्थिक** (आत्म) प्रत्यक्ष।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सकल (केवलज्ञान) प्रत्यक्ष और विकल (नोकेवलज्ञान) प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष को पुनः दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्याय।

सांव्यवहारिक या इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

इन्द्रिय, मन अथवा प्रमाणान्तर की सहायता के बिना आत्मा को

---

१ प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञान निवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षा, शेषस्यादानहानधी ॥ —श्लोकवार्तिक २८

पदार्थ का जो साक्षात् ज्ञान होता है, उसे आत्म-प्रत्यक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष या नो-इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष है। अतः उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

त्रिकालवर्ती प्रमेय मात्र केवलज्ञान का विषय बनता है, अतः उसे सकल प्रत्यक्ष और अमुक भाग जो अवधि और मनःपर्यायज्ञान का विषय बनता है, उसे विकल-प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्ष का प्रतिभास होने में प्रमाणान्तर की आवश्यकता नही रहती, अथवा 'यह' ऐसा स्पष्ट प्रतिभास होता है। अर्थात्—प्रत्यक्ष वैशद्ययुक्त होता है।[1]

परोक्षप्रमाण—जिसमें वैशद्य (उक्त प्रकारद्वय का) अर्थात्—स्पष्टता का अभाव हो, वह परोक्षप्रमाण कहलाता है।[2] प्रत्यक्ष को अन्य किसी प्रमाण की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। अतः वह पूर्ण है किन्तु अनुमान, आगम आदि प्रमाण पूर्ण नहीं, क्योंकि उनका आधार प्रत्यक्ष है।

परोक्षप्रमाण के भेद-प्रभेद

परोक्षप्रमाण के ५ भेद हैं—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।

स्मृति—पूर्व संस्कार, वासना या अनुभूति का उद्बोधन होना, अनुभूत वस्तु का स्मरण होना 'स्मृति' है। स्मृति अतीतकालीन पदार्थ को अपना विषय बनाती है। उसमें 'तत्' (वह) शब्द का उल्लेख अवश्य होता है।

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण से उत्पन्न होने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।[3] जैसे—'यह वही मनुष्य है, जिसे मैंने कल देखा था।' यहाँ वर्तमान में मनुष्य प्रत्यक्ष है, उसमें गत दिवस का स्मरण है।

प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद हैं—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, और वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि।

---

१ विशदः प्रत्यक्षम्। —प्रमाणमीमांसा १।१।१३

२ अस्पष्टं परोक्षम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।१

३ दर्शन-स्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। —प्र० मी० १।२।४

एकत्वप्रत्यभिज्ञान का उदाहरण ऊपर आ चुका है । सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, यथा—'इसकी आँखें मृग-सी हैं' यहाँ एक वस्तु प्रत्यक्ष है और दूसरी परोक्ष है। वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान, यथा—घोड़ा हाथी से भिन्न है। इसमें घोड़ा प्रत्यक्ष है, और हाथी परोक्ष है।

किसी को पहिचानना भी प्रत्यभिज्ञान है। क्योंकि उसमें उसके पूर्व चिह्नों का स्मरण होता है।

कुछ लोग सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के बदले 'उपमान' शब्द का प्रयोग करते है। परन्तु उपमान में प्रत्यभिज्ञान के सभी भेदो का समावेश नही होता।

(३) **तर्क**—एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ अवश्यम्भावी—अर्थात्--अविनाभावी सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है। उसके आधार पर ज्ञान होना तर्क है। जिसमें साध्य के सद्भाव में साधक (लिंग) हो और साध्य के असद्भाव में साधक न हो, उसका सम्बन्ध अविनाभाव माना जाता है। इसे अन्वयव्यतिरेक भी कहते हैं। जहाँ अग्नि (साध्य) होती है, वहाँ धुँआ (साधक) होता है। ऐसा विकल्प होना अन्वयव्याप्ति है, और जहाँ अग्नि (साध्य) न हो, वहाँ धुँआ (साधक) नही होता, ऐसा विकल्प होना व्यतिरेक व्याप्ति है।

जैसे—रसोईघर में अग्नि देखी, साथ ही उसमें से धुँआ निकलता देखा, यह अन्वय व्याप्ति है। फिर तालाब में अग्नि न होने से धुँआ न देखा यह व्यतिरेक व्याप्ति है। वहाँ से पुनः रसोईघर में आने पर अग्नि में से धुँआ निकलता देखा। उससे निश्चय हुआ कि अग्नि कारण है, और धूम्र कार्य है। इस प्रकार का उपलम्भानुपलम्भ-सम्बन्धी सर्वोपसंहार करने वाला विचार तर्क की कोटि में आता है। इन सबको पृष्ठभूमि में 'जब-जब जहाँ-जहाँ धुँआ हो, वहाँ-वहाँ तब-तब अग्नि अवश्य होती है, उसी का नाम तर्क या ऊह है।

(४) **अनुमान**—साधन द्वारा साध्य का जो ज्ञान होता है, यह अनुमान है। इसके दो भेद हैं—**स्वार्थ और परार्थ**।[1] अपनी ही समझ के लिए हृदय में साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा जो अनुमान किया जाता है, वह स्वार्थानुमान और अन्य को समझाने के लिए अनुमानप्रयोग प्रस्तुत करके

---

१ (क) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् । —प्रमाणमीमांसा १।२।७
(ख) अनुमानं द्वि प्रकारं स्वार्थं परार्थञ्च । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।९

उसे अनुमानज्ञान प्राप्त करवाना परार्थानुमान है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके स्वार्थानुमान को ही परार्थानुमान कहा जाता है। वास्तव में है तो वह स्वार्थानुमान ही।

साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा अनुमान किस प्रकार होता है? इसे समझ लें—किसी स्थल पर धुँआ देखा। उसे देखते ही धुँए और अग्नि की व्याप्ति होने का स्मरण हुआ। अर्थात्—'जहाँ धुँआ हो, वहाँ अग्नि अवश्य होती है।' इस पर से यहाँ भी अग्नि होनी चाहिए; ऐसा उसने अनुमान लगाया।

सात हेतु—साधन को हेतु भी कहते हैं। वह सात प्रकार का है—(१) कार्य (२) स्वभाव, (३) कारण, (४) एकार्थसमवायी (सहचर) (५) विरोधी, (६) पूर्वचर और (७) उत्तरचर।

(१) कार्य विशेष देखकर कारण का अनुमान करने में **कार्यरूप** हेतु होता है। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है, **धूम** होने से।

(२) कारण देखकर कार्य का अनुमान लगाना—**कारणसाधन** है। जैसे घूमते हुए चाक पर मिट्टी का पिंड चढ़ा हुआ देखकर कहना—अभी कोई बर्तन बनेगा।

(३) एक अर्थ में दो या अधिक कार्यों का साथ होना **एकार्थ-समवाय** है। एक ही फल में रूप और रस साथ-साथ रहते है। अतः फूल में रूप देख कर रस या रस देखकर रूप का अनुमान करना; एकार्थसमवायी साधन है। इसे **सहचर साधन** भी कहते हैं।

(४) **स्वभाव**—वस्तु का स्वभाव ही जहाँ साधन बनता हो, वह **स्वभाव-साधन** है। जैसे—'अग्नि जलाती है, क्योंकि वह दहन (उष्ण) स्वभाव वाली है।'

(५) **विरोधी साधन**—किसी विरोधी भाव पर से वस्तु के अभाव का अनुमान करना विरोधी साधन है। जैसे—यहाँ दया नहीं, क्योंकि हिंसा हो रही है। अथवा यहाँ हिंसा का अभाव है, क्योंकि सभी दयालु है।

(६) **पूर्वचर हेतु**—जहाँ किसी से पूर्ववर्ती नक्षत्र का उदय हो चुका हो, वहाँ पूर्वचर साधन है। जैसे—रोहिणी का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय होने से कृत्तिका नक्षत्र रोहिणी का पूर्ववर्ती है।

(७) **उत्तरचर हेतु**—जहाँ किसी से उत्तरवर्ती नक्षत्र का उदय देखकर पूर्ववर्ती नक्षत्र का अनुमान लगाना उत्तरचर है। जैसे—भरणी का उदय हो चुका है, कृत्तिका का उदय होने से। भरणी से कृत्तिका उत्तरवर्ती है।

परार्थानुमान के अवयव

जैन दार्शनिक तीव्र बुद्धि पुरुष को समझाने के लिए पक्ष (प्रतिज्ञा) और हेतु, दो अवयवो हो ही पर्याप्त समझते हैं, परन्तु मन्द बुद्धि को समझाने के लिए पांच अवयवों तक का प्रयोग स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(i) **प्रतिज्ञा या पक्ष**—जिस वस्तु को हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसका प्रथम निर्देश करना प्रतिज्ञा या पक्ष है। जैसे—इस पर्वत में अग्नि है।

(ii) **हेतु**—साधन को दर्शाने वाला वचन हेतु है। जैसे—क्योंकि इसमें धुँआ है।

(iii) **उदाहरण**—हेतु को भलीभांति समझाने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग करना उदाहरण है। जैसे—जहाँ-जहाँ धुँआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, यथा—रसोईघर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जहाँ अग्नि न हो, वहाँ धुँआ नही होता, जैसे—जलाशय में। यह वैधर्म्य उदाहरण है।

(iv) **उपनय**—हेतु का धर्मी में उपसंहार करना उपनय है। जिसमें साध्य रहता हो, वह धर्मी कहलाता है। जैसे—'इस पर्वत मे अग्नि का अविनाभावी धुँआ है।'

(v) **निगमन**—प्रतिज्ञा के समय जिस साध्य का निर्देश किया हो, उसे उपसंहार के रूप में पुनः कहना निगमन है। जैसे—'इसलिए यहाँ अग्नि है।'

(vi) **आगम**—आप्त-पुरुषो के वचन से उत्पन्न होने वाले अर्थसंवेदन को 'आगम' कहते है।[1] तत्त्व को यथार्थरूप से जानने और उसका यथार्थ निरूपण करने वाले तथा रागद्वेषादि दोषों के सम्पूर्ण नाशक तीर्थंकर आप्त पुरुष है। उनके वचन से जो ज्ञान होता है, वह आगम कहलाता है। उपचार से तीर्थंकरों के वचन-संग्रह को भी आगम कहते है। आप्तपुरुष के वचन प्रामाण्य के लिए किसी हेतु की आवश्यकता नही होती, वह स्वयं प्रमाण है।

नयवाद

एक प्रश्न : एक समाधान—यहाँ प्रश्न होना है कि यदि पदार्थ का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना सकता है तो फिर नय की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि प्रमाण के द्वारा पदार्थ का समग्र (सामान्य-विशेषात्मक) रूप मे बोध होता है, क्योंकि अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है, जबकि नय का विषय उस वस्तु का एक अंश है। नय के द्वारा पदार्थ का अंशरूप से बोध होता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ये दोनों ही आवश्यक हैं। जैसे—

१ आप्तवचनाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ४.१

गाय को देखकर हमने जाना कि यह गाय है। यह गाय का समग्ररूप से बोध हुआ। अतः यह प्रमाण का रूप है। किन्तु यह रक्तवर्ण गाय है, शरीर से पुष्ट है, दो बछड़ों वाली है, अच्छा दूध देती है, यह स्वभाव की अच्छी है। इन पाँच विषयों का ज्ञान नय से हुआ।

नय की व्याख्या

न्यायावतार टीका में नय की व्याख्या इस प्रकार की है—'अनन्त-धर्मों के सम्बन्ध वाली वस्तु को अपने अभिप्रेत (अभीष्ट) एक विशिष्ट धर्म की ओर जो ले जाय या विशिष्ट धर्म को प्राप्त कराए, वह नय है।'[1] एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेक-रूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है।

एक ही वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न धर्मों का अध्यास (सम्बन्ध) है और ऐसी अपेक्षाएँ अनन्त हैं। फिर व्यक्ति सदा पदार्थ को एक ही दृष्टि से नहीं देखता। देश, काल और परिस्थितियों का परिवर्तन होने पर द्रष्टा की दृष्टि मे परिवर्तन होता है। वक्ता का झुकाव वस्तु के अनन्त धर्मों में से जिस धर्म की ओर होगा, वह उस धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करेगा तथा शेष अंशो के सम्बन्ध में माध्यस्थ्यभाव ग्रहण करेगा। अर्थात्—वस्तु के अनेक अंशों से एक अंश को मुख्य और शेष अंशो को गौण रखना—उनके प्रति उदासीनता रखना, नय है।[2]

नयवाद का रहस्य यह है सत्य के अनेकरूप होते है, वस्तु मे भी अनन्त धर्म होते है। अतः दूसरे व्यक्ति को सहसा झूठा न बताकर उसके कथन को भी उसकी अपेक्षा—अभिप्राय से समझने का प्रयत्न करना ही सत्यप्रेमी के लिए अभीष्ट है।

नय के प्रकार

नय किसी भी एक अपेक्षा का अवलम्बन लेता है। वैसी अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक वचन के लिए पृथक्-पृथक् होती है। इसीलिए सन्मति तर्क में कहा है—

---

१ अनन्तधर्माध्यासित वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति—प्रापयति, संवेदन-मारोहयतीति नयः। —न्यायावतार टीका

२ नीयते येन श्रुताख्य प्रमाणविषयीकृतस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। —प्र० न० त०

जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया[1]—जितने भी वचनपथ हैं, उतने ही नयवाद हैं। इस दृष्टि से नयों के अगणित प्रकार हैं। परन्तु यहाँ नयो के मुख्य प्रकारों पर विचार करना है।

प्रत्येक नय वचन द्वारा प्रकट किया जा सकता है। अतः नय को उपचार से वचनात्मक भी कह सकते हैं।

वचनव्यवहार के अनन्तमार्ग हैं, किन्तु उनके वर्ग अनन्त नही हैं। उनके मौलिक वर्ग दो हैं—भेदपरक और अभेदपरक। भेद और अभेद—ये दोनों पदार्थ के भिन्नाभिन्न धर्म है। नयवाद भेद और अभेद, इन दो वस्तु-धर्मों पर टिका हुआ है, क्योंकि वस्तु भेद और अभेद की समष्टि है। स्वतन्त्र अभेद भो सत्य नहीं और स्वतन्त्र भेद भी सत्य नही है, किन्तु सापेक्ष भेद-अभेद का संवलित रूप सत्य है।

इस अपेक्षा से नय दो प्रकार का कहा जा सकता है—**भावनय और द्रव्यनय**। ज्ञानात्मक नय भावनय और वचनात्मक नय द्रव्यनय है। सभी नय अपने लिए बोधकरूप होने पर **ज्ञाननय** और दूसरे को बोधकरूप होने पर **शब्दनय** है।

सत्य को परखने की दो दृष्टियाँ हैं—द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। सत्य के दोनों रूप सापेक्ष होने से ये भी सापेक्ष हैं। इसलिए नय के मुख्य दो प्रकार बनते हैं—**द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक**।

द्रव्य को—मूल वस्तु को लक्ष्य में लेने वाला द्रव्यार्थिक और पर्याय को—रूपान्तरों को—स्वीकार करने वाला पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्यदृष्टिप्रधान द्रव्यार्थिकनय में अभेद का स्वीकार है, जबकि पर्यायदृष्टि-प्रधान पर्यायार्थिक नय में भेद का स्वीकार है। द्रव्यदृष्टि में पर्यायदृष्टि का गौणरूप और पर्यायदृष्टि में द्रव्यदृष्टि का गौणरूप अन्तर्हित होगा। भेद-अभेद का यह विचार आध्यात्मिक दृष्टिपरक है।

वस्तुविज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, इसके आधार पर दो दृष्टियाँ बनती हैं, जिन्हें क्रमशः निश्चयनय और व्यवहार नय कहा जा सकता है।[2] निश्चय में वस्तुस्थिति का स्वीकार और व्यवहार में स्थूलपर्याय का या लोकसम्मत तथ्या का स्वीकार है। निश्चयनय की दृष्टि से जीव

---

१ सन्मतितर्क ३।४७

२ *'गोयमा! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा—णेच्छइयनए य ववहारिएय नए य।'*

—भगवती १८।११०

अवर्ण (अमूर्त) है, जबकि व्यवहारनय की दृष्टि से सवर्ण (मूर्त) है। जीव वस्तुतः अमूर्त होने से वर्णयुक्त नहीं होता, यह वास्तविक सत्य है। शरीरधारी जीव कथंचित् मूर्त (शरीर मूर्त होने से) होता है, जीव उससे कथंचित् अभिन्न है, इसलिए वह सवर्ण भी है, यह औपचारिक सत्य है।

'भौंरा पांचों वर्णों का है' यह पूर्ण तथ्योक्ति है, क्योंकि भौंरे का कोई का कोई भाग श्याम, कोई भाग लाल, नीला, हरा, श्वेत आदि विभिन्न रंगों वाला होता है।

निश्चय की दृष्टि साध्य की ओर और व्यवहार की दृष्टि साधन की ओर होती है। इन दोनों दृष्टियों के मेल से ही कार्य सिद्धि होती है। निश्चय को एकान्तरूप से मानने और व्यवहार का लोप करने पर सभी धार्मिक क्रियाएँ, धर्मानुष्ठान, धर्मसंघ-व्यवस्था आदि निरर्थक सिद्ध होती है और निश्चय का लोप करके केवल व्यवहार को ही मानने पर परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती और कार्यसिद्धि असम्भव है।

नय के अन्य प्रकार से भी वर्ग किये जा सकते हैं। जैसे—**ज्ञाननय** और **क्रियानय**। जो ज्ञान को मुक्ति का साधन रूप माने, वह **ज्ञाननय** और जो क्रिया को मुक्ति का साधन रूप माने वह **क्रियानय**।

अभिप्राय व्यक्त करने के साधन दो है—(१) अर्थ और (२) शब्द। इनके आधार पर नय के दो विभाग होते है—**अर्थनय** और **शब्दनय**। अर्थ के दो प्रकार है—सामान्य और विशेष। इसके आधार पर नय के चार विभाग होते हैं—**नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र।**

(१) **नैगमनय**—निगम अर्थात् लोक। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय नैगम। अथवा जो वस्तु को सामान्य-विशेषरूप अनेक प्रमाणों से माने—ग्रहण करे वह नैगम। या जिसके जानने का एक 'गम'—बोधमार्ग नहीं, अनेक गम है, वह नैगम है।

नैगमनय सर्ववस्तुओं को सामान्य और विशेष दोनों धर्मों से युक्त मानता है। उसका कहना है—विशेष के बिना सामान्य नहीं होता तथा सामान्य के बिना विशेष नहीं होता, फिर भी यह नय सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है। अतः यह प्रमाणज्ञानरूप नहीं बनता।

नैगमनय के उदाहरण—किसी मनुष्य से पूछा जाए कि तुम कहाँ रहते हो? इस पर वह कहता है—'लोक में।'

'लोक में कहाँ ?'	'मध्यलोक में।'
'मध्यलोक में कहाँ ?'	'जम्बूद्वीप में।'
'जम्बूद्वीप में कहाँ ?'	'भरतक्षेत्र में।'
'भरतक्षेत्र में कहाँ ?'	'मगधदेश में।'
'मगधदेश में कहाँ ?'	'राजगृही नगरी में।'
'राजगृही नगरी में कहाँ ?'	'नालंदा-वास में।'
'नालन्दावास में कहाँ ?'	'अपने घर में।'

निवास के सम्बन्ध में ये सारे उत्तर नैगमनय के है। उनमें पूर्व-पूर्व के वाक्य सामान्य धर्म को और उत्तरवर्ती वाक्य विशेष धर्म को ग्रहण करते जाते है।

नैगमनय के तीन प्रकार है—भूतनैगम, भविष्यनैगम और वर्तमान नैगम।

भूतकाल के सम्बन्ध में वर्तमानकाल का आरोपण करना **भूतनैगम** है। जैसे—'आज दीपावली के दिन भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधारे।' भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त किये २५०० वर्ष से अधिक हो गए, फिर भी 'आज' शब्द के प्रयोग से उसमें वर्तमान काल का आरोपण किया गया है।

भविष्यकाल के विषय में वर्तमान काल का आरोपण करना **भविष्य-नैगम** है। जैसे—जो अर्हन्त है, वे सिद्ध; जो सम्यक्त्वधारक है वे मुक्त। यहाँ अर्हन्त अभी देहधारी है, अभी तक सिद्ध हुए नही, परन्तु वे देहमुक्त होने पर अवश्य ही सिद्ध होंगे, इस निश्चय से, 'जो होने वाला है,' उसमें 'हुए' का आरोप करना भविष्यनैगम है।

किसी वस्तु को बनाना प्रारम्भ करें, और वह अमुक अंश तक हो गई हो और अमुक अंश में न हुई हो, फिर भी कहना कि होती है, अथवा जो होती है, उसे कहना कि 'हो गई'—यह **वर्तमाननैगम** कहलाता है। एक व्यक्ति बम्बई जाने के लिए रवाना हुआ, फिर भी कहा जाता है कि 'बम्बई गया।' वस्त्र जलना शुरू हुआ, फिर भी कहा जाता है—वस्त्र जला। ये सब वर्तमान नैगम के वाक्य हैं।

(२) **संग्रहनय**—प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष धर्म रहे हुए हैं। उसमें विशेष को गौण करके जो सामान्य को प्रधानता दे, वह **संग्रहनय** कहलाता है। हिन्दी व्याकरण में जिसे 'जातिवाचक' शब्द कहते हैं, वे सब इसी प्रकार के हैं। जैसे—'भोजन' शब्द कहने से रोटी, साग, दाल, भात,

दूध आदि अनेक वस्तुओं का संग्रह होता है अतः 'भोजन' संग्रहनय का शब्द है। इसी तरह सेना, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि सब संग्रहनय के शब्द हैं।

इस नय के दो प्रकार है—**सामान्यसंग्रह, विशेषसंग्रह।**

जो सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को ग्रहण करे, वह सामान्यसंग्रह है। यथा—'सत्'। इसी प्रकार जो सर्वद्रव्यों को ग्रहण करे, वह भी **सामान्यसंग्रह** है। जैसे—द्रव्य। द्रव्य कहने से जीव, अजीव आदि द्रव्य का ही संग्रह होता है, इस प्रकार जो अमुक द्रव्य का संग्रह करे, वह **विशेषसंग्रह** है। जीवद्रव्य कहने से सभी जीवों का समावेश हो जाता है; परन्तु अजीवादि द्रव्य रह जाते हैं। संग्रहनय 'सामान्य' को ही प्रधानता देता है।

(३) **व्यवहारनय**—वस्तु के सामान्यधर्म को गौण करके जो विशेषधर्म को ही प्रधानता देता है, वह व्यवहारनय कहलाता है। उदाहरणार्थ—व्यवहारनय द्रव्य के छह प्रकार मानता है, तथा प्रत्येक के उत्तर-भेद-प्रभेद बताता जाता है।

जैसे—द्रव्य के ६ भेद धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। उनमें से जीव के दो भेद—सिद्ध और संसारी। फिर संसारी के दो भेद—त्रस और स्थावर। त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, यों ४ भेद। पंचेन्द्रिय के चार भेद—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इस तरह स्थावर के ५ भेद—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पतिकाय।

व्यवहारनय मानता है कि विशेषता के बिना किसी भी वस्तु का स्पष्ट बोध कैसे हो सकता है? किसी से कहें कि वनस्पति लाओ; तो वह क्या लाएगा? किन्तु 'आम लाओ, नीम लाओ' ऐसी विशेष वनस्पति लाने को कहें तो वह ले आएगा। इसलिए विशेष को ही प्रधानता देनी चाहिए।

(४) **ऋजुसूत्रनय**—जो वर्तमानकालीन स्वकीय अर्थ को ग्रहण करे, उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। एक मनुष्य भूतकाल मे 'राजा' रहा हो, किन्तु वर्तमान में वह भिखारी हो तो यह नय उसे राजा न कहकर भिखारी ही कहेगा। क्योंकि वर्तमान में वह भिखारी की स्थिति में है।

ऋजुसूत्रनय वस्तु के अतीत तथा अनागत स्वरूप को नही मानता, परन्तु वर्तमान और निजस्वरूप को ही मानता है। अतीत, अनागत या परकीय वस्तु से कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। नाम, स्थापना और द्रव्य को न मानते हुए मात्र भाव को ही मानता है।

ये चार अर्थनय कहलाते हैं, क्योंकि ये वस्तु का विचार करते है।

अब अर्थ के अनुरूप उचित शब्द प्रयोग को मानने वाले अवशिष्ट तीन शब्दनयों को देखें—

(५) **शब्दनय**—यह नय पर्यायवाची शब्दो को एकार्थवाची मानता है, परन्तु काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष आदि के कारण यदि उनमें भेद हो तो इस भेद के कारण एकार्थवाची शब्दो में भी यह अर्थभेद मानता है। लेखक के समय में राजगृह नगर विद्यमान होने पर भी राजगृह भिन्न प्रकार होने से और उसी का वर्णन उसे अभीष्ट होने से वह 'राजनगर था' ऐसा प्रयोग करता है। इस प्रकार कालभेद से अर्थभेद का व्यवहार इस नय के कारण होता है। अर्थात् जो शब्द जिस अर्थ (वस्तु) का वाचक या सूचक होता है, शब्दनय उस अर्थ (वस्तु) को सूचित करने के लिए उसी शब्द का प्रयोग करने का ध्यान रखता है। जैसे— **लिंगभेद** नर-नारी, पुत्र-पुत्री आदि। **परिमाण-भेद**—छोटा-बड़ा, पहाड़-पहाड़ी, लोटा-लोटी आदि। **सम्बन्ध-भेद** एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न मनुष्यों से भिन्न-भिन्न नाता रखता हो तो उस सम्बन्ध को दिखलाने के लिए यह नय भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करेगा। जैसे—यह चाचा है, भतीजा है, पिता है, पुत्र है, श्वसुर है, दामाद है, आदि। इसी प्रकार यह नय वचनभेद व कारकभेद के अनुसार विभिन्न शब्द प्रयोग करेगा।

(६) **समभिरूढ़नय**—जो नय भलीभाँति अर्थ पर आरूढ़ हो, वह समभिरूढ़ नय कहलाता है। अथवा जो भिन्न-भिन्न पर्यायशब्दों का भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ ग्रहण करे, वह समभिरूढ कहलाता है।

इस नय की दृष्टि में प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न है। शब्दनय तो काल, लिंग आदि के भेद से अर्थ का भेद मानता है, शब्दभेद के कारण अर्थभेद नहीं मानता। लेकिन समभिरूढ़ नय काल आदि का भेद न होने पर भी इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्दों में शब्दभेद के कारण तथा व्युत्पत्तिभेद के कारण अर्थभेद मानता है।

यह नय राजचिह्नों से सुशोभित हो, उसे ही राजा कहेगा, नरो का रक्षण करे, उसे ही नृप कहेगा; पृथ्वी का पालन-पोषण करे उसे ही भूपाल या महीपाल कहेगा। इस प्रकार यह नय पर्यायवाचक शब्द को या प्रचलित अर्थ को नहीं, परन्तु शब्द के मूल अर्थ को ग्रहण करता है। यही इसकी विशेषता है।

(७) **एवंभूतनय**—'एवं' अर्थात् व्युत्पत्ति के अर्थानुसार भूत—अर्थात्—होने वाली क्रिया में जिसका परिणमन हो, उसे ग्रहण करने वाला एवंभूतनय

है। इस नय की दृष्टि से अर्हत् शब्द का प्रयोग तभी उचित माना जाए, जब सुरासुरेन्द उनकी पूजा कर रहे हों, 'जिन' शब्द का प्रयोग तभी उचित गिना जाए, जब वे शुक्लध्यान की धारा मे चढ़कर रागादि रिपुओं को जीतते हों।

इस नय का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु में नाम के अनुसार क्रिया या प्रवृत्ति न हो, उसे उस प्रकार नहीं मानना चाहिए। अन्यथा घट को पट मानने में क्या आपत्ति है ?

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता

सात नयों मे से नैगमनय लोकव्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करता है, अर्थात्—सामान्य-विशेष उभय को प्रधानता देता है, जबकि संग्रहनय सिर्फ सामान्य को ही प्रधानता देता है और व्यवहारनय केवल विशेष को ही मुख्यता देता है। ऋजुसूत्रनय वस्तु के वर्तमानस्वरूप को ही ग्रहण करता है। शब्दनय पर्यायवाची शब्दों का एक अर्थ ग्रहण करता है; समभिरूढनय पर्यायवाचक शब्दों का भी भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है और एवंभूत नय जो अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति होती हो, उसे ही स्वीकार करता है। इस प्रकार नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं।

निक्षेपवाद

निक्षेप का आशय

मनुष्यों का सारा व्यवहार भाषा से चलता है। यदि भाषा न हो तो मनुष्य अपने मनोभाव यथार्थरूप से व्यक्त नहीं कर सकता, और न ही उसका कोई व्यवहार सुचारु ढंग से कार्यरूप में परिणत हो सकता है।

भाषा की रचना शब्दों द्वारा होती है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द में कोई अपनापन नहीं, दोनों अपनी-अपनी स्थिति में स्वतन्त्र है। जैसे 'अग्नि' पदार्थ और 'शब्द' एक नहीं हैं, परन्तु ये दोनों सर्वथा एक नहीं है, ऐसा भी नहीं है। अग्नि-शब्द से अग्नि-पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इससे हम कह देते हैं, शब्द और अर्थ दोनों में अभेद है, किन्तु वाच्य-वाचक का यह अभेद सम्बन्ध संकेतकृत है। और जो भेद है—वह स्वभावकृत है। इस प्रकार शब्द का जो अर्थ निष्पन्न होता है, वह व्यवहारसिद्धि का महत्वपूर्ण अंग बनता है।

परन्तु संकेतकाल में जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढ़ा जाता है, वह वही रहे या एक ही अर्थ बताए ऐसा भी नहीं होता। आगे चल कर शब्द अपना अभीष्ट अर्थ छोड़कर विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है। वह कभी-कभी प्रयोजन या प्रसंगवशात् पृथक् पृथक् अर्थों का द्योतक हो

जाता है। इसलिए किसी भी शब्द का प्रस्तुत अर्थ क्या है ? इस जिज्ञासा या समस्या का समाधान पाने या पूर्ण करने का काय निक्षेप पद्धति करती है। शब्द का प्रस्तुत अर्थ जानने से अज्ञान, सशय, विपर्यय आदि दूर होकर वस्तु का या वस्तुस्थिति का स्वरूप समझने मे सहायता मिलती है। अत अप्रस्तुत अर्थ को दूर करके प्रस्तुत अर्थ का सम्यक्‌बोध कराना इसका फल है। निक्षेपपूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमे अथ की स्पष्टता आती है।

निक्षेप का अर्थ है—शब्द मे अर्थ का आरोपण करना, प्रस्तुत अर्थ को रखना, अथवा शब्द के अर्थसामान्य का नामादि भेदा से निरूपण करना।

निक्षेप के प्रकार

शब्द के जितने अर्थ होते हा उन्हे शब्द का अर्थसामान्य कहते है। दूसरे शब्दो मे, वस्तुविन्यास के जितने क्रम है उतने ही निक्षेप है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार विभाग या चार क्रम ता अवश्य होते है—(१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य और (४) भाव।

(१) **नामनिक्षेप**—किसी व्यक्ति या वस्तु का स्वेच्छा से नाम रखना नामनिक्षेप कहलाता है। वस्तुत सिर्फ लोकव्यवहार चलाने के लिए गुण जाति, द्रव्य आदि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखे बिना किसी वस्तु या व्यक्ति की कोई सज्ञा रखना नामनिक्षेप है। जैसे—एक सामान्य व्यक्ति का नाम 'इन्द्र' रख दिया जाए, किन्तु परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र (देवराज) से उसका कोई वास्ता नही है। केवल व्यवहार चलाने के लिए 'इन्द्र' नाम रख दिया जाता है।

इस निक्षेप की एक विशेषता यह है कि मूल वस्तु के पर्यायवाचक शब्द से उसका कथन नही हो सकता। अर्थात्—इन्द्र नाम रखा हो, उसे शक्र पुरन्दर, हरि, पाकशासन आदि शब्दो से सम्बोधित नही किया सकता।

नामकरण दो प्रकार का होता है—सार्थक और निरर्थक। आशाधर, लक्ष्मी आदि नाम सार्थक और डित्थ, डवित्थ, पिंकी, पिंटू आदि निरर्थक नाम है।

(२) **स्थापनानिक्षेप**—जो अर्थ तद्रूप नही है, उसे तद्रूप मान लेना, स्थापनानिक्षेप है। स्थापना दो प्रकार की होती है—(१) सद्भाव (तदाकार) स्थापना और (२) असद्भाव (अतदाकार) स्थापना।

एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, यह सद्भाव स्थापना

है। एक व्यक्ति ने शंख मे अपने गुरु का आरोपण किया, यह असद्भाव स्थापना है।

नाम और स्थापना दोनो वास्तविक अर्थशून्य होते हैं।

(३) द्रव्यनिक्षेप— वाणी-व्यवहार विचित्र है। कभी-कभी वह भूतकालीन स्थिति का और कभी-कभी भविष्यकालीन स्थिति का वर्तमान मे प्रयोग करती है। वर्तमान पर्याय की शून्यता भावशून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय मे पहिचाना जाता है यही द्रव्यत्व का आरोप है। अर्थात्—जब इस प्रकार का वाणी व्यवहार होता है तब उसे द्रव्यनिक्षेप कहते है।

जैसे—अगारमर्दक द्रव्याचार्य थे। उनमे आचार्य के गुण न होने के कारण उन्हे द्रव्याचार्य कहा गया है। किसी घडे मे किसी समय घी भरा जाता था किन्तु आज वह घडा खाली है फिर भी उसे 'घी का घडा' कहना द्रव्यनिक्षेप है। अथवा घी भरने के लिए एक घडा मगवाया, लेकिन उसमे घी भरा न हो फिर भी 'घी का घडा' कहना। राजा के पुत्र को, या राज्य चले जाने पर भी अथवा राजा या युवराज मर जाए तो उसके मृतशरीर को भी या राजा सम्बन्धी ज्ञान को भी राजा कहना—द्रव्यनिक्षेप है। 'राजा तो मेरे अतर मे बसता है' ऐसा शब्द प्रयोग भी द्रव्य निक्षेप का सूचक है।

कभी-कभी द्रव्यनिक्षेप अनुपयोग के अर्थ मे भी प्रवर्तित होता है। जैसे—बिना उपयोग के किया हुआ आवश्यक द्रव्य-आवश्यक कहलाता है।

शास्त्रकारो ने आत्मा देह ज्ञान आदि का सम्बन्ध बनाते हुए आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेप ऐसे दो द्रव्यनिक्षेप बताए है। यहाँ आगम शब्द से ज्ञान या उपचार मे ज्ञान को धारण करने वाले आत्मा को भी आगम कहा है।

जो आत्मा पहले उपयोग वाला था भविष्य मे भी कभी उपयोग वाला होगा किन्तु वर्तमान मे उपयोग वाला नही है, अत यहाँ द्रव्यनिक्षेप माना जाता है। जो शरीर आत्मा के गुणो से रहित है फिर भी उसे आत्मा कहना नोआगम द्रव्यनिक्षेप है। जैसे- किसी ने कहा—आत्मा को कुचल दिया, यहाँ शरीर मे आत्मा शब्द का आरोप किया गया है।

नोआगम द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद है—(१) ज्ञशरीर, (२) भव्यशरीर और (३) तद्व्यतिरिक्त।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा जानता था वह ज्ञशरीर (ज्ञायक-शरीर) है। जैसे—एक विद्वान् का मृत शरीर देखकर कहना कि 'यह आत्मा ज्ञानी था, तो यह ज्ञशरीर-नोआगम-द्रव्यनिक्षेप का प्रयोग है।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा भविष्य मे जानने वाला है वह भव्य-शरीर है। एक बालक की देह देखकर कहना यह आत्मा बहुत जानेगा, यह **भव्यशरीर नोआगम-द्रव्यनिक्षेप है।**

प्रथम दो भेदो मे शरीर को ग्रहण किया। तीसरे पद में शरीर नही, शारीरिक क्रिया ग्रहण की जाती है, उसे तद्व्यतिरिक्त' कहते हैं। किसी मुनि की धर्मोपदेश के समय की हस्तादि चेष्टाओं को याद करके कहना कि 'यह भी एक आत्मा था।' इसे **तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्य निक्षेप** का प्रयोग कहा जाता है।

(४) **भावनिक्षेप**— वर्तमान पर्याय के अनुसार शब्दप्रयोग भावनिक्षेप है। जैसे—अध्यापन करने वाले को अध्यापक राज्य करने वाले को राजा और सेवा करने वाले को सेवक कहना आदि।

इन निक्षेपो के कई उत्तरभेद भी है। विस्तार भय से यहाँ नही लिखे जा रहे है।

अनेकान्तवाद स्याद्वाद

जैनदर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्वाद है। जैनदर्शन को या जैनागमो म उक्त जिन-वाणी को समझने की यह कुञ्जी है। इसके बिना जगत का कोई भी व्यवहार नही हो सकता।[1]

जानना ज्ञान का काम है बोलना वाणी का। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है वाणी की परिमित। ज्ञेय अनन्त है, ज्ञान भी अनन्त है, किन्तु वाणी अनन्त नही है। स्पष्ट नही है कि एक क्षण मे अनन्तज्ञान अनन्त ज्ञेयो को जान तो सकता है, किन्तु वाणी द्वारा उसे व्यक्त नही कर सकता। एक शब्द एक क्षण मे एक सत्य को बता सकता है। इस दृष्टि से वस्तु के दो रूप होते है—(१) अवाच्य (अनभिलाप्य) और (२) वाच्य (अभिलाप्य)। अनभिलाप्य का अनन्तवाँ भाग अभिलाप्य होता है और अभिलाप्य का अनन्तवाँ भाग वाणी का विषय बनता है।

प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म होते हैं—विरुद्ध भी अविरुद्ध भी। किन्तु सत्यार्थी मुमुक्षु किसी वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय समस्त धर्मों का कथन नही कर सकता। छद्मस्थ व्यक्ति कुछ धर्मों को जान

---

१ जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥ —सन्मतितर्क ३।६८

सकता है, परन्तु कथन नहीं कर सकता और जब उन धर्मों का कथन नहीं करता है तो उसका सत्य एकांगी बन जाता है। अतः स्याद्वाद कहें या अनेकान्तवाद; वही इस समस्या को हल करता है।

वस्तु के अनेक गुण-धर्मों में से किसी एक अन्त या छोर—पहलू अथवा गुणधर्म को देखकर उसके समस्त स्वरूप के विषय में कि 'यह वस्तु इसी प्रकार की है;' ऐसी मान्यता बना लेना एकान्तवाद है। जिसमें वस्तु के अनेक अन्त, छोर या पहलू या गुण-धर्मों का अवलोकन करके उसके सम्बन्ध में अभिप्राय बनाया जाए, अर्थात् परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को विभिन्न अपेक्षाओं से स्वीकार करना अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है।

जैसे—एक मनुष्य अपने पुत्र का पिता है, साथ ही वह अपने पिता का पुत्र भी है, अपने मामा की अपेक्षा से वह भानजा भी है और अपने भानजे की अपेक्षा से वह मामा भी है। इस प्रकार एक व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, भागिनेयत्व और मातुलत्व ये परस्पर विरोधी धर्म सापेक्ष दृष्टि के कारण (भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से) सम्भव हैं। सापेक्षता का अर्थ है—परस्पराधार, यानी एक के आधार पर दूसरे का होना। छोटा और बड़ा, हलका और भारी, ऊँचा और नीचा, नित्य और अनित्य, एक और अनेक —ये सभी परस्पर सापेक्ष शब्द है।

जैनागमों में अनेकान्तवाद के उदाहरण

जैनागमो में यत्र-तत्र स्याद्वाद के उत्तम उदाहरण[1] मिलते है। भगवान् ने गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा –

'गौतम ! जीव स्यात् (कथंचित्) शाश्वत है, स्यात् (किसी अपेक्षा से) अशाश्वत।' द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है।

जयन्ती श्राविका के भगवान् महावीर से प्रश्नोत्तर देखिये—

जयन्ती—भगवन् ! सोना अच्छा या जागना अच्छा ?

भगवान्—जयन्ति ! कई जीवों का सोना अच्छा, कई जीवों का जागना अच्छा !

जयन्ति—भगवन् ! ऐसा कैसे ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र २।४६
(ख) भगवती सूत्र श० १२. उ० २, सू० ४४३

भगवान्—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्म-प्ररंजन हैं, अधर्म समाचार है, अधार्मिक वृत्तियुक्त हैं, वे सोए रहें, यही अच्छा है, क्योंकि वे सोए रहें तो अनेक जीवों को पीड़ा न होगी तथा वे स्व-पर-उभय को अधार्मिक क्रियारत नहीं बनाएँगे। जो जीव धार्मिक है, धर्मानुग हैं, यावत् धार्मिक वृत्ति से युक्त हैं, उनका जागना अच्छा है, क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं और स्व-पर-उभय को धार्मिक कार्य में लगाते हैं।

इस प्रकार के संवाद सैकड़ों की संख्या में, आगमों में प्राप्त होते है। वे लोक, द्रव्य, जीव आदि के स्वरूप पर स्याद्वाद शैली से सुन्दर प्रकाश डालते हैं।

सप्तभंगी

आगमयुग के बाद स्याद्वाद का दार्शनिक युग में सप्तभंगी के रूप में विकास हुआ। सप्तभंगी अर्थात्—सात प्रकार के भंग—विकल्प, वाक्य विन्यास, वाक्यरचना।

वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी भी एक धर्म का विधिनिषेधपूर्वक अविरोधमय कथन करना हो तो सात प्रकार की जिज्ञासा होती है, उसमें से समाधान के रूप में ये सात भंग उत्पन्न होते हैं। सात भगो की व्याख्या इस प्रकार है—

प्रथम भंग—वस्तु क्या है? यह बतलाने के लिए इस प्रकार का प्रथम भंग निष्पन्न होता है। वस्तु 'अस्ति'—भावात्मक ही है, परन्तु स्यात्—कथंचित्, अर्थात्—अमुक अपेक्षा से यानी स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से। यह स्याद्अस्ति नामक प्रथम भंग है।

द्वितीय भंग—वस्तु 'क्या नहीं है?' इस जिज्ञासा के समाधान के लिए द्वितीय भंग निष्पन्न होता है—वस्तु 'नास्ति' (अभावात्मक) ही है, परन्तु स्यात्—कथंचित्, अर्थात्—अमुक अपेक्षा से—यानी—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से। यह स्यात् नास्ति नामक दूसरा भंग कहलाता है।

यदि वस्तु में स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से स्वधर्म का अस्तित्व न माना जाए तो वह निःस्वरूप हो जाएगी, यदि परद्रव्यादि की अपेक्षा से परधर्मों का नास्तित्व न माना जाए तो वस्तुसांकर्य हो जाएगा, एक ही वस्तु सर्वात्मक बन जाएगी। अतः इन दो भंगों द्वारा प्रत्येक वस्तु के अनन्तधर्मों में से कुछ का अस्तिधर्म वर्णन करके फिर उसमें न रहने वाले नास्तिधर्मों का कथन कर दिया।

तृतीय भंग - वस्तु क्या है और क्या नहीं ? इस संयुक्त जिज्ञासा के समाधान के लिए तृतीय भंग निष्पन्न हुआ, जिसमें वस्तु में अस्ति और नास्ति दोनों सापेक्ष धर्मों का कथन किया गया। जो कार्य अस्ति-नास्ति उभयात्मक (उक्त वस्तु के कुछ अस्तिधर्मों और कुछ नास्तिधर्मों का) तीसरे भंग से होता है, वह न तो केवल 'अस्ति' ही कर सकता है, और न केवल 'नास्ति' ही कर सकता है। अतः यह 'स्याद् अस्ति-नास्ति' नामक तीसरा भंग कहलाता है।

चतुर्थ भंग—चाहे जिस तरीके से वस्तु का वर्णन क्यों न करें, वह वर्णन आंशिक ही होगा, सम्पूर्ण नहीं; क्योंकि अस्तिधर्म और नास्तिधर्म दोनों अनन्त होने से, उनमें से जिन धर्मों का वर्णन अशक्य है, वे तो वाणी द्वारा कहे ही नहीं जा सकेंगे, अतः अवक्तव्य ही रहेंगे। इस दृष्टि से वस्तु किसी अपेक्षा से '**अवक्तव्य**' है। यह स्यात् अवक्तव्य नाम का चतुर्थ भंग निष्पन्न हुआ।

पंचम भंग—कथंचित् अवक्तव्य होने पर भी वस्तु दूसरी दृष्टि से कथंचित् वक्तव्य भी है। अर्थात्—वस्तु का वर्णन यदि उसके केवल अस्तिधर्मों को लेकर किया जाएगा, तो भी थोड़े से ही अस्तिधर्मों का कथन हो सकेगा, अवशिष्ट सब धर्म अवक्तव्य ही रहेंगे। इस अपेक्षा से '**स्याद् अस्ति अवक्तव्य**' नामक पंचम भंग निष्पन्न हुआ।

छठा भंग—वस्तु का वर्णन यदि उसके केवल नास्तिधर्मों को लेकर किया जाएगा, तो भी वह वर्णन अमुक नास्तिधर्मों का ही हो सकेगा। बाकी के सब नास्तिधर्म अवक्तव्य ही रहेंगे। इस अपेक्षा से '**स्यात् नास्ति अवक्तव्य**' नामक छठा भंग निष्पन्न होता है।

सप्तम भंग—यदि वस्तु के अस्तिधर्म और नास्तिधर्म दोनों प्रकार के धर्मों को लेकर वस्तु का वर्णन किया जाएगा तो उसके कुछ ही अस्तिधर्म और कुछ ही नास्तिधर्म कहे जा सकेंगे, शेष सब अस्ति-नास्तिधर्म अवक्तव्य ही रहेंगे। इस अपेक्षा से '**स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य**' नामक सप्तम भंग निष्पन्न हुआ।

विचार करने पर प्रतीत होता है कि सप्तभंगी में मूल भंग तो तीन ही हैं - अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य। अवशिष्ट चार भंग इन्हीं तीन के संयोग से बने हैं। भगवतीसूत्र में सप्तभंगी की विवेचना प्राप्त होती है।[1]

वस्तु के अनेक धर्म हैं। अतः वह अनेकान्त—अनेकधर्मात्मक कहलाती

---

१ भगवतीसूत्र १२।१०।४६९

है। किसी मकान के चार फोटो यदि उसकी चारो दिशाओ से लिये जाएँगे तो वे सब एक जैसे नही होगे। फिर भी वे एक ही मकान के होने से एक ही मकान के कहलाएँगे। इसो प्रकार वस्तु भी अनेक दृष्टियो से देखने पर अनेक प्रकार की मालूम होती है। यही कारण है कि वाक्यप्रयोग भी नाना प्रकार के बनते है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर देते समय इन सात भगो मे से किसी न किसी एक भग का उपयोग करना आवश्यक है। इसे सुगमता से समझने के एक व्यवहारिक उदाहरण लीजिए—

किसी मरणासन्न रोगी के बारे मे वैद्य से पूछा जाए कि रोगी की हालत कैसी है ? तो वह इन सातो उत्तरो मे से कोई एक उत्तर देगा—

(१) अच्छी हालत है (अस्ति)।

(२) अच्छी हालत नही है (नास्ति)।

(३) कल से तो अच्छी है (अस्ति), पर ऐसी अच्छी नही है कि आशा रखी जा सके (नास्ति)। (अस्तिनास्ति)

(४) अच्छी या बुरी, कुछ नही कहा जा सकता। (अवक्तव्य)

(५) कल से तो अच्छी है (अस्ति) फिर भी कुछ कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा ? (अवक्तव्य), (अस्ति-अवक्तव्य)।

(६) कल से तो अच्छी नहीं है (नास्ति), फिर भी कहा नही जा सकता है कि क्या होगा ? (अवक्तव्य), (नास्ति-अवक्तव्य)

(७) वैसे तो अच्छी नही है (नास्ति), परन्तु कल की अपेक्षा तो अच्छी है (अस्ति), फिर भी कहा नही जा सकता कि क्या होगा ? (अवक्तव्य), (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)।

इस सामान्य व्यावहारिक उदाहरण पर से सत्तभगी का महत्व स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है। इसी तरह सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक धार्मिक सभी क्षेत्रो मे सप्तभगी का प्रयोग किया जाता है और इसके प्रयोग से पारस्परिक विरोध शमन किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रमाणवाद नयवाद निक्षेपवाद और अनेकान्तवाद आदि जैनदर्शन के मेरुदण्ड हैं, जिनके द्वारा जिनप्रणीत तत्त्वों एवं आगम-वाणी को विभिन्न अपेक्षाओं से जाना-परखा जा सकता है हृदयंगम किया जा सकता है अहिंसा-सत्यधर्म का सर्वांगीण आचरण हो सकता है और तभी श्रुतधर्म की सर्वांगीण आराधना हो सकती है। □

- विशिष्ट शब्द सूची
- प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका

[प्रथम और द्वितीय कलिका]

[तृतीय से नवम कलिका]

विवेचन में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आचारांग सूत्र
सूत्रकृतांग सूत्र
सूत्रकृतांग (निर्युक्ति) टीका सहित
स्थानांग सूत्र (वृत्तियुक्त);
समवायांग (टीका सहित)
भगवती सूत्र (अभयदेव वृत्ति सहित)
ज्ञाताधर्म कथा
उपासकदशा
उपासकदशावृत्ति
अन्तकृद्दशा
अनुत्तरोपपातिकदशा
प्रश्नव्याकरण सूत्र
विपाक सूत्र
औपपातिक सूत्र
राजप्रश्नीय सूत्र
जीवाभिगम सूत्र
प्रज्ञापना सूत्र
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (वृत्ति)
निरयावलिका
उत्तराध्ययन सूत्र
उत्तराध्ययन सूत्र (भावविजय गणीकृत टीका)
दशवैकालिक सूत्र (हरिभद्रीया वृत्ति)
नन्दी सूत्र
दशाश्रुतस्कन्ध
दशाश्रुतस्कन्ध वृत्ति
आवश्यक सूत्र
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक चूर्णि (जिनदास महत्तर)
आवश्यक (हारिभद्रीया टीका)
विशेषावश्यक भाष्य
ओघनिर्युक्ति
भारतीय मनीषियों के ग्रन्थ
अजितजिन स्तवन (उपाध्याय देवचन्द्र)
अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका—(आचार्य हेमचन्द्र)
अभिधानचिंतामणि कोष
अमर कोष
अमितगति द्वात्रिंशिका (आचार्य अमितगति) (सामायिकपाठ)
अर्हन्नमस्कारावलिका
आगमसार
आत्ममीमांसा
इसिभासियाइं
ईशोपनिषद्
ऐतरेय उपनिषद
कठोपनिषद्
कर्मग्रन्थ, भाग १ (आचार्य देवप्रभ सूरि)
कर्म प्रकृति
कषाय प्राभृत
कौषीतकी उपनिषद्
गणधरवाद
गोम्मटसार जीवकांड (आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
चतुर्विंशति स्तव

चाणक्य नीति
चार तीर्थंकर
(प०सुखलाल जी)
चारित्राचार
चार्वाक दर्शन
(आचार्य बृहस्पति)
छान्दोग्य उपनिषद
जैन तत्व प्रकाश
जैनदर्शन के मौलिक तत्व
ज्ञानार्णव
(आचार्य शुभचन्द्र)
तत्त्वज्ञान तरगिणी
तत्वार्थ भाष्य
तत्वार्थसूत्र
(सपादक प० सुखलाल जी)
तत्वार्थ सिद्धसेनीया टीका
तत्वार्थ सर्वार्थ सिद्धि
(आचार्य पूज्यपाद)
तत्वार्थराजवार्तिक
(भट्टाकलक देव)
तत्वार्थ श्लोकवार्तिक
(आचार्य विद्यानन्दि)
तत्वोपप्लव—शाकर भाष्य
तर्कसंग्रह
तर्कसग्रह टीका
तेजोबिन्दु उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद्
दीघनिकाय
धर्मपरीक्षा
धर्मबिन्दु
(आचार्य हरिभद्र)
नव तत्व प्रकरण
नीतिवाक्यामृत
(सोमदेव सूरि)
न्याय मंजरी
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
(तत्व दीपिका)
न्याय सूत्र
न्यायावतार
न्यायावतार टीका
पचाध्यायी
(पाडे राजमल्ल)
पचास्तिकायसार
(आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रभावक चरित्र
प्रमाणनयतत्वालोक
प्रमाण-मीमासा
प्रवचनसार
(आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रवचनसार वृत्ति
प्रवचनसारोद्धार
प्रशमरति प्रकरण
(वाचक उमास्वाति)
बृहद्द्रव्य सग्रहवृत्ति
बृहद्द्रव्य सग्रह
(आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती)
बृहदारण्यक उपनिषद
ब्रह्मजाल सुत्त
ब्रह्मसूत्र
भक्तामर स्तोत्र
(आचार्य मानतु ग)
भगवद् गीता
मज्झमनिकाय
मनुस्मृति
(आचार्य मनु)
महाकर्मप्रकृति प्राभृत
(आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त)
षट्खण्डागम)
महादेव स्तोत्र
(आचार्य हेमचन्द्र)

महाभारत
महावीर चरिय
माण्डूक्य उपनिषद
माध्यमिक कारिका
मुण्डक उपनिषद
यशस्तिलक चम्पू
(सोमदेव सूरि)
योगबिन्दु
(आचार्य हरिभद्र)
योगवाशिष्ठ
योगशास्त्र
(आचार्य हेमचन्द्र)
योगशास्त्रस्वोपज्ञ वृत्ति
रत्नकरड श्रावकाचार
(आचार्य समतभद्र)
रत्नाकरावतारिका (टीका)
लोक प्रकाश
विसुद्धिमग्गो
वीतराग स्तव
(आचार्य हेमचन्द्र)
वेदान्त दर्शन
वेदान्त दर्शन
(शांकर भाष्य)
वशेषिक सूत्र
शक्रस्तव (नमोत्थुण पाठ)
शास्त्रवार्ता समुच्चय
(आचार्य हरिभद्र)
श्रमण सूत्र
श्वेताश्वतर उपनिषद
षड्दर्शन समुच्चय
सम्मति प्रकरण
समयसार
(आचार्य कुन्दकुन्द)
साख्यकारिका
सूत्र प्राभत
सबोध सत्तरी
सबोध सत्तरी टीका
(गुण विजयवाचक)
हारिभद्रीय अष्टक
हितोपदेश

पश्चिमी विद्वानो के ग्रन्थ

Jacobi Sacred Books of the East Vol XIV
माख की कहानी
Hollywood R & T Instruction Lesson No ? What is Ether !
Wheettakar From Euclid to Eddington Principia Mathematica-English translation by Mottu Carzoria
□